योग तांत्रिक साधना प्रसंग



अरुण कुमार शर्मा

योग तांत्रिक साधना प्रसंग

अरुण कुमार शर्मा

* यदि हम किसी मंत्र का बारम्बार उच्चारण करते हैं अथवा किसी अंक को बारम्बार लिखते हैं तो उसके गुण जो परमाणु के रूप में स्थिति होकर आकार बनाते हैं। वे मंत्र के अधिष्ठात्र देवता को प्रकट कर देते हैं इसीलिए मंत्र को अधिक से अधिक संख्या में जपने का विधान है और यंत्र को भी एक सीमा तक की संख्याओं में लिखने की विधि है । एक जपने से दूसरा लिखने से सिद्ध होता है।

* यंत्रशास्त्र में संख्या चन्द्र १, नेत्र २, अग्नि ३, वेद ४, पंचतत्व ५, वाण ६, मुनि ७, नाग-८, ग्रह ९, के प्रतीक हैं।

* मंत्र तीन प्रकार के होते हैं मानवी मंत्र, आसुरी मंत्र और दैवी मंत्र । पहले प्रकार का मंत्र भूत, प्रेत, पिशाच, दूसरा यक्ष-गंधर्व आदि के वासनालोक तामसिक लोक के सूक्ष्म शरीरधारिणी आत्माओं से संबंधित है। इसी प्रकार तीसरा दैवी मंत्र राजसी और सात्विक लोक की देवी एवं उच्चकोटि के दिव्य आत्माओं से संबंधित हैं । इन तीनों प्रकार के मंत्रों के अपने-अपने सिद्धान्त हैं और उन सिद्धान्तों के अनुसार क्रिया पद्धतियाँ है ।

* योग दर्शन हमें सिखाता है कि हम किस प्रकार मन पर नियंत्रण रखे जिसके द्वारा शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ्यचित्त हो सके ।

* यदि
उच्चारण
को बारम्
जो परमा
आकार ब
देवता क
मंत्र को
जपने क
एक सी
लिखने
दूसरा लि

* यंत्र
२, अ
वाण ६
के प्रतीक

* मंत्र
मंत्र, आ
प्रकार क
यक्ष-गं
तामसिक
आत्माअ
तीसरा
लोक क
आत्माअ
प्रकार
हैं और
पद्धति

*
किस
जिसके
और
हो सके

योग तांत्रिक साधना प्रसंग

(योग-तंत्र की मौलिक व शोधपूर्ण विषय-प्रसंग)

अरुण कुमार शर्मा

संकलन

मनोज कुमार शर्मा

आस्था प्रकाशन

वाराणसी

- **पुस्तक**

  योग तांत्रिक साधना प्रसंग

- **प्रकाशक**

  आस्था प्रकाशन

  आगम निगम संस्थान के साहित्य

  के प्रकाशक एवं वितरक

- **प्रथम संस्करण**

  सन् २०११ ई.

- **मूल्य- २५०/-**

- **कार्यालय**

  आस्था प्रकाशन

  बी. ५/२३, अवधगर्वी, हरिश्चन्द्र रोड

  वाराणसी-२२१००१ (उ.प्र.)

  दूरभाष : ०५४२-२२७७२२८,०९७६४०५८५७९

भ्रां भ्रीं भ्रूँ भैरवी भद्रे भवान्यै ते नमो नमः।

विषय सूची

द्वितीय प्रसंग

तृतीय प्रसंग

उत्तर प्रसंग-

चतुर्थ प्रसंग

पञ्चम प्रसंग

विशेष

***

सन्त महात्माओं

एवं

योगी साधकों की

स्मृति में सादर समर्पित

योग तांत्रिक साधना प्रसंग

4

दो शब्द

मेरा सौभाग्य है कि पिताश्री की पुस्तकों में दो शब्द लिखने का अवसर मुझे प्राप्त होता है। सबसे सुखद और हर्ष की बात तो यह है कि पिताश्री ने अपनी समस्त पुस्तकों एवं पाण्डुलिपियों के प्रकाशन का उत्तरदायित्व मुझे दे दिया है। इस कार्य में, मैं कितना सफल होऊँगा, इसका निर्णय आप पाठकगण ही करेंगे। मेरा तो सतत प्रयास यही रहेगा कि उनकी कृतियों को सुन्दर और आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करता रहूँ।

पिताश्री की अपने शोध अन्वेषण की दिशा में कई विशेषताएं रही हैं। जिनमें सबसे बड़ी विशेषता यह रही है कि सत्संग अवस्था में प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न रूप से निवास करने वाले योगसिद्ध सन्त, महात्माओं और उच्चकोटि के गुप्त साधकों द्वारा जो आध्यात्मिक ज्ञान उपलब्ध हुआ उसे उन्होंने पूर्णरूप से आत्मसात किया और इतना ही नहीं, उस गोपनीय ज्ञान को क्रिया के रूप में परिवर्तित कर उससे उपलब्ध अनुभवों को हृदयंगम भी किया और समय-समय पर लिपिबद्ध भी किया। योग तांत्रिक साधना प्रसंग उन्हीं अनुभवों का एक महत्वपूर्ण परिणाम है इसमें सन्देह नहीं। इसी श्रृंखला में पूर्व में प्रकाशित पुस्तक 'आवाहन' की तरह ये पुस्तक भी पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक उपादेय और साधना मार्ग में दिशा निर्देश सिद्ध होगी इसमें सन्देह नहीं।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि पाठकों की उत्साहवर्धक प्रेरणा सदैव प्राप्त होती रहेगी और मैं उस प्रेरणा से सफलतापूर्वक अग्रसर होता रहूँगा अपने मार्ग पर।

आस्था प्रकाशन
वाराणसी

कृपाकांक्षी
मनोज कुमार शर्मा

अपनी बात

समस्त विषय और उससे संबंधित समस्त भाव, समस्त विचार और समस्त अनुभव जब समाप्त हो जाते हैं और केवल शेष रह जाता है विषयी अनुभोक्ता और साक्षी। उस साक्षी की खोज और उपलब्धि ही एकमात्र अध्यात्म है और उस अध्यात्म का सीधा साक्षात्कार है योग तांत्रिक साधना प्रसंग।

सिद्धान्तों और विचारों की भरमार नहीं है बल्कि योग तांत्रिक साधना प्रसंग में है गहन चिन्तन-मनन पर आधारित गहनतम् अनुभव। कौतुहल और जिज्ञासाओं से उत्पन्न होने वाले विषयों का कहीं भी समावेश नहीं है योग तांत्रिक साधना प्रसंग में। उसने उस ओर संकेत किया है– जो मुमुक्षु से परिपूर्ण है और जिन्होंने प्राप्त कर लिया है मूलतत्व को।

अध्यात्म के संबंध में अपने विचारों को, भावों को, अनुभूतियों को और चिन्तन-मनन के आधार पर प्राप्त हुए निष्कर्षों को अभिव्यक्त करने की स्वतंत्रता प्रत्येक व्यक्ति को उपलब्ध है।

अध्यात्म के सूक्ष्म से सूक्ष्म रहस्यों का उद्घाटन है "योग तांत्रिक साधना प्रसंग"। इस दिशा में हम कहाँ तक सफल हुए हैं स्वयं हम बतला नहीं सकते क्योंकि संसार पराजय की एक लम्बी कथा है। संसार में किसी को विजय प्राप्त होती ही नहीं। विजय संसार का स्वभाव नहीं। संसार में पराजय ही नियति है। सच पूछा जाय तो संसार में होने की नियति ही पराजय है। जहां पराजित होना ही होगा इसलिए हमें भी पराजित होना निश्चित है।

हम नये नहीं हैं। हमारा जीवन भी नया नहीं है। सच पूछा जाय तो इस संसार में कुछ भी नया नहीं है, सभी पुराने हैं। जीवन एक धारा है, जिसके न आदि का कोई पता है और न तो अन्त का ही। हम कहां से चले हैं और कहां जायेंगे इसका भी कोई अता-पता नहीं। भगवान बुद्ध के चरणों में बैठ कर उनकी मधुर वाणी सुनी है हमने। भगवान श्रीकृष्ण को भी देखा और उनके कोमल स्निग्ध और मधुर रस भरे वचनों को भी सुना हमने है। महावीर, जीजस जैसे अवतारी पुरुषों का दर्शन लाभ ही नहीं सत्संग भी किया है हमने यानि हमारी आत्मा ने। आत्मा अजर-अमर है हर युग में इसकी उपस्थिति रही है। हम रहे हैं आप भी रहे हैं। हर जन्म में, हर युग में केवल शरीर बदलता रहा और इन सबके अतिरिक्त न जाने कितने साधु-सन्त, सिद्ध

साधकों और योगी-महात्माओं का भी दर्शन और सत्संग लाभ किया है हमने। लेकिन बन्धु! फिर भी आत्मा तृप्त नहीं हुई हमारी। आज भी अतृप्त की अतृप्त ही है। पूर्ण तृप्त होने की दिशा में पुनः एक प्रयास है योग तांत्रिक साधना प्रसंग। जिसमें योग-तंत्र से संबंधित सभी महत्वपूर्ण अंगों पर संक्षिप्त में प्रकाश डालने का प्रयास किया है हमने।

आशा है प्रबुद्ध पाठकगण उनसे लाभान्वित होंगे। अन्त में एक बात और वह यह कि पुस्तक से संबंधित किसी भी प्रसंग को लेकर आपकी आत्मा ही कभी न कभी आपकी जिज्ञासाओं का समाधान कर देगी। इसका विश्वास है हमें।

अक्षय तृतीया
सन् २०११ ई०
काशी

आपका
अरुण कुमार शर्मा

प्रारम्भ में

योग और तंत्र दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। योग के बिना तंत्र की और तंत्र के बिना योग की साधना अपूर्ण बतलायी गयी है। भारतीय संस्कृति में सोलह प्रकार की उपासनाएं हैं लेकिन साधना दो ही हैं पहली है योग साधना और दूसरी है तंत्र साधना और इन दोनों का मूल स्रोत वेद है। वेद ज्ञान है साधना नहीं। वैदिक साधना का अर्थ ही है योग साधना और तंत्र साधना। योग और तंत्र दोनों भगवान शंकर द्वारा प्रणीत है। योगियों में उन्हें परमयोगी के रूप में स्वीकार किया गया है।

मुख्य रूप से शरीर में तीन दोष हैं- शरीर दोष, वाणी दोष और चित्त दोष। विविध प्रकार के रोग, शरीर दोष हैं। शब्दों और अक्षरों का त्रुटिपूर्ण और अशुद्ध उच्चारण वाणी दोष है। क्रोध, ईर्ष्या, कपट, असत्य भाषण, दुर्वचन, द्वेष आदि चित्त दोष है। इन तीनों दोषों से जो मुक्त है वह पूजनीय और महापुरुष है और है परम सत्ता के निकट।

आदिकाल में उपर्युक्त दोषों को दूर करने के लिए मानव कल्याणार्थ भगवान शेषनाग ने महर्षि चरक के रूप में अवतरित होकर चरक संहिता की रचना की। पतञ्जलि के रूप में अवतरित होकर व्याकरण की रचना की और योग दर्शन की। ये तीनों साधन समस्त मानव जाति के लिए हैं। किसी भी प्रकार का भेद भाव नहीं। धर्म से भी इनका कोई संबंध नहीं। यदि संबंध है भी तो केवल अध्यात्म से मात्र।

यहां यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि महामुनि पतञ्जलि द्वारा रचित योग दर्शन में केवल योग के प्रारम्भिक आठ अंगों का ही दिग्दर्शन है। जिनमें पांच अंग बहिरंग हैं और शेष तीन अंग अन्तरंग हैं। योग दर्शन की अन्तिम उपलब्धि निर्विकल्प समाधि है। मेरे विचार से सम्भवतः भगवान शेषनाग ने चित्त दोष के निवारण के लिए इतना ही पर्याप्त समझा हो। लेकिन एक बात यहां कह देना आवश्यक है कि योग एक गहन, गम्भीर और अथाह सागर के समान है। जिसे भगवान श्रीकृष्ण ने अपने गीतोपदेश द्वारा १८ अध्यायों में विभक्त कर दिया है। जो श्रीमद्भगवद्गीता के रूप में भारतीय अध्यात्म जगत की अमूल्य सम्पत्ति है इसमें सन्देह नहीं।

जैसाकि पूर्व में संकेत किया जा चुका है आप किसी भी जाति और धर्म के हों। आपका जन्म किसी भी देश में हुआ हो। आपका कोई भी नाम हो। यदि आप राग, द्वेष, क्रोध, घृणा, कपट आदि से परे हैं तो योग आपको प्रणाम करता है। आप महान हैं और योगियों के भी योगी हैं। कतिपय लोगों की धारणा है कि योग से सरल भक्ति

है। भक्ति द्वारा परमात्मा को उपलब्ध हुआ जा सकता है। ऐसे लोगों का यह भी विचार है कि योग से भक्ति सरल है जबकि वर्तमान में योगाभ्यास सभी के लिए सरल भी नहीं है और सभी उसके योग्य भी नहीं है। इस संबंध में तो हम इतना ही कहेंगे कि जिसको भक्ति सरल और सुगम लगती हो उसमें रस मिलता हो वह उसे निःसंकोच स्वीकार कर सकता है किसी भी प्रकार की आपत्ति नहीं। इस प्रसंग में यह भी समझ लेना चाहिए कि 'योग' का अर्थ अति व्यापक है। भगवान शेषनाग द्वारा योग को आठ अंगों में प्रस्तुत कर देने से उसकी व्यापकता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भव है देश काल पात्र को देखते हुए भगवान शेषनाग ने योग के आठ अंगों को ही प्रकट किया हो। इससे अधिक की आवश्यकता न समझी हो। अष्टांग योग में चित्त को पहले महत्व दिया गया है। प्रारम्भ के पांच योग चित्त के समीप पहुँचने के साधन हैं। चित्त स्वयं एक शक्ति है और वह शक्ति है मनःशक्ति। यहां यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि चित्त में जो वृत्तियां उठती हैं। वे मन की काम क्रोध आदि वासनाएँ हैं जो चित्त में वृत्तियों का रूप ले लेती हैं यह अति गम्भीर तथ्य है। जिस पर अभी तक 'न' के बराबर विचार किया गया।

वासनाओं का प्रारम्भिक रूप 'भाव' है। जन्म लेने वाले शिशु के पास केवल भाव ही रहता है और कुछ नहीं। इस जगत और इस जीवन में भाव ही प्रधान है। भाव से ज्ञान प्राप्त होता है और भाव से ही परमात्मा का दर्शन लाभ भी होता है। यथासमय वह भाव ही घनीभूत होकर विचार के रूप में परिवर्तित होता है और फिर उसमें भिन्न-भिन्न प्रकार की वासनाएँ जन्म लेती हैं। वे वासनाएं फिर मन का विषय बन जाती हैं लेकिन उनकी जो वृत्तियाँ हैं वे चित्त में उठती हैं। आत्म साक्षात्कार, इष्ट साक्षात्कार, सद्गुरु साक्षात्कार और यहां तक कि परमात्म साक्षात्कार भी चित्त के माध्यम से ही होता है। 'माध्यम' है इसीलिए योग में सर्वप्रथम उसी को महत्व दिया गया। हर क्षण वासनाजन्य वृत्तियों के उठने के कारण हम किसी का भी साक्षात्कार नहीं कर पाते। बस यही योग की भारी समस्या है। वृत्तियां चित्त का दोष है और उस दोष के मूल में संस्कार है। जैसा संस्कार होगा वैसा ही भाव भी उत्पन्न होगा। इस सत्य को स्वीकार करना ही पड़ेगा। योग की भाषा में संस्कार को 'मल' कहते हैं और जो दोष है उसे कहते हैं विक्षेप।

वह विक्षेप कैसे दूर हो? उत्तर है योगाभ्यास से। जिसे वेदान्त कहता है- निदिध्यासन। जिसका संबंध पतञ्जलि के केवल अष्टांग योग से है। योगाभ्यास की अन्तिम उपलब्धि समाधि है लेकिन यह न समझ ले कि समाधि के बाद योग साधना समाप्त हो जाती है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो योग की परिभाषा व्यापक है और

योग का क्षेत्र है समुद्र की तरह गम्भीर और अथाह। केवल अष्टांग योग की अन्तरंग और बहिरंग साधना को पूर्ण होने में ही कई जन्म लग जाते हैं। यह न समझ लेना चाहिए कि आसन, प्राणायाम और ध्यान मात्र से योग का चरम प्राप्तव्य सम्भव हो जायेगा। साथ-साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि शरीर को अनुकूल करने के लिए आसन, प्राण को अनुकूल करने के लिए प्राणायाम और मन अथवा चित्त को अनुकूल करने के लिए 'ध्यान' की व्यवस्था है। शरीर, प्राण और मन इन तीनों के अनुकूल न होने पर आगे के मार्ग का प्रशस्त होना सम्भव नहीं। योग की यात्रा अन्तहीन है विभिन्न प्रकार के आसनों द्वारा शरीर को अनुकूल बनाना ही अत्यन्त श्रम साध्य है। प्राणायाम तो और भी कठिन है ध्यान भी अपने आप में जटिल है। वृत्तियों का नाश तो आज के युग में हमें सम्भव नहीं दिखता। यदि सम्भव होता तो अबतक न जाने कितने लोग अपने स्वच्छ, निर्मल और शान्त चित्त में परमात्म दर्शन कर चुके होते। अपनी आत्मा को पहचान लिए होते अबतक संसार नर्क न रह कर स्वर्ग बन गया होता। मनुष्य भी न जाने कब का देवता बन गया होता।

समस्त योग व्यापार में आसन, प्राणायाम और ध्यान सबसे महत्वपूर्ण है किन्तु शोचनीय बात तो यह कि हजारों वर्ष पहले जिस अष्टांग योग का आविर्भाव महामुनि पतञ्जलि के रूप में भगवान शेषनाग द्वारा हुआ था। क्या उसकी साधना करना और उसमें पूर्ण सफलता प्राप्त करना सरल और सम्भव है? यह प्रश्न विचारणीय है। योग के किसी भी अंग की साधना अथवा अभ्यास के लिए शुद्ध पर्यावरण, शुद्ध वातावरण, सात्विक आहार विहार, अनुकूल जीवनोपयोगी वस्तु, सरल व सहज रहन-सहन, सरल चित्त, सरल विचार और सरल बाल सुलभ मन आवश्यक है।

जितना शरीर आरोग्य रहेगा, जितना चित्त निष्कपट रहेगा, जितना विचार शुद्ध रहेगा और जितना मन पवित्र, शुद्ध और सरल रहेगा, उतनी ही पकड़ हमारी योग में होगी। यदि ऐसा कुछ नहीं है तो 'योग' की बात करना व्यर्थ है।

हमारा यह कहने का तात्पर्य नहीं है कि वर्तमान समय में मनुष्य 'योग' के योग्य नहीं है। आज का मनुष्य हर युग के जैसा ही मनुष्य है। बुद्धिमान है, ज्ञानवान है, विवेकशील है और विचारवान भी है। किसी भी दृष्टि से हीन-दीन नहीं है किन्तु पहली बात तो यह है कि उसकी बुद्धि का, उसके ज्ञान का, उसके विवेक का और उसके विचार का एक पक्ष अपंग अवश्य हो गया है। इसका कारण क्या है? इसका उत्तर स्पष्ट है। जहां एक ओर भौतिक विज्ञान बराबर उन्नति की ओर बढ़ता जा रहा है वहीं दूसरी ओर आध्यात्मिक ज्ञान-विज्ञान निरन्तर ह्रासोन्मुख है। उनकी यथोचित

उन्नति न होने के कारण मानव जीवन का सन्तुलन बिगड़ गया है। जिसके कारण धर्माधर्म विवेक की दिशा में जो प्रगति और जो उन्नति होनी चाहिए वह नहीं हो रही है यथोचित ढंग से। इनके मूल में है एकमात्र वर्तमान शिक्षा का दोष। मनुष्य की प्रवृत्ति और स्वभाव का दोष नहीं है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो आज का युग ऐसी विकट और अमर्यादित परिस्थितियों से गुजर रहा है कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसका सबसे बड़ा कुप्रभाव पड़ा है विश्व के सभी धर्मो पर किसी न किसी रूप में। कोई भी धर्म लें। उसकी परिभाषा आज के युग में अन्धविश्वास है एकमात्र। जिसका क्षेत्र बराबर बढ़ता ही जा रहा है। जिसके गहन अन्धकार में न सत्य के दर्शन हो रहे हैं और न तो विवेक के ही। श्रद्धा और विश्वास का अस्तित्व ही जैसे लुप्त हो गया है उस निविड़ अन्धकार में।

यदि विचार किया जाय तो धर्म का जो विकृत रूप है वह है अन्धविश्वास। मानव मन जितना अशान्त और उद्विग्न होता जायेगा, उतना ही अन्धविश्वास प्रगाढ़ और घनीभूत होता जायेगा और उसी के अनुसार मानव समाज में छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, कलह के साथ ही साथ धन लोलुपता और पद लोलुपता की भी होती जायेगी वृद्धि। अब प्रश्न यह है कि धर्म कब अन्धविश्वास का रूप धारण करता है और कब उससे जन्म लेते है कट्टरपंथी और चरमपंथी। जब हम भूल जाते हैं धर्म को और उसकी परिभाषा को। आज जितने भी क्षेत्र हैं राजनीति क्षेत्र हो, सम्प्रदायिक क्षेत्र हो, धार्मिक क्षेत्र हो, सामाजिक क्षेत्र हो, साधु संन्यासियों का क्षेत्र हो, कोई भी क्षेत्र हो- वहां हमें धर्म के किसी भी रूप के दर्शन नहीं होंगे इसलिए कि वे धर्म को जानते ही नहीं। धर्म है क्या? इससे उनका कोई नाता-रिश्ता नहीं। आश्चर्य तो हमें तब हुआ जब बंग्लादेश की प्रसिद्ध लेखिका तस्लीमा नसरीन की पुस्तक के लोकार्पण के समय हैदराबाद में उन पर प्राण घातक हमला हुआ और वह हमला करने वाले कौन थे?

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विश्व में श्रेष्ठतम् और महत्वपूर्ण कृतियाँ वही है, जिनमें धर्म, मजहब और उसके निरंकुश व्यवहार को चुनौती दी गयी है। लेखिका और उसकी कृति के साथ जो अमानवीय व्यवहार किया गया, उसमें तानाशाह की गन्ध स्पष्ट है। किसी की भी लेखिका से असहमति हो सकती है किन्तु उसे अपनी बात कहने का तो अधिकार है। किसी मजहबी अथवा तानाशाही राज्य और लोकतांत्रिक व्यवस्था के बीच यही अन्तर होता है।

आपको ज्ञात होना चाहिए कि 'इस्लाम' अरबी भाषा का शब्द है। जिसका अर्थ है- ईश्वर के प्रति मनुष्य का आत्म समर्पण और दूसरा शान्ति में प्रवेश करना। इस्लाम के अनुयायी को फारसी में मुसलमान और अरबी में मुस्लिम की संज्ञा दी जाती है।

इस्लाम एक आस्था है और इसके अलावा और कुछ नहीं। वह आस्था निहित है उन वाक्यों यानी आयतों में जो हजरत मुहम्मद ने अपनी इल्हामी (समाधि) अवस्थाओं में कहा है और जिनको ईश्वर वाक्य मानकर हजरत मुहम्मद के बाद 'कुरान' नामक धर्मग्रन्थ में एकत्र किया गया। इस्लामी आस्था में ईश्वर एक है और वह सर्वशक्तिमान है। वह निराकार, अव्यक्त, अजन्मा, अमर, अजर, स्वेच्छाचारी और दयालु है। वह न अवतार ले सकता है और न तो जन्म ही ले सकता है और न तो किसी को जन्म ही दे सकता है। मुहम्मद ईश्वर (अल्लाह) के अन्तिम दूत-रसूल नवी, पैगम्बर हैं। मुहम्मद के पहले भी पैगम्बर हुए हैं लेकिन उनके बाद अब नहीं होंगे। इस आस्था से जो सारांश निकलता है उसके अनुसार मुहम्मद द्वारा दिया गया ईश्वरीय ज्ञान भी अद्वितीय और अन्तिम है क्योंकि ऐसा न ज्ञान कभी पहले मिला है और न कभी आगे मिलेगा। इस्लामी आस्था में इस्लाम एक सर्वश्रेष्ठ रहस्यात्मक दिव्य ज्ञान है न कि धर्म विद्या और हजरत मुहम्मद ईश्वर के अन्तिम दूत हैं न कि साधारण धर्मविद्। इतिहास प्रसिद्ध इस्लामी कट्टरता का प्रेरणा स्रोत यही आस्था है। इस आस्था के आगे इस्लाम की न कोई सोच है और न तो है विचार।

हमारी बड़ी इच्छा है इस्लाम धर्म पर बहुत कुछ लिखने की ताकि आज का युग इस्लाम धर्म की वास्तविकता से और उसकी सत्यता से भलीभांति परिचित हो सके। देखना है यह इच्छा कब साकार होती है लेकिन उपर्युक्त संक्षिप्त विवरण से इस्लाम धर्म की आस्था से उत्पन्न कट्टरता से तो आप थोड़ा बहुत परिचित हो ही गये होंगे। यह हम नहीं कहते हैं कि हिन्दू धर्म में कट्टरता नहीं है लेकिन एक विशेष सीमा तक। हिन्दू धर्म सभी धर्मों को सम्मान देता है जबकि अन्य धर्मों में ऐसी बात नहीं है। सर्वविदित है कि हजारों लाखों हिन्दू, मुसलमानों के मजार पर श्रद्धापूर्वक जाते हैं और मन्नते मानते हैं और नियम के अनुसार अगरबत्ती जलाते हैं और माला-फूल व इत्र चढ़ाते हैं। दरगाहों पर भी जाते हैं यथाशक्ति चादरें चढ़ाते हैं, मन्नते मानते हैं और श्रद्धा भक्ति से उनको नमन करते हैं। क्या कभी कोई हिन्दू धर्माचार्य ने किसी हिन्दू को इसके लिए कोई दण्ड दिया है आज तक? कोई विरोध किया है नहीं, कभी नहीं, वास्तव में हिन्दू धर्म एक मानव धर्म है और जिसको लेकर हर व्यक्ति संसार में जन्म लेता है इसलिए ही उसे सनातन की संज्ञा दी गयी है। सच पूछा जाय तो हिन्दू धर्म जैसा उदार कोई भी धर्म है ही नहीं इस संसार में।

वर्तमान समय में अन्धविश्वास और कट्टरवादिता के रूप में धर्म के नाम पर जो मूर्खतापूर्ण, बर्बरतापूर्ण अत्यन्त घृणास्पद, रोमाञ्चक, पशुतापूर्ण और आत्मा को एकबारगी झकझोर देने वाली दुर्भाग्यपूर्ण घटनाएँ घट रही हैं। उनसे बिल्कुल स्पष्ट हो

जाता है कि हमारे देश पर और हमारे समाज पर धर्म का और मजहब का कितना मैल चढ़ा हुआ है। भविष्य में इसका क्या परिणाम होगा? इसका उत्तर समय ही देगा किन्तु यह निश्चित है कि देश और समाज में पाप और अधर्म का साम्राज्य है और यही कारण है कि लोगों में पश्चाताप और आत्मग्लानि का बोध अधिक से अधिक बढ़ता जा रहा है। लोग अपने आपको असुरक्षित समझ रहे हैं। विश्वास व श्रद्धा तो सपना हो गया है। विनम्रता, नम्रता, स्नेह, अपनत्व और प्रेम ये सब पुस्तकों में सिमट कर रह गये हैं। पिता-पुत्र मिलते हैं तो लगता है जैसे आपस में लड़ झगड़ रहे हैं। भाई-भाई आपस में मिलते हैं तो लगता है जैसे दो प्रतिद्वन्दी आमने सामने हैं। पति-पत्नी मिलते हैं तो लगता है जैसे एक दूसरे को समझने की कोशिश कर रहे हैं और जब दो मित्र आपस में मिलते हैं तो लगता है जैसे दो अजनबी मिल रहे हैं। यह स्थिति है आपके मानव समाज के वातावरण की। जैसाकि हमने कहा पश्चाताप और आत्मग्लानि का बोध गहरा होता जा रहा है लोगों में और ज्ञात होना चाहिए यही एकमात्र कारण है कि पूजा पाठ, भजन, कीर्तन आदि के अतिरिक्त धर्म, धर्मस्थानों, मठों, आश्रमों, मन्दिरों के प्रति लोगों का आकर्षण और भक्ति भाव इस आधुनिक युग में भी दिनों दिन बढ़ता जा रहा है। यह आकर्षण और भक्ति भाव उच्चवर्ग के महापुरुषों में सर्वाधिक दिखलायी दे रहा है वर्तमान समय में। कोई वैष्णव देवी की कठिन यात्रा पर जा रहा है मनौती मानने। कोई अपनी कामना पूरी होने की लालसा से करोड़ों रुपये दान दे रहा है तिरूपति बालाजी के मन्दिर में। कोई अपना सारा तामझाम छोड़कर अपनी पीड़ा सुनाने जा रहा है सिरडी के साईं बाबा को। कोई हताश निराश होकर काशी विश्वनाथ के दरबार में शरण ले रहा है। कोई ग्रह दोष निवारण के लिए शनि के शिलाखण्ड पर तेल चढ़ा रहा है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इन भावनाओं के पीछे अन्धविश्वास और अन्धी आस्था है एवं ज्ञान का पूर्ण अभाव है। ज्ञान के बिना ये सब कुछ व्यर्थ है।

हिन्दू, मुस्लिम, सिख, ईसाई कोई भी धर्म हो सभी अन्धविश्वास, अन्धी आस्था और आडम्बर पाखण्ड का आश्रय लेकर उनके अनुयायी मनमानी कर रहे हैं। इसी प्रसंग में एक बात और स्पष्ट कर देना चाहते हैं हम। वह यह कि इधर चार दशक से अकर्मण्यता और अधिक बढ़ी है, आलस्य और अकर्मण्यता दोनों सगे भाई के समान हैं। विशेषकर मध्यम वर्गीय लोगों में आलस्य और आकर्मण्यता अत्यधिक देखने को मिलेगी। ज्योतिष और तंत्र-मंत्र दो ऐसे रहस्यमय विषय हैं, जिनकी वास्तविकता से प्रायः लोग अपरिचित हैं। इनका लाभ आडम्बर और पाखण्ड का आश्रय लेकर ऐसे लोग खूब उठा रहे हैं वर्तमान में। पहले तो उन्हें आशातीत सफलता प्राप्त होती

है। मान सम्मान और प्रतिष्ठा भी खूब प्राप्त होती है धन तो पूछिए मत। भोग विलास की सामग्री भी एकत्र होते देर नहीं लगती। फिर अन्त में क्या होता है? अन्त में होता है घोर अपमान। आपको ऐसे ज्योतिषी और तांत्रिक बड़े-बड़े शहरों की गली-गली में मिलेंगे। जिनके व्यापार का प्रारम्भ और अन्त इसी प्रकार होता है।

धार्मिक अन्धविश्वास की यात्रा पर अब थोड़ा और आगे बढ़िए। गणेश की मूर्ति दूध पीने लगी। मदरमैरी की आँखों से आँसू गिरने लगे। आकाश में ईसा की आकृति उभर आयी। कहीं किसी दीवार पर स्वयं अपने आप ईश्वर का कोई रूप उभर आया। समुद्र का खारा पानी मीठा हो गया। ऐसे और ऐसे न जाने कितनी बातें देखने सुनने और पढ़ने को मिलती रहती है बराबर। क्या ऐसा सम्भव है? नहीं! न धर्म की दृष्टि से और न तो विज्ञान की दृष्टि से। लगभग तीस साल पहले हम अपने शोध के सिलसिले में एक ऐसे मन्दिर में गये, जिसमें काले पत्थर की बनी भैरवजी की विकराल मूर्ति स्थापित थी। मूर्ति कितनी प्राचीन थी यह तो हम नहीं बतला सकते लेकिन उस मूर्ति में हमने एक आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय बात देखी। मूर्ति का मुंह खुला हुआ था। श्रद्धालुगण उस खुले मुंह में शराब भरी बोतल उढ़ेलते और पूरी शराब मूर्ति पी जाती। लोगों की धारणा थी कि भैरव बाबा शराब पीते हैं। जब हमने इस पर पुरातत्व की दृष्टि से विचार किया तो सारा रहस्य अपने आप खुल गया लेकिन हमने उस रहस्य को गोपनीय ही रखा क्योंकि हम जानते थे कि अन्धभक्तों को विश्वास न होगा हमारी बातों पर लेकिन जो सत्य था वह सत्य ही था और वह सत्य यह था कि एक पत्थर ऐसा होता है जो पानी को सोख लेता है अपने आपमें। स्पष्ट है, भैरव बाबा की मूर्ति उसी पत्थर की बनी हुई थी। आज भी वह मन्दिर है और आज भी उस मन्दिर में भैरव बाबा हैं और आज भी वह मदिरा पान करते हैं श्रद्धालुओं के हाथ से। कहने की आवश्यकता नहीं अन्ध भक्त ऐसे चमत्कारों में स्वयं को शामिल कर अपने जीवन को कृतार्थ समझने लग जाते हैं।

अब आज के धर्माचार्यों और धर्मगुरुओं के अमरावती में प्रवेश करिये। अवाक् और स्तब्ध रह जायेंगे आप। धर्म का प्रतिनिधित्व करने वाले तथा कथित धर्माचार्यों और धर्मगुरुओं का ऐश्वर्य पूर्ण रहन-सहन, खान-पान, भोग-विलास और आडम्बर-पाखण्ड को देखकर कौन कहेगा उन्हें संत महात्मा? कौन कहेगा उन्हें परम त्यागी और निर्लिप्त? कौन कहेगा उन्हें ज्ञानी पुरुष और सिद्ध साधक? उनका मठ और आश्रम देख कर किसी ऐश्वर्यपूर्ण राजा के राजमहल को भी भूल जायेंगे आप। ऐसे दिव्य अवतारी महापुरुषों के समय-समय पर धार्मिक प्रवचन भी होते रहते हैं। जिनमें धर्मगत बातें तो कम लेकिन वाक्जाल अधिक होता है। लोगों को आकर्षित

करने के लिए विभिन्न प्रकार के हावभाव और विभिन्न प्रकार की मुद्राएं भी प्रदर्शित करते हैं। इसी प्रसंग में यह भी बतला देना आवश्यक है कि स्वयंभू प्रवचनकर्ता, कथावाचकों और उपदेशदाताओं की भी संख्या बराबर बढ़ती जा रही है। जिनमें युवा और वृद्धजन तो हैं ही उनके अतिरिक्त युवा महिलाओं की भी संख्या कम नहीं है। उनका भी आडम्बर और पाखण्ड देखिये, वेशभूषा देखिये, हावभाव देखिये। विभिन्न प्रकार की मुदाएँ देखिए, वाणी विलास देखिए, वे स्वयं यह नहीं जानते हैं कि क्या बोल रहे हैं? किस विषय पर बोल रहे हैं और वास्तव में बोलना क्या चाहते हैं बे-सिर पैर की बात टी.वी. के कई चैनलों पर तथाकथित स्वयंम्भू लोग छाये हुए हैं। मात्र उद्देश्य है धर्मान्ध लोगों को आकर्षित करना और अपना आर्थिक पक्ष मजबूत करना।

अब भक्तों और शिष्यों पर दृष्टिपात करिये। सभी धनाढ्य सम्पन्न और उच्चवर्ग के होते हैं। चमचमाती कार में आते हैं गुरुदेव के चरणों का स्पर्श करते हैं विनम्र भाव से और फिर एक तरफ बड़ी श्रद्धा से सिर झुका कर बैठ जाते हैं। वे गंगाघाट पर होने वाली कथा को सुनने नहीं जायेंगे। वे किसी मन्दिर में हो रहे प्रवचन को सुनने नहीं जायेंगे। किसी अन्य स्थान पर हो रहे भजन कीर्तन को सुनने नहीं जायेंगे। वे जायेंगे अपने बराबर के अकूत सम्पत्ति के मालिक और धनाढ्य महापुरुषों की कथा और उनका प्रवचन सुनने। इसके भीतर क्या रहस्य है? यह गुरु जाने और जाने उनकी शिष्य और भक्त मण्डली। क्या कभी किसी ने किसी गरीब मजबूर को किसी भिखारी को, किसी रिक्शे वाले को, किसी रेहड़ी वाले को या किसी हीन-दीन दरिद्र को उनकी कथा और उनका प्रवचन सुनते देखा है और देखा है उनका आशीर्वाद लेते हुए भी। नहीं, कभी नहीं! यदि बेचारे साहस करके जायें भी तो दुत्कार कर भगा दिए जायेंगे। अब एक विकट प्रश्न यह है कि ऐसे लोगों के पास जो अकूत सम्पत्ति है और जो अकूत धन सम्पदा है वह देखते-ही देखते आयी कहाँ से? उनका स्रोत क्या है? यदि उनके शिष्य और भक्तगण हैं तो किस स्वार्थवश और किस कार्यवश देते हैं?

यदि दान के रूप में देते हैं तो दान सदैव स्वार्थपूर्ण होता है। लौकिक स्वार्थ हो या हो पारलौकिक स्वार्थ। यदि दान देना ही है तो उन अबलाओं को दीजिए जो असहाय हैं, जो निर्बल हैं, जो तिरस्कृत हैं। उन माताओं को दीजिए जो तन को ढकने के लिए और पेट की आग बुझाने के लिए बेच रही हैं अपने कलेजे के टुकड़ों को और उन गरीब दीनहीन दुःखी, निराश और निर्बल किसानों को दीजिए जो अभावग्रस्त जीवन से ऊब कर आत्महत्या कर रहे हैं। हरे-भरे वृक्षों में पानी खाद डालने से कहीं अच्छा है, सूखे वृक्षों में पानी खाद डालना। जो भरा पूरा है उसे दान देने से क्या लाभ? लौकिक और पारलौकिक कल्याण तभी होता है जब हम दीनहीन, दरिद्र, अभावग्रस्त, भूखे-नंगे

लोगों को श्रद्धापूर्वक दान देते हैं। श्रद्धापूर्वक दिया गया दान सात्विक दान कहलाता है। यदि हम ऐसे लोगों को श्रद्धापूर्वक दान दें। उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति करें और उनके अभावों को दूर करें तो निश्चय ही कभी न कभी और किसी न किसी क्षण परमात्मा की, ईश्वर की और भगवान की शुभ दृष्टि अवश्य पड़ेगी हम पर इसमें सन्देह नहीं। अकूत सम्पत्ति वाले धार्मिक प्रतिष्ठान द्वारा समाज का कोई कल्याण नहीं हो रहा है न ही समाज को नैतिक शिक्षा दे पाने में और न ही आत्मिक शान्ति देने में ये प्रतिष्ठान कोई प्रयास करते हुए दिखलायी देते हैं।

मानव मन जितना विकारग्रस्त होगा, उतना अशान्त होगा और जितना अशान्त होगा उतना ही ग्रह नक्षत्र और पूजा-पाठ के मायाजाल में लिप्त होगा इसमें कोई सन्देह नहीं। यदि मनुष्य केवल अपने मन को स्वच्छ और निर्मल रखे तो किसी भी ग्रह की शान्ति कराने और किसी भी देवी-देवताओं को प्रसन्न करने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी उसे। ग्रह क्या है? एक पिण्ड है। जिनमें से एक विशेष प्रकार की ऊर्जा निःसृप्त होती रहती है जो सूर्य रश्मियों में मिश्रित होकर पृथ्वी पर आती है और प्रभावित करती है जड़ चेतन पदार्थों को। बारह राशियाँ क्या है ? कई नक्षत्रों का समूह। उन नक्षत्रों से भी विभिन्न प्रकार की ऊर्जायें बराबर निःसृप्त होती रहती हैं। बारह राशियों के बारह केन्द्र हमारे शरीर में हैं। चार केन्द्र हैं मस्तिष्क में, चार केन्द्र हैं हृदय में और शेष चार केन्द्र हैं नाभि में। नक्षत्रों की सम्मिलित ऊर्जा राशि की ऊर्जा कहलाती है। नौ ग्रहों में तीन ग्रह सात्विक, तीन ग्रह राजसिक और तीन ग्रह तामसिक हैं। इसी के आधार पर बारह राशियों के भी अपने-अपने गुण होते हैं। हमारी जो राशि होगी वह राशि शरीर में स्थित अपने केन्द्र को बराबर प्रभावित करती रहेगी। निश्चय ही ग्रहों और राशियों और उनसे संबंधित नक्षत्रों की ऊर्जाओं का अच्छा प्रभाव सूर्य रश्मियों द्वारा हम पर पड़ता है। उनको रोकने के लिए हम रत्नों के अलावा जप, पूजा, पाठ आदि का आश्रय लेते हैं लेकिन वे सब तभी सफल होंगे जब हमारा शरीर शुद्ध होगा, वाणी शुद्ध होगी और मन विकार रहित होगा। ये आध्यात्मिक विषय है उन्हें स्वीकार करना ही पड़ेगा। नहीं करेंगे तो ज़ाइए उन लोगों की भीड़ में जो निजस्वार्थ के वशीभूत होकर या किसी इच्छित मनोकामना की पूर्ति के लिए धार्मिक प्रतिष्ठानों से जुड़ते हैं। उन भीड़ों में वैसे भी लोग होते हैं जो अपनी ग्रह दशा और समय को ठीक कराने के उद्देश्य से वहां कतार में खड़े रहते हैं।

***

धर्मगुरु, धर्माचार्य, मठाधीश आदि के संबंध में संक्षिप्त रूप से चर्चा की गयी। अब धर्म क्या है? इस पर थोड़ा विचार करना आवश्यक है। हमारे विचार से हिन्दू

धर्म की जो मूलभित्ति है उसी का किसी न किसी रूप में अनुशरण कर अन्य सभी धर्मों का आविर्भाव हुआ है। विश्व में जितने भी धर्म हैं। वे सब के सब मानव निर्मित धर्म हैं लेकिन हिन्दू धर्म स्वयं आविर्भूत है इसीलिए हिन्दू धर्म को सनातन धर्म कहा गया है। सनातन का अर्थ है जो सृष्टि के प्रागूकाल से चला आ रहा है। व्याकरण के अनुसार 'धर्म' शब्द 'धृञ' (धारणे) धातु के आगे 'मन' प्रत्यय लगाने से बनता है। इसकी व्युत्पत्ति तीन प्रकार से की जा सकती है। पहली- जिससे लोक धारण किया जाय वह धर्म है **(धियते लोक अनेन इति धर्मः)**। दूसरी- जो लोक को धारण करे वह धर्म है **(धरति धारयति वाह लोकम् इति धर्मः)** और तीसरी- जो दूसरों के द्वारा धारण किया जाय वह धर्म है **(धियते यः स धर्मः)**। इस प्रकार धर्म का धातुगत अर्थ है धारण करना। धर्म की जिस धारणा ने हिन्दू जीवन को प्रभावित किया है। उसका मूल रूप इसी धातुगत अर्थ पर आधारित है लेकिन धर्म का उद्देश्य केवल ''धारण'' करना ही नहीं है। धर्म, सुख और आनन्द का मूल है **(धर्मेण सुखमासीत)**। सुख दो प्रकार का होता है- लौकिक और पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक। लौकिक सुख की दृष्टि से कहा गया है कि धर्म से धर्म होता है और धर्म से सुख प्राप्त होता है **(धनाद्धर्मे ततः सुखम्)**। वैशेषिक दर्शन के अनुसार- उसका कहना है कि जिससे लौकिक सुख तथा पारलौकिक कल्याण यानि परमार्थ की सिद्धि हो वह धर्म है **(यतोऽभ्युदयनिः श्रेयस सिद्धि स धर्मः)**। मनु के अनुसार धर्म के चार लक्षण हैं- वेदानुकूल, स्मृतिसम्मत, आचारनिष्ठ तथा आत्मप्रिय व्यवहार। मानव धर्मशास्त्र में धर्म के दस लक्षण बतलाए गये हैं-

धृति (सन्तोष), क्षमा, दया (आत्म नियन्त्रण) अस्तेय, (त्याग) शौच, (शुद्धता) इन्द्रिय निग्रह, धी (न्याय, बुद्धि) विद्या (ज्ञान) सत्य और अक्रोध। इससे निष्कर्ष निकलता है कि धर्म का संबंध उन नियमों से है जिनसे मानव जीवन में संयम तथा सदाचार उत्पन्न होते हैं और जिनके माध्यम से मानव जीवन का शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक अभ्युदय होता है। इससे संस्कारों का महत्व बढ़ जाता है। संयम जीवन संस्कारों को सम्पन्न करता है और संस्कार का फल होता है शरीर और जीवात्मा का उत्तरोत्तर विकास। धर्म पहले सन्मार्ग का उपदेश देता है। उन्नति के लिए नियम है। संयम उस उपदेश व नियम का पालन है। संस्कार उन संयमों का सामूहिक फल है और किसी विशेष देशकाल और निमित्त में विशेष प्रकार की उन्नत अवस्था में प्रवेश करने का द्वार है और सब संस्कारों का अन्तिम कार्य विकास है। **"संयम संस्कार विकास व संयम संस्कार अभ्युदय निः श्रेयस"** यह धर्मानुकूल कर्तव्य का क्रियात्मक रूप है। यही सब मिलकर संस्कृति का इतिहास बनाते हैं। धर्म यदि आत्म-अनात्म की विधायक वृत्ति है तो संस्कृति उसका क्रियात्मक रूप है। धर्म,

आत्म-अनात्म का और जीवात्मा तथा शरीर का विधायक है। धर्म व्यक्तिगत रूप से समाज का भी विधायक है **(धर्मो धारयीत प्रजा)** और संस्कार समाज का विकास करने वाला है। वास्तव में 'धर्म' संयम और संस्कार के उन नियमों में निहित है जो मानव जीवन को, व्यक्ति और समाज को अभ्युदय तथा 'निःश्रेयस' की ओर ले जाते हैं किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि धर्म कोई जटिल बन्धन है। नहीं कभी नहीं ऐसा सोचना चाहिए। 'धर्म' का आधार ज्ञान है। योग में दो शब्दों का प्रयोग हुआ है 'विद्या' और 'अविद्या'। 'विद्या' ज्ञान को कहते हैं और 'अविद्या' कहते हैं अज्ञान को। मानव जीवन में जितने प्रकार के बन्धन हैं। वे सब अविद्या यानी अज्ञान के कारण हैं। इसी अज्ञानता को दर्शनशास्त्र में 'माया' कहा गया है। 'माया' का ही दूसरा नाम 'अहंकार' है। अहंकार ही अज्ञान का जन्मदाता है। अज्ञानता के ही कारण मनुष्य में अन्धविश्वास का जन्म होता है। जहां ज्ञान है वहां धर्म है और जहां धर्म है वहां ज्ञान है। जो धर्म किसी दूसरे धर्म में बाधा पहुँचाता है उसकी निन्दा करता है और पाखण्ड समझता है वह धर्म नहीं अधर्म है। जो धर्म समस्त धर्मो का अविरोधी है, वही यथार्थ में है 'धर्म'। धर्म मानव जीवन के सभी पक्षों का सम्यक् किन्तु उन्नतिशील विकास है। एक सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य पर जिन चार कारणों का प्रभाव पड़ता है वे हैं- देश, काल, श्रम और गुण। धर्म के नियम हैं- जो इन चारों का समन्वय करके, व्यक्ति तथा समाज को अभ्युदय के मार्ग पर ले जाते हैं। मानव जीवन में धर्म उतना ही स्वाभाविक है जितना कि स्वयं मानव जीवन। धर्म का जो नाश करता है, धर्म उसका नाश करता है। धर्म की जो रक्षा करता है। धर्म उसकी रक्षा करता है। **(धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः)** धर्म का त्याग किसी भी अवस्था में किसी भी कारण और किसी भी परिस्थिति में नहीं करना चाहिए। कहा भी गया है- **न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मेम् त्यजेज्जीवित स्यापि हेतो।।** काश आज का जनमानस धर्म के रहस्यों को समझता और उसके अनुसार जीवनयात्रा करता तो आज जो स्थिति है मानव समाज की वैसी नहीं होती कुछ और ही होती। मानव जगत के सामने देव जगत फीका पड़ जाता इसमें सन्देह नहीं।

***

अब हम योग से संबंधित विषयों की संक्षिप्त में चर्चा करेंगे। जैसाकि हम पहले बतला चुके हैं कि प्रायः लोग योग से भक्ति को सरल और सहज समझते हैं। ठीक है, अपने-अपने विचार हैं और अपनी-अपनी धारणा है। लेकिन गहरायी में जाकर यदि देखा जाय तो 'भक्ति' को जितना लोग सरल और सहज समझते हैं उतना है नहीं, भक्ति अत्यन्त गहन और गम्भीर है। भक्ति को समझना और भक्ति करना सभी के वश की बात नहीं है। लोगों को यह भी कहना है कि भक्ति से योग का कोई

संबंध नहीं है। भक्ति से भी चित्त निर्मल हो सकता है और उस निर्मल चित्त में परमेश्वर का दर्शन भी हो सकता है। यह सम्भव है लेकिन तभी जब भक्ति में ज्ञान का समन्वय होगा। भक्ति और ज्ञान दोनों के समन्वय को गीता में भक्ति योग कहा गया है, भक्ति तभी पूर्णता को प्राप्त होती है और तभी सफल होती है जब उसमें ज्ञान का मिश्रण होता है। ज्ञान के अभाव में भक्ति बिना चीनी की मिठाई के समान है।

ईश्वर के विभिन्न नामों को लेकर भजन कीर्तन करना, नाचना-गाना, देवी-देवताओं को आकर्षक श्रृंगार करना, भोग लगाना, विह्वल होकर रोना हँसना उन्मादित हो जाना। इसीलिए इसे उन्मादिनी भक्ति कहते हैं। भले ही ये सब मन को अच्छा लगता हो और मन को शान्ति मिलती हो। सच तो यह है कि यह सब समय काटने का एक सर्वोत्तम साधन है। बुरे कर्मों से तो इसे बहुत ही अच्छा समझा जायेगा। बिना ज्ञान के भक्ति बिना ज्ञान के सभी प्रकार की पूजा-अर्चना पाठ सभी प्रकार की साधना, उपासनाएँ व्यर्थ हैं। भक्ति का अर्थ है- बिना ज्ञान के किए गये कर्म। श्रेय का अर्थ है ज्ञानमुक्त कर्म और यदि वह ज्ञानमुक्त कर्म निष्काम है। फल अथवा परिणाम की आशा नहीं है। उसमें निर्लिप्तता है और निरपेक्ष भाव है तो वही 'कर्म' मोक्ष का अन्त में साधन बन जाता है। निर्लिप्तता और निरपेक्षता से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कर्म का फल नहीं मिलेगा वह तो निश्चित रूप से मिलेगा। उसे मिलना ही है और अब प्रश्न यह है 'ज्ञान' किसका? आप जिस कार्य को करने जा रहे हैं उस कार्य का सम्यक ज्ञान। सम्यक ज्ञान होने पर उसके प्रति निष्काम भाव से किए गये कार्य निश्चित रूप से उसे सफल बना देंगे। भले ही नियति विपरीत होने से असफलता मिले। यदि निर्लिप्तता और निरपेक्षता है तो आपको उस असफलता से कदापि दुःख न होगा। आप उसे अपना अहोभाग्य समझेंगे क्योंकि असफलता के गर्भ से ही पूर्ण सफलता जन्म लेती है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि आप कर्म के बन्धन में भी नहीं पड़ेंगे। कर्म बन्धन ही आप को जन्म और मृत्यु के चक्र में डालता है। कर्म बन्धन का ही दूसरा नाम 'माया' है। माया यानि कर्म बन्धन जो संसार में सभी दुःखों का एकमात्र कारण है।

***

अब हम जिस बिन्दु पर पहुँचे हैं वह 'कर्म' है। सबसे पहले यह जान लेना चाहिए कि लौकिक जगत में ही 'कर्म' है अन्य पारलौकिक जगतों में 'कर्म' का पूर्ण अभाव है। कर्म तो मनुष्य क्या पशु-पक्षी आदि जितने इतर प्राणी हैं- वे सभी कर्म करते हैं लेकिन अन्तर है। इतर प्राणियों द्वारा जो कर्म होता है वह प्राकृतिक है। उसमें कुछ नैसर्गिक है। मनुष्य द्वारा किया गया कर्म प्रकृति की सीमा के बाहर है। स्पष्ट है मनुष्य स्वयं अपने कर्म का जिम्मेदार है प्रकृति नहीं। कर्म से प्रकृति का कोई

सामंजस्य नहीं। जहां प्रकृति नहीं रहती वहां नियति रहती है। मनुष्य द्वारा किया गया 'कर्म' नियति के अधीन है और नियति का निर्माण स्वयं मनुष्य ही करता है- जो भाग्य और दुर्भाग्य के रूप में सामने आता है। नियति से भी मुक्त होने के लिए एकमात्र निष्काम कर्म ही साधन है।

कर्म स्वाभाविक है। कर्म बन्धन नहीं है कर्मफल बन्धन है। कर्मफल के प्रति आशक्ति, मोह, आकर्षण और लगाव- ये बन्धन है। कर्म मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है जो जन्मजात है लेकिन कर्मफल मनुष्य के अधिकार में नहीं है। वह नियति के अधिकार में है। इस प्रसंग को ध्यान से पढ़ना चाहिए, जो हम लिख रहे हैं उसे गम्भीरता से विचार करने की आवश्यकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि मनुष्य कभी किसी क्षण बिना काम के निष्क्रिय भाव से बैठ ही नहीं सकता और कर्मफल है दूसरी ओर उसके अधिकार के बाहर। कर्मफल के प्रति आशक्ति ही आपको जन्म और मृत्यु के बन्धन में बांधती है। फलाशक्ति के कारण ही आप में काम, क्रोध, मोह, लाभ और अहंकार का जन्म होता है यदि आपकी आशक्ति नष्ट हो जाय। आप में आशक्ति का अभाव हो जाय तो फिर आप में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि कहाँ! तब तो आप एक परमसन्त है।

फलाशक्ति के कारण ही आपकी इन्द्रियां सात्विक, राजस और तामस गुणों से प्रभावित होती है। जिसके फलस्वरूप 'ज्ञान' ढक जाता है। उस पर गुणों का ग्रहण लग जाता है और उस ग्रहण के कारण आप अपने आपको, अपने अस्तित्व को और अपने आत्मस्वरूप को एकबारगी भूल जाते हैं। मानव जीवन में कर्म का महत्वपूर्ण स्थान है लेकिन कर्मफल और 'अहं' यानी कर्ता का भाव नहीं है। वेदवादी, कर्मकाण्डवादी कामनावादी, स्वर्ग को ही श्रेष्ठ मानने वाले, जन्ममरण रूपी कर्मफल में विश्वास रखने वाले तथा भोग और ऐश्वर्य के लिए ही कर्म करने वाले अज्ञानी हैं। ऐसे अज्ञानियों पर नियति हँसती है इसलिए कि ऐसे अज्ञानी बुद्धि के अभाव के कारण यह नहीं जानते हैं कि कर्म का अच्छा-बुरा फल आज नहीं तो कल मिलेगा ही नियति के अनुसार लेकिन उसकी आशा अदृश्य रूप से एक ऐसे बंधन में बांध रही है, जिसके कारण आवागमन से कभी भी मुक्ति नहीं मिलेगी।

***

जीवन और कर्म दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। जीवन में कर्म आवश्यक है लेकिन कर्मफल की कामना और उस कामना के प्रति आशक्ति, स्पृहा, लगाव या मोह आदि आवश्यक नहीं है। मानव जीवन का अन्तिम और चरम उद्देश्य है मोक्षपूर्ण स्वतंत्रता। जीवन के बंधन से सदैव के लिए मुक्त होने का नाम मोक्ष है। सदैव के लिए

शरीर से, संसार से, कर्म से और जीवन से मुक्त हो जाना ही मोक्ष है जिसे निर्वाण भी कहते हैं और कहते हैं परमगति। मोक्ष की अवस्था आत्मा की सर्वोच्च अवस्था है। उसके बाद कोई अवस्था नहीं। उस अवस्था में न प्रकृति का, न नियति का और न तो गुणों का प्रभाव है। सत, रज और तम इन तीनों से ऊपर उठ जाना ही गुणातीत अवस्था है। इसी अवस्था को मोक्ष कहते हैं।

गुणातीत वह व्यक्ति है जिसके पास किसी भी प्रकार की प्रवृत्ति नहीं है। न दुःख में दुःखी है और न तो सुख में सुखी है, न मोह है न आकर्षण है और न तो है किसी भी प्रकार कामना-वासना आदि। जिसमें किसी भी प्रकार के गुणों का प्रभाव नहीं पड़ता। जिसके लिए शत्रु, मित्र, मान-सम्मान और अच्छा-बुरा समान है जो अलिप्त है, ऐसे ही व्यक्ति को कहते हैं स्थितिप्रज्ञ। आत्मस्थित अथवा उदासीन योग की जो अन्तरंग साधना है उसमें कर्मफल त्याग सबसे महत्वपूर्ण है। यदि कोई इसे मात्र अपना ले तो फिर कोई योग करने की आवश्यकता ही नहीं, उसके सामने सभी प्रकार के योगाभ्यास व्यर्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार धुआं अग्नि से अलग नहीं है उसी प्रकार कोई भी व्यक्ति कर्मदोष से मुक्त नहीं होता। हम कहते हैं कि आप अच्छा-बुरा जो भी कर्म हो करिये लेकिन उसमें आसक्ति मत रखिये, उसके प्रति मोह मत रखिए। कर्म का जो फल है वह तो आपको मिलेगा ही, लेकिन कर्म दोष से मुक्त रहेंगे। यज्ञ, जप, दान, तीर्थ, तपरूपी सभी प्रकार के कर्म तभी दोष रहित होते हैं जबकि उन्हें फलेच्छा रहित भाव से और अनाशक्त भाव से किया जाय। मनुष्य के लिए कर्म का त्याग असम्भव है। सम्भव है कर्मफल का त्याग। त्यागी हम उसे कहते हैं जिसने कर्मफल का त्याग किया है।

अट्ठारह योगों में एक संन्यास योग भी है। संन्यास कई प्रकार का होता है। जिनमें कर्मफल संन्यास सर्वोत्तम है।

कर्मफल संन्यास की साधना योग द्वारा ही सम्भव है। कर्मयोग के द्वारा कर्मत्याग अति कठिन है। जिसने मन के संकल्पों का त्याग नहीं किया है उसे योगी कहना उचित नहीं। आप आसन, प्राणायाम, ध्यान आदि जो कुछ भी करें। यदि आपके मन में संकल्प है तो आप कभी भी योग मार्ग में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। योग साधना के लिए कर्म साधना आवश्यक है। आत्मशान्ति उसे ही प्राप्त होती है जो कर्मयोग का आश्रय लेकर योग में प्रवृत्त होता है। कर्मयोग का अर्थ है कर्मों के द्वारा उत्पन्न फलों का हृदय से त्याग। इस त्याग बुद्धि से किए गये कर्म को निष्काम कर्म कहते हैं। संकल्प रहित निष्काम कर्म करने वाला ही एकमात्र संन्यासी है। आप जो भी कर्म करते हैं- वे सब गुणों के वशीभूत होकर और इन्द्रियों के द्वारा प्रेरित होकर करते हैं। इसी का नाम आशक्ति है। जब

आप निष्काम भाव से कर्म करते हैं उस समय यह आशक्ति नहीं रहती। योग का परम लक्ष्य है आत्मा का उद्धार करना। जबतक मन इन्द्रियों के वश में रहेगा तबतक आप फल की आशा से कर्म करते रहेंगे और सुख-दुःख उठाते रहेंगे। भाग्य को कोसते रहेंगे और चिंता में बराबर डूबे रहेंगे। जब इन्द्रियों का संबंध मन से टूट जाता है तो उस अवस्था में मन का संबंध अपने आप बुद्धि के माध्यम से आत्मा से जुड़ जाता है। उस अवस्था को योग परम शान्त अवस्था कहता है। परम शान्ति प्राप्त योगी के लिए सब कुछ समान हो जाता है। सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख, आपत्ति-विपत्ति, रोग शोक आदि सब कुछ उसके लिए समान हो जाता है। इसी को समत्व भाव कहते हैं **"समत्वं योग उच्चयेत"**।

जहां तक मेरी धारणा है उसके अनुसार अभ्यास मार्ग, ज्ञान मार्ग श्रेयस्कर है। ज्ञान मार्ग से ध्यान मार्ग और ध्यान मार्ग से कर्मफल, न्यास यानि कर्मफल त्याग श्रेयस्कर है। इससे तत्काल आत्मशान्ति लाभ होता है। यदि मन को स्थिर करने का सामर्थ्य न हो तो निमित्त कर्म द्वारा और यदि निमित्त कर्म का भी सामर्थ्य न हो तो यत्नपूर्वक सभी कर्मों का फल त्याग कर समत्व भाव को अपनाते हुए भक्तियोग द्वारा परमात्म लाभ सम्भव है।

इस प्रसंग के अन्त में केवल इतना ही कहना उचित है कि योग एक ही जन्म की नहीं कई जन्मों की एक दीर्घयात्रा है। समत्व भाव से फलाकांक्षा से रहित जीवन व्यतीत करते हुए भक्तियोग द्वारा श्रीरामकृष्ण परमहंस देव की तरह परमात्मतत्व में लीन हो सकते हैं और जीवनकाल में ही परम शान्ति को हो सकते हैं उपलब्ध।

–अरुण कुमार शर्मा

विषय प्रवेश

ज्ञान के जितने स्तर हैं उन्हें मुख्य रूप से सात श्रेणियों में विभक्त किया गया है जिनको तांत्रिक भाषा में ज्ञान की सप्त भूमि कहते हैं। ज्ञान की इन सप्त भूमियों में प्रथम दो श्रेणी अथवा दो भूमि के ज्ञान को 'आगम' और 'निगम' की संज्ञा दी गयी है। 'आगम' तंत्रों पर आधारित है, जबकि 'निगम' आधारित है वेदों पर।

तंत्र गुह्य ज्ञान है और वेद है परम ज्ञान। तंत्र शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की गयी है। पहली व्याख्या के अनुसार तंत्र का अर्थ है- ज्ञान का विस्तार अथवा विकास। दूसरी व्याख्या के अनुसार- यह ज्ञान का ऐसा मार्ग दर्शाने वाला साधन है जो मनुष्य को लौकिक और पारलौकिक सुख तो प्रदान करता ही है, इसके अतिरिक्त मोक्ष का भी मार्ग प्रशस्त करता है। इसी कारण शंकराचार्य ने दर्शन के सांख्य सिद्धान्त को तंत्र के रूप में स्वीकार किया है।

भारतीय दर्शनों के महान व्याख्याता पं. वाचस्पति मिश्र ने स्पष्ट किया है कि तंत्र को आगम क्यों कहा गया है? उनके अनुसार वह एक ऐसा विशिष्ट ज्ञान है जिसका प्रचार साधकों और उनके शिष्यों में होता रहा है, जिसके माध्यम से आनन्दोपलब्धि और मोक्ष प्राप्ति उनके उद्देश्य रहे हैं।

शाक्त तंत्रों में प्रत्येक साधक की बौद्धिक स्थिति को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया गया है-जो क्रमशः पाशविक, वीरतापूर्ण और दैवी भावनाओं पर अवलम्बित है। इन तीन अवस्थाओं को तंत्र के शब्दों में पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव कहते हैं।

तंत्र में भाव के बाद आचार है। आचार अथवा साधना के बाहरी अभ्यास के अनुसार तंत्रों की एक सप्तस्तरीय स्थिति भी होती है जो इस प्रकार है- वेदाचार (साधना की वैदिक पद्धति), वैष्णवाचार, शैवाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार। इन सब बातों को विस्तारपूर्वक जानना तंत्र विद्या के विद्यार्थी के लिये आवश्यक है।

तांत्रिक साहित्य का क्षेत्र काफी विस्तृत है जिसे मुख्य रूप से तीन वर्गो में विभक्त किया गया है उन तीनों वर्गो के नाम हैं विष्णुक्रान्ता, रथक्रान्ता और अश्वक्रान्ता। प्रत्येक वर्ग में ६४ तंत्र हैं। इन ६४ तंत्रों के साहित्य की विचारधाराओं को भी तीन अलग-अलग भागों में विभक्त किया जा सकता है ब्राह्मण तंत्र, बौद्ध तंत्र और जैन तंत्र। ब्राह्मण तंत्र

की तीन विशिष्ट शाखायें हैं वैष्णव आगम, शैव आगम और शाक्त आगम। इन तीनों आगमों पर प्रचुर साहित्य संस्कृत में उपलब्ध है। फिर भी यह स्वीकार किया जाता है कि इनमें शाक्त आगम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। शैव तंत्र के दो अत्यधिक महत्वपूर्ण वर्ग हैं वीर शैव और काश्मीरी शैव। वीर शैव को लिंगायत भी कहा जाता है। इनके अतिरिक्त भी तंत्र संबंधी कुछ मान्यताएं हैं। तंत्र ज्ञान की ओर ज्यों-ज्यों शास्त्रज्ञों की अभिरूचि बढ़ रही है त्यों-त्यों न केवल भारत में अपितु सारे संसार में इन मान्यताओं का विस्तृत अध्ययन किया जा रहा है। पिछले तीन दशकों से आलोचनात्मक, ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन जारी है। जिनके द्वारा भक्ति के उद्देश्यों, विधि-विधानों और तांत्रिक भक्ति द्वारा सिद्धि प्राप्त करने के विविध उपायों को प्रकाश में लाया जा रहा है।

इतिहास में इस बात के प्रमाण सर्वत्र मिलते हैं कि सभ्यता तथा संस्कृति के अनेक कालान्तरों में विशिष्ट विचारधाराएं अपने मूलस्रोत से निकल कर दूर-दूर तक प्रवाहित हुई। तांत्रिक अध्ययन के क्षेत्र में अबतक जो कुछ भी किया गया है उसे ज्ञानमार्ग का अन्तिम लक्ष्य नहीं माना जा सकता। जो विद्वान इस क्षेत्र में कार्यरत है उन्हें यौगिक अभ्यास और तांत्रिक सिद्धान्तों के नये मार्गो की खोज करनी चाहिये।

लगभग दो हजार वर्ष पूर्व तांत्रिक साधना में पूर्ण सिद्धि लाभ के लिये चार मुख्य पीठों की स्थापना हुई जालन्धर पीठ, कामाख्या पीठ, पूर्णगिरि पीठ, और उड्डयान पीठ। पीठ का अर्थ है-शक्ति केन्द्र। एक ऐसा केन्द्र जिसका अगोचर संबंध दैवीराज्य और भावराज्य से होता है। इस दृष्टि से उड्डयान पीठ की अपनी विशिष्ट गरिमा है। ऐतिहासिक प्रमाणों से यह स्पष्ट हो चुका है कि उड़ीसा जहाँ उड्डयान पीठ है शक्ति साधना का सबसे प्राचीन स्थान है। यदि और गहरायी से विचार किया जाय तो वास्तव में प्राचीन काल में उड़ीसा का ही नाम उड्डयान था। उड़ीसा के क्षेत्र में तंत्रो के प्रचलन पर विचार करते हुए हम प्रायः विशेष रूप से शक्ति पीठ, यौगिकी पीठ और मातृका पीठ की कल्पना को लेकर शक्ति पूजा के संबंध में सोचने लगते हैं। इन पीठों के अन्तर्गत आत्मज्ञान की खोज में साधनारत साधक बहुत बड़ी संख्या में तो थे ही, साथ ही उन्होंने जनसाधारण को तांत्रिक विद्या की ओर आकर्षित करने का प्रेरणाप्रद कार्य भी किया।

सन् १९४५ ई. में जब मैंने तंत्र संबंधी अपनी खोज यात्रा शुरू की तो सर्वप्रथम मेरा केन्द्र बना उड़ीसा। उड़ीसा में दो चौंसठ योगिनी पीठ है। एक भुवनेश्वर से आठ किलोमीटर दूर हीरापुर में स्थित है और दूसरा जिला बोलनगिर में। लगभग एक हजार वर्ष पूर्व लोग इन पीठों से अत्यधिक प्रभावित थे। ताड़पत्रों पर लिखित अनेक पाण्डुलिपियाँ हैं जो भुवनेश्वर स्थित उड़ीसा के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है।

तांत्रिकों के ये ग्रन्थ-जो अभी तक प्रकाशित नहीं किये गये हैं- इस तथ्य को प्रकट करते हैं कि यह ज्ञानार्जन का कितना विस्तृत क्षेत्र था। संग्रहालय में सुरक्षित "आगम" संक्षिप्त सार में दर्शाया गया है विभक्ति के तांत्रिक विधि-विधानों के अनुरूप धार्मिक प्रचलनों का कितना प्रचार-प्रसार था।

उड़ीसा में तंत्र युग का सूत्रपात पाँचवी या छठी शताब्दी में हुआ था। सम्भवतः नौवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जब शंकराचार्य ने पुरी में प्रवेश किया-उन्होंने उड़ीसा में व्याप्त तांत्रिक आस्थाओं का अनुभव किया। उस समय वहाँ तांत्रिक मान्यताओं का इतना प्रभाव था कि विष्णु पुरुषोत्तम कहे जाने वाले पुरी के भगवान जगन्नाथ को भैरव के रूप में विष्णु और शिव का स्वरूप समझा जाता था। इसके साथ ही यह भी प्रचारित किया जाता था कि पुरी के मन्दिर में विमला देवीजी की जो मूर्ति है वह भी भैरव का ही नारी स्वरूप है। तभी से विमला मन्दिर में पशु बलि के विधान द्वारा भक्ति भाव प्रदर्शित करने का प्रचलन हुआ। आश्चर्य की बात यह है कि पुरी के मंदिर में स्थित लक्ष्मी और विमला के दो मंदिरों में से विमला मन्दिर को अधिक महत्व प्राप्त है। यद्यपि भगवान जगन्नाथ को विष्णु का ही स्वरूप माना जाता है और लक्ष्मी को उनकी अर्द्धांगिनी के रूप में।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि उड़ीसा में पूजे जाने वाले देवी-देवताओं में महाविनायक मंदिर का बहुत ऊँचा स्थान है। महाविनायक मंदिर चण्डीखोल से लगभग दो किलोमीटर दूर स्थित है। महायोग और तंत्र के संबंध में विचार विमर्श हुआ था। यह मंदिर अपने नाम के अनुसार गणेश अर्थात विनायक का मंदिर है।

भारत के कुछ अन्य स्थानों से विपरीत उड़ीसा में पाँच महत्वपूर्ण देवी-देवताओं पंच परमेश्वर को समान रूप से श्रद्धा की दृष्टि से देखा जाता है।

शक्ति पूजा के एक प्रसिद्ध केन्द्र का नाम है जेपुर। वहाँ पर देवी 'विराजा' नाम से प्रतिष्ठित है।

दूसरा शिव और पार्वती के पुत्र गणेश का महाविनायक मंदिर है।

भुवनेश्वर शिव भक्ति के लिए सर्वाधिक प्रसिद्ध पीठ है। पुरी सारे भारत में विष्णु पुरुषोत्तम की पूजा के लिए प्रसिद्ध तीर्थ है।

पाँचवे भगवान सूर्य हैं जिनकी मूर्ति कोणार्क के विश्व प्रसिद्ध सूर्य मंदिर में प्रतिष्ठित है।

जिस प्रकार पुरी में जगन्नाथ को अनेक देवी-देवताओं का समुच्यस्वरूप समझा जाता है इसी प्रकार महाविनायक मन्दिर को उपर्युक्त पाँच प्रमुख देवी-देवताओं के रूप

में पूजा जाता है। महाविनायक मंदिर में जिस प्रकार प्रतिमा की पूजा की जाती है उसमें पंच परमेश्वर का स्वरूप निहित है जो सम्भवतः उड़ीसा में अद्वितीय है। यहाँ शक्ति की भक्ति के साथ देवताओं के प्रति श्रद्धा का संगम महत्वपूर्ण है।

इस प्रकार जैसाकि मैंने पहले बतलाया- धार्मिक श्रद्धा और भक्ति का जो शान्तिमय वातावरण और स्वरूप पुरी के जगन्नाथ मन्दिर में देखने को मिलता है लगभग वैसा ही आभास आंशिक रूप से महाविनायक मंदिर में भी होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि उड़ीसा के तांत्रिक परम्परा में अन्य देवी-देवताओं के प्रति भक्ति भावना विद्यमान नहीं है बल्कि व्यवहारिक रूप में विशाल हृदय से उनके प्रति समान श्रद्धाभाव व्यक्त किया जाता है।

जब इस अनुसंधान की दृष्टि से पुरी के मंदिर का पुनरावलोकन किया जाता है तो हमें पता चलता है कि शताब्दियों पूर्व से पुरी का मंदिर उड़ीसा के सांस्कृतिक इतिहास का प्रतीक रहा है और धार्मिक प्रचलनों के विश्व में तांत्रिक विधि-विधानों का केन्द्र रहा है। जिन दिनों पुरी के मंदिर पर तांत्रिक विधि-विधानों का अत्यधिक प्रभुत्व था, तभी से मदिरा द्वारा भगवान जगन्नाथ के अनुष्ठान और अर्चना की परम्परा जोर-शोर से चल पड़ी थी जो आज तक चली आ रही है।

परन्तु पुरी के मंदिर में जिस मदिरा का अर्पण किया जाता है वह मद्य स्वरूप नहीं है। वास्तव में तांत्रिक विधि-विधानों के अन्तर्गत धार्मिक प्रचलनों का निर्वाह करने के लिए मात्र नारियल के पानी को अर्पित किया जाता है। ऐसे अनेक उदाहरण इस क्षेत्र में कार्यरत विद्वान प्रस्तुत कर सकते हैं कि पुरी के मंदिर में तांत्रिक भक्ति परम्परा का प्रचलन किस प्रकार हुआ।

भुवनेश्वर में अधिकतर शिव मंदिर हैं। जिनका निर्माण अनुमानतः सातवीं से बारहवीं शताब्दी के मध्य हुआ है। भुवनेश्वर में स्थित सैकड़ो मन्दिरों में से विट्ठल मंदिर हजार वर्ष से भी पहले की तांत्रिक भक्ति परम्परा का उदाहरण प्रस्तुत करता है। भुवनेश्वर और कटक के मध्य स्थित नेशनल हाइवे संख्या ५ के पूर्व में प्राचीवेली नामक स्थान पर अनेक मंदिर हैं- जो अपने आप में शताब्दियों पूर्व की शक्तिशाली तांत्रिक भक्ति परम्परा के इतिहास की मौन प्रतिध्वनियाँ लिये हुए हैं।

प्राचीवेली में स्थित मंदिरों में दुर्गा के विविध रूप देखने में आते हैं। यहाँ दुर्गा की २, ४, ६, ८, १०, १२, १४ और १६ हाथों वाली अनेक मूर्तियाँ हैं। प्राचीवेली में प्रदर्शित दुर्गा के इन विविध स्वरूपों के सन्दर्भ को जाने बिना उड़ीसा में तांत्रिक-भक्ति परम्परा के विकास का वास्तविक अनुमान लगा पाना सम्भव नहीं है।

ज्ञानोपार्जन और विचारों के आदान-प्रदान के उद्देश्यों से तांत्रिक गुरु पूरे भारत में दूर-दूर तक भ्रमण किया करते थे। अतएव यौगिक और तांत्रिक परम्पराओं का

अध्ययन अखिल भारतीय स्तर पर किया जाना चाहिए।

यह भी सम्भव है कि तांत्रिक गुरु हिमालय की किसी उपत्यका में निवास करते हों और उनके शिष्य पूरे भारत में हों फैले हुए और उन्होंने विविध प्रकार का साहित्य प्रस्तुत किया हो। दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि अलग-अलग स्थानों से प्राप्त तंत्र संबंधी सामग्री को किसी एक क्षेत्र अथवा मूल स्थान से जोड़कर संकीर्णता की सीमाओं में नहीं परखना चाहिये। बल्कि इस उपेक्षित विषय का पूर्णरूप से अध्ययन किया जाना चाहिए। जिससे ज्ञान के नए मार्ग खुले और आज की पीढ़ी अतीत से प्रेरणा लेकर राष्ट्र निर्माण के उन क्रियाकलापों की ओर ध्यान दें, जिनकी ओर ध्यान देने की आवश्यकता है।

प्राचीनकाल में हिन्दू दर्शन की छः विचारधाराओं पर गहन चिन्तन-मनन किया गया था। समाज में इन चिन्तकों का बड़ा आदर सम्मान होता था। दर्शनों की इन छः विचारधाराओं में से एक यौगिक परम्परा भी है। भगवद्गीता में भी दर्शन की योग-परम्परा को महान सत्य स्वरूप दर्शाया गया है।

योग दर्शन हमें सिखाता है कि हम किस प्रकार मन पर नियन्त्रण रखें जिसके द्वारा शारीरिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ्यचित्त हो सके। यह केवल आध्यात्मिक या मनोवैज्ञानिक स्तर पर ही उपयोगी नहीं है वरन् बौद्धिक विकास और उच्चस्तरीय मनः स्थितियों तक पहुँचने के लिये अनेक महत्वपूर्ण शारीरिक क्रियाओं-प्रक्रियाओं के अध्ययन व अभ्यास द्वारा इससे बड़ी सहायता मिलती है।

कई प्रख्यात विद्वानों ने हिन्दू दर्शन की योग परम्परा के सिद्धान्तों का संबंध ऋग्वेद काल से भी जोड़ा है। यहाँ तक कि उपनिषदों में भी प्रारम्भिक योग सिद्धान्तों के अनेक उद्धरण मिलते हैं। पतञ्जलि का योगशास्त्र अथवा योगदर्शन निःसन्देह अत्यधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है परन्तु कुछ मान्यताओं के अनुसार योगदर्शन की मूल विचारधारा पतञ्जलि को हिरण्यगर्भ से प्राप्त हुई थी। योगशास्त्र का मूलस्रोत चाहे जो रहा हो योगदर्शन के वर्तमान चार अध्यायों में १९५ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है।

दर्शन की योग पद्धति में मनोविज्ञान के भी अनेक पक्षों का समावेश है। इसके द्वारा हम यह सीखते हैं कि मन को किस प्रकार नियन्त्रित करें और ध्यानावस्था द्वारा ऐच्छिक उद्देश्य की पूर्ति के लिए किस प्रकार प्रयत्नशील हों। दर्शन की सांख्य पद्धति २५ तत्वों या मूलभूत सिद्धान्तों पर आधारित है। योग परम्परा इन २५ सिद्धान्तों को पूर्णरूप से स्वीकार करती है परन्तु अतिरिक्त सिद्धान्त अथवा मूल सत्य के रूप में ईश्वर के अस्तित्व को मानती है। पतञ्जलि के योग दर्शन में कम से कम स्थानों पर

ईश्वर के संबंध में स्पष्ट उल्लेख आया है। इस पद्धति का बौद्ध काल से पूर्व के भारत में योग अध्ययन के इतिहास का पता लगाना कठिन है। फिर भी इसमें सन्देह नहीं है कि प्राचीन भारत में योग संस्कृति का जोर-शोर से प्रचलन था। मोहनजोदड़ो की खुदाई से प्राप्त कुछ अवशेषों को देखकर यौगिक मुद्रा वाले मानव की कल्पना मन में जाग उठती है।

दूसरे शब्दों में शिलालेखों आदि पुरातात्विक सामग्री के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारत में यौगिक संस्कृति की प्राचीनता और तात्कालिक विभिन्न प्रशिक्षण केन्द्रों से प्रचलित अध्ययन परम्परा के बारे में किञ्चित भी सन्देह नहीं।

आज तांत्रिक साहित्य का उपयोग व्यक्तिगत स्वार्थों की पूर्ति के लिये मात्र दैवी शक्तियों का आशीर्वाद लेने की परम्परा के अनुरूप नहीं होना चाहिए बल्कि इसका अध्ययन मानव मात्र की शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति और उसके कल्याण की भावना से किया जाना चाहिये। यदि तंत्र साधक किसी व्यक्ति के कार्य को सम्पन्न कराने अथवा किसी असम्भव और जटिल कार्य को संभव तथा सरल कराने का चमत्कार दिखा सकता है तो देश और समाज के कल्याण के लिये भी उससे वैसी ही आशा की जा सकती है।

यदि प्राचीन काल में तंत्र साधक अपनी तांत्रिक विद्याओं की शक्ति के बल पर प्रकृति के भयंकर प्रकोपों से तथा देश को शत्रुओं से रक्षा का कार्य कर सकते थे तो आज भी उनसे उस प्रकार के सद्कार्यो की आशा क्यों न की जाय?

इस प्रकार हमारे योग तांत्रिक ज्ञान का सदुपयोग संसार भर के उन लोगों के दुःखों, कष्टों, विपत्तियों और दयनीय स्थितियों को दूर करने में सहायक सिद्ध होगा जो अनेक भयंकर रोगों असाध्य व्याधियों, कठिन समस्याओं और आपदाओं से जूझ रहे हैं और जी रहे हैं उनके बीच।

यौगिक और तांत्रिक अध्ययन के क्षेत्र में हमारे प्रयत्न एक ओर मानवता के कल्याणार्थ और मनुष्य के समस्त सन्तापों को दूर करने तथा सभी प्रकार की सांसारिक समस्याओं को हल करने के लिए हों और दूसरी ओर एक ऐसे समाज की रचना के उद्देश्य को लेकर किये जायें जिसके द्वारा उसके सांसारिक जीवन को ऊँचे स्तर तक उठाया जा सके।

यह है योग और तंत्र के स्वरूप का संक्षिप्त परिचय।

अब मैं आधुनिक विज्ञान पर प्रकाश डालते हुए उसके अनुसार योग और तंत्र पर अपना विचार प्रस्तुत करूँगा और तत्पश्चात प्रस्तुत करूँगा भारतीय संस्कृति

में उपासना।

आधुनिक विज्ञान की चरमसीमा और योग-तंत्र- ऐतिहासिक विपर्यासों के प्रवाह में पड़कर आज भारतीय बुद्धिजीवी वर्ग भारत की प्राचीन आध्यात्म विज्ञान परम्परा से इतनी दूर जा पड़ा है कि उसे आधुनिक विज्ञान की चकाचौंध में कुछ सूझ ही नहीं पा रहा है। आज उसका वह ठोस आधार ही गायब हो चुका है, जिस पर खड़ा होकर वह अपने चतुर्दिक होने वाले परिवर्तनों और वैज्ञानिक प्रगति की स्वस्थ एवं अस्वस्थ प्रवृत्तियों का सही मूल्यांकन अपनी आध्यात्मिक दृष्टि से करते हुए अपने और संसार के लिए वास्तविक कल्याणकारी मार्ग का निर्देशन कर सके। इस महान कार्य में जिस तेजस्वी बौद्धिक नेतृत्व की अपेक्षा है उसके निर्माण के लिए अभी तक न तो किसी व्यवस्थित शिक्षा पद्धति का विकास किया जा सका और न किसी ऐसे सुदृढ़ केन्द्र की स्थापना हो सकी जिसमें अधुनातन ज्ञान के प्रकाश में प्राचीन भारतीय अध्यात्म विज्ञान के सम्बन्ध में राष्ट्र की सर्वोत्कृष्ट प्रतिभाएं शोध और अनुसंधान का कार्य निष्ठापूर्वक सम्पन्न कर सकें। यह स्वतन्त्र भारत का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। जबतक हम इस मूलभूत चिरअपेक्षित एवं उपेक्षित कर्तव्य का संपादन नहीं कर लेते हमारे राष्ट्र का कोई भविष्य नहीं है। आज ज्ञान और जीवन के समस्त क्षेत्रों में विज्ञान के प्रत्येक नये अनुसंधान से एक नयी खलबली पैदा हो जाती है। विज्ञान की रफ्तार इतनी तेज है कि चौबीस घण्टे में ही कोई भी सुस्थापित तथाकथित वैज्ञानिक सिद्धान्त अवैज्ञानिक घोषित किया जा सकता है। परीक्षण और त्रुटि के माध्यम से निरन्तर प्रयोगशील विज्ञान ने मनुष्य के जीवन को हर क्षेत्र में अस्थिर बना दिया है। रोज-रोज बढ़ती हुई अस्थिरता और अशान्ति विज्ञान युग का एक अनिवार्य लक्षण बन चुकी है। आधुनिक विज्ञान का आरम्भ गत पौने दो सौ वर्षो से ही हुआ है किन्तु विज्ञान ने जो प्रगति पिछले एक दशक में की है उसके मुकाबले पीछे की सारी प्रगति बालप्रयास जैसी लगती है और अब आगे तो यह स्थिति है कि दस-पन्द्रह दिनों की प्रगति ही पूरे दशक की प्रगति को मात देती जायेगी। विज्ञान की इस समूची प्रगति पर सरसरी दृष्टि डालने से ही जो तथ्य सर्वाधिक उभर कर सामने आता है, वह है शक्ति के स्रोतो की खोज और उसका मानव जीवन में उपयोग। इसके साथ ही विज्ञान जिस सबसे महत्वपूर्ण तथ्य को प्रमाणित करता हुआ दिखाई देता है, वह यह है कि किसी भी शक्ति का स्रोत जितना ही सूक्ष्म होता जायेगा उससे उसी अनुपात में विपुल शक्ति का निस्सरण होगा। कोयला, पेट्रोल, जल आदि शक्ति स्रोत के दोहन के बाद विज्ञान आज परमाणु शक्ति का स्रोत पा चुका है। यह विज्ञान द्वारा अद्यावधि उपलब्ध शक्ति का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और विपुलतम् स्रोत है। इस स्रोत तक पहुँचते ही आज विज्ञान पार्थिव न रहकर अपार्थिव हो चुका

है। अन्तरिक्ष अनुसंधान ने परम्परागत पार्थिव विज्ञान को नये अपार्थिव और अन्तरिक्षीय आयाम दे दिये हैं जिससे विज्ञान की परंपरागत दृष्टि, प्रविधि, प्रयोग और उद्देश्य में आमूलचूल परिवर्तन हो जाने की संभावना सुनिश्चित हो गयी है। वास्तविकता यह है कि आज का विज्ञान पदार्थवादी न रहकर शक्तिवादी,ऊर्जावादी हो चुका है और जिसे आज परमाणु कहा जा रहा है वह भी परमाणु नहीं है अभी तो परमाणु के अन्दर एक पूरे विश्व जैसा विस्तार दिखाई दे रहा है जिसमें पहली बार मानव प्रज्ञान ने पदार्पण किया है। प्रथम परमाणु विस्फोट के अभूतपूर्व अनुभव का वर्णन करने के लिये अमेरिका के परमाणु अनुसंधान निर्देशक ओपेनहावर को विश्ववाङ्मय में निम्नलिखित गीतोक्त भगवान के विश्वरूप वर्णन के अतिरिक्त कहीं कोई शब्दावली नहीं मिली-

दिवि सूर्यसहस्त्रस्य भवेद्यगपदुत्थिता।
यदि भाः सदशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।

अर्थात यदि एकाएक एक साथ एक हजार सूर्यों का प्रकाश आकाश में उभर आये तो कदाचित उस महात्मा (भगवान) के प्रकाश का कुछ वर्णन किया जा सकता है अन्यथा वह तो अवर्णनीय ही है।

ओपेनहावर ने प्रथम परमाणु विस्फोट के वर्णन के लिए तो इस गीतोक्त शब्दों को ले लिया किन्तु जिस तेजपुंज महात्मा का यह नगण्य प्रकाश है उस परम तत्व तक पहुँचना अभी विज्ञान के वश की बात नहीं है। यहाँ सबसे अधिक ध्यान देने योग्य शब्द "महात्मा" है। यह भारतीय अध्यात्म विज्ञान की चरम उपलब्धि है-सृष्टि का मूल अक्षर तत्व है। यह **अणोरणीयान महतो महीयान** अद्वय तत्व है। इसी अक्षर तत्व के क्षर अंश से समस्त नामरूपात्मक प्रपंच की सृष्टि होती है। कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्व भी, यदि उसका विखण्डन हो जाता है तो वह भी अक्षर ब्रह्म के क्षर अंश का ही भाग है। इसी अक्षर ब्रह्म के संबंध में भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक में कहा है-

अनादि निधनं ब्रह्म शब्दतत्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थ भावेनप्रक्रिया जगतो यतः।।

शब्द तत्व अनादि अनन्त अक्षर ब्रह्म है। इसके अर्थभाव से विकसित हो जाने पर इसी से समस्त सृष्टि का विवर्तन आरम्भ हो जाता है। जैसे दूध से ही दधि, घृत आदि पदार्थ बन जाते हैं और उनके अर्थ, गुण आदि भी भिन्न हो जाते हैं उसी प्रकार समस्त नामरूपात्मक प्रपंच का ही विवर्त है। अक्षर ब्रह्मनाद रूप में था उसी में प्रथम विस्फोट हुआ जिसके फलस्वरूप सृष्टि का क्रम चल पड़ा। यह प्रथम नाभिक विस्फोट था जिसकी अनुभूति प्रत्येक व्यक्ति नाभि में होने वाले प्रत्येक शब्द के विस्फोट के रूप में कर सकता है। जगवितत्व के मूल में व्याप्त वह आदि अव्यय अक्षर नाद तत्व ही

प्रणव अर्थात ॐ शब्द से अभिहित हुआ है- **ओमित्येतदक्षर ब्रह्म।**

भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से सृष्टि प्रक्रिया का साक्षात्कार याज्ञिक, यौगिक और तांत्रिक इन तीन रूपों में किया है। इसी को क्रमशः कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड कहते हैं। उपासना मूल है उसी से एक ओर कर्म तो दूसरी ओर ज्ञान का विकास होता रहता है। याज्ञिक या कर्म दृष्टि से ऋग्वेद ने घोषित किया- **अग्निमीडे पुरोहितम्।** मैं अपने सामने रखे हुए अग्नि की स्तुति करता हूँ। यह अग्नि हविर्मुख है। इसी से हविष्य प्राप्त कर सभी देवता सन्तुष्ट होते हैं। इसी अग्नि का एक रूप सूर्य है जिसके संबंध में ऋषियों ने कहा है- **सूर्य आत्मा जगतस्त-पुषश्च।** सूर्य ही जड़ और जंगम दोनों प्रकार की सृष्टियों की आत्मा है। इसी अग्नि का दूसरा रूप चन्द्रमा है जिसके संबंध में कहा गया है- **चन्द्रमा मनसो जातः।** चन्द्रमा की उत्पत्ति धाता के मनोदेश से हुई। यह अग्नि स्थूल से सूक्ष्म तक फैली हुई है। यह विश्व का चरम रूप विधायक तत्व है इसके तीन रूप हैं- वैश्वानर, तैजस और प्राज्ञ। वैश्वानर विश्वरूप है, तैजस मनोरूप है और प्राज्ञ बुद्धिरूप। हमारा मानस संस्थान जैव संस्थान पर आधारित है और बौद्धिक संस्थान मानस संस्थान पर। अभी इस क्रम को समझने में विज्ञान को बहुत समय लगेगा। भौतिक विज्ञान की पर्याप्त प्रगति के बाद ही मनोविज्ञान का आरम्भ हुआ है। फ्रायड का चित्त विकलन शास्त्र और बाद में आया। अब मनोविज्ञान आत्मविज्ञान की दिशा में बढ़ने के लिए विवश है। ऋषियों ने याज्ञिक दृष्टि से इस परम सत्य का साक्षात्कार किया कि- **अग्नीषोमात्मकं जगत।** जगत रचना में मुख्यतः दो ही तत्व हैं अग्नि और सोम (ताप और उससे रूपान्तरित होने वाला मूल द्रव्य)। आधुनिक विज्ञान की भाषा में कहें तो बर्फ में भी गर्मी होती है,तापमान होता है। इस गर्मी को बढ़ाया जाय तो बर्फ पिघल कर जल बन जाएगा और गर्मी बढ़ाने पर जल भाप बन जाएगा और वह भाप आकाश में फैल जायेगा। वस्तुतः याज्ञिक पंचतत्व क्रमशः सृष्टि के मूल उपादान सोम के इन्हीं पाँच गुणों के द्योतक हैं- क्षिति (सॉलिडिटी), जल (लिक्विडिटी), पावक (हीट), गगन (स्पेस), समीर (गैसियसनेस)। पिण्ड में इन्द्रियों का विकास क्रमशः इस प्रकार हुआ जिसे आज के जीव विज्ञान में स्पष्टतः देखा जा सकता है- प्रकाश या रूप के ग्रहण करने के प्रयास में चक्षुरिन्द्रिय, शब्दग्रहणार्थ श्रतेन्द्रिय, गंध ग्रहण के लिए घ्रणेन्द्रिय, रस के ग्रहण के लिए रसना, संचलनार्थ पाणिपाद, प्रजननार्थ उपस्थ, स्पर्शानुभव के लिए त्वचा। शब्द रूप, रस, गन्ध, स्पर्श- इन पंचतन्मात्राओं से पंचज्ञानेन्द्रियों का विकास हुआ।

याज्ञिक का दर्शन कर आर्ष दृष्टि अध्यात्म तत्व की ओर बढ़ती है जिसे योग या यौगिक दृष्टि कहते हैं। योग की साक्षात्कृति है-**यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे।** अण्डज,

स्वेदज, पिण्डज यह सृष्टि का आदिभौतिक क्रम है। इसके पूर्व आर्ष और मनः सृष्टि है अमैथुनी सृष्टि है। अमैथुनी सृष्टि का दर्शन तो स्वेदज में भी दिखाई देता है। अब विज्ञान का शतधा विशेषीकरण धीरे-धीरे समन्वित होकर एक पूर्ण विज्ञान की ओर बढ़ रहा है। इस पूर्ण विज्ञान के प्रमेयों की उपस्थापना में अध्यात्म विज्ञान का मार्ग निर्देशन अवश्यम्भावी है इसीलिए जाने या अनजाने आज उद्बुद्ध मानव मस्तिष्क योग के अन्वेषण की ओर उन्मुख हो रहा है। पिण्ड जगत (आर्गनिज्म) के क्रम में मानव का शरीर पिण्ड अद्यावधि प्राप्त पिण्डो में सबसे विलक्षण पूर्ण पिण्ड है। इसका उत्तमांग जिसे योग की भाषा में भृकुटि (मध्य में स्थित आज्ञा चक्र के ऊपर का भाग) कहते हैं एक अद्भुत लोक का दर्शन कराता है। मानव मस्तिष्क की संभावनाएं असीमित है। यह एक आश्चर्यजनक विराट दूरभाष केन्द्र (टेलिफोनिक एक्सचेंज) जैसा है। क्रियावाही नाड़ियाँ (मोटर नर्ब्स) सारे शरीर में फैली है। उनकी संवेदना का ज्ञान सूक्ष्म संवेदनावाही नाड़ियों (सेन्सरी नर्ब्स) के माध्यम से होता है जिनका केन्द्र मस्तिष्क में है। केन्द्र के आदेश से ही शरीर की सभी स्थूल इन्द्रियाँ कार्यरत होती हैं। योग में 'क-' स्थूल पिण्ड की संज्ञा है। इन्द्र तत्व उसकी संवेदना का नियामक प्राणतत्व है। इन्द्र शब्द में 'र' अग्निबीज है और यह 'इन्ध्' (जिससे ईधन शब्द बना है) धातु से निष्पन्न है। याज्ञिक धारा में उपलब्ध प्राज्ञ, अग्नि समिद्ध होकर इन्द्र पद स्थानीय होता है। इन्द्रियाँ सूक्ष्म पञ्चतन्मात्रा रूप में, संवेदना रूप में अग्नि के प्राज्ञस्थान मस्तिष्क में ही समाहित है उनके जागरित रहने पर ही स्थूल कर्मेन्द्रियाँ केन्द्रीय आदेश से कार्यरत होती है। बेहोश आदमी को कोई ज्ञान नहीं होता उसकी स्थूल इन्द्रियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। योग में केन्द्र, इन्द्र और उससे प्रादुर्भाव इन्द्रियों के विज्ञान की यह संक्षिप्त रूपरेखा है। अंग्रेजी का 'सेण्टर' शब्द 'केन्द्र' से ही व्युत्पन्न है। ऋषियों ने यौगिक साधनों से प्राज्ञ अग्नि के आधीन मानव मस्तिष्क पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त कर लिया था जिससे उन्होंने मानव पिण्ड में ही निखिल ब्रह्माण्ड के सूक्ष्म रहस्यों का पूर्णतम् दर्शन कर लिया और मानव मस्तिष्क को लोकोत्तर देवमस्तिष्क में परिणत कर दिया। उन्होंने अपनी इस दिव्य साधना से मानवीय भावसंपदा को गीतोक्त दैवी संपदा में रूपान्तरित करने का मानवीय लक्ष्य निर्धारित किया। यही उनका शाश्वत सन्देश है- यही मनुष्य का परम प्राप्तव्य है इसीलिए ऋषि प्रज्ञा की उपलब्धि के संबंध में कहा गया है- **यज्ज्ञात्वा नेहान्यज्क्षातव्यमवशिष्यते** (जिसे जान लेने पर और कुछ जानने के लिए शेष नहीं रह जाता)। इसीलिए उपनिषद्कार ने कहा है कि दौड़ते हुए के पीछे दौड़ने से क्या लाभ? दौड़ते हुए को बैठकर प्राप्त करो। नित्य प्रसरणशील विश्व के केन्द्रस्थ रहस्य को ऋषि ने बहिर्मुख विज्ञान से उसका उद्घाटन न करके समाधि में समासीन होकर प्राप्त किया

था। यही कारण है कि अध्यात्म विज्ञान की मान्यताएं परीक्षण और त्रुटि की सरणि पर न होकर "इदमित्थमेव" रूप में प्रतिष्ठित है और मनुष्य की प्रज्ञा को ध्रुव आधार प्रदान करती है। उसमें विनिश्चिति, विसंगति, अनस्थैर्य और अशान्ति की गुंजाइश नहीं है। वे मानव को पराकोटि की स्थिरता और शान्ति प्रदान करती है।

शिव तत्व- योग में **"यत्पिण्डे तद्ब्रह्माण्डे"** रूप अध्यात्म विज्ञान को इस एक पद्य में पूर्णतः शिवतत्व के रूप में प्रस्तुत कर दिया गया है-

यस्मिन्दर्पणबिम्बजम्भितपुरी संदर्भतुल्यं जगत्।
भातं यत्परसंविदो यत इदं रूप्यादिवल्लीयते।।
यस्याज्ञानविजृम्भिता परभिदावारीन्दु भेदादिवत्।
तं भूमानमुपास्महे हृदि सदा वागार्धघानिं शिवम्।।

अर्थात् भगवान ने मनुष्य के साढ़े तीन हाथ के शरीर में भूभवः आदि सप्तलोकों तथा सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, पर्वत, सागर, वृक्ष आदि सभी वस्तुओं को बिम्बवत् प्रतिफलित कर दिया है। शिवसंहिता के द्वितीय पटल में योगी की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि ब्रह्माण्ड संज्ञक देह में जिस प्रकार अनेक देशों की व्यवस्था है उसे पूर्णतः जान लेने वाला ही योगी है-

जनाति यः सर्वमिदं योगी नात्र संशयः।
ब्रह्माण्डसंज्ञ के देहे यथा देशं व्यवस्थितः।।

योग में मानव शरीर का विभाजन षट्चक्रों के रूप में किया गया है यथा- १. मूलाधार चक्र (चतुर्दल पद्य), २. मणिपूरक चक्र (षड्दल पद्य), ३. स्वाधिष्ठान चक्र (दशदल पद्य), ४. अनाहत चक्र (द्वादशदल पद्य), ५. विशुद्धाख्य चक्र (षोडशदल पद्य) तथा ६. आज्ञाचक्र (द्विदल पद्य)। इनके स्थान पर आधुनिक शरीर शास्त्र की दृष्टि से क्रमशः १. कटि अस्थि (पेल्विक प्लेक्सस), २. नाभिदेश उदर प्रदेश (हाइपोगेस्ट्रिक प्लेक्सस), ३. फेफड़े (ऐपेगेस्टिव प्लेक्सस), ४. हृदय और यकृत (कार्डियाक प्लेक्सस), ५. गत प्रदेश (कैरोटिड प्लेक्सस) और ६. भृकुटिमंध्य (मेडुला) है। इनके ऊपर सहस्त्रदल अर्थात् मस्तिष्क प्रदेश है। चतुर्दल में पृथ्वी तत्व, षट्दल में जल तत्व, दशदल में अग्नि तत्व, द्वादशदल में वायु तत्व और षोडशदल में आकाश तत्व की प्रधानता है। इसका तात्पर्य यह है कि शरीर रथ के संचालन के लिए उक्त तत्वों का उक्त स्थानों पर विशेष रूप से निर्माण हो रहा है। दल से तात्पर्य उन-उन स्थानों पर नाड़ियों के बने गुच्छ रूप से है। इन तत्वों के बीजाक्षर तंत्र शास्त्रोक्त लं (पृथ्वी), वं (जल), रं (अग्नि), यं (वायु) और टं (आकाश) है। ये बीजाक्षर उन ध्वनियों के अनुकरण पर

हैं जो उन तत्वों के निर्माण के समय शरीर में उन-उन स्थानों पर गूंजती रहती है। इन्हें सूक्ष्म ध्वनिग्राही यंत्रों से सुना जा सकता है। शरीर जो अन्न ग्रहण करता है उससे निःसृत होने वाले पंचतत्व निर्दिष्ट स्थानों में संगृहीत होते हैं। तंत्रशास्त्र में बीजों के वाहन इस प्रकार निर्दिष्ट हैं- लं (ऐरावत हस्ती), वं (मकर), टं (मेष), यं (मृग)। वायु भिन्न-भिन्न तत्वों से मिलकर जिस प्रकार की गति उत्पन्न करता है यहाँ उसी का निर्देशन किया गया है। दलों के वर्ण इस प्रकार हैं- चतुर्दल (रक्त वर्ण), षड्दल (गुलाबी), दशदल (नील वर्ण), द्वादशदल (लाल वर्ण) और षोडशदल (धूम्र वर्ण)। रूधिर के अरूण वर्ण पर भिन्न-भिन्न तत्वों का प्रतिबिम्ब पड़ने से उसका जो रंग होता है उसे ही यहाँ निर्दिष्ट किया है। शरीर में भिन्न-भिन्न नाड़ियाँ वायु की सहायता से जिस आकार में चक्कर काटती हैं वे ही इन-इन पद्मों के विशिष्ट यंत्र हैं यथा चतुरस्त (चतुर्दल) अर्धचन्द्रकार (षड्दल), त्रिकोणाकार (दशदल) और लिंगाकार (द्विदल)।

द्विदल में (भ्रू-मध्य) ओम प्रणव बीज है। सहस्त्रदल में शून्य तत्व है। विसर्ग (:) ह्रीं उसका बीज है। एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक ने कहा था कि ब्रह्माण्ड को देखने से प्रतीत होता है जैसे उसके पीछे किसी का विराट मस्तिष्क हो। यही ब्रह्माण्ड का सहस्त्रार है जो मानव मस्तिष्क में निहित है। शून्य अर्थात बिन्दु तत्व से ही विसर्ग अर्थात सृष्टि हुई है तंत्रशास्त्र की यही अन्तिम निष्पत्ति है।

ऋषिप्रज्ञा अधिभूत (यज्ञ और कर्म) से अध्यात्म (योग और ज्ञान) की ओर उन्मुख हुई है किन्तु उनका मूलाधार तो इन दोनों दिशाओं के बीच में प्रवर्तक बिन्दु पर स्थित उपासना है जो शरीर में कूटस्थ और हृदयस्थ है उसका आधार तंत्र है। प्रत्येक पिण्ड के तीन ही रूप बनते हैं-

१. यंत्र (मेकेनिज्म), २. तंत्र (गवर्नमेण्ट) और ३. मंत्र (मेनास या माइण्ड)। यंत्र उसका बाहरी रूप है जैसे घड़ी का बाहरी रूप। तंत्र उसकी अन्दरूनी व्यवस्था है जैसे घड़ी के अन्दर के पहिये, लीवर आदि। घड़ी चलती है उसके पीछे एक गणित है जिसके आधार पर ही उसके भीतरी अवयवों का (तंत्र का) निर्माण हुआ है वह मानवीय प्रज्ञा का रहस्य बताती है यही मंत्र है। इसी व्यवस्था को अध्यात्म शास्त्र में आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्यवस्था कहते हैं। मनुष्य मात्र यंत्र नहीं है। वह भगवती मंत्र से परिचालित तंत्र है। यही भारतीय अध्यात्म विज्ञान की ध्रुव निष्पत्ति है। तंत्र ने जीवन और जगत के जिस पराविज्ञान को त्रिकोण, षट्कोण, श्रीचक्र आदि के रूप में व्यक्त किया है उसी को यज्ञधारा ने अग्निवेदियों के रूप में स्पष्ट किया है। योग ने उसी को पद्मदलों के रूप में समझाया है। प्रस्थान भेद से अलग रहते हुए भी योग और तंत्र एक ही विज्ञान का रूप प्रस्तुत करते हैं और वह विज्ञान है उपासना

विज्ञान। नर शरीर में ही नारायण का साक्षात्कार करा देना ही भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है। जो मनुष्य मानव जीवन प्राप्त करके भी इस लक्ष्य (परम पुरुषार्थ) को प्राप्त न कर सका उसका जीवन सारे भौतिक ऐश्वर्य के बावजूद व्यर्थ ही चला गया। इसी पुरुषार्थ की सिद्धि का उपयुक्त माध्यम होने के कारण व्यास ने कहा है **"न हि मानषाच्छेष्ठतरं हि किञ्चित्**। मनुष्य से श्रेष्ठ इस संसार में कुछ भी नहीं है। आज की मुख्य समस्या यह है कि मानव मस्तिष्क को अहंकार से मुक्त कर कैसे मानव के वास्तविक कल्याण में लगाया जाय? इस प्रसंग में विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय का जो सतही सुझाव दे दिया जाता है वह नितान्त अवैज्ञानिक है। अध्यात्म पूर्णतम् विज्ञान है। आधुनिक विज्ञान उसी ओर विकासोन्मुख है। आवश्यकता यह है कि आज का मानव जीवन हर क्षेत्र में अध्यात्म के प्रकाश में आगे बढ़ने का प्रयास करें। यही शान्ति और कल्याण का शाश्वत राजमार्ग है।

आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में तंत्रशास्त्र द्वारा प्रतिपादित शिवशक्तिवादी नयी समझ पैदा होगी इसमें कोई सन्देह नहीं। सृष्टि और सृष्ट पदार्थो के मूल में तरंगायित शक्ति नवीन विज्ञान की देन है। अब ध्वनि तरंग प्रकाश तरंगो में परिवर्तित किये जा सकते हैं। नाद तत्व से बिन्दु तत्व का प्रादुर्भाव तंत्रोक्त है। इसी दिशा में अब विज्ञान प्रगति कर रहा है। पदार्थो के संबंध में नवीनतम् अवधारणा ऊर्जामूलक है। स्थितिशील ऊर्जा (स्टेटिक एनर्जी) ही पदार्थ है, विमुक्त गतिशील ऊर्जा (डायनिमिक एनर्जी) अमूर्त है। तंत्र की भाषा में स्थितिशील मूल ऊर्जा ही शिव है, गतिशील ऊर्जा शक्ति है। प्रत्यभिज्ञादर्शनोक्त स्पन्दविज्ञान अब अन्तरिक्षीय विज्ञान के आलोक में समझा जा सकता है। आकाश अवकाश का वह स्वरूप है जिससे प्रकाश तरंगे चलती हैं। नभ आकाश का वह स्वरूप है जिससे ध्वनि तरंगे चलती हैं। नभ धातु का अर्थ ध्वनि है। अन्तरिक्ष आकाश का वह स्वरूप है जो रात्रिकाल में सूर्य की अनुपस्थिति में दिखाई देता है जिसमें ज्योति तरंगों (जुगनुओं) के समान नीहारिकाओं तथा असंख्य ग्रहपिण्डों का दर्शन होता है। ये समस्त ज्योतियां किसी दूरंगत, एक ज्योति से ही निःसृत हुई है-**दूरंगत ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मेमनः शिवसंकल्पमस्तु**। वह एक परम ज्योति ही शिवसंकल्प है। उसी संकल्प से कल्पसृष्टि हुई! वही महाकाल है। कल धातु से ही कला और काल शब्द निष्पन्न हुए हैं। शिव संकल्प की स्वतन्त्रता और स्वयं स्फूर्ति से ही अनेक कलाओं में चन्द्रकलावत ब्रह्माण्डों की सृष्टि हुई है। काल की शक्ति ही काली है। कल्प और काल एक हैं। वे एक दूसरे में परिवर्तनीय है। आइंस्टीन के सापेक्षतावाद के संदर्भ में तंत्र के इस पराविज्ञान को समझने की नयी दृष्टि पैदा होती है। भर्तृहरि ने दिक् (कल्प)

और काल के इस अद्वैत को मूल चित तत्व के सन्दर्भ में, उसी की स्तुति में, इन शब्दों में प्रकट किया है-

दिक्कालनवच्छिन्नानन्तचिन्तात्रामूर्त्तये।
स्वानुभूत्येक रूपाय नमः शान्ताय तेज से।।

हाल ही में लाखों करोड़ों प्रकाशवर्षों पर स्थित ब्रह्मपिण्डों से ऐसे रेडियो संकेत (स्पन्द) प्राप्त हो रहे हैं जिनमें कालगत निर्यामिति दिखाई देती है। इसके आधार पर कुछ वैज्ञानिक ऐसे ग्रहों की अवस्थिति का अनुमान लगा रहे हैं जहाँ मानवीय सभ्यता से कहीं उच्चतर सभ्यता है। कुछ वैज्ञानिक इसे मात्र प्राकृतिक व्यापार मानते हैं किन्तु यहाँ मुख्य विचारणीय तथ्य स्पन्द (रेडियो संकेत) है। जिस आकाश से ये स्पन्द निःसृत होते हैं उसे तंत्रों में और ऋग्वेद में भी व्योम कहा गया है। व्योम को ऋषि परमपद कहते हैं यह विशिष्ट ओम नाद के प्रथम विस्फोट का ही आदि परिणाम है। वैसे ऊर्ध्व चेतना संवलित लोकों की अवस्थिति हमारे शास्त्रों में पूर्णतः सिद्ध है। आशा है स्वतन्त्र भारत की मनीषा निकट भविष्य में निगमागमोक्त अध्यात्म विज्ञान को आधुनिक विज्ञान के प्रकाश में समझने-समझाने का व्रत लेगी। यह उसका सबसे बड़ा दायित्व है।

भारतीय संस्कृति में उपासना- देश को राजनीतिक स्वतंत्रता मिले हुए साठ साल हो गये किन्तु अभी भी हम सांस्कृतिक दृष्टि से पराधीन और दिग्भ्रांत हैं। इतना ही नहीं, कहना तो यह चाहिए कि स्वातन्त्रयोत्तर भारत सांस्कृतिक दृष्टि से जितना पराधीन होता गया है उतना राजनीतिक दृष्टि से वह कभी नहीं रहा है। देश में अंग्रेजी और अंग्रेजियत का प्रभुत्व पूर्वपिक्षा कहीं अधिक दृढ़ हुआ है और जीवन के हर क्षेत्र में पश्चिम का अंधानुकरण राष्ट्र के भविष्य के लिए एक गंभीर खतरा बन चुका है हम अपने तात्कालिक राजनैतिक स्वार्थों की पूर्ति और कुर्सियों के मोह से अंधे होकर राष्ट्र की इस मूलभूत समस्या को जितना ही नजर अंदाज करते जायेंगे हमारा भविष्य उतना ही अंधकारमय होता जायेगा। प्रत्येक स्वतंत्र राष्ट्र की गलत या सही एक मौलिक जीवन दृष्टि होती है जिससे उस राष्ट्र के नागरिक अनुप्रेरित होते रहते हैं उनमें ऐक्य, चरित्रबल और दृढ़ता की स्थापना होती है। उसी प्रेरणा से वे संकटकालीन स्थिति का सामना अदम्य साहस और सूझबूझ से कर पाते हैं। राष्ट्रीय दर्शन राष्ट्र की आधारशिला होती है किन्तु यह बड़े दुर्भाग्य की बात है भारत जैसे प्राचीन राष्ट्र के पास जिसने कभी मानवता को ज्ञान का प्रकाश दिया था और जिसकी ओर आज भी घोर भौतिकतावाद से संत्रस्त जगत आशा की दृष्टि से देखता है, कोई जीवन दर्शन नहीं है। राष्ट्रीय जीवन के इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न का गाम्भीर्य समझकर ही श्री अरविंद ने राजनीति स्वातंत्र्य संघर्ष के समय ही उससे हटकर पांडिचेरी में मनन और निदिध्यासन के लिए

आश्रम की स्थापना की और इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज के वैज्ञानिक एवं विश्व के उदबुद्ध विचारकों को उनकी साधना का अमृतफल विशिष्ट भारतीय जीवन दृष्टिं की ओर आकृष्ट कर रही है। आचार्य विनोवा भावे भी राजनीतिक क्षेत्र से दूर रहकर भारतीय जीवन दृष्टि के प्रकाश में यथाशक्ति देश के कल्याण कार्य में संलग्न थे। राजनीतिक क्षेत्र में आये दिन एक फैशन के रूप में सतही ढंग से गांधीवाद की चर्चा भी होती रहती है किन्तु लोग इस मौलिक तथ्य को भूल जाते हैं कि राजनीतिक, आर्थिक या सामाजिक दृष्टि से गांधीवाद जो भी रहा हो उसका प्राण तत्व तो भारत में अनादिकाल से चली आ रही उपासनामूलक जीवन दृष्टि है जिससे गांधी ने पराधीन देश में एक नयी सत्यग्रही चेतना का संचार कर दिया। दुर्भाग्य से स्वतंत्रता प्राप्ति के साथ ही वे हमारे बीच से उठ गये और उनके द्वारा जिस आध्यात्मिक चेतना की सृष्टि हो रही थी उसका प्रकाश स्वतंत्र भारत में पूर्णतः विलुप्त हो गया। हमारा राजनीतिक नेतृत्व वर्ग सत्ता के ऐश्वर्य और सुखोपभोग में इस तरह आकण्ठ डूब गया कि उसे इस ओर ध्यान देने का अवकाश ही नहीं रह गया और सदियों की गरीबी से टूटी हुई भारतीय जनता भी रोटी, कपड़ा और मकान मुहैया कर देने वाले झूठे राजनीतिक वादों के चक्कर में फंसकर विपन्नता की ओर बढ़ती जा रही है।

सांस्कृतिक विनाश में रक्षा– आज भारत के सचेत प्रबुद्ध लोगों पर राष्ट्र को सांस्कृतिक विनाश से बचाने का सबसे बड़ा दायित्व है। इससे बड़ी राष्ट्र सेवा या राष्ट्र भक्ति कोई दूसरी नहीं हो सकती। हमारे ऋषियों ने उच्च स्वर से यह घोषणा की है कि अन्नदान, भूमिदान, सम्पत्तिदान से कहीं बढ़कर है आत्मज्ञान का दान। आत्मज्ञान शून्य व्यक्ति या राष्ट्र कहीं का नहीं होता। उसका विनाश ध्रुव है। आज सारा संसार पारमाणविक अग्नि से झुलसने की तैयारी कर रहा है। विज्ञान अपनी चरम परिणति में विनाश का आवाहन कर चुका है। शक्तिशाली राष्ट्रों के संचालक और राजनेता शक्तिमद से पूर्णतः मत्त हो चुके हैं। भौतिक भोगवाद मनुष्यों को स्वार्थपरता की सीमा पर पहुँचा चुका है। कुछ लोगों का जीवनमान सामान्यजनों के व्यापक दैन्य की कीमत पर दिन दूना, रात चौगुना होता जा रहा है। व्यक्तियों और राष्ट्रों के बीच गलाकाटू प्रतिस्पर्धा मानवीय सहयोग का गला घोंट चुकी है। दूसरों का गला काटकर आर्थिक और राजनीतिक प्रतिस्पर्धा में आगे निकल जाने वाले लोग समाज में सबसे अधिक आदरणीय और पत्रों में सर्वाधिक विज्ञापित महाजन बन चुके हैं। विज्ञान युग की तथाकथित प्रगतिशील मानवता आज आत्मज्ञान शून्यता की जिस भयावह स्थिति से गुजर रही है उसका उदाहरण शायद महाभारत युग के अतिरिक्त ज्ञात इतिहास में कहीं मिल नहीं सकता। महाभारतकार इतिहास के किसी ऐसे ही भयानक मोड़ पर

अपने दोनों हाथ उठाकर चिल्ला पड़े थे- **उद्वहु विरौम्येष न कश्चिच्छिणी तिभे धर्मादर्शश्च कामश्च सधर्मः किं न सेव्यते।**

***

उस समय व्यास के इस सन्देश को लोगों ने भले न सुना हो और हो सकता है आज भी लोग इसे न सुने परन्तु भारत का इतिहास इस तथ्य का प्रमाण है कि यहाँ दीर्घकाल से ही लक्ष-लक्ष नर-नारियों ने धर्माचरण का अनुशरण किया है, उसके लिए अपने प्राणों की बलि चढ़ायी है, उसे जीवन में सर्वोच्च स्थान दिया है। जब इकबाल ने कहा था कि हिन्दुस्तान में कोई ऐसी खास बात है कि संसार से मिस्र, यूनान और रोम जैसी शक्तिशाली सभ्यताएँ मिट गयी फिर भी हमारा निशान बाकी है तो उन्हें कुछ-कुछ इसी परम्परा का एहसास हुआ होगा, इसी महान परम्परा में हमारे अमृत्व के बीज छिपे हुए हैं। इसी महान धर्म के संबंध में भगवान श्रीकृष्ण ने घोषणा की है- **"स्वल्पमयस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।"** इसीलिए कहा जाता है कि भारत धर्मप्राण देश है। धर्म की इसी दृढ़ धारणा और साधना के कारण भारत सदा से विश्व शरीर का हृदय प्रदेश रहा है। भारत दिव्यज्योति में निर्माज्जत है। भारत अपनी भौगोलिक सीमाओं से ऊपर उठकर मानवीय चेतना की एक समाराध्य अवधारणा बन चुका है। भारत की भौगोलिक सीमाएं कालचक्र की दुर्निवीर गति के कारण समय-समय पर बदलती रही है। बाल्मीकी रामायण के भारत में यदि सारे आधुनिक एशिया का समावेश था तो महाभारत में उस काल का समस्त ज्ञात विश्व समाहित था। कालिदास के काल में भूमध्यसागर से लेकर चीन सागर तक फैला प्रदेश भारत में था जैसाकि हिमालय के सम्बन्ध में उनकी इस उक्ति से स्पष्ट है-

पूर्वापरो तोयनिधि वगाह य, स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।

अभी कलतक पाकिस्तान भारत में था, कहा नहीं जा सकता भारत की भौगोलिक सीमा का संकोचन यहीं तक रूका रहेगा या नहीं किन्तु भारत मात्र भौगोलिक इकाई नहीं है वह मनुष्य में जो कुछ सर्वश्रेष्ठ है उसका प्रतीक है। जबतक मनुष्य संसार में है भारत को कोई मिटा नहीं सकता है। जिस दिन भारत की आत्मचेतना जागरित होगी उसका सांस्कृतिक अभियान अप्रतिरोध्य होगा।

उपासना की पावन ज्योति- उपासना ही धर्म की पावन ज्योति है। जब सारा संसार बर्बरता के दारूण अंधकार में भटक रहा था भारत में ही वैदिक उपासना के उद्धीथ गूंज उठे और चारों दिशाएं उसके प्रकाश से जगमगा उठी। ऋषि ने पूषा से प्रार्थना की-

हिरण्मयेन पात्रोण सत्यस्यपिहितं मुखम् पूषन्।

तन्मे अपावृणु सत्य धर्माय दृष्टये।।

हे पूषन्। सत्य का मुख सुवर्णपात्र से ढका हुआ है, उसे मेरे लिए खोल दो जिससे मैं सत्य और धर्म की दृष्टि प्राप्त कर सकूँ। इस प्रार्थना से सत्य और धर्म की जो अवरूद्ध धारा उन्मुक्त हुई उसकी अन्तःसलिला भारत में आज तक निर्बाध प्रवाहमान है। इसी अन्तःसलिल ने समस्त विश्व की मानवता में अनादिकाल से सत्य और धर्म का अभिसिंचन किया है। यह धर्म की सनातन धारा है। यहूदी, बौद्ध, जैन, ईसाई, इस्लाम आदि अनेक धार्मिक सम्प्रदाय समय-समय पर इसी सनातन धर्म धारा के विशिष्ट तरंगो से तरंगायित हुए हैं आज भी इन तरंगों का जैसा संगीतमय विलास भारतीय जन समुद्र में उमड़ता दिखाई देता है वह अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता इसीलिए भारत को धर्मभूमि कहते हैं। संसार के प्रत्येक देशों में एक ही धार्मिक सम्प्रदाय के ही लोग मुख्यतः मिलेंगे दूसरे सम्प्रदाय के लोग तो नगण्य हैं। अतः वहाँ धर्मनिरपेक्षता की कसौटी तो केवल भारत ही बन सकता है और वही दूसरों को उसकी शिक्षा भी देने का अधिकार रखता है। पश्चिम में (ऐहिकतावाद) धर्मनिरपेक्षता नहीं है। उपासना वैचित्र्य के नाना प्रदीपों से धर्ममूर्ति की सम्पूर्ण आराधना ही धर्मनिरपेक्षता का सच्चा अर्थ है। भारत में ही धर्म की आरती उतारी जा सकती है। ऐसा स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि जब सारे संसार से धर्म का निष्कासन हो जायेगा तो भारत में ही सभी धर्म सम्प्रदायों के लोग एकजुट होकर धर्म रक्षा के लिए प्राणप्रण से संयुक्त अभियान चलायेंगे और संसार में पुनः धर्म की प्रतिष्ठा होने लगेगी।

सांस्कृतिक धारा का प्रवाह– भारत ही वह राष्ट्र है जहाँ राजनीति के समानान्तर सर्वदा एक ऐसी गंभीर सांस्कृतिक धारा प्रवाहित होती रही है जिसकी प्रेरणा स्रोत उपासना रही है। भारत ने राजनीतिक जीवन को सदा गौण माना है। भारतीय इतिहास की इस निराली विशेषता पर आज सबसे अधिक चिन्तन होना चाहिये। भारत में ऐसे अनेक युग आये हैं जब राजनीति राष्ट्र की अन्तर्वतिनी धार्मिक धारा के प्रतिकूल रही है। ऐसी स्थिति में धार्मिक धारा और गम्भीर हो उठी है और उसने राजनीति की उपेक्षा कर जनजीवन को उपासना की नयी चेतना से आप्लावित कर डाला है। यही कारण है कि परिवर्तित प्रतिकूल राजनीतिक परिवेशों ने ऊपरी दृष्टि से भारतीय जनजीवन को कितना भी अस्त-व्यस्त कर दिया हो। भारतीय मनीषा ने सदा इस चुनौती को स्वीकार कर धर्म के जीवन्त मूल्यों को नयी परिस्थितियों में पुनः दुगनी शक्ति से प्रतिष्ठित कर दिया है और देशों में इस सबल धार्मिक धारा के अभाव में हमेशा राजनीतिक सत्ता हथियाने या उसे अपने हाथों में बनाये रखने के लिए ही व्यवस्था और विद्रोह के रूप में शासक और शासित संघटित होते रहे हैं भारत की

मौलिक जीवन दृष्टि धार्मिक दृष्टि है वह जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को धर्म के अनुशासन में रखने का आग्रह करती है। भारतीय इतिहास में अनेक बार राजनीतिक सत्ता धर्म के शासन में रही है। जब ऐसा नहीं हो सका है तो सारे देश में एक सिरे से दूसरे सिरे तक संतो की तेजस्वी पंक्ति उभर आयी है। जिसने जनजीवन को नयी धार्मिक तेजस्विता प्रदान की है। भारतीय दृष्टि से धर्म ही मूल शाश्वत तत्व है जिसकी साधना से मनुष्य, मनुष्य बनता है वही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। राजनीति तो नित्य परिवर्तनशील अस्थायी वस्तु है। धर्म की यही साधना भारत की अमरता का आधार है। इसी परिप्रेक्ष्य में गांधी ने कहा था कि सत्याग्रही हमेशा स्वतंत्र होता है और मुझे तो स्वतंत्र भारत में भी काले साहब के अन्याय का उसी प्रकार प्रतिरोध करना है जैसा कि मैं पराधीन भारत में गोरे साहब के अन्याय का विरोध कर रहा हूँ।

धार्मिक सहिष्णुता– भारत ही वह देश है जहाँ धार्मिक सहिष्णुता परम्परागत व्यापक साधना के कारण जनजीवन में सहज ही प्रतिष्ठित हो सकी है। भारत ने आदिकाल से मनुष्य के सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण प्रधान प्रकृति की पहचान की है और उसकी विशिष्ट प्रवृत्ति के अनुरूप उसके आत्मिक विकास के लिए नाना प्रकार की उपासना विधियों का प्रवर्तन किया है। मनुष्य के प्रकृति वैचित्र्य के अनुरूप उसे उपासना वैचित्र्य का विज्ञान अभी भी सारे संसार के लिए एक रहस्य ही बना हुआ है। उपासना वैचित्र्य की इसी सनातन धारा के कारण भारत में आरण्यक कालीन उपासना विधियों से लेकर गृहस्थ जीवन की सभी उपासना पद्धतियाँ अद्यावधि जीवन रूप से प्रतिष्ठित है। अपनी इसी विशेषता के कारण भारत को कभी किसी परम्परा की किसी भी विशेषता को नष्ट करने की आवश्यकता नहीं हुई। जन-जीवन ने नित्य नये-नये देवी-देवताओं की समर्चना की और कितने ही लोकप्रिय पुराने देवी-देवताओं की उपासना धाराएं क्षीण होती गयी किन्तु इतिहास के स्मारक के रूप में वे सभी पुराने देव मंदिरों में प्रतिष्ठित रहे और सभी उन्हें समान रूप से समादर देते रहे। कभी ब्रह्मा का पूजन होता था तो कभी वाराह का तो कभी चतुर्भुज विष्णु की उपासना प्रचलित हुई तो कभी उन्हीं के स्थान पर राम और कृष्ण की प्रतिष्ठा हो गयी। उपासना धारा में आने वाले में सारे परिवर्तन विशेष युगों की उन विशिष्ट सामाजिक, राजनीतिक, परिस्थितियों के द्योतक हैं, जिनमें जनता की धार्मिक चेतना को उद्‌बुद्ध करने के लिए आचार्यो ने उपासना धारा को नया मोड़ दिया है।

भारत के उपासनामूलक धार्मिक इतिहास का अन्वेषण अभी भविष्य के गर्भ में छिपा हुआ है जिसके बिना भारत के वास्तविक स्वरूप को समझा ही नहीं जा सकता। पश्चिमी विद्वानों ने भारतीय उपासना परम्परा की अनभिज्ञता, अपनी आत्महीनता की

भावना, अपने पूर्वाग्रह अथवा ईसाईयत के प्रचार की अपनी इच्छा के कारण भारत के धार्मिक इतिहास को जिस रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है और भारत के सम्मान्य देवी-देवताओं को, जो प्राचीन विश्व के विशिष्ट पूर्व पुरुष रहे हैं, जिस प्रकार मिथ्याकथा (मिथ) के रूप में प्रस्तुत किया है उसके अध्ययन से अंग्रेजी माध्यम से शिक्षित भारतीय बुद्धिजीवी पूर्णतः आत्मज्ञान शून्य हो गया है। भारत जैसे प्राचीन राष्ट्र का इतिहास एकमात्र उसका धार्मिक इतिहास ही हो सकता है इतिहास की आधुनिक दृष्टि प्राचीन भारत के सामने हजार डेढ़ हजार वर्षो के अन्तराल में पैदा होने वाले अन्य राष्ट्रों पर ही लागू हो सकती है। डेढ़ हजार वर्ष पूर्व का जो विश्व था उसका सारा इतिहास भी और कुछ नहीं भारत का ही धार्मिक इतिहास है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि ईसा मसीह के जन्मकाल के आसपास ही मंडराने का आग्रह करने वाली आधुनिक इतिहास दृष्टि कितनी अवैज्ञानिक है और उससे निखिल मानव जाति किस प्रकार गुमराह की जा रही है।

चिन्तनीय स्मृति– भारत से वह देवोपासना की जो सनातन धारा अन्य देशों में यहीं के लोगों द्वारा फैलायी गयी उसमें आगे चलकर अंधी साम्प्रदायिक कट्टरता का प्रादुर्भाव हो जाने के कारण उनका अपने मूल स्थान और अपनी मूल जीवन दृष्टि से अलग होकर एकांगी हो जाना ही रहा है। यूरोप के धार्मिक साम्प्रदायिक युद्ध इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। ईसा मसीह का करुणामूलक धर्म प्रवर्तन भी इस कट्टरता को दूर न कर सका और कैथोलिक एवं प्रोटेस्टेण्ट ईसाई समाज एक दूसरे के जान का ग्राहक बन गया। इसी तरह अरब में हजरत मुहम्मद का एकेश्वरवादी समतावादी धर्मप्रवर्तन भी इस्लाम को तलवार का धर्म होने से न बचा सका। तथाकथित धर्म की इस विषम परिणति से ऊब कर आधुनिक विज्ञान के विकास में लगे यूरोपीय बुद्धिजीवी धर्म को ही तिलांजलि दे बैठे और उन्होंने अंधी ऐहिकता (सेक्यूलिज्म) को प्रश्रय देना शुरू कर दिया। मानवता के लिए यह स्थिति वैसी ही हुई जैसे कड़ाह से गिरकर आग में चले जाना। मानवता को इस अत्यन्त भयानक स्थिति से उबारने का दायित्व आज के स्वतन्त्र एवं जागरूक धार्मिक भारत पर ही आता है किन्तु इसके पहले आज के ऐहिकतावादी भारत को सच्चे अर्थो में धार्मिक भारत बनना होगा। हमें पूर्ण विश्वास है कि भारत चाहे जितना भी विलम्ब क्यों न हो जाय एक न एक दिन अपनी इस ऐतिहासिक नियति को अवश्य प्राप्त करेगा। कहने की आवश्यकता नहीं मेरी प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा में एक प्रयास है, आशा है जो सफल होगी।

–अरुण कुमार शर्मा

प्रथम प्रसंग

तंत्र का आविर्भाव और विकास

इस समय व्यापक अश्रद्धा का युग है। आश्चर्य और दुःख का विषय है कि भारत जैसे धर्म प्राण देश में भी यही अवस्था है। जीवन पहले जैसा सरल नहीं रहा। विज्ञान ने और बदले हुए आर्थिक पर्यावरण ने नयी-नयी समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। सामाजिक जीवन का ऐसा कोई भाग नहीं बचा है जिसमें कई प्रश्न चिन्ह न खड़े हों। वैयक्तिक और सामूहिक जीवन का आधार हिल उठा है। सर्वत्र शंका, अविश्वास और अश्रद्धा का वातावरण घनीभूत है।

ऐसी विषम परिस्थिति में हम लोगों का ध्यान अपनी प्राचीन संस्कृति और साधनाओं के स्वरूप के अनुसंधान में क्रमशः सचेत और आकृष्ट होता जा रहा है। इसके अतिरिक्त बहुत दिनों से उपेक्षित तथा अन्धकार में पड़े विषयों में अधिक से अधिक रूचि भी लेने लगे हैं हम लोग। यह आनन्दप्रद लक्षण है। योग और तंत्र भी उन उपेक्षित विषयों में है। वेद तथा लुप्तप्राय वैदिक साहित्य के पुनरूद्धार के लिये प्रतीच्य और भारतीय विद्वानों ने जो सुदीर्घ कालव्यापी प्रक्लान्त परिश्रम किया, उससे हम सब लोग परिचित हैं। यह एक विचित्र संयोग है कि आधुनिक युग में विस्मृत प्राय वैदिक वाङ्मय के पुनरूद्धार की दिशा में जिस प्रकार मैक्समूलर प्रभृति प्रतीच्य मनीषियों का प्राथमिक उद्यम रहा है, ठीक उसी प्रकार विस्मृत प्राय तांत्रिक वाङ्मय की ओर सबसे पहले दृष्टि आकृष्ट करने का श्रेय प्रभृति मनीषियों को ही प्राप्त है। इस विषय में सर जॉन उडरफ को हम लोगों को नहीं भूलना चाहिये। अपने आरम्भिक काल में तांत्रिक अध्ययन ने अपनी आस्तिक दिशा में उन जैसे महान यूरोपीय विद्वानों तथा उनके कुछ तत्पर भारतीय प्रशंसकों एवं सहकर्मियों द्वारा पर्याप्त बल प्राप्त किया। इस तथ्य को देखते हुए भी कि आज तक का प्राप्त तांत्रिक साहित्य अत्यन्त अल्प है और साथ ही वह इतना विशाल और अनेक रूपात्मक है तथा उस साहित्य द्वारा प्रतिपादित साधन इतना गहन, गम्भीर तथा दुर्बोध है कि हमें विवशतः स्वीकार करना पड़ेगा कि पूर्ण और स्पष्ट परिणामों को प्राप्त करने के लिये विषय में रूचि रखने वाले सहनशील, परिश्रमी तथा उत्साही विद्वानों की पीढ़ियों की आवश्यकता पड़ेगी। निश्चय ही तंत्र साहित्य अत्यन्त विशाल है और तांत्रिक साधना है अत्यन्त गम्भीर और

रहस्यमय। रहस्य पूर्णता के कारण अन्य साहित्यों के समान तंत्रों का पठन-पाठन न होने के फलस्वरूप सभी वर्ग के लोगों में तंत्र और उसकी साधनाओं के प्रति भ्रम उत्पन्न होना स्वाभाविक है।

सनातन से इस देश में तंत्र समस्त ज्ञान, कर्म, उपासना का महास्रोत समझा जाता रहा है। देश काल, समाज एवं मानव संस्कृति से बराबर प्रभावित होने वाली तांत्रिक परम्परा प्रबल प्रकर्ष को प्राप्त हुयी इसमें सन्देह नहीं। तंत्रों के विषय में जो अनेक भ्रम और कुत्सित धारणायें फैली हुयी हैं उनसे तंत्र की परम्परा का दोष नहीं, वरन् उन तांत्रिकों का दोष है जो बिना महती आस्था एवं योग के ही तांत्रिक बन भ्रष्टाचार के उन्नायक बने। तंत्र के प्रति अज्ञानता का लाभ उठाकर ऐसे लोग जनसाधारण की दुर्बलता से तंत्र-मंत्र के नाम पर लाभान्वित होने का प्रयत्न करते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं, ऐसे ही उन्नायकों द्वारा तंत्रों में पूजा-पाठ की आड़ में व्यभिचार, भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन दिया गया। जनमानस में इसका भयंकर प्रभाव पड़ा। लोगों ने यह समझ लिया कि तांत्रिक क्रियाओं और उपासनाओं के नाम पर विषय वासना की तृप्ति ही मात्र उद्देश्य है। रति वासना, मदिरापान आदि की उच्छृंखल तुष्टि का एकमात्र साधन है तांत्रिक साधना। किन्तु यह धारणा और भावना शनैः शनैः कम होती जा रही है। साधना भूमि में तंत्र ने जिन गोपनीय क्रियाओं और पदार्थो के प्रयोग एवं उपयोग की अनुमति विशेष परिस्थिति में दे रखी है उनका निश्चय ही ऐसे महापुरुषों द्वारा दुरूपयोग हुआ। किन्तु इससे तंत्र और उसकी साधना कदापि दूषित नहीं हो सकती। तांत्रिक साधना नितान्त गम्भीर और उच्च आध्यात्मिक साधना है।

योग, तंत्र, ज्योतिष त्रयी विद्या है। भारतीय आध्यात्मिक साधना की मूलभित्ति है-ये त्रयी विद्यायें। मैं कौन हूँ? कहाँ से आया हूँ और कहाँ से जाऊँगा? ये तीनों प्रश्न शाश्वत हैं। इन्हीं का समुचित उत्तर पाने के लिये मनुष्य बार-बार जन्म ग्रहण करता है। समाधान होने पर ही जन्म-मरण के बन्धन से उसकी मुक्ति होती है।

हमारे वेद, उपनिषद, पुराण शास्त्र आदि सभी इन प्रश्नों का उत्तर देने का प्रयत्न करते हैं। वह प्रयत्न क्या है? केवल सिद्धान्त ही तो हैं। सिद्धान्तों से केवल ज्ञान की वृद्धि होती है। ऐसे ज्ञान की जिसे हम कर्म में आयत्त नहीं कर सकते। बिना कर्म में आयत्त हुआ ज्ञान व्यर्थ है, भार स्वरूप है। ज्ञान-कर्म की मैत्री बाघ-बकरी की मैत्री के समान समझना होगा। प्रायः देखा जाता है कि जहाँ ज्ञान है वहाँ कर्म नहीं है और जहाँ कर्म है वहाँ ज्ञान का अभाव है। ज्ञान-कर्म का ठीक-ठीक समन्वय होने पर एक ऐसे उत्कृष्ट विज्ञान का आविर्भाव होता है जिसके शुभ्र ज्योतिर्मय प्रकाश में आत्मा को तीनों प्रश्नों के समुचित उत्तर मिल जाते हैं। उत्तर मिलने अथवा समाधान होने का अर्थ

है मुक्ति यानि मोक्ष।

ज्ञान-कर्म का समन्वय कैसे हो? किस धरातल पर उनका आयक्तिकरण हो? यह कौशलमयी विद्यायें ही बतलाती हैं। यही उनका मुख्य विषय है। योग हमें यह बतलाता है कि संसार में कैसे और किस प्रकार रहा जा सकता है और तंत्र यह बतलाता है कि संसार में रहते हुए किस प्रकार उस पर विजय प्राप्त किया जा सकता है। तीसरी विद्या है ज्योतिष। जिसके प्रकाश में हम योग तंत्र मार्ग के तिमिराच्छन्न मार्ग पर आगे बढ़ते हैं।

ज्ञान और कर्म मुख्य वस्तु है। भगवान श्रीकृष्ण के शब्दों में- दोनों सांख्य योग है। संसार में रहने का दो ही उपाय है पहला है संन्यास और दूसरा है कर्म। संन्यास से तात्पर्य सांख्य अथवा ज्ञान है और योग से तात्पर्य है कर्म। सांख्य का मार्ग पूर्ण त्याग का मार्ग है। योग मार्ग है पूर्ण अनासक्त मार्ग यानि निष्काम कर्म योग। जहाँ परिवर्तन है वहाँ सत्य का अभाव समझना चाहिये। ये तीनों विद्यायें अपरिवर्तनीय हैं। उनके मार्ग और सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं इसलिये वे सत्य हैं। मनुष्य को सत्य से परिचित कराती है। योगी, तांत्रिक और ज्योतिषी उसी सत्य के साक्षी हैं। वे सत्य को तर्क के द्वारा नहीं प्रत्युत प्रत्यक्ष जानते हैं। सत्य में प्रवेश करते हैं। सत्य को आत्मा का तादात्म्य बनाते हैं किन्तु समस्या है पहली यह कि जितने उपलब्ध तंत्र ग्रन्थ हैं वे दुर्बोध समाधि भाषा में लिखे गये हैं उनकी मीमांसा करना कठिन है।

दूसरी समस्या यह है कि वास्तविक योगी और साधक अथवा तांत्रिक ही उसका ठीक-ठीक अर्थ लगा सकते हैं पर वे इस दिशा में प्रायः मौन ही रहना पसन्द करते हैं और अपने आपको इस प्रकार गुप्त व प्रच्छन्न रखते हैं कि साधारण लोग उन्हें पहचान ही नहीं सकते। उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित ही नहीं हो सकते। इसका रहस्य क्या है? इस पर मैं आगे प्रकाश डालूँगा।

अतएव एक ओर तो ये समस्त समस्यायें और कारण हैं दूसरी ओर निस्सन्देह यह भी सत्य है कि तंत्र और उसकी साधना के नाम पर मदिरा, मैथुन आदि के सेवन का अवसर मिलता है। व्यक्तिगत रूप से असामाजिक कार्यो की सिद्धि भी होती है। कुत्सित उद्‌देश्यों की पूर्ति भी होती है। निश्चय ही इन्हीं सबके फलस्वरूप बहुत से लोग इस ओर झुकते हैं। ऐसा प्रतीत होता हैं कि तांत्रिक उपासना पद्धति के विस्तार में ऐसे ही लोगों का हाथ रहा जो किसी भी दृष्टि से साधक या तांत्रिक नहीं कहे जा सकते। तांत्रिक साधना के वास्तविक स्वरूप और उसमें निहित सत्यता से लोगों को परिचित कराने की दिशा में कलकत्ता हाईकोर्ट के जज माननीय सर जॉन उडरफ ने "आर्थर एवेलन" के उपनाम से सर्वप्रथम श्लाघनीय कार्य किया। उन्होंने अंग्रेजी में

अनेक उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन किया और प्रकाशन भी। कलकत्ता की आगमानुसंधान समिति ने भी इस दिशा में प्रशंसनीय कार्य किया है। इन सबका परिणाम यह हुआ कि साधारण लोगों के अतिरिक्त विद्वानों का भी ध्यान तंत्र और उसके साहित्य के प्रति आकृष्ट होने लगा। फिर अनेक संस्थायें खुलीं। अनेक अनुसंधान विभाग खुले। खोज और शोध कार्य होने लगे। तात्कालीन शासन का भी ध्यान इस दिशा में आकृष्ट हुआ। उस ओर से पुरातत्व विभाग की स्थापना हुई। किन्तु अभी भी किसी प्रतिष्ठान ने इन सबके बाद भी सामूहिक रूप से इस सराहनीय कार्य में हाथ नहीं लगाया। वैसे वाराणसी स्थित संस्कृत विश्वविद्यालय इस मार्ग में अवश्य उत्साहित है किन्तु उसकी भी प्रगति अभी सन्तोषजनक नहीं समझी जायेगी।

वर्तमान युग में श्रद्धेय विद्यार्णव, शिवचन्द्र महाशय ने तंत्र और तांत्रिक साधना की ओर ध्यान आकृष्ट किया। उन्होंने अपनी कृति "तंत्र-तत्व" के द्वारा शिक्षित समाज का ध्यान तंत्रों की ओर आकृष्ट किया। इस दिशा में सर जॉन उडरफ का नाम तो मैं पहले ही ले चुका हूँ। इस कार्य में श्री प्रमथनाथ मुखोपाध्याय और गुरुवर स्वामी प्रत्यंगात्मानन्दजी का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण माना जायेगा। योगदान के इस प्रसंग में प्रातः स्मरणीय गुरुवर्य म.म. डा. गोपीनाथजी कविराज का स्मरण करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान होगा।

अब प्रश्न यह है कि तंत्र का आविर्भाव किस समय और किस परिस्थिति में हुआ और साथ ही उसका प्रारम्भिक इतिहास क्या है? यह एक जटिल प्रश्न है। इसके समाधान की दिशा में अभी कोई महत्वपूर्ण कदम नहीं उठा है। इसका समुचित उत्तर प्राप्त करने के लिये हमें वैदिक काल के पूर्व के इतिहास का अवलोकन करना पड़ेगा और उन परिस्थितियों पर विचार करना होगा जिसमें आर्य भारत आये। तांत्रिक वाङ्मय की दृष्टिकोण से यह सूक्ष्म गवेषणा का विषय है। जिस परिस्थिति में आर्यो ने भारत में प्रवेश किया उस समय भारत में अनेक छोटी बड़ी जातियाँ थीं। किन्तु उन सबमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण और प्रभावशाली यक्ष जाति थी। इतिहासकारों ने यक्ष जाति को इसीलिये पृथक कर अन्य सभी जातियों को आर्येतर घोषित किया है। आर्य, यक्ष और आर्येतर-इसमें जो परस्पर भेद था वह अपने इतिहास निर्माण में काम करने लगा।

धर्म और दर्शन के क्षेत्र में आर्यो में आनन्दवाद की प्रधानता थी। यक्षों में विलासवाद की तथा आर्येतर जाति में दुःखवाद की प्रधानता थी। तीनों वर्ग प्रकृति के उपासक और साधक थे। तीनों प्रकृति को शक्ति के रूप में स्वीकार करते थे किन्तु स्वीकारोक्ति में भिन्नता थी।

आर्यो में शक्ति पुरुष पराक्रम के रूप में मुख्य थी। यक्षों में स्त्री के रूप में तथा

आर्येतर जाति में पुरुष शक्ति की ही प्रधानता थी। किन्तु आर्यो का पुरुष नहीं था। इस प्रकार एक ही शक्ति तीन मुख्य रूपों में विभाजित थी। अतः स्पष्ट है कि आर्यो के पूर्व भी भारत में शक्ति पूजा किसी न किसी रूप में विद्यमान थी। तांत्रिक साधना एकमात्र शक्ति साधना है। निश्चय ही इस साधना का मूलस्रोत यक्ष जाति है इसमें सन्देह नहीं।

योग, तंत्र आदि प्रारम्भ में आर्यो में नहीं था। यक्षों में था किन्तु अल्प मात्रा में। किन्तु आर्येतर जातियों में अत्याधिक उग्र रूप में था। प्रकृतिरूपी शक्ति की उपासना के क्षेत्र में आर्यो के लिये सरलता थी। उन्होंने अत्यधिक सरलता से और सहज रूप में शक्ति को स्वीकार किया था। प्रकृति से उसे स्वाभाविक आनन्द की प्राप्ति होती थी। इसीलिये आर्यो में आनन्दवाद की प्रधानता थी।

यक्षों में ठीक इसके विपरीत था सब कुछ। स्त्री के रूप में शक्ति को स्वीकार करने के फलस्वरूप प्रकृति उनमें उद्दीपन का कार्य करती हुई वासना को जागृत करती थी इसलिये यक्षों में विलासवाद की प्रधानता थी।

आर्येतरों में पुरुष-शक्ति की प्रधानता थी किन्तु वह नीरस था। भय की स्वीकृति थी उसी का प्राधान्य था। अतः आर्येतरों के लिये प्रकृति-शक्ति अत्यन्त रहस्यमयी थी। वे उसे आतंक और भय की दृष्टि से देखते थे। उनमें इसी कारण भूत-प्रेत की भी प्रधानता थी। वे समझते थे कि प्रकृति शक्ति ही उनके दुःख का मूल कारण है इसीलिये उनमें दुःखवाद का प्रभुत्व था। जादू टोना आदि के अतिरिक्त पशुबलि, नरबलि की भी प्रथा थी उनमें। सिद्धि के भी प्रयत्न चलते थे। वैसे अन्धविश्वास तो तीनों वर्गो में था किन्तु इसमें उसकी अधिकता थी। उनका भय सदैव एक अज्ञात रहस्य की ओर आकर्षित करने वाला था। तीनों वर्ग की जातियों के विचार भिन्न, व्यवहार भिन्न और सिद्धान्त भिन्न थे। किन्तु फिर भी तीनों एक दूसरे के निकट थे अतः निकटता के कारण एक का दूसरे पर प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था और हुआ भी यही। परन्तु रहस्य की खोज रूकी नहीं। प्रकृति की शक्तियों को और उन शक्तियों के गूढ़ रहस्यों को अधिक से अधिक जानने समझने की लालसा तीनों में बराबर बढ़ती ही गयी। परन्तु धार्मिक साधना की सीमा केवल मन और आत्मा तक ही होती तो और ही बात थी पर ऐसा नहीं था उनमें। तीनों जातियों में अपना रक्त गर्व, एक दूसरे पर शासन करने की प्रवृत्ति, अपने-अपने विश्वासों एवं उपलब्धि को सर्वश्रेष्ठ समझने का अभिमान प्रचुर मात्रा में था। इस प्रकार के और भी तथ्य निरन्तर काम करते थे जो सामाजिक प्रभाव डालते थे और वे प्रभाव अपने लिये दार्शनिक पृष्ठभूमि खोजने के लिये धर्म की आड़ लेते थे। अतः तीनों जातियों ने अपने-अपने विश्वासों एवं भावनाओं के अनुसार

अपने आप में अपौरूषेय शक्ति भरने के लिये जो चमत्कारों एवं सिद्धि का प्रयत्न किया वही आगे चलकर तंत्र के रूप में प्रकट हुआ।

ब्राह्मण धर्म और तंत्र के तीन विभाग- ब्राह्मण धर्म और तंत्र के तीन मुख्य विभाग से तीनों जातियों का आपस में संघर्ष चलता रहा और साथ ही रहस्य की खोज भी होती रही। आर्य संघर्ष में विजयी हुए और प्रकृति के रहस्यों के उद्घाटन में उन्होने विशेष प्रगति की। अतः अन्य जातियों का उनका अनुगामी होना स्वाभाविक था। किन्तु आर्यो ने अपनी जो पृथक और स्वतंत्र सामाजिक व्यवस्था और आध्यात्मिक व दार्शनिक सिद्धान्तों का निर्माण किया उसे स्वीकार नहीं किया अन्य जातियों ने। अपने सामाजिक, धार्मिक नियमों तथा दार्शनिक सिद्धान्तों को लेकर आर्यो ने सर्वप्रथम जिस धर्म का निर्माण किया- वह था ब्राह्मण धर्म।

ब्राह्मण धर्म आस्तिकवाद प्रधान था। इस प्रकार आर्यो में दो वाद प्रधान हो गये- पहला था आनन्दवाद तथा दूसरा था आस्तिकवाद। यही वह स्थल है- जहाँ से आर्यो में आत्मा और परमात्मा के प्रति विशेष रूप से जिज्ञासा उत्पन्न हुई और दोनों की खोज शुरू हुई और शुरू हुई आध्यात्मिक कल्पना-परिकल्पना की ऊँची उड़ान और इस खोज और उड़ान ने उन ऋषियों को जन्म दिया जिनकी परावाणी से ऋग्वेद का प्रणयन हुआ। जिसकी मूलभित्ति थी ब्राह्मण धर्म और उसका आस्तिकवाद। ऋषियों ने आर्यो के शक्ति तत्व का प्रतिवादन ऋग्वेद के ''वागाम्भृणी'' सूक्त द्वारा किया और उनके तंत्र को ब्राह्मण तंत्र के नाम से अभिहित किया। ऋग्वेद के उक्त सूक्त में जिस शक्ति तत्व का प्रतिपादन है।

अहं रुद्रोभिर्वसुभिश्चराम्य हमादित्यै रुत विश्व देवैः।
अहं मित्रा वरुणोभाविभर्म्यधमिन्द्राग्री अध्याश्विनोमा।।

उसी को ''ब्राह्मण तंत्र'' की संज्ञा दी गयी। किन्तु स्पष्ट है कि ऋग्वेद के पूर्व तंत्र का आविर्भाव हो चुका था, इसमें सन्देह नहीं। जिस प्रकार ऋग्वेद मुख्य और आदि वेद है उसी प्रकार ब्राह्मण तंत्र मुख्य और आदि है किन्तु ज्ञान की दृष्टि से उसका विस्तार उपनिषद काल में हुआ। बौद्ध धर्म और जैन धर्म का जब आविर्भाव हुआ तो उनके आचार्यो ने अपने-अपने तंत्रों का आधार ब्राह्मण तंत्र को ही बनाया और उसी के मौलिक सिद्धान्तों के अनुसार अपनी-अपनी तांत्रिक साधना-परम्परा का निर्माण किया। अतः इस प्रकार तंत्र के तीन मुख्य विभाग हो गये- ब्राह्मण तंत्र, बौद्ध तंत्र और जैन तंत्र। इसमें जैन तंत्र का साहित्य और उसकी साधना परम्परा अल्प और शिथिल है किन्तु ब्राह्मण तंत्र की तरह बौद्ध तंत्र का साहित्य और साधना-परम्परा विशाल एवं गम्भीर है।

ऋग्वेद की रचना और ब्राह्मण तंत्र : यह धारणा है कि वेद अपौरूषेय और नित्य है तथा सृष्टि के पूर्व ब्रह्मवाणी के रूप में उसका प्रादुर्भाव हुआ है। आध्यात्मिक दृष्टि से यह अवश्य सत्य है किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से इसे मान्यता नहीं दी जा सकती। अध्यात्म कुछ और है इतिहास कुछ और। अध्यात्म की मूलभित्ति श्रद्धा और विश्वास है जबकि इतिहास, तर्क और प्रामाणिक तथ्यों पर प्रतिष्ठित होता है। उक्त धारणा के फलस्वरूप ऐतिहासिक दृष्टि से वेद की छानबीन नहीं की गयी। इसकी आवश्यकता का अनुभव भी नहीं किया लोगों ने। अनुभव किया है तो पाश्चात्य विद्वानों ने। किन्तु उनके अध्ययन की दृष्टि भिन्न रही जिसका परिणाम यह हुआ कि उन लोगों ने वेद के अर्थ का अनर्थ कर डाला।

भारत की प्राचीन सभ्यता और संस्कृति की जानकारी सिवाय ऋग्वेद के अन्यत्र नहीं मिलती। ऋग्वेद में दो मुख्य विषय हैं- भारतीय प्राकृतिक दृश्यों का वर्णन और उषा की विस्तृत वन्दना और स्तुति। इनसे संबंधित मंत्र ऋग्वेद में सबसे सुन्दर और ललित एवं मनोहर हैं। यह निर्विवाद है कि ऋग्वेद की रचना ब्राह्मण धर्म के आश्रय से हुई और वह भी भारत में हुई और उसी समय लौकिक-पारलौकिक आवश्यकताओं की पूर्ति के निमित्त नाना प्रकार की उपासनाओं, साधनाओं, पूजा पद्धतियों तथा उनसे संबंधित नाना प्रकार के वैदिक व तांत्रिक देवी-देवताओं की सृष्टि हुई। निर्गुण व सगुण ब्रह्म को लेकर आध्यात्म का भी क्षेत्र विस्तृत हुआ। ब्राह्मण तंत्र को वेदान्तर्गत किया गया तथा वेद को निगम और तंत्र को आगम की संज्ञा मिली। इसी स्थान से आर्य संस्कृति दो धाराओं में विभक्त हुई-पहली थी वैदिक संस्कृति की तथा दूसरी थी तांत्रिक संस्कृति की। इसी प्रकार वैदिक रहस्यवाद के आश्रय से साधनाओं, उपासनाओं एवं पूजा पद्धतियों को भी दो मुख्य भागों में विभक्त किया गया। पहले भाग के अन्तर्गत वैदिक साधना आदि थी तथा दूसरे भाग के अन्तर्गत तांत्रिक साधना उपासना आदि।

इस प्रकार संस्कृति और साधना की दो अलग-अलग धारायें भारत भूमि में प्रवाहित हुई। उपनिषद काल की सीमा पर पहुँच कर तंत्र का अर्थ अत्यधिक व्यापक हो गया और उसकी साधनाओं को ज्ञान के विस्तार में लिया गया।

तंत्र क्या है – तंत्र का शाब्दिक अर्थ यह है कि तंत्र का उच्चारण करने से रूढ़ रूप में एक विशेष पद्धति का बोध होता है और वह पद्धति साधना की है। इस पद्धति की विवेचना से पूर्व तंत्र की व्युत्पत्ति तनु धातु से हुई है। तनु का अर्थ है विस्तार करना। तनोति विस्तारयनि ज्ञानं येन यस्मात् वा तत् तंत्रम् अथवा तन्यते विस्तारयते ज्ञानं अनेन इति तंत्रम्। व्याकरण के दृष्टिकोण से तनु धातु के साथ त्रयी धातु का भी

योग है। जिससे एक अर्थ इसमें जुड़ जाता है रक्षा करने का अर्थात तंत्र ज्ञान का विस्तार तो करता ही है साथ ही साथ रक्षा भी करता है। इससे स्पष्ट है कि तंत्र साधक को आधिभौतिक , आधिदैविक तथा आध्यात्मिक तीनों प्रकार के तापों से छुटकारा दिलाता है तथा भय मुक्त भी करता है। तनोति विपुलानर्थान् तंत्रमंत्राणि समन्वितान्। त्राणं च कुरुते यस्मात्तंत्रमित्यभियते।। तंत्रम् इति अभिधीयते।

तंत्र की व्यापकता, विशिष्टता के कारण प्राचीन काल में शास्त्र और विज्ञान को भी तंत्र कहा जाता है। न्याय, सांख्य और योगशास्त्र को भी अनेक स्थानों पर तंत्र शब्द से प्रदर्शित किया गया है आयुर्वेद शास्त्र के अनेक उपखण्डों के नाम में तंत्र शब्द का जुड़ाव देखने को मिलता है जैसे- शल्य तंत्र,शालक्य तंत्र।

यहाँ पर जिस तंत्र से तात्पर्य है वह एक विशेष पद्धति तथा विशेष दर्शन है। तंत्र का शास्त्रीय नाम आगम है और आगम को वेद की भांति ही मान्यता प्राप्त है। आगम इसलिए भी तंत्र को कहा जाता है क्योंकि तंत्र ग्रन्थों में प्रायः वक्ता देवाधिदेव शिव हैं और श्रोता जगत्जननी भगवती पार्वती कहीं-कहीं इसके विपरीत भी है जहां वक्ता माँ पार्वती और श्रोता महादेव शिव हैं। आगम शास्त्र में सृष्टि, प्रलय, देवार्चन मंत्रों की साधना, पुरश्चरण, षट्कर्म, ध्यान योग आदि समस्त विषयों पर अत्यन्त गंभीरतापूर्वक विचार किया गया है।

आगम शास्त्र में इस बात का भी उल्लेख आया है कि कलियुग में तंत्र साधना ही प्रभावकारी तथा सिद्धिदात्री हो सकती है। प्रपंचसार तंत्र का मत है कि सतयुग में श्रुतियों के अनुसार एवं कलियुग में आगम शास्त्र के अनुसार ही धर्म की सार्थकता होती है। महानिर्वाण तंत्र इस बात का उल्लेख है कि कलियुग में आगम मार्ग के अतिरिक्त मोक्ष पाने का दूसरा मार्ग नहीं है। शिव के मुख से बताया गया है कि कलियुग में जो साधक आगम शास्त्र का मार्ग त्याग कर अन्य साधना करता है उसकी गति कदापि संभव नहीं है यह परम सत्य है।

वैदिक और तांत्रिक साधना तथा उपनिषद काल : जिस प्रकार भारतीय सभ्यता वैदिक ज्ञान को आश्रित कर प्रवृत्त होती है उसी प्रकार अपनी प्रतिष्ठा के लिये तंत्र पर भी आश्रित है। निस्सन्देह भारतीय संस्कृति निगमागम मूलक है। तंत्रों की विशेषता क्रिया है। वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट ज्ञान का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचारों का वर्णन तंत्र का मुख्य विषय है।

जैसाकि ऊपर संकेत किया जा चुका है- साधना की दो धारायें प्राचीन काल से ही प्रवाहित होती चली आ रही हैं। एक धारा (वैदिक धारा) सर्वसाधारण के लिए प्रकट

रूप से सिद्धान्तों का प्रतिपादन करती है। दूसरी धारा (तांत्रिक धारा) चुने हुये अधिकारियों के लिये गुप्त साधना का उपदेश देती है। एक बाह्य है तो दूसरी आभ्यान्तरिक। पहली प्रकट है तो दूसरी गुह्य। परन्तु दोनों धारायें प्रत्येक काल में साथ-साथ विद्यमान रही है। किन्तु उपनिषद काल में तो दोनों साधनायें आपस में इतनी मिश्रित हो गयी कि उन्हें सुलझाना एक विषम समस्या बन गयी। जिस काल में वैदिक यज्ञ याज्ञों का बोलबाला था उस समय भी तांत्रिक उपासना अज्ञात न थी तथा कालान्तर में जब तांत्रिक पूजा का विशेष प्रचलन हुआ उस समय भी वैदिक कर्मकाण्ड विस्मृति के गर्भ में विलीन नहीं हुआ। वैदिक तथा तांत्रिक पूजा की समकालीनता का परिचय हमें उपनिषदों के अध्ययन से स्पष्ट मिलता है। उपनिषदों में जितनी गुह्य विद्याओं का वर्णन है- उन सबका आधार भित्ति तंत्र है। पुनः विचारणीय में वृ.उ. (६/२) तथा छा.उ. (५/८) वर्णित पंचाग्नि विद्या के प्रसंग **योषा वाव गौतमाग्नि स्तस्या उपस्थ एव समिद्युप मन्त्र यते स धूमो योनिरर्चिर्पदन्त कराति तेऽगांरापीभनन्दा विस्फुलिंगाः तास्भिन्नेवस्मिन्नम्नो देवो रे तो जुछति तस्या पाहुतेर्गर्या सम्भवति।।** में 'योषा वाव गौतमाग्नि' आदि रूपक का यही रहस्य है। मधु विद्या का भी यही रहस्य है। इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट कर देना उचित है कि उपनिषदों में जितनी तंत्रपरक गोपनीय विद्यायें हैं उन सब का मूलस्रोत वेद का रहस्यवाद है। उन विद्याओं की साधना के रहस्य को जानने वाले विद्वानों के सामने इस विषय का विशेष रूप से स्पष्टीकरण करना आवश्यक नहीं है। स्पष्ट है कि तंत्र का एक ओर व्यापक अर्थ है और दूसरी ओर है संकीर्ण। देवता के स्वरूप गुण कर्म आदि का जिसमें चिन्तन किया गया हो, तद्विषयक मंत्रों का उद्धार किया गया हो उन मंत्रों को यंत्र में संयोजित कर देवता का ध्यान तथा उपासना के पाँचों अंग- पटल, पद्धति, कवच, सहस्त्र नाम और स्तोत्र- व्यवस्थित रूप से दिखलाये गये हों। सृष्टि प्रलय देवतार्चन, सर्वसाधन पुरश्चरण षट्कर्म साधन- शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन तथा मारण और ध्यान योग इतने विषय तंत्र के सीमित अर्थ के अन्तर्गत आते हैं। भारतीय संस्कृति निगमागम मूलक है इसलिये वैदिक व तांत्रिक संस्कृति के सिद्धान्तों और लक्ष्यों पर भी विचार करना आवश्यक प्रतीत होता है।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति- संस्कृति शब्द का अर्थ है मन एवं हृदय की वृत्तियों को संस्कार के द्वारा सुधारना और उदात्त बनाना। भिन्न-भिन्न देशों के भिन्न-भिन्न आचार-विचार रहने से सुधार संबंधी मापना भी भिन्न-भिन्न रहती है। भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृति में भी भिन्नता पायी जाती है। यदि गहरायी से इस विषय की छानबीन की जाय तो ज्ञात होगा कि संस्कृति के मूलतत्व सभी देशों में प्रायः एक से होते हैं। देशकाल

के अनुसार बाह्य स्वरूप में अन्तर दिखलायी पड़ता है जो स्वाभाविक है। वस्तुतः संस्कृति आन्तरिक गुणों का समूह है और है एक प्रेरक शक्ति। 'सुसंस्कृत' होने की क्षमता सभी में विद्यमान है। वह किसी जाति या वर्ग में सीमित नहीं है।

किसी जाति के मनुष्य ऊँची संस्कृति के एकाधिकारी नहीं हो सकते। एक जाति रंग या देश के मनुष्य जितने सुसंस्कृत हुए हैं दूसरी जाति रंग या देश के मनुष्यों में उतनी ही सुसंस्कृत होने की क्षमता है। हाँ! इसके लिये उन्हें अनुकूल अवसर या परिस्थिति मिलनी चाहिये। इसके अभाव में वे मध्यस्तर पर रह सकते हैं किन्तु इस दिशा में यह निष्कर्ष निकालना भ्रमपूर्ण और अज्ञान मूलक है कि एक जाति स्वभावतः ऊँची संस्कृति वाली है और दूसरी संस्कार विहीन। सुविधा मिलने पर प्रत्येक जाति संस्कृति में दूसरी जाति से प्रतियोगिता कर सकती है। इस प्रकार संस्कृति के निम्न या उच्चस्तर हो सकते हैं और होते भी हैं। किन्तु धर्म या देश के आधार पर संस्कृति के भेद स्थायी नहीं हो सकते। हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति आदि में भेद करना या भारतीय संस्कृति या चीनी संस्कृति की बातें उठाना उचित नहीं है। हाँ! उसके बजाय यदि यह कहा जाय कि मानव संस्कृति के विकास की दिशा में अमुक जाति या धर्म के अनुयायियों ने इस परिमाण तक भाग लिया है और उनकी अमुक-अमुक विशेषतायें रही एवं उन्होंने मानवता को ऊँचा उठाने में इन-इन सिद्धान्तों और आदर्शों की खोज की और उनके अनुसार यहाँ तक व्यवहार किया तो वह कुछ असंगत नहीं कहा जायेगा।

संस्कृति और सभ्यता में भेद : यह स्पष्ट है कि भिन्न-भिन्न देशों में संस्कृति की भावना भिन्न-भिन्न रही है। साधारणतः लोग संस्कृति का प्रयोग सभ्यता के अर्थ में करते हैं किन्तु यह भारी भूल है। सभ्यता और संस्कृति सर्वथा सम्बद्ध होते हुये भी एक दूसरे से भिन्न है।

संस्कृति आभ्यन्तर तत्व है और सभ्यता है बाह्य तत्व। संस्कृति को अपनाने में देर लगती है किन्तु सभ्यता का सद्यः अनुकरण किया जा सकता है।

वास्तव में संस्कृति का मूलतत्व अथवा मूलसूत्र न धर्म है न भाषा और न तो भौगोलिक खण्ड। यह सूत्र तो है जीवनयात्रा के वास्तविक उपकरण सामाजिक व्यवस्था और इन सबकी सहायता से बना मानव लोक। जीवन के भौतिक उपादान प्रायः बदलते रहते हैं और उन्हीं के अनुसार समाज की व्यवस्था भी बदलती रहती है तथा बदलता रहता है जनता का मानव लोक। कोई भी संस्कृति अपरिवर्तनीय नहीं है, हाँ उसमें रूपान्तर अवश्य होता रहता है। ऋग्वेद कालीन संस्कृति, अशोक कालीन संस्कृति से भिन्न थी। मुस्लिम और ईसाई संस्कृति ने कुछ और रंग पकड़ा। अनादिकाल से भारत

में अनेक जाति, सभ्यता, धर्म एवं संस्कृति का अबाध प्रवाह रहा। भारत ने समय और आवश्यकता के अनुसार विविध सभ्यताओं एवं संस्कृतियों से समझौता किया तथा आवश्यकतानुसार आदान प्रदान भी। भारतीय संस्कृति की यह सहिष्णुता और समन्वय शक्ति उसकी सबसे बड़ी विशेषता है।

भारतीय संस्कृति की विशेषता- भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यदि कोई है तो यही कि स्वार्थ सिद्धि की अपेक्षा परसेवा, समाजसेवा और स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ पर अधिक जोर उसने दिया है। उसने व्यक्ति को, समाज में, समष्टि में और परमेश्वर में लीन होने का उपदेश दिया है एवं मार्ग भी बताया है। जो मार्ग, जो विधि और जो क्रिया हमें परमेश्वर की ओर ले जाती है वह हिन्दू संस्कृति, आर्य संस्कृति, संस्कृति एवं सु-संस्कृति है। जो हमें उससे विमुख बनाती है वह अहिन्दू, अनार्य, दुर्जन संस्कृति और कु-संस्कृति है। मुण्डकोपनिषद में निम्नलिखित मंत्र में वैदिक कार्य के सभी धार्मिक आदर्शो का संक्षेप में समावेश किया गया है :-

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्वेषःआत्मा सभ्यग्ज्ञानेन ब्रह्म चर्येण नित्यम्।
अन्तः शरीरे ज्योर्तिमयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीण दोषाः।।

मु. ३/१/५

सबके शरीर के भीतर हृदय में विराजमान परम विशुद्ध प्रकाशमय ज्ञान स्वरूप परब्रह्म परमात्मा जिनको सभी प्रकार के दोषों से रहित हुए प्रयत्नशील साधक ही जान सकता है। सदैव सत्य भाषण, तपश्चर्या, संयम और स्वार्थ त्याग तथा ब्रह्मचर्य के पालन से उत्पन्न यथार्थ ज्ञान द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। इनसे रहित होकर भोगों में आसक्त है भोगों की प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के मिथ्या भाषण करते हैं और आसक्तिवश नियमपूर्वक अपने वीर्य की रक्षा नहीं कर सकते, वे स्वार्थ परायण अविवेकी मनुष्य परमात्मा का अनुभव नहीं कर सकते क्योंकि वे उनको चाहते ही नहीं। अतः भारतीय संस्कृति का ध्येय मनुष्य का चरम लक्ष्य बताकर उसे प्राप्त करने का उपाय और मार्ग प्रदर्शित करना है। शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक विकास इस लक्ष्य के साधन के मार्ग हैं अतः जिस संस्कृति में इनके विकास का जितना आधिक्य होगा वह उतनी ही ऊँची मानी जायेगी।

प्राचीन भारत में शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक इन तीनों का सामञ्जस्य पूर्ण विकास ही मानव जीवन का ध्येय माना गया था। ईशावास्योपनिषद में इस ध्येय का स्पष्ट दर्शन होता है :-

ईशावास्य मिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत।
तेन व्यक्तेन भुन्जीका मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।

कुर्वन्ने वे ह कर्माणि जिजिवीषेच्छतं समा।
एवं त्वयि नान्य के तो ऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।

इन मंत्रों से स्पष्ट है कि भारतीय सभ्यता और संस्कृति के उषाकाल में ही शारीरिक, मानसिक और आत्मशक्ति के विकास पर जोर दिया गया है। इन आदेशों के अनुसार कार्य करने के परिणाम स्वरूप साधक में स्वभावतः इन तीनों शक्तियों का विकास होगा। भारतीय संस्कृति का आदेश है कि कर्म में लिप्त हुए बिना सौ वर्षों तक जीने का प्रयत्न करना चाहिये। आयु को क्षीण करने वाला एकमात्र काम है। आध्यात्मिक उन्नति के लिये पूर्ण आयु का होना आवश्यक है। यह शारीरिक उन्नति व विकास के अन्तर्गत है। अलिप्त भाव से कर्म करना अकर्म अवस्था है और फलाकांक्षा रहित होकर कर्म करना निष्कर्म अवस्था है। पहला संन्यास धर्म के अन्तर्गत है और दूसरा है गृहस्थ धर्म के अन्तर्गत। सौ वर्षों का जीवन शारीरिक विकास और मानसिक शान्ति द्वारा ही सम्भव है और परमेश्वर की उपस्थिति सर्वत्र समझने तथा सर्वत्र निर्लिप्त भाव से रहने से ही आत्मोन्नति सम्भव है।

भारतीय संस्कृति का लक्ष्य है मानव की आध्यात्मिक उन्नति। वह मानव का चरम लक्ष्य बतलाकर उसे प्राप्त करने का उपाय और मार्ग प्रदर्शित करती है। कर्म के तथोक्त दोनों अवस्थाओं से सुकर्म का जन्म होता है। सुकर्म ही आत्मा और मन को पवित्र तथा निर्मल बनाने का एकमात्र मुख्य साधन है। जन्म-मरण का बन्धन ही जीवात्मा को परमानन्द प्राप्त करने के लिये प्रेरित करता है। इसी अनन्त और अक्षय सुख का नाम मोक्ष है। प्रत्येक जीवात्मा इसे प्राप्त कर सकती है। जीवनमुक्त महापुरुष ही मोक्ष में शाश्वत शान्ति और परमानन्द प्राप्त कर सकते हैं। जीवात्मा को 'सुकर्म' ही जीवनमुक्त बना सकता है इसीलिये भारत के ऋषियों एवं मनीषियों ने शारीरिक मानसिक तथा आत्मोन्नति को ही इस उद्देश्य की पूर्ति का साधन बतलाया है।

शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति और आत्म शक्ति एक दूसरे पर आश्रित होकर और एक दूसरे से पूर्णतया समन्वित होकर आध्यात्मिक मार्ग को प्रशस्त करती है और "मोक्ष" का साधन बनती है। प्राचीन भारत में शारीरिक शक्ति के विकास के लिये ऐसा नियम और इस प्रकार का जीवनक्रम बनाया गया था जिससे शारीरिक विकास के साथ-साथ मानसिक तथा आत्म विकास में भी बाधा न पड़े। अष्टांग योगों में यम, नियम, प्राणायाम, आसन, ध्यान इन पाँच योगों को शारीरिक विकास और उन्नति के लिये उपयुक्त समझा गया। ये पाँच योगांग साधन हैं और ये साधन ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित हैं इसीलिये भारतीय संस्कृति ने ब्रह्मचर्य पर अधिक बल दिया। ब्रह्मचर्य एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा जहाँ एक ओर पंच योगांगों के आधार पर

शारीरिक विकास और उन्नति सम्भव है वहीं दूसरी ओर मानसिक और आत्मिक उन्नति और उसका विकास भी सम्भव है इसीलिये भारतीय संस्कृति ने ब्रह्मचर्य को लेकर एक स्वतंत्र और मौलिक साधना को जन्म दिया। जिसे साधक समाज "बिन्दु साधना" के नाम से सम्बोधित करता है।

ब्रह्मचर्य पर प्रतिष्ठित पंच योगांग- शारीरिक उन्नति के साथ-साथ चंचल चित्त वृत्ति का विरोध कर मानव मन को एकाग्र बनाते हैं। बिना एकाग्र मन के वास्तविक शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती और जबतक मन में शान्ति नहीं है तबतक आत्मोन्नति नहीं हो सकती। भारतीय संस्कृति ने ब्रह्मचर्य के पश्चात् प्राणायाम पर बल दिया। प्राणायाम फेफड़ों को अधिक शक्तिशाली बनाकर हृदय को शक्ति प्रदान करता है। जिससे मानसिक शक्ति के विकास में सहायता मिलती है। इस प्रकार प्राचीन भारत ने शारीरिक शक्ति के विकास की एक ऐसी योजना बनायी थी जिससे मानसिक और आत्म विकास में भी स्वतः काफी सहायता मिल सकती है। शारीरिक विकास की ऐसी व्यवस्था संसार के अन्य किसी देश की संस्कृति में कदापि नहीं पायी जा सकती। यह भारतीय संस्कृति की पहली विशेषता है।

ज्ञान की सात भूमिकायें हैं। जिनमें आत्मज्ञान सर्वोच्च है। जबतक आत्मतत्व समझ में नहीं आये तबतक ज्ञान अधूरा है। भारतीय संस्कृति के अनुसार ज्ञान के द्वारा आत्मतत्व को समझकर उसे जीवन मरण के बंधन से मुक्त करना ही मानव जीवन का एकमात्र ध्येय है। जिस प्रकार स्थूल शरीर के बंधन में फंस गये जब शरीर से निकलेंगे तो कहाँ जायेंगे? हम कौन हैं? कहाँ से आये हैं और फिर कहाँ जायेंगे? आदि समस्याओं का समाधान आवश्यक है। भारतीय संस्कृति ने हम कौन हैं? की खोज में बराबर लगे रहने का उपदेश दिया है। इस प्रश्न का सम्यक उत्तर मिल जाने पर प्राणिमात्र में फिर कोई भेद नहीं रह जाता। राग, द्वेष, घृणा, प्रेम, ईर्ष्या आदि सभी वृत्तियाँ समाप्त होती हैं।

ईशावासोपनिषद (म. ६७) के अनुसार जो मनुष्य प्राणिमात्र में परमेश्वर अर्थात परमात्मा को देखता है वह कैसे किसी से घृणा या द्वेष कर सकता है। सर्वत्र एक ही तत्व विद्यमान है और वह है परमात्म तत्व। जब परमात्म तत्व का साक्षात्कार हो जाता है तब कुछ शेष नहीं रह जाता। अतएव परमात्मा को जीवमात्र में व्याप्त अनुभव करना मनुष्य जीवन का ध्येय है। भारतीय संस्कृति की यह दूसरी विशेषता है।

संसार की सभ्यता के उषाकाल में मंत्र द्रष्टा ऋषियों ने यह ज्ञान प्राप्त किया 'सत्य' और 'ऋत्' (जीवन की सुव्यवस्था) ही इस सृष्टि के आदि उपादान कारण हैं। तभी से सत्याचरण का भाव मानों इस देश के वातावरण में फैल गया।

भारत में आस्तिकवाद, नास्तिकवाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद प्रमृति विभिन्न मत मतान्तरों के लिये स्थान रहा है। यहाँ विचार स्वतंत्रता तो इतनी रही है कि महाभारत

के वन पर्व १३१/११ में कहा है- "जो धर्म, दूसरे धर्म को बाधा पहुँचाता है- वह धर्म नहीं बल्कि कुमार्ग है। वास्तव में सच्चा धर्म तो वह है जो धर्म विरोधी नहीं होता है। अतएव सत्य ऋत् की प्रतिष्ठा, सत्याचरण विचार स्वातंत्र्य, धर्म स्वातंत्र्य भारतीय संस्कृति की तीसरी विशेषता है।

भारत ने चरित्र बल को धर्म की कसौटी माना है। इस कसौटी पर जो खरा उतरा, भारत उसे गौरव और आदर की दृष्टि से देखता आया है। भले ही उसकी विचारधारा सर्वमान्य और सर्वप्रिय न हो। प्राचीन भारत का इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारतीय संस्कृति हमें धार्मिक विचार स्वतंत्रता के कारण किसी के पीड़ित अथवा अनादृत होने का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करता। इस देश में अपने चरित्र बल के कारण ईश्वर को न मानने वाले पुरुष भी न केवल आदर और मर्यादा के मापन हो सके हैं, वरन उन्हें समाज में उच्चतर स्थान भी मिला है। ईश्वर में विश्वास न रखने वाले लोगों से मान मर्यादा में विरोध उपस्थित नहीं हो सकता है क्योंकि भारतीय संस्कृति का मूलाधार 'सत्य' और 'ऋत्' रहा है।

बुद्ध ने न ईश्वर को माना और न वेद को किन्तु वे अपने युग के सर्वश्रेष्ठ आचारवान पुरुष थे। जीवमात्र के प्रति उनकी समदृष्टि थी। सत्य और अहिंसा उनका मूलमंत्र था। अतएव उनकी विशेष प्रतिष्ठा हुई और उनकी गणना विष्णु के नवम् अवतार में की गयी और विष्णु के अवतार के रूप में आज भी जनता में उनकी प्रतिष्ठा अक्षुण्ण है।

कपिल मुनि सांख्य के प्रणेता थे। आपने प्रकृति पुरुष की कल्पना से विश्व को पहेली समझायी है। अनावश्यक होने के कारण ईश्वर की सत्ता सांख्य दर्शन को मान्य नहीं। अतः सांख्य नितांत निरीश्वरवादी है। कपिल मुनि उपनिषद कालीन ऋषि थे अतः आप अत्यन्त चरित्रवान व्यक्ति थे। किसी भी ग्रन्थ में आपके संबंध में ऐसी बात नहीं आयी है जो आपके विमल चरित्र में लेशमात्र भी धब्बा लगा सकी हो। अतः निरीश्वरवादी होने पर भी आपकी गणना भगवान के चौबीस अवतारों में हुई है।

मीमांसा दर्शन भी निरीश्वरवादी है। इसके आचार्य जेमिनी का कथन है कि वेद स्वयं नित्य है। किसी के द्वारा उसकी रचना नहीं हुई है। इस दर्शन के अनुसार विश्व में कर्म ही प्रधान वस्तु है। आचार्यवाद रावण, ईश्वर को कर्मफल का दाता मानते हैं किन्तु जेमिनी की सम्मति में यज्ञ से ही तत्व फलों की उपलब्धि होती है। इस प्रकार ईश्वर की अवहेलना करने पर भी केवल जेमिनी नहीं किन्तु आचारवान मीमांसक की भी प्रतिष्ठा और मर्यादा बनी रही।

रावण चारों वेदों का महापण्डित होने के साथ-साथ भगवान शंकर का परम

भक्त था किन्तु आचारहीन और चरित्रहीन होने के कारण उसकी गणना राक्षसों में की जाती है। सदाचार और चरित्र के कारण ही उसके भाई विभीषण को मर्यादापूर्वक स्थान मिला था। इस बात से स्पष्ट है कि भारत में अनादि काल से धार्मिक स्वतंत्रता रही है। मनुष्य के आदर और प्रतिष्ठा का मापदण्ड ईश्वर की भक्ति और वेदादि सद्ग्रन्थों का अनुशीलन न होकर ऋत् यानि चरित्र रहा है। यह भारतीय संस्कृति की चौथी विशेषता है।

भारतीय संस्कृति कर्मवादक मूलक है इसीलिये इसका लक्ष्य अखण्ड विश्व की ओर है। भारतीय सिद्धान्त के अनुसार जीव जन्म से जन्मान्तर में भ्रमण करता रहता है। विभिन्न योनियों के भ्रमण काल में वह कभी स्वर्ग में जाता है तो कभी नरक आदि में। कभी भारत में जन्म लेता है तो कभी अन्य देशों में। कभी पुरुष होता है तो कभी स्त्री क्योंकि कर्म की विचित्र गतियाँ होती हैं। जबतक आत्मज्ञान की अग्नि में कर्म और अकर्म भस्म नहीं हो जाते और आत्मा तथा परमात्मा में तादात्म्य नहीं हो जाता, तबतक मनुष्य आवागमन के चक्कर में पड़ा रहता है। ८४ लाख योनियों का जीवन ही उस ब्रह्म के अपने हैं। समस्त जगत उसका संसार क्षेत्र है। कोई देश, कोई काल, कोई जीव उसका अपरिचित नहीं है। सभी उसके निज जन है। अतएव कर्मवाद मनुष्य को कुकर्म से हटाकर सुकर्म में लगाता है। यह सत्य है कि भारत में ऐसे विचारधारा के लोग भी हो गये हैं जिनका सिद्धान्त रहा-

यावज्जीवेत्सुखं जीतेऋणं कृत्वा धृतं जिवेत्।
भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।। (चार्वाक)

जबतक जीयो तबतक सुख से जीयो। चाहे उसके लिये कर्ज ही क्यों न लेना पड़े। शरीर भस्म हो जाने के पश्चात उसका फिर जन्म कहाँ? परन्तु भारतीय संस्कृति कभी भी इस भावना की नींव पर नहीं खड़ी हुई और सर्वदा इस विचारधारा वालों की संख्या न्यून रही।

कर्मवाद की भावना सुकर्म की ओर प्रेरित करती है। प्राचीन भारत में जो विश्वजीत यज्ञ होता था उसके मूल में भी यही भावना थी। यज्ञ का अभिप्राय है अपना सर्वस्व दूसरों के लिये दे देना। महाराज रघु आदि का विश्वजीत यज्ञ प्रसिद्ध है। जब राजा ने अपार धनराशि गुरु के चरणों में रख दी, गुरु प्रसन्न हुये और उन्होंने वह धनराशि पीड़ितों और दरिद्रों की सेवा में अर्पित कर दी। इस प्रकार महायज्ञ से दरिद्रनारायण की तृप्ति हुयी और आशीर्वाद देते हुए चले गये। इसी भावना ने भीष्म को आजीवन ब्रह्मचर्य की प्रतिज्ञा करने तथा राज्याधिकार परित्याग करने की प्रेरणा दी। इस प्रकार

त्याग और परोपकार का ज्वलन्त उदाहरण जिसको कवि कालिदास ने रघु और वर तन्तु के शिष्य गाथा में अमर कर दिया है। कर्मवाद पर विश्वास का ही फल था। अतएव कर्मवाद का सिद्धान्त भारतीयों में प्रेम, सहिष्णुता, दया आदि उच्चादर्शों का पालन करने में प्रेरणा देता आ रहा है। यह भारतीय संस्कृति की पांचवी विशेषता है।

आदिकाल में अपने समन्वय और समुच्चय की प्रगतिशील नीति द्वारा आर्यो ने अनार्यो को मिला लिया था। ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की त्रिमूर्ति इसी समन्वय और समुच्चय की कल्पना है। अनार्यो की लिंग पूजा आर्यो में प्रचलित हो गयी। इसी प्रकार विष्णु अनार्यो के उपास्य देव बन गये। इसके बाद भारत में अनेक यूनानी, ईरानी, हूण, शक, सीथियन आदि आये। किन्तु उदार भारतीय संस्कृति में वे विलीन हो गये और अपना अस्तित्व खो दिया। भारत में आज उनका चिन्ह भी शेष नहीं है। उदार भारतीय संस्कृति थे ऋषि अगस्त्य की तरह उक्त सभी संस्कृतियों को सोख लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि उन प्राचीन आक्रमणकारियों के वंशजो का पृथक अस्तित्व नहीं मिलता। भारतीय संस्कृति में यही क्षमता है कि यह सम्पूर्ण विश्व को अपने विशाल उदार अंक में भर सकी। यह इसकी छठी विशेषता है।

किन्तु भारत में जब से इस उदार भावना का ह्रास हुआ, इसका पतन प्रारम्भ हुआ। जबतक यह विदेशियों को आत्मसात कर सका तबतक इसकी उत्तरोत्तर उन्नति होती गयी। जब से इसकी भावना संकीर्ण होने लगी और आगन्तुकों को आत्मसात करने में यह असमर्थ हो गया तब से इसकी अवनति होने लगी। यदि मुसलमानों के आक्रमणकाल में भी भारतीय संस्कृति जीती जागती होती तो इसमें किञ्चित सन्देह नहीं कि हजरत मुहम्मद भी आज हिन्दुओं के अवतारों अथवा महापुरुषों में गिने गये होते और मुसलमान भी ग्रीक, सीथियन, हूण आदि की तरह अपना अस्तित्व खो बैठे होते।

आज तो भारतीय संस्कृति की पाचन शक्ति इतनी क्षीण हो गयी कि अपने अनेक राम-कृष्णोपासक भाईयों को भी अपनाने में वह असमर्थ हो रहा है। विद्यार्थियों को पचाने में सबसे बड़ी रूकावट जाति-पांति की है। इसी जन्मजात जाति-पांति की भावना से जकड़े हुए वर्तमान भारतीय समाज में विद्यार्थियों के लिये कोई स्थान नहीं रह गया। जबतक एक बार पुनः हिन्दुओं में समता, बन्धुत्व और स्वतंत्रता का पुनीत भाव भरकर हम अछूतों के चित्त में यह भावना उत्पन्न नहीं कर देते कि हम सब विशाल हिन्दू जाति के एक अभिन्न अंग हैं तबतक हम भारत के प्राचीन गौरव-गरिमा को प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यदि आज हिन्दू जनता की मनोवृत्ति बदल जाय तो करोड़ों व्यक्तियों का यह भारतीय राष्ट्र संसार में अग्रगण्य होकर एक बार पुनः संसार का पथ प्रदर्शक हो सकेगा।

''सर्वजन सुखाय'' की भावना भारत में आदिकाल से प्रबल रही है। भारतीय

संस्कृति की इस आधारशिला रूप भावना पर भारतीय जीवन और धर्म का भव्य भवन अचल और अडिग खड़ा हुआ है। इन उदार, उदात्त और सर्वोच्च अभिलाषाओं के कारण ही भारतीय संस्कृति की मौलिक महत्ता है। आर्य पुरुषों की अभिलाषा केवल अपने को ही नहीं वरन सम्पूर्ण विश्व को सुखी और शान्त बनाने में पूरी होती है और प्रत्येक आर्य अपनी दैनिक प्रार्थना में चाहता है कि-

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चित् दुःखभाग्यवेत्।।

जीवमात्र सुखी हों, सब निरोग हों, सब लोग कल्याण लाभ करें..... इस भावना का मूलाधार हमें ऋग्वेद के उस मंत्र में मिलता है (मं. सूत्र ८६ मंत्र ८) जहाँ ऋषि शान्ति प्रार्थना करता है।

ॐ भद्रं कर्णेभिः श्रृणुयाम देवाः भद्रं पश्येमाक्ष मिर्यजगाः।।
स्थिरैरंगैस्तुष्टुवां सस्तमूभिर्व्य शेमदेवहिंत यदायुः।।
स्वस्ति नो इन्द्रो वृद्धाश्रवा स्वस्ति नो पूषा विश्व वेदाः।
स्वस्तिन स्ताक्ष्र्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो वृहस्पतिर्द धातु।।

हमें किसी भी प्रार्थना मंत्र में केवल आत्म लाभ के उद्गार नहीं मिलेंगे किन्तु उससे समाज एवं विश्व की मंगलकामना के ही अधिकतर भाव मिलेंगे। इन सर्वजन सुखाय की सद्भावना की चरमसीमा तो तब पहुँच जाती है जब ऋषि दधीचि जैसे महान तपस्वी जनकल्याण के लिये अपने जीवन का विसर्जन सहर्ष कर देता है। उसने यह कर अपना शरीर जनकल्याण के लिये अर्पित किया कि जब एक दिन यह स्वयं ही मुझे छोड़ने वाला है तब इसको पालकर क्या करना है।

बड़े-बड़े महात्माओं ने इस अविनाशी धर्म की उपासना की है। इसका स्वरूप केवल इतना ही है कि मनुष्य किसी प्राणी के दुःख में दुःख का अनुभव करे और सुख में सुख का। जगत में सभी पदार्थ क्षणभंगुर है। कितने दुःख की बात है कि यह मरणधर्मा मनुष्य इसके द्वारा दूसरों का उपकार नहीं करता।

स्वयं मुक्त होकर यदि और किसी को मुक्त न कर सके तो अपनी मुक्ति की सार्थकता कहाँ? यदि वस्तुतः एक ही आत्मा सत्य है तो क्या यह भी सत्य नहीं है कि जबतक और जीवन पूर्णत्व लाभ नहीं कर लें तबतक वास्तव में किसी भी आत्मा का पूर्णत्व लाभ नहीं हुआ। भारत के प्रत्येक महापुरुष इसकी घोषणा कर गये हैं कि समस्त विश्व कल्याण और आत्म कल्याण-दोनों एक अभिन्न हैं। इस प्रकार प्रज्ञावान और पूर्ण काम मानव के सम्मुख उसकी तपस्या और निष्ठा पर मुग्ध होकर जब स्वर्गाधिपति वर मांगने के लिये आये तब महामानव राजा रन्ति देव के मुख से सहसा निकला-

नत्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं ना पुनर्भवम्।
कामये दुःख तप्तानां प्राणिनामार्ति नाशनम्।।
कश्यास्य स्पादुपायोऽत्र येनाऽहं दुःखितात्मनाम्।
अन्तः प्रविश्य भूतानां भवेयं दुःख भाग्सदा।।

इस प्रकार मानव कल्याण के सामने आये हुए ऐश्वर्य तथा मुक्ति को भी ठुकराना भारतीय संस्कृति के लिये सम्भव था यह है इसकी सर्वश्रेष्ठ विशेषता।

भारतीय संस्कृति का वैचारिक आधार– भारतीय संस्कृति के गर्भ से जिस 'हिन्दुत्व' का जन्म हुआ वह जीवनयापन का एक तरीका है। जिसके प्रेरणा स्रोत निहित है व्यक्ति तथा समाज संबंधी उन विचारों में जिन्हें हिन्दुओं ने एक ओर व्यक्ति तथा समाज के संबंधो और दूसरी ओर इहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन को नियमित करने के प्रयास में विकसित किया है। सभी प्राणियों में केवल मानव विचारशील प्राणी है। केवल मानव ही आदर्श नियमों का निर्माण करता है और केवल मानव ही वर्तमान के आधार पर भूत तथा भविष्य को एक श्रृंखला में जोड़ने का प्रयास करता है। आदर्श नियमों द्वारा सामूहिक जीवन का नियमन, मानव की ही विशेषता है और इसी विशेषता का परिणाम है कि प्रत्येक काल और स्थान में मानव ने जीवन दर्शन का प्रतिपादन किया है। भारतीय संस्कृति ने जिस जीवन दर्शन को विकसित किया वही अपने संबंधित सामाजिक पक्ष के साथ "हिन्दुत्व" के रूप में आदिवेदों के प्रणेताओं, उपनिषद के मनीषियों, धर्मशास्त्र के रचयिताओं, स्मृतिकारों और समय- समय पर आविर्भूत होने वाले समाज सुधारकों ने जिस वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन दर्शन को प्रतिपादित किया है वही "हिन्दुत्व" है। हिन्दुत्व वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के प्रति एक दृष्टिकोण विशेष है। हिन्दुओं ने सामाजिक संगठन से संबंधित समस्याओं पर काफी गम्भीरता से ध्यान दिया है और मानव जीवन के संगठन को जहाँ तक सम्भव हो सका उत्तम बनाने का प्रयास किया है। इसी प्रयास में, हिन्दुत्व की आधारभूत धारणाओं और उनसे नियमित हिन्दू सामाजिक संगठन की प्रणाली की रूपरेखायें भी विकसित हुयी हैं। हिन्दू जीवनयापन में मानवी तथा मानवीय जीवन की आवश्यकताओं, अभिरूचियों, उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं के समन्वय का प्रयास किया गया है। इस समन्वय के दो आधार हैं-

एक इहलौकिक जीवन की आवश्यकतायें और दूसरी इस जीवन तथा संसार से परे जीवन की आवश्यकतायें तथा उद्देश्य। हिन्दू के लिये यह संसार एक रंगमंच है और मानव जीवन एक साधन मात्र है- वह साधन जिससे जीवन स्वातंत्र्य अर्थात मोक्ष अथवा मुक्ति की प्राप्ति होती है। शरीरी आवश्यकताओं की पूर्ति जैविक गुण भी

है और आवश्यकता भी। मानवीयता नितान्त शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति से आगे उठा हुआ एक कदम है क्योंकि शरीर नश्वर है, अमर है तो केवल आत्मा। आत्मा को निरन्तर प्रबुद्ध करते हुए जीवन स्वातंत्र्य का प्रयास ही मानवीयता है। इस दृष्टिकोण की वांछनीयता इस तथ्य में निहित है कि मानव जीवन केवल शरीरी आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं है। मानवीयता निहित है शास्त्र प्रणीत धर्म के अनुसार जीवन व्यतीत करने में। मानवीयता की मांग है मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति धर्म से होती है अतः जीवन धर्म से बंधा है। मोक्ष, जीवन तथा संसार से विमुख होने पर नहीं मिलता। वह मिलता है जीवन को उसकी स्वाभाविक अभिरूचियों के साथ अपनाने में।

इसीलिये धर्म के साथ-साथ जीवन अर्थ एवं काम से भी बंधा हुआ है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का समन्वय और साधन कर्म से होता है। कर्म के माध्यम से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की साधना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य केवल पुरुष ही बने रहना नहीं है। मानव जीवन का उद्देश्य है मानवी स्तर से मानवीयता की ओर अग्रसर होना, जिसका तात्पर्य है पुरुष से पुरुषोत्तम और नर से नरोत्तम होना। इस साधना में व्यक्ति और समाज दोनों आवश्यक है क्योंकि पुरुष से पुरुषोत्तम बनने की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। व्यक्ति से समाज की साधना होती है और समाज से व्यक्ति की। व्यक्ति और समाज में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है बशर्ते कि उनके संबंधों का प्रणयन धर्म से हो। समाज के रंग-मंच पर व्यक्ति का जीवन एक संक्रमण- प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया की कुछ आधारभूत अवस्थायें यानि आश्रम हैं जिनका साधन पुरुषार्थ के लिये आवश्यक है क्योंकि ये अवस्थायें मानव की शरीरी तथा स्वाभाविक अभिरूचियों का एक सहज परिणाम है। अतः व्यक्ति अपने गुण तथा कर्मो के कारण ही समाज तथा धर्म से बंधता है और इस कारण पुरुषार्थ की साधना का तात्पर्य है गुण, कर्म के अनुसार समाज में धर्म प्रणीत वैयक्तिक जीवन को अपनाने का प्रयास करना।

भारतीय संस्कृति का यह आधारभूत विचार सम्पूर्ण हिन्दू वाङ्मय में व्याप्त है। वेदों, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों स्मृतियों, महाकाव्यों, नीतिशास्त्रों, पुराणों, नाटक काव्य तथा जन साहित्य में इसी आधारभूत विचार का समयानुसार विकास हुआ है।

इस प्रकार हिन्दुत्व तथा जीवन के प्रति हिन्दू दृष्टिकोण कुछ धारणाओं में निहित है। ये धारणायें हैं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष (पुरुषार्थ) कर्म, सिद्धान्त और वर्णाश्रम व्यवस्था।

ये धारणायें तथा इनमें निहित वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं और उद्देश्य हिन्दुत्व के आधार हैं। इन्ही धारणाओं ने हिन्दू समाज तथा संस्कृति को उसकी विशेषतायें प्रदान की हैं। ये धारणायें किसी भी रूप में निरपेक्ष नहीं है। वे सापेक्ष है व्यक्ति की मानसिक तथा सामाजिक आवश्यकताओं तथा देश काल की परिस्थितियों से। युग-युग की आवश्यकताओं के अनुसार इन धारणाओं के संवर्धन और प्रतिपादन में ही हिन्दुत्व का विकास निहित है।

तांत्रिक संस्कृति- वर्तमान समय में हम लोग जिस भारतीय संस्कृति से परिचित हैं वह काल के प्रभाव से चाहे कितनी भी विकृत और संकुचित क्यों न प्रतीत होता हो किन्तु यह सत्य है कि वह एक विशाल गौरवमय प्राचीन संस्कृति की उत्तराधिकारी है। इस प्राचीनतम संस्कृति का आदि रूप किस प्रकार का था इसका इस समय अनुमान करना तो सम्भव नहीं है क्योंकि इस संबंध में हम जो कुछ जानते हैं वह प्रायः ऐतिहासिक युग से संबंधित है। फिर भी इस संबंध में कुछ आभास या ज्ञान हम लोगों को अवश्य है क्योंकि विद्वानों के द्वारा निरन्तर हुई गवेषणाओं के फलस्वरूप अनेकानेक अन्धकार वृत्त क्षेत्र में आलोक का संचार होने लगा है। इस विशाल भारतीय संस्कृति का विश्लेषण करने पर प्रतीत होगा कि इसके विभिन्न अंश हैं और इसके अंग-प्रत्यंग रूप में विभिन्न विभाग। इसमें सन्देह नहीं कि इसमें वैदिक साधना ही प्रधान है किन्तु इसका भी ध्यान रखना चाहिये कि भिन्न-भिन्न समयों में इस धारा में भी नये-नये परिवर्तन विवर्तन हो चुके हैं। धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, इतिहास, पुराणादि से तथा भारतीय समाज के आन्तरिक जीवन का परिचय मिलने से उपर्युक्त तथ्यों का स्पष्ट रूप से ज्ञान होगा। वैदिक धारा का प्राधान्य होने से भी इसमें सन्देह नहीं है कि इसमें विभिन्न धाराओं का सम्मिश्रण है। इन सभी धाराओं के भीतर यदि व्यापक दृष्टि से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि तंत्र की धारा ही प्रथम एवं प्रधान है। कहने की आवश्यकता नहीं इस धारा की भी बहुत से दिशायें हैं- जिनमें एक वैदिक धारा के अनुकूल थी। अगली पीढ़ी के विज्ञान और अन्वेषकगण इस तथ्य का निरूपण करेंगे कि वैदिक धारा की जो उपासना की दिशा है वह अविभाज्य रूप से बहुत अंशों में तांत्रिक धारा से मिली हुई है और बहुत से तांत्रिक विषय अति प्राचीन समय से परम्परा क्रम से चले आ रहे थे। इस संबंध में जहाँ तक मेरा विचार है-उपनिषद आदि में जिन विद्याओं का परिचय मिलता है- यथा संवर्ग उद्गीथ , उपकोशल, पर्य आदि सभी गुप्त विद्याएं इसी के अन्तर्गत हैं। जहाँ तक मैं समझता हूँ कि वेद के रहस्य अंश में भी इन सब रहस्य-विद्याओं के परिज्ञान का आभास मिलता है। गहन अध्ययन करने पर यह भी पता चलता है कि वैदिक कर्मकाण्ड भी अध्यात्म विद्या का ही बाह्य रूप है जो निम्न

अधिकारियों के लिये उपयोगी माना जाता था। यदि इन सभी आध्यात्म विद्याओं का रहस्य ज्ञान कभी हो जाय तो पता चलेगा कि मूलभूत वैदिक तथा तांत्रिक या आगमिक ज्ञानों में विशेष भेद नहीं रहा।

यहाँ प्रसंगतः एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि साधारणतः यह समझ में न आये फिर भी यह सत्य है कि वेद और तंत्र का निगूढ़ रूप एक ही है। दोनों ही अक्षरात्मक है अर्थात शब्दात्मक ज्ञान विशेष है किन्तु ये शब्द लौकिक नहीं दिव्य है और अपौरूषेय है। मंत्रदर्षीगण इसे ही प्राप्त कर सर्वज्ञत्व लाभ किया करते थे और अन्त में आत्म साक्षात्कार द्वारा अपना जीवन सफल किया करते थे। पुराकल्प में इस संबंध में स्पष्ट लिखा है कि-

या सूक्ष्मां विद्याम् अतिन्द्रियां वाचं ऋषयः
साक्षात्कृत् धर्माणः मंत्र दृशः पश्यन्ति तां असाक्षात्कृत।
धर्मेभ्यः एति वेदयिष्य माणा विल्मं समामनन्ति,
स्वप्रदृष्ट मिव दृष्ट श्रुतानु भूतं अचिख्या सन्ते।।

निरूक्त प्रभृति ग्रन्थों के विवेचना से यह प्रतीत होता है कि ऋषिगण साक्षात्कृतधर्मा थे और वे उन सामान्य लोगों को उपदेश द्वारा मंत्र दिया करते थे जो असाक्षात्कृत धर्मा थे। साक्षात्कृतधर्मा होने के कारण ऋषिगण वस्तुतः शक्तिशाली थे। अतः वे किसी से भी उपदेश श्रवण करके ऋषित्व लाभ नहीं करते थे। प्रत्युतः स्वयं वे वेदार्थ दर्शन करते थे। इसी अभिप्राय से उनको मंत्रद्रष्टा कहा जाता है मंत्रार्थ ज्ञान का मुख्य उपाय है "प्रतिमान"। इसे ही प्रातिम या अनौपदेशिक ज्ञान कहते हैं इसी के विषय में कहा जाता है-

गुरोस्तु मौनं व्याख्यान शिष्यास्तु छिन्न संशयः।

गुरु शब्द से यहाँ अन्तर्गुरु या अन्तर्यामी समझना चाहिये। ये केवल मात्र परमेश्वर है। परमेश्वर रूपी अन्तर्यामी गुरु की कृपा प्राप्त होने पर सद्गुरु शिष्य की खोज करते हुए उसके सम्मुख प्रकट होते हैं और दीक्षा प्रदान करते हैं। ऐसे उत्तम अधिकारियों को दृष्टर्षि भी कहा जाता है।

आर्ष ज्ञान और औपदेशिक ज्ञान- शक्ति की मन्दता के कारण मध्यम अधिकारी इससे अवर समझे जाते हैं। उत्तम अधिकारी को दर्शन मिलता था। उपदेश निरपेक्ष होकर और मध्यम अधिकारी को श्रवण प्राप्त होता था।

उपदेश सापेक्ष प्रथम ज्ञान का नाम आर्ष ज्ञान और दूसरे का नाम औपदेशिक ज्ञान है। मनुसंहिता में लिखा है-

आर्ष धर्मोपदेश च वेदशास्त्रा विरोधिना।
यस्तर्केनुसंधत्ते स धर्म वेद नेनरः।।

तर्क-प्रतिष्ठित ज्ञान : किन्तु साधारण अधिकारी को जो ज्ञान होता है वह सत् तर्क के द्वारा सत् तर्क से अभिप्रेत है। वेद शास्त्र के अविरोधी तर्क के द्वारा अनुसंधान। आगम शास्त्र (त्रिक दार्शनिक साहित्य) में सतर्क का विशेष रूप से मनन किया गया है। वैदिक साहित्य में भी यह मिलता है कि ऋषिगण जब अन्तर्निहित होने लगे तो तर्क पर ही ज्ञान का भार दिया गया। सभी साधारण जिज्ञासु लोग अवर कोटि में हैं। हम सभी इसी कोटि में हैं। इस प्रकार के लिये सतर्क ही अवलम्बनीय है।

तंत्रशास्त्र के अनुसार तंत्र का मूल आधार कोई पुस्तक नहीं है। वास्तव में वह अपौरुषेय ज्ञान विशेष है। ऐसे ज्ञान का नाम ही आगम है। यह ज्ञानात्मक आगम शब्द रूप में अवतरित होता है। परावाक् ही अखण्ड आगम है। यह ज्ञान की प्रथम व मूल अवस्था विशेष है। पश्यन्ती अवस्था में यह स्वयं वेद में प्रकाशित होता है और अपना प्रकाश स्वयं अपने साथ रखता है। यही साक्षात्कार की अवस्था है। यहाँ द्वितीय या अपर में ज्ञान संचार करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। वही ज्ञान मध्यमा में अवतीर्त होकर शब्द का आकार धारण करता है। यह शब्द चित्तात्मक है। इसी भूमि में गुरु-शिष्य भाव का उदय होता है। फलतः ज्ञान एक आधार से अपर आधार में संचारित होता है। विभिन्न शास्त्रों एवं गुरु परम्पराओं का प्राकट्य मध्यमा भूमि में ही होता है। बैखरी में वह ज्ञान रूप शब्द जब स्थूल रूप धारण करता है तब वह दूसरों के इन्द्रिय का विषय बनता है।

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि वेद और तंत्र की मौलिक दृष्टि एक ही है। यद्यपि वेद एक है किन्तु विभक्त होकर त्रयी या चतुर्विध होता है। अन्ततः वह अनन्त है। वेद अनन्ता यह भी वेद की ही वाणी है। अवश्य ही तंत्र की एक और भी दिशा है- जिससे उसका वैदिक आदर्शो से किसी-किसी में पार्थक्य प्रतीत होता है। वेद की विशेषता ज्ञान है और तंत्र की विशेषता क्रिया है। कुछ भी हो ये सभी मिलकर भारतीय संस्कृति के अंगीभूत हो चुके हैं।

देवताओं द्वारा तांत्रिक साधना और तंत्र का आदर्श : ऐतिहासिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का विचार करने पर प्रतीत होता है कि प्राचीन काल से ही वैदिक तथा तांत्रिक साधना धाराओं में परस्पर घनिष्ट संबंध रहा है। यह बात जैसे सत्य है वैसे यह भी सत्य है कि दोनों में अंशतः वैषम्य है। अति प्राचीनकाल से ही शिष्टजनों द्वारा तंत्रों के समादार के असंख्य प्रमाण उपलब्ध हैं। ऐसी प्रसिद्धि है कि बहुसंख्यक देवता भी तांत्रिक साधना के द्वारा सिद्धि लाभ करते थे। तांत्रिक साधना का परम आदर्श है शक्ति साधना। जिसका लक्ष्य है महाशक्ति जगदम्बा की मातृरूप में उपासना अथवा शिवोपासना। ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, चन्द्र, स्कन्द, वीरभद्र, लक्ष्मीश्वर, कामेश्वर,

मन्मथ ये सभी श्रीमाता के उपासक थे। प्रसिद्ध ऋषियों में कोई-कोई तांत्रिक मार्ग के उपासक थे और कोई-कोई तांत्रिक उपासना के प्रवर्तक भी। ब्रह्मयामल में बहुसंख्यक ऋषियों के नामोल्लेख हैं। जो शिव ज्ञान के प्रवर्तक थे। उसमें उशना, बृहस्पति, दधीचि, सनतकुमार, नकुमीश आदि उल्लेख है। जयद्रथ यामल के मंगलाष्ट प्रकरण में तंत्र प्रवर्तक बहुत से ऋषियों के नाम हैं जैसे दुर्वासा सनक, विष्णु कश्यप, संवर्त विश्वामित्र, गालब, गौतम, याज्ञवलक्य, शातातप, आपस्तम्ब, कात्यायन, भृगु आदि।

तांत्रिक सम्प्रदाय- तांत्रिक संस्कृति में मूलतः साम्य होने पर भी देशकाल क्षेत्र के भेद से उसमें विभिन्न सम्प्रदायों का आविर्भाव हुआ है। इस प्रकार का भेद साधकों के प्रगतिगत भेद के अनुरोध से स्वभावतः ही होता है। भावी पीढ़ी के ऐतिहासिक गण जब विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदायों के इतिहास का संकलन करेंगे और उसको गहराई से अध्ययन करेंगे, विश्लेषण करेंगे तो इस निष्कर्ष पर पहुँच सकेंगे कि यद्यपि भिन्न-भिन्न तांत्रिक सम्प्रदायों में आपात्तः वैषम्य प्रतिभासित हो रहा है। फिर भी उनमें मूल रूप से साम्यता है।

संख्या में तांत्रिक सम्प्रदाय कितने आविर्भूत हुए और पश्चात काल में कितने विलुप्त हुए यह कहना कठिन है। उपास्य भेद के कारण उपासना प्रक्रिया में भेद तथा आचरणादि भेद होते हैं। साधारणतया सम्प्रदायों में पार्थक्य का यही कारण है। शैवशाक्त गाणपत्य सर्वत्र प्रसिद्ध तो हैं लेकिन इन सम्प्रदायों के भी अनेकानेक भेद हैं। शैव शक्ति मिश्र सम्प्रदायों में कुछ के निम्नलिखित उल्लेखनीय नाम हैं- सिद्धान्त शैव, वीर या जंगम शैव, रौद्र पाशुपत, कापालिक सोम, वाम भैरव आदि।

अद्वैत दृष्टि से शैव सम्प्रदाय में त्रिक अथवा प्रत्यभिज्ञा स्पन्द प्रभूति विभाग हैं। अद्वैत मत में भी शक्ति की प्रधानता मानने पर स्पन्द महार्थ क्रम इत्यादि भेद अनुभूत होते हैं। दश शिलागम अष्टादश रूद्रागम प्रसिद्ध है। इनमें किञ्चित परस्पर भेद नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता द्वैत मत में कोई कहर द्वैत, कोई द्वैता द्वैत और शुद्रा द्वैत मत है। इनमें किसी सम्प्रदाय को भेदवादी, किसी को शिव साम्यवादी और किसी को शिखा संक्रान्तिवादी कहते हैं। कश्मीर का त्रिक या शिवा द्वैतवादी अद्वैत स्वरूप में आविष्ट है। शाक्तों में उत्तर कौल प्रमृति ऐसे ही हैं। किसी समय भारत वर्ष में पाशुपत मत की संस्कृति का भी व्यापक विस्तार हुआ था।

तांत्रिक संस्कृति साधना का बाह्य देशों में प्रसार : किसी समय भारत वर्ष के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्तों तक और देश के बाहर भी तंत्रों का व्यापक विस्तार हुआ था। तंत्रों में हादि-कादि मत भी कुछ देशों में प्रचलित था। इन दोनों मतों की स्थान सूची परस्पर मिलाने पर पता चलता है कि किसी-किसी प्रदेश में हादि-कादि

दोनों मत प्रचलित थे। ये सब देश भारत के चारो ओर और मध्य में स्थित थे। यथा पूर्व में अंग, वंग, कलिंग, विदेह कामरूप, उत्कट, मगध, गौड़, सिंहल, सिलहट, कैकट आदि। दक्षिण में केरल, द्रविड़, तैलंग, मलयाद्रि, चोल आदि। पश्चिम में सौराष्ट्र, आमार, कोंकण, लाट, मत्स्य सैन्धव आदि। उत्तर में कश्मीर शौरसेन 'किरात' कोशल आदि। मध्य में महाराष्ट्र विदर्भ गालब, आवन्त आदि। भारत के बाहर हैं- वाहिन्का, भोट, कम्बोज, तिब्बत, चीन, नेपाल हूण, कैकय, भद्र, यवन आदि।

हादि-कादि दोनों मतों में नाना प्रकार के अवान्तर विभाग भी थे। तंत्र विस्तार का जो संक्षिप्त परिचय दिया गया है- उससे ज्ञात होता है कि भारत वर्ष के प्रायः सभी क्षेत्रों में वैदिक संस्कृति के समानान्तर तांत्रिक संस्कृति का भी विस्तार था।

कभी-कभी इसकी स्वतंत्र सत्ता थी। कभी तटस्थ रूप में और कभी अंगीभूत रूप में। कभी-कभी तो प्रतिकूल रूप में इस संस्कृति का प्रचार हुआ। किन्तु सदा और सर्वत्र यह भारतीय संस्कृति के ही अंश में परिगणित होता था। भारतवर्ष के बाहर पूर्व तथा पश्चिम में भारतीय संस्कृति का प्रभाव फैला हुआ था, वह केवल बौद्ध संस्कृति के स्रोत से ही नहीं ब्राह्मण संस्कृति की धाराओं से भी था। प्रायः बारह सौ वर्ष पूर्व जयवर्या द्वितीय के राज्य काल में कम्बोडिया में ज्ञानवर्ष से तंत्र ग्रन्थ पहुँचे थे। वे तंत्र बौद्ध तंत्र नहीं, अपितु ब्राह्मण तंत्र थे। इन्हें शिवागण कहा जा सकता है।

बाह्य देशों में प्रसारार्थ जाने वाले तंत्र ग्रन्थ नयनोत्तरशिरच्छेद बिना शिख और सम्मोहन या सम्मोह ऐतिहासिकों ने प्रमाणित किया है कि नयनोत्तर सम्भवतः निःश्वास संहिता के अन्तर्गत 'नप' और उत्तर सूत्र के साथ अभिन्न हैं। अष्टक शतक का लिखा निःश्वास तत्व संहिता गुप्त लिपि में लिखा, दरबार पुस्तकालय नेपाल में अभी भी उपलब्ध है। ये ग्रन्थ छठीं या सातंवी शताब्दी के माने जाते हैं। प्रतीत होता है शिरच्छेद तंत्र, जयद्रथ यामल का ही नामान्तर है। बिना शिख को कोई-कोई जयद्रथ यामल का परिशिष्ट मानते हैं। सम्मोहक तंत्र भी इसी प्रकार से परिशिष्ट ही माना जाता है। यह प्रचलित सम्मोहन तंत्र का ही प्राचीन रूप है।

बाह्य देशों से आने वाले तंत्र ग्रन्थ जैसे भारत में या तांत्रिक संस्कृति बाहर जाने की बात कही गयी है उसी प्रकार बाहर से भी किन्हीं तंत्रों का भारत में आने का विवरण सुना जाता है। इस विषय में कुण्डिका तंत्र का नाम लिया जाता है। वशिष्ठ के उपाख्यान के प्रसंग में चीन या महाचीन से भारत में उन्नताश की उपासना क्रम के आने की किम्वदन्ती सुनी जाती है। उसी प्रकार शिव और शक्ति की विविध उपासनायें उमा, पार्वती, महाकाली, पाशुपत, भैरव आदि के रूप में चीन आदि

देशों में भारत से जाकर प्रचलित हुई।

तांत्रिक संस्कृति का महत्व और मानदण्ड– इस प्रसंग में जो कुछ कहा गया है वह तांत्रिक संस्कृति का बाह्य पक्ष है किन्तु संस्कृति का महत्व उसके बाह्य अवयवों व आडम्बरों पर निर्भर नहीं है। मानव आत्मा की सहनीयता का आदर्श उपस्थित करना ही संस्कृति के महत्व का परिचायक है। तांत्रिक संस्कृति के महत्व को आंकने का मानदण्ड भी यही है। आत्मा की स्वजगत और सामर्थ्यगत पूर्णता के आदर्श पर ही इसका महत्व निरूपण करना पड़ेगा। आगम शास्त्र में निर्देशन है कि आत्मा के नित्य शुद्ध होने पर भी उसकी अप्रबुद्ध अवस्था से प्रबुद्ध अवस्था श्रेष्ठ है। अतः उदात्त स्वर से तांत्रिक संस्कृति का कहना है कि सुप्त रहने से मनुष्य का काम नहीं चलेगा उसे जागना चाहिए।

मानव जीवन का लक्ष्य जिस पूर्णत्व को माना जाता है उसकी सम्यक उपलब्धि के लिये सबसे पहले आवश्यक है अनादि अविद्या से जागना अर्थात अज्ञान से ऊपर उठना।

वैदिक और तांत्रिक संस्कृतियों की बहिरंग विचारधारा और उसकी विशेषताओं पर वैदिक और तांत्रिक साधनाओं का आन्तरिक स्वरूप प्रतिष्ठित है। उक्त स्वरूप को हृदयंगम करने के लिये क्रम से ही आगे बढ़ना चाहिए।

सभी सम्प्रदायों में साधना दो प्रकार की मानी जाती है– बहिरंग और अन्तरंग। बहिरंग में सार्वभौम विधि-विधानों की प्रधानता रहती है। इन विधि-विधानों के निमित्त सर्वसाधारण अधिकारी होता है। इसकी सभी बातें प्रकट रहती हैं– स्वभावतः उन्मुक्त जिनके लिये अधिकारी को विशेषता योग्यता अपेक्षित नहीं होती। इसके विपरीत होती है अन्तरंग साधना। जिसके विधान के लिये विशिष्ट अधिकारों की आवश्यकता होती है। इस साधना का मार्ग सर्वसाधारण के लिये सुलभ नहीं होता। उस अधिकारी की विशेषता, योग्यता का परीक्षण कर ही यह विदोयक होता है। साधना का यह द्वैविध्य विश्व के समग्र उदात्त धार्मिक सम्प्रदायों में उपलब्ध होता है। चाहे वे पूर्वी जगत में उत्पन्न हुए हों चाहे पश्चिमी। प्राचीन यूनान तथा रोम में इस प्रकार की साधनाओं का अस्तित्व मिलता है। ''पाइथोगोरस'' ने एक विशिष्ट प्रकार का सम्प्रदाय प्रवर्तन किया था। जो दर्शन के कतिपय तथ्यों को मानने पर भी मुख्यतया अन्तरंग धर्म के वैशिष्ट्य पर ही आश्रित था। रोम के धार्मिक आचरण में भी हमें अग्नि की परिचर्चा करने वाली कुमारियों का वृत्त मिलता है। जो आजन्म कौमार्य व्रत का आश्रय ग्रहण कर अग्नि की सेविका होती थी। ईसाई मत में भी इसी प्रकार की दो उपासनाओं की भी चर्चा मिलती है। सर्वसाधारण के निमित्त साधना ''एक्सटरिक'' कहलाती थी तथा कतिपय अन्तरंगजनों के लिये प्रतिपादित साधना ''एंसाटरिक''। भारतीय धर्म में भी इन दोनों

का अस्तित्व मिलता है। यज्ञ यज्ञादि का आचरण अथवा त्रयी मार्ग की उपासना द्विज मात्र के लिये विहित है। इसमें कुछ नियंत्रण है परन्तु वह सामान्य कोटि का ही वेदाध्ययन के प्रत्येक अधिकारी द्विज का अधिकारी यज्ञ यज्ञादि के सम्पादन के निमित्त मान्य है परन्तु कुछ ऐसी अन्तरंग साधनायें हैं जो गुप्त रखी जाती हैं और जिसको योग्य अधिकारी पाने पर ही गुरु सिखाता है। इन दोनों में से प्रथम प्रकार की साधना का प्रकाशक्य ग्रन्थ है निगम अर्थात वेद और दूसरे प्रकार की साधना का बोधक ग्रन्थ है आगम अर्थात तंत्र। वैदिक और तांत्रिक साधनाओं के भी अलग-अलग दो रूप हैं- अन्तरंग और बहिरंग।

वैदिक साधना के अन्तरंग और बहिरंग रूप वैदिक कर्मकाण्ड के सिद्धान्तों, आचारों और उनकी पद्धतियों पर आश्रित यज्ञ, हवन, पुरश्चरण यज्ञादि साधना उपासना आदि वेद के बहिरंग साधनान्तर्गत हैं। पौराणिक साधना उपासना भी इसी के अन्तर्भूत हैं किन्तु जो वेद के ज्ञानकाण्ड का आश्रय लेकर साधना उपासना आदि है वे अन्तरंग साधना मानी जाती है। वैदिक साधना का अन्तरंग रूप योगाश्रित है और उसका मूलस्रोत वेद का रहस्यवाद है। यह योगाश्रित अन्तरंग साधना का मार्ग केवल द्विजों के लिये है। इस मार्ग पर चलने के लिये उपनयन संस्कार और गायत्री दीक्षा आवश्यक है।

वैदिक रहस्यवाद- इन दोनों के द्वारा गूढ़ तत्वों का ज्ञान होता है और आध्यात्मिक तथा वैयक्तिक पुनरूद्धार होता है और जिसके बिना उन सात्विक तत्वों को समझने की योग्यता कदापि प्राप्त नहीं हो सकती। दीक्षा में आचार्य का कर्तव्य पिता जैसा है अर्थात जन्म देना। उपनयन संस्कार वह गुप्त प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक आध्यात्मिक व्यक्ति अपनी ही आध्यात्मिक चेतना में डूबकर आध्यात्मिक शक्ति के अंश को गर्भ में फेंक देता है। मानों ये अन्तःप्राण के हों अथवा नवशिष्य के लिंग देह हों। वह उस पाप निवृत्ति की क्रिया की दीक्षा देता है जिसके फलस्वरूप दीक्षित व्यक्ति के शरीर में आध्यात्मिक सत्व की रचना होती है। आध्यात्मिक शक्ति का संचार पवित्र स्वरों के माध्यम से किया जाता है। इस प्रक्रिया के तात्कालिक परिणामस्वरूप तुन्दिका केन्द्र (नाभि) में उत्तेजना उत्पन्न करना है। जैसे ही स्थान पर उत्तेजना उत्पन्न होती है वैसे ही शिष्य की आध्यात्मिक शक्तियाँ विकासोन्मुख हो उठती है तांत्रिक साधनाभूमि में। स्पर्श दीक्षा का जो विधान है वह उपनयन संस्कार का ही नामान्तर है। इसी प्रकार गायत्री दीक्षा का नामान्तर तंत्र की शक्तिपात दीक्षा है केवल नाम भेद है, प्रक्रिया एक ही है। वैदिक रहस्यवाद में जिसे आध्यात्मिक शक्ति कहा गया है वास्तव में वह तांत्रिक साधना की कुण्डलिनी शक्ति है जिसे वैदिक गुरु गायत्री दीक्षा द्वारा तथा तांत्रिक गुरु

शक्तिपात दीक्षा द्वारा प्रबुद्ध करता है।

शक्तियों का क्रमिक विकास जो प्रत्येक व्यक्ति में गुरु रूप से विद्यमान है और जिसका अनुभव उसे तबतक नहीं होता जबतक उसके शरीर के भीतर से दीक्षा गुरु इन शक्तियों को प्राणोत्पादक स्पर्श द्वारा उत्पन्न नहीं कर देता। स्थूल शरीर के आणविक विकास से सम्बन्ध रखता है इस वैकासिक प्रक्रिया की समाप्ति का अर्थ है पूर्वारम्भिक आध्यात्मिक अंशों की पूर्ण प्रौढ़ता। वैदिक और तांत्रिक साधना भूमि में इसी प्रकार साधक के विकास पूर्ण स्वाभाविक शरीर से विभिन्न इस आध्यात्मिक शरीर की रचना होती है।

वैदिक साधना की दृष्टि से साधक जीवन की चार अवस्थायें हैं। तंत्र ने उन्हें तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है। पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव। यहाँ भी नामान्तर है। प्रक्रिया एक ही है। वेद और तंत्र की आध्यात्मिक दृष्टि में इस शरीर का जन्म निम्नतम् अवस्था का द्योतक है। वेद के समान तंत्र का भी अधिकारी एकमात्र "ब्राह्मण" है। शरीर की निम्नतम् अवस्था शूद्रावस्था के समान है। इस अवस्था में वैदिक तांत्रिक साधना का प्रश्न ही नहीं उठता। जबतक संस्कार और दीक्षा सम्पन्न नहीं है तबतक वेदाध्ययन वैदिक साधना तथा तंत्र अध्ययन एवं तांत्रिक साधना से ब्राह्मण बालक उतना ही दूर है जितना एक शूद्र का पुत्र। विभिन्नता मात्र इतनी है कि ब्राह्मण में काल्पनिकता ही निस्सन्देह वह गुण है, जिसे दार्शनिक दृष्टि से नैसर्गिक स्वरूप योग्यता कहते हैं और शूद्र में यह गुण नहीं होता।

शक्ति स्वयं जन्मजात गुण विशेष है। जो वंश परम्परागत किसी व्यक्ति विशेष में विद्यमान रहती है। वंश में संस्कार का अर्थ उपनयन अथवा दीक्षा है। जिससे पुनर्जन्म या पुनरुद्धार होता है- ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार 'वपतिस्या' की संस्कार विधि के बाद क्रिश्चियन नास्तिकों का पुनर्जन्म होता है। इसीलिए द्विप वही है जिसका पुनर्जन्म हो यह कहिये कि जिसका जिसके शरीर का आध्यात्मिक प्रकाश तथा ज्ञान पूर्ण पुनर्जन्म हो।

वास्तव में वैदिक साहित्य के रहस्यमय वाक्य निबंध में आध्यात्मीकरण की सम्पूर्ण क्रिया ज्ञान पूर्ण शरीर रचना "स्वाध्याय" के भीतर छिपी हुई है। जिसका वर्णन उपर्युक्त विप्रावस्था के श्लोक में किया जा चुका है। स्वाध्याय का मर्मार्थ जैसा लगाया जाता है पवित्र वेद पाठ करना नहीं है। यह अर्थ तो उसके मौलिक एवं वास्तविक अर्थ का अनुमान मात्र है। गुरु की इच्छाशक्ति द्वारा प्रोत्साहित किया हुआ प्रकाश ज्ञानशक्ति संचालन क्रिया का गुण दोष विवेचन करता है। उपनयन और स्पर्श दीक्षा इसी विधि की प्रारम्भिक प्रक्रिया है।

वह शब्द जिसे योग्य शिष्य गुरु द्वारा ग्रहण करता है। जो उसके ही अंग से दीक्षा गुरु के प्रभाव से अभिमंत्रित होता है। वास्तव में आन्तरिक ज्ञान का बाह्य प्रकाश है और सूक्ष्मवाक् की प्रकृति का होता है। सूक्ष्मवाक्, परावाक् का ही दूसरा रूप है।

परावाक् कुण्डलिनी अथवा परब्रह्म की पराशक्ति है अतएव सूक्ष्मवाक् ही बुद्धि ज्ञान आदि के रूप में प्रकट होती है जिसके बाद विचार और इच्छा जागृत होती है। चित्त प्रोत्साहित हो उठता है। चंचल हो उठता है फलस्वरूप कामाग्नि उत्पन्न होती है। जिसके प्रवाह से तदनुरूप गति की उत्पत्ति होती है। इसे ही योग की भाषा में नाभिरूपी कमल का खिलना कहते हैं।

प्राण शक्ति नाभि स्थान से ऊपर उठकर मस्तिष्क में विद्युत की तरह एक झटका लगाती है और फिर नीचे क्रमशः उतर आती है। इसी बीच मस्तिष्क पिण्ड स्थान से उत्पन्न चेतना शक्ति के दूसरे विद्युत प्रवाह से टकरा कर पुनर्झन्कृत हो उठता है। इसी प्रक्रिया से स्पष्ट ध्वनि की उत्पत्ति होती है। वास्तव में कामग्नि के प्रवाह और प्राणों के संघर्ष का परिणाम स्पष्ट ध्वनि है। अतः विभिन्न श्रुतियों के संस्कार के सहारे वह सभी ग्रन्थियों को खोल देती है। तब वर्ण की उत्पत्ति होती है। अन्तर्भूत सूक्ष्मवाक् या ध्वनि कामाग्नि के साथ मिल जाती है। इसका रूप अथवा आकार जो अपूर्ण और अविभाज्य है उपर्युक्त साकार तथा अभिव्यक्त वाक् में प्रतिबिम्बित होता है। वैदिक साधना के जिस तथ्य पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है तंत्र में कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रिया भी बिल्कुल ऐसी ही है। स्पष्ट है कि वेद और तंत्र की अन्तरंग साधना की प्रक्रिया एक सी है। दोनों का लक्ष्य एक ही है केवल नाम भेद है।

इतना अवश्य है कि वैदिक साधना का अन्तरंग पक्ष का प्रारम्भ सूक्ष्मवाक् अर्थात पश्यन्तिवाक् से शुरू होता है जबकि तंत्र की अन्तरंग साधना का प्रारम्भ परावाक् कुण्डलिनी शक्ति से होता है। इस दृष्टि से तांत्रिक साधना वैदिक साधना से उच्च और गम्भीर है। वास्तव में तांत्रिक साधना का प्रारम्भ वैदिक साधना के पूर्व होता है और समाप्त होता है योग साधना के पश्चात। वैदिक और तांत्रिक साधना का एकमात्र संबंध सूत्र है- 'योग'। वेद की अन्तरंग साधना की मूलभित्ति योग है और तंत्र की अन्तरंग साधना की समस्त क्रियाओं- प्रक्रियाओं का आश्रय भी एकमात्र योग है। योग कोई स्वतंत्र साधना नहीं है उसकी मौलिकता निहित है वैदिक और तांत्रिक साधना के अन्तरंग पक्ष में। वैदिक साधना जहाँ योग पर स्थापित है वहीं तांत्रिक साधना उसका आश्रय ग्रहण कर आगे बढ़ती है और उसकी अन्तिम सीमा, कैवल्यत्व का अतिक्रमण कर पूर्णत्व यानि सामरस्य महामिलन को प्राप्त करती है। इसी में उसकी विशिष्टता है और यही मूल कारण है कि तांत्रिक साधना अन्य सभी साधनाओं से उच्च और महत्वपूर्ण समझी जाती है।

सूक्ष्मवाक्- जैसाकि आगे बतलाया जा चुका है वैदिक साधना के अन्तरंग पक्ष का प्रारम्भ सूक्ष्मवाक् से होता है जबकि तंत्र-साधना का अन्तरंग पक्ष का प्रारम्भ होता है परावाक् से। आभ्यन्तरिक स्वर की अभिव्यक्ति या व्यञ्जना की प्रक्रिया ज्ञान के

अनुक्रमिक शुद्धिकरण से अभिन्न है अतः स्वाध्याय विप्रावस्था का द्योतक है। जब इस अवस्था में पूर्णता आ जाती है तभी किसी भी व्यक्ति को प्रकाशोन्मुख होना कहा जाता है। जो एक ब्राह्मण का विशिष्ट लक्षण है। सत्य या परब्रह्म का पूर्णज्ञान उस आत्मा में कभी उदित नहीं हो सकता। जिसने शब्द ब्राह्मण के वैद्युतिक धारा प्रवाह से जो आन्तरिक शिराओं की अभिशुद्धि यानि संस्कार के पश्चात उत्पन्न किया जाता है प्रारम्भिक अवस्था का उपक्रम नहीं किया हो और उपनयन के द्वारा दीक्षा गुरु ने उसके आध्यात्मिक केन्द्रों को न खोल दिया हो। यही बात तंत्र में भी है। जबतक स्पर्श दीक्षा और शक्तिपात दीक्षा का क्रम सिद्ध नहीं होता तबतक तांत्रिक साधना मार्ग में कदापि गति नहीं हो सकती। इस प्रकार वेद और तंत्र दोनों ही आत्मज्ञान का एकमात्र मार्ग है। जिसके बिना आत्म ग्रन्थियाँ कदापि नहीं खोली जा सकती।

जैसाकि तांत्रिक संस्कृति प्रसंग में बतलाया जा चुका है कि वेद और तंत्र दोनों अक्षरात्मक ज्ञान विशेष है। सर्वप्रथम मंत्र का ज्ञान होता है फिर धार्मिक तत्वों को समझा जाता है उसके पश्चात साधक को नित्य अतिन्द्रियाँ तथा सूक्ष्मावाक् का दर्शन होता है, आन्तरिक अनुभूति होती है। यह सूक्ष्मावाक् स्वभावतः प्रकाश तथा ज्ञान का एकमात्र निष्कर्ष है। जब इसे बाह्य केन्द्र में प्रतिपादित किया जाता है, तब इसके वर्णन के आधार पर भाषा की प्रचलित वर्णमाला की शरण लेनी पड़ती है। वेद अथवा तंत्र के ग्रन्थ जैसा साधारणतया समझा जाता है जो इसी प्रकार के हैं और वेद और तंत्र ग्रन्थों को विल्व कहते हैं।

सारांश यह कि वेद और तंत्र का निष्कर्ष दिव्य ध्वनि से भरा है। जिसका ज्ञान स्वतः उस दिव्य साधकों को होता है जिसने पार्थिव वायु की सीमा का उल्लंघन कर ब्रह्म नाड़ी से केन्द्रीय आकाश अथवा परव्योम में प्रवेश किया है।

मध्यकालीन रहस्यवादियों के अनाहद वाक् के साथ तथा उसके वास्तविक रूप में प्रणय के साथ इसकी तुलना करनी चाहिये। यह भर्तृहरि की एक परागमा विद्या है।

इसमें किञ्चित भी सन्देह नहीं है कि प्राचीन भारत की प्रत्येक विचार पद्धति वेद के विशुद्ध ज्ञान और तंत्र के आध्यात्मिक ज्ञान का साधन बनी। जिसके सभी सत्य के अन्तर्ज्ञान का होना असम्भव समझा जाता है।

व्याकरण के नाद की विधि से स्थूलवाक् या ध्वनि की शुद्धि और बाह्य अंशों से मुक्त हो सकी, जिसके फलस्वरूप वह ब्रह्माण्ड में चिर स्रोतास्विनी ध्वनि सुनी जा सकी और जिसके द्वारा अनन्त नित्य सत्य का ज्ञान प्राप्त होता है। योग तांत्रिक कुण्डलिनी का मूलस्रोत वैदिक रहस्यवाद का यह शुद्धिकरण सूक्ष्मवाक् की संस्कार क्रिया है। दैवीवाक् संस्कृत की जिसे सिद्ध भाषा कहते हैं उत्पत्ति का मूल कारण है। इस प्रकार विशुद्ध होकर ध्वनि उत्पादक शक्ति के साथ संयुक्त हो जाती है। संस्कार

की अन्तिम अवस्था तभी प्राप्त होती है जब ज्ञान पूर्ण हो जाता है। जैसाकि संकेत किया जा चुका है वेद और तंत्र शब्दात्मक है। शब्द ब्रह्म है और उस शब्द का नाद भी ब्रह्म है। शब्द ब्रह्म और नाद ब्रह्म दोनों के मध्य में प्रकाश की सत्ता है। वैदिक व तांत्रिक साधना का मूलाधार शब्द ब्रह्म और नाद ब्रह्म है। व्याकरण का विस्फोट शब्द का विस्फोट है जो नित्य और स्वयं प्रकाशमान है। वही शाश्वत शब्द ब्रह्म अथवा गुप्त वेद है। विस्फोट से प्रकाश और तत्पश्चात नाद की उत्पत्ति होती है। प्रकाश व नाद की गति में अन्तर होता है किन्तु उत्पत्ति एक ही साथ होती है। इसी में शब्द का अर्थ छिपा रहता है। शब्द की भांति अर्थ भी शाश्वत और नित्य है अतः वही गुप्त तंत्र है। शब्द के जैसा विस्फोट भी नित्य रूप होकर शब्द ब्रह्म से अथवा सृष्टि की सत्ता के साथ अर्थ की भांति लगा रहता है और वही उस प्रकाश का निरूपण भी होता है। जिससे सत्ता का ज्ञान प्राप्त होता है किन्तु इसके द्वारा सत्ता का ज्ञान होने के पूर्व इसे स्पष्ट ध्वनि से प्रकट किया जाता है अतः वेद का यह वह गुप्त स्थल है जहाँ से कुण्डलिनी तत्व आविर्भूत होकर तांत्रिक साधना का अन्तरंग विषय बनती है। हठयोग और तंत्र समानाधार पर निर्मित है। व्याकरण में जिसे विस्फोट का प्रत्यक्षीकरण कहा गया है उसे ही यहाँ कुण्डलिनी की, जागरूकता सृष्टि को सार्वलौकिक गर्भाशय के रूप में प्रकट किया जाता है। यह शब्द ब्रह्म के समान समझा जाता है जो प्रत्येक मानव शरीर में उत्तेजित करने वाले संस्पर्श की प्रतीक्षा में सुप्तप्राय विद्यमान रहता है। वक्रगति शक्ति (कुण्डलिनी) का उन्मुखीभूत आवेग जब इसमें जागरूकता उत्पन्न कर दी जाती है- स्वाध्याय की अवस्था का द्योतक है जिसका माप, ज्ञान का क्रमशः सुसंस्कृत होना है।

ज्ञान का क्रमिक विकास- तंत्र की कुण्डलिनी, वेद का ज्ञान शक्ति अथवा गायत्री है। इसके दो रूप हैं अविद्या और विद्या। अविद्या अज्ञान का द्योतक है और विद्या ज्ञान का द्योतक है। अविद्या अथवा अज्ञान ही जीव भाव है। तंत्र का यही पशु भाव अवस्था है। वैदिक संस्कार व गायत्री दीक्षा अथवा तंत्र की स्पर्श दीक्षा और शक्तिपात दीक्षा से यह भाव स्पष्ट होता है। अविद्या का प्रणाश होता है और ज्ञान का उदय तथा विद्या का जागरण होता है। यह जिस केन्द्र में होता है उसे मूलाधार कहते हैं। तंत्र की मौलिक अन्तरंग साधना भूमि यहीं से प्रारम्भ हो जाती है। मूलाधार से आविर्भूत होकर ज्ञान क्रम से वृद्धि की ओर उन्मुख होता है और बीच के संबंधित केन्द्रों अथवा चक्रों में संबंधित व परिवर्धित होता हुआ आज्ञा चक्र में पहुँचता है। इस चक्र में ज्ञान की विशुद्धता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। जिसका अन्तिम परिणाम परम ज्ञान में परिवर्तित होना है।

आज्ञा चक्र के तीन भाग और ज्ञान की तीन अवस्थायें : आज्ञा चक्र मुख्यतः तीन भागों में विभक्त है जिसे योग की भाषा में महाकाश, पराकाश और परमाकाश कहते हैं। जिनका वर्ण क्रमशः नील, लोहित एवं पीत है। यही विष्णु भूमि, ब्रह्म भूमि

और रूद्र भूमि के नाम से भी प्रसिद्ध है। महाकाश की भूमि में विशुद्ध ज्ञान सर्वप्रथम ब्रह्माण्ड ज्ञान तत्पश्चात स्वरूप ज्ञान में परिवर्तित होता है। कालान्तर में वही दिव्य ज्ञान का रूप धारण करता है। जिसके दिव्य आलोक में गुरु के चिन्मय स्वरूप का दर्शन लाभ होता है। फिर गुरु कृपा से इष्ट साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार दर्पण बिम्ब के समान होता है। वास्तव में यह साक्षात्कार एक प्रतीति मात्र है, आभास मात्र है। इसके पश्चात पराकाश भूमि है। इसमें वही दिव्य ज्ञान पराज्ञान में परिवर्तित होता है। आत्म ज्ञान इसी का नामान्तर है। इसमें आत्म स्वरूप की प्रतिष्ठा है। यही आत्म साक्षात्कार होता है और आत्मा के दिव्य आलोक में गुरु और इष्ट का एक साथ दर्शन लाभ होता है। गुरु, इष्ट में और इष्ट, गुरु में परिवर्तित हो जाते हैं। कौन गुरु है और कौन है इष्ट- इस भाव का प्रणाश हो जाता है। इसके पश्चात परमाकाश भूमि है। यहाँ स्वयं आत्मा ही पूर्ण प्रकाशित होकर परमात्म भाव में प्रकट होती है। यही वह स्थान है जहाँ पराज्ञान, परमज्ञान अर्थात अपौरुषेय ज्ञान में परिवर्तित होता है। परब्रह्म परमेश्वर के साक्षात्कार की भी यही स्थलि है। आज्ञा चक्र के ऊपर सहस्त्रार का अनर्वचनीय प्रकाश है। यहाँ ज्ञान- ज्ञाता-ज्ञेय एक तत्व या अद्वैत में विलुप्त हो जाते हैं। इसी अवस्था को सामरस्य महामिलन, परमधाम प्राप्ति अथवा मोक्ष की संज्ञा दी गयी है।

साधक तरणीकान्तं तर्कपंचानन- इस प्रसंग में काशी के गुप्त साधक तरणीकान्त तर्कपंचानन का उल्लेख करूँगा। काशी के वे परमयोगी और उच्च साधकों में से थे। सूक्ष्म शरीर द्वारा वे अपने गुप्त शिष्यों को उपदेश दिया करते थे। उनका कहना था कि नादानुसंधान तथा अन्य क्रमादि शब्द ब्रह्म तक उसके वास्तविक रूप में पहुँचने की चेष्टा मात्र को ही लक्षित करते हैं। इस विषय में मीमांसकों का अपना अलग मार्ग है। कारण यद्यपि वे ब्रह्म बोध से कुछ लाभ नहीं उठाते, फिर भी उनका वेद बोध, नित्यावाक् की ही भाँति अन्य रहस्य मार्गो के तुल्य है।

शब्द विचार में व्याकरणों और मीमांसकों के बीच अवश्य एक मूलभूत पार्थक्य है- किन्तु इस बात को वे दोनों स्वीकार करते हैं कि शब्द द्वारा ही सत्य का ज्ञान चाहे जिस प्रकार भी अवधारणा की गयी हो प्राप्त होता है।

जैसाकि शास्त्रकारों ने कहा है- **"एकः शब्दः सम्यक् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके च काम धुग् भवति"** अर्थात एक ही शब्द के पूर्ण ज्ञान और सम्यक प्रयोग से इहलौकिक और पारलौकिक- दोनों फलों की प्राप्ति हो सकती है। यही वैदिक और तांत्रिक ज्ञान का रहस्य है। इस संबंध का पूर्ण ज्ञान तभी प्राप्त हो सकता है जबकि शब्द विशेष ध्वनि बाह्य तत्वों से विमुक्त और परिमार्जित किया जाता है। जैसाकि हमें

ज्ञात है, कोई भी ध्वनि सर्वदा विशुद्ध नहीं रहती। योग की प्रक्रिया से ही उसमें विशुद्धता लायी जा सकती है। इस विशुद्धिकरण के बाद ही पूर्ण ज्ञान की उपलब्धि स्वयं हो जाती है। इस प्रकार व्युत्पन्न और विशुद्ध होकर वह योगियों और साधकों के हाथ में नैसर्गिक गुणों से पूर्ण एक अनन्त शक्तिशाली यंत्र बन जाता है। स्वाध्याय और वेदाध्ययन जिसके विषय में यह कहा जा चुका है कि यह विप्रावस्था का लक्षण है, इस संस्कार या शुद्धीकरण के ही समान है जिसे सामान्य बोलचाल में हम संस्कृत भाषा कहते हैं। रहस्यवाद की दृष्टि से यह वही शुद्धिकृत ध्वनि है, जो दिव्य शक्तियों से ओत प्रोत होकर दिव्य कहलाती है।

मनु के शब्दों में वेद ब्राह्मण में अन्तर्भूत आध्यात्मिक शक्ति का सार है। वैदिक स्वाध्याय के साहित्य में "भू" का अर्थ विश्व की निम्नतम मेखला तथा "स्व" का उच्चतम् अर्थात निराकार लोक स्वर्ग है और इन दोनों का मध्यास्थित प्रवेश भुव अथवा अन्तरिक्ष है। यद्यपि इनका अर्थ विभिन्न रूप से किया गया है किन्तु वास्तव में तीनों एक ही मूल में है। पृथ्वी का सार स्वयं प्रकाश के रूप में प्रकट होता है जिसे अग्नि कहा जाता था। आध्यात्मिक अभ्यास की सारी विधि जिसे वैदिक वाणी में क्रतु यानि यज्ञ कहा गया है इसी पवित्र एवं गुप्त अग्नि के जलने के साथ प्रारम्भ हुई। अग्नि मन्थन का गुप्त कार्य अर्थात अरणियों के द्वारा प्राण तथा अपान या आत्मा तथा मंत्र का प्रतिरूप अग्नि उत्पन्न करना वास्तव में वही प्रक्रिया या विधि है। जिसे तंत्र में तथा हठयोग में कुण्डलिनी का उद्दीपन उत्पन्न करना कहा गया है। जब अग्नि पृथ्वी पर विस्तृत हो जाती है तब नियमित रूप से संस्कृत होने लगती है। तत्पश्चात प्रकाश का वास्तविक रूप धारण करती है और अन्तरिक्ष का सार बन जाती है तब इसे वायु कहते हैं। पूर्णरूप से परिमार्जित और शुद्ध संस्कृत हो जाने पर स्वर्गीय दिव्य दीप्ति का रूप धारण करती है जिसे रवि कहते हैं। तब तीनों प्रकार के मण्डलों के प्रकाश जो उपर्युक्त लोकों के सार हैं, वे पंचभूत होकर एक प्रकाश हो जाते हैं वस्तुतः यही वेद है-

अग्नि वायु रविभ्यस्तु स्वयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ सियर्थ ऋग यजु साम लक्षणम्।। (मनु १/२३)

भारत की संस्कृति उपमा मिश्रित है। वह जिस प्रकार निगम का आश्रयण करती है उसी प्रकार आगम का भी अवलम्बन करती है। फलतः वह निगमागम मूलक है। भारतीय संस्कृति के यथार्थ बोध के लिये वेद का ज्ञान जितना आवश्यक है उतना ही तंत्र का भी। दोनों के मंजुल समन्वय के ऊपर ही यह शोभन वस्तु आधारित है। जिसे हम भारतीय संस्कृति के नाम से सम्बोधित करते हैं। तांत्रिक साधना के पिछले प्रकरण में मैंने वैदिक साधना के बहिरंग और अन्तरंग रूप का विवेचन किया है।

अतः इस प्रकरण में मैं तंत्र की बहिरंग और अन्तरंग साधना पर संक्षिप्त प्रकाश

डालूँगा। तंत्र का क्या अर्थ है? इसका उल्लेख पीछे किया जा चुका है और यह भी बतलाया जा चुका है कि तंत्र का दूसरा नाम आगम भी है। आगे के गूढ़ विषयों को समझने के लिये संक्षेप में आगम की संक्षिप्त चर्चा यहाँ करना आवश्यक है। आगम शब्द की व्युत्पत्ति और उसका लक्षण ''तत्व वैशारदी'' की व्याख्या में आगम की व्युत्पत्ति इस प्रकार है। **आगच्छन्ति बुद्धिमा रोहन्ति यस्मात् अभ्युदय निःश्रेयसो पायाः स आगमः** अर्थात जिससे अभ्युदय लौकिक कल्याण तथा निःश्रेयस (मोक्ष) के उपायों का प्रतिपादक शास्त्र ही आगम है।

वेद और तंत्र का लक्ष्य– आगम की यह व्युत्पत्ति उसका निगम से पार्थक्य दिखलाने के लिये पर्याप्त है। कर्म उपासना तथा ज्ञान का स्वरूप बतलाता है निगम और इनके साधन भूत उपायों का रूप समझाता है आगम। दोनों के लक्ष्य में यही पार्थक्य है। फलतः दोनों परस्पर उपकारी शास्त्र हैं उदाहरण के लिये शाक्तागम को लीजिये, अद्वैत वेदान्त अद्वैत तत्व की उत्पत्ति नाना युक्तियों के सहारे करता है यह तो हुआ सिद्धान्त पक्ष। शाक्तागम उसी अद्वैत तत्व की साधना का प्रकार बतलाता है यह हुआ व्यवहार पक्ष। आगम में व्यवहार पक्ष का ही प्राबल्य रहता है। तंत्र अथवा आगम का मुख्य लक्ष्य है साधना और उपदेश।

तंत्र का बहिरंग और अन्तरंग रूप : बहिरंग साधना के अन्तर्गत तंत्र का साधना उपदेश है। अपने उपदेश के आधार पर क्रिया और अनुष्ठान पर वह अधिक बल देता है। अपरा, पूजा एवं इष्टोपासना इसी के अन्तर्गत हैं। आगम के सात लक्षण हैं, जिससे यह बात सिद्ध होती है। वाराही तंत्र के अनुसार आगम के सात लक्षण निम्नलिखित हैं–

सृष्टि : विश्व का प्रपंच किस प्रकार हुआ और किस प्रकार सृष्टि के प्राक्काल का आरम्भ हुआ?

प्रलय : विश्व का तिरोभाव किस प्रकार होगा? तंत्र का शाम्भव दर्शन मुख्य रूप से इन्ही दोनों विषयों का प्रतिपादन करता है।

देवार्चन : विभिन्न शक्तियों के आश्रय स्वरूप भिन्न-भिन देवताओं के रूप, गुण और उनकी विशेषताओं के अनुसार पूर्ण पूजा व उनकी उपासना का विधान है।

सर्वसाधन : नाना प्रकार की सिद्धियों की प्राप्ति के उद्देश्य से की गयी भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, यक्षिणी, पिशाचिणी, चिता, श्मशान आदि की साधनायें। टोना, टोटका भी इसी के अन्तर्गत माना जाता है।

पुरश्चरण : मारण, मोहन, उच्चाटन, विद्वेषण, वशीकरण, स्तम्भन एवं शान्ति इन षट्कर्मों की साधना और सिद्धि। मारण प्रयोग आठ प्रकार के हैं। मूठ, वान, हिक्का, इसी के अन्तर्गत हैं। बारह प्रकार के मोहन प्रयोग हैं। चौबीस प्रकार के

उच्चाटन प्रयोग हैं। नौ प्रकार के विद्वेषण प्रयोग हैं। सात प्रकार के वशीकरण प्रयोग हैं। ग्यारह प्रकार के स्तम्भन प्रयोग हैं। इसी प्रकार चौरासी प्रकार के शान्ति कर्म संबंधित प्रयोग हैं। इन सभी प्रयोगों को सम्पन्न करना पुरश्चरण है। (इस विषय के संबंध में पढ़े-''शाक्तागम'' और ''कुलार्णव तंत्र'')

षटकर्म : मारण, मोहन, वशीकरण आदि षटकर्मो को पुरश्चरण द्वारा सिद्ध कर उनका साधन और प्रयोग करना, षट्कर्म के अन्तर्गत है।

ध्यान : ध्यान की बहिरंग एवं अन्तरंग क्रियाओं द्वारा इष्ट से तादात्मय और उसकी अनुभूति। जिसके द्वारा हृदय में इष्ट का प्राकट्य होता है। इसी ध्यान योग की सिद्धि के लिये देव प्रतिमा की आवश्यकता पड़ती है।

ये सातों लक्षण व्यापक रूप से तंत्र के बहिरंग रूप की ओर संकेत करते हैं बहिरंग विषयों के स्वरूप भी भलीभाँति पहचाने जा सकते हैं। तंत्र की बहिरंग साधना का एकमात्र मुख्य विषय है मंत्र, यंत्र और देव प्रतिमा। इन तीनों की सिद्धि और साधना के मूल में ध्यान योग है। देवता के गुण, कर्म, स्वभाव, स्वरूप के चिन्तन के आधार पर मंत्रों का उद्धार एवं सिद्धि की जाती है तब उन मंत्रों को यज्ञ से संयोजित कर देवता का ध्यान और उपासना का वर्णन किया जाता है। उपासना के पाँच अंग हैं जिसका संकेत पिछले प्रकरण में किया जा चुका है उनसे समन्वित होने पर तथोक्त तांत्रिक उपासना पुष्ट और पूर्ण मानी जाती है। वास्तव में तंत्र का वैशिष्ट्य क्रिया है अतः तंत्र की बहिरंग साधना व उपासना क्रिया प्रधान है। उसी प्रकार जैसे वेद का वैशिष्ट्य कर्म और ज्ञान है। कर्म का सम्पादन बहिरंग पक्ष और ज्ञान का सम्पादन अन्तरंग पक्ष करता है तंत्र में भी ऐसा ही है। वेद की तरह उसका अन्तरंग पक्ष योग के आधार पर ज्ञान का सम्पादन करता है। आशय यह है कि वैदिक ग्रन्थों में निर्दिष्ट ज्ञान का क्रियात्मक रूप या विधानात्मक आचार आगमों का मुख्य विषय है। तंत्र का मुख्य लक्ष्य इस छोटे से वाक्य में निविष्ट है **''ज्ञानं भारः क्रिया बिना''।**

ज्ञान से सम्पन्न साधक यदि उस ज्ञान को जीवन में परिणत कर उसे क्रियात्मक नहीं बनाता तो वह अपने लक्ष्य को कदापि प्राप्त नहीं कर सकता। तंत्र के जितने मुख्य लक्ष्य हैं उनमें एक यह भी है ज्ञान को कर्म में आयोजित करना और पुनः उक्त कर्म को ज्ञान में परिवर्तित या आदत्त करना।

बहिरंग और अन्तरंग साधना का सन्धि केन्द्र ध्यान है। बहिरंग साधना के भीतर तीन प्रमुख तत्व हैं शुद्धि, ध्यान और उपलब्धि। बिना शुद्धि के ध्यान की सिद्धि नहीं और बिना ध्यान के सिद्धि की उपलब्धि नहीं। ध्यान द्वारा इष्ट के प्रति जो कुछ उपलब्ध होता है वह बहिरंग साधना की मूल सम्पत्ति समझी जाती है और उसी के आधार पर अन्तरंग साधना का श्रीगणेश होता है। बहिरंग साधना, उपासना, पूजा

आदि जो कुछ है वह सब अपरा है। ध्यानोपलब्धि होने पर अपरा, परा में परिवर्तित हो जाता है। यदि साधक की ध्यान, योग में गति और पूर्णता नहीं है तो सब कुछ व्यर्थ है। न किसी प्रकार का सिद्धि लाभ हो सकता है और न तो किसी प्रकार की बहिरंग साधना ही पुष्ट हो सकती है। अन्तरंग साधना भूमि में प्रवेश करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

पूर्ण ध्यान की उपलब्धि सहज समाधि है। इस अवस्था विशेष में साधक का साध्य (इष्ट) से नित्य संबंध होता है। गीता का यही (इष्ट) सातत्य योग है। जबतक साधक और साध्य के बीच में साधन रहेगा तबतक पूर्ण उपलब्धि सम्भव नहीं। इस सन्दर्भ में यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि तंत्र की बहिरंग साधना भूमि में "पंचमकार" (मदिरा, मैथुन, मुद्रा, मीन और मांस) साधना का कार्य करते हैं। इसमें जो प्रथम पंचमकार मदिरा है वह ध्यानयोग की सिद्धि के निमित्त भी है। सहज समाधि की अवस्था प्राप्त होने पर साधन रूप मदिरा ग्रहण समाप्त हो जाता है उसके स्थान पर योग मदिरा को स्वीकार कर अन्तरंग भूमि में प्रवेश किया जाता है। जिसका प्रवेशद्वार सहज समाधि की पूर्ण अवस्था है और यहीं से तंत्र की अन्तरंग साधना जो पूर्णरूपेण योगपरक एवं आध्यात्मिक है शुरू हो जाती है। अन्तरंग साधना यात्रा का प्रथम सोपान सविकल्प समाधि है। जो सहज समाधि का परिष्कृत रूप है। यहाँ यह कहना सर्वथा उचित है कि पातञ्जल योग की जहाँ समाप्ति होती है वहीं से तंत्र की अन्तरंग साधना यात्रा शुरू होती है। वह यात्रा कुण्डलिनी साधना की यात्रा है और उसका मार्ग उसी के लिये खुला है और प्रशस्त है जिसने सहज समाधि का अतिक्रमण कर सविकल्प अवस्था को प्राप्त कर लिया है।

बहिरंग साधना में दीक्षा– बहिरंग साधना भूमि में बारह प्रकार की दीक्षा क्रम है। जिसमें प्रमुख है स्पर्श दीक्षा, मंत्र दीक्षा, भैरवी दीक्षा, गुह्य दीक्षा, चक्र दीक्षा, और योनि दीक्षा। स्पर्श दीक्षा प्रथम है इससे शरीर की शुद्धि होती है। मंत्र दीक्षा से मन की शुद्धि होती है। इन दोनों दीक्षा के बाद अन्य दीक्षाओं का क्रम है। अन्त में गुरु दीक्षा है जिसे प्राप्त करने के पश्चात बहिरंग साधना में पूर्णत्व लाभ होता है और साधना के दूसरे पक्ष का प्रारम्भ होता है।

मानव शरीर की जितनी विशेषताएँ और जितने महत्व हैं उनमें एक यह भी है कि स्थूल शरीर के साथ अन्य शरीर भी जल-दुग्ध की तरह विद्यमान रहते हैं। बहिरंग साधना तीन शरीरों द्वारा साध्य है- स्थूल शरीर, भाव शरीर और सूक्ष्म शरीर। प्रथम शरीर का केन्द्र हृदय है और दूसरे शरीर का केन्द्र है नाभि। ध्यान की सिद्धि और परिपूर्णता भाव शरीर में होती है तथा सहज समाधि अवस्था प्राप्त होती है सूक्ष्म शरीर

में। इन दोनों शरीरों का ज्ञान होना आवश्यक है। मंत्र के अधिष्ठात्र देवताओं का दर्शन भाव शरीर द्वारा होता है। इसी प्रकार मंत्रबद्ध सूक्ष्म शरीरधारी आत्माओं का साक्षात्कार भी सूक्ष्म शरीर द्वारा ही होता है जो बहिरंग साधना मार्ग के उच्च साधक हैं वे भूत, प्रेत, पिशाच, यक्ष, यक्षिणी, पिशाचिणी आदि सूक्ष्म शरीरधारी शक्ति सम्पन्न आत्माओं को मंत्रशक्ति द्वारा आबद्ध कर अपने सूक्ष्म शरीर से ही कार्य उनसे लेते हैं। इसी प्रकार ध्यान योग के द्वारा भाव शरीर के माध्यम से देवताओं से साक्षात्कार करते हैं। बहुत से साधक तो ऐसे होते हैं कि विशेष तांत्रिक क्रियाओं द्वारा स्थूल शरीर को कुछ समय के लिये त्याग कर भाव शरीर या सूक्ष्म शरीर में पूर्णरूप से प्रवेश कर जाते हैं और उसके माध्यम से अगम्य स्थानों की यात्रा करते हैं संचरण करते हैं इसके अतिरिक्त दूसरे के शरीर में प्रवेश कर उसके भूत, भविष्य, वर्तमान से संबंधित पूरी बात जान लिया करते हैं। ऐसे ही लोग स्वयं शरीर को, सूक्ष्म शरीरधारी आत्माओं का माध्यम भी बना लिया करते हैं। तंत्र की बड़ी ऊँची क्रिया पद्धति मानी जाती है किन्तु जरा सी भी भूल होने पर प्राण जाने का भय रहता है।

अन्तरंग साधना में दीक्षा– अन्तरंग साधना भूमि में छः प्रकार का दीक्षा क्रम है जिनमें प्रमुख है शक्तिपात दीक्षा। इसी दीक्षा को प्राप्त कर साधक अन्तरंग भूमि में प्रवेश करता है।

शक्तिपात दीक्षा तांत्रिक साधना की सर्वाधिक महत्वपूर्ण दीक्षा है। साधक के बहिरंग साधना में पूर्ण पारंगत होने पर पूर्व संस्कार के अनुसार यथासमय सद्गुरु स्वयं उपस्थित होकर यह दीक्षा प्रदान करते हैं।

दीक्षा के पूर्व सद्गुरु शिष्य के स्थूल शरीर को विशेष तांत्रिक क्रिया द्वारा भाव शरीर और सूक्ष्म शरीर से पृथक करते हैं और दोनों के साथ अपने भाव एवं सूक्ष्म शरीर का संबंध स्थापित करते हैं। तदन्तर क्रम से दोनों का उल्लंघन कर मनोमय शरीर से तादात्म्य स्थापित करते हैं और उसी में शक्तिपात दीक्षा प्रदान करते हैं।

तंत्र की बहिरंग साधना दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात मनोमय शरीर से शुरू होकर निर्वाण शरीर में जाकर समाप्त होती है। तात्पर्य यह कि अन्तरंग साधना क्रम से चार शरीरों के माध्यम से सम्पन्न होती है साधना काल में स्थूल शरीर की तरह भाव शरीर और सूक्ष्म शरीर भी निष्क्रिय रहता है सक्रिय रहता है केवल मनोमय शरीर। इसी शरीर द्वारा तंत्र की सर्वोच्च और गुह्य साधना, बिन्दु साधना भी सम्पन्न होती है।

साधना की दृष्टि से चारो युगों का अपना- अपना महत्व है। साधना की सिद्धि का चतुर्युगी अनुपात इस प्रकार है- जो साधना सतयुग में १० वर्ष में पूर्ण होती है, त्रेता में उसके लिये एक वर्ष का समय लगता है। द्वापर में उसके लिये एक मास का

समय लगता है किन्तु कलियुग में केवल एक दिन का ही समय लगता है। साधना की सरलता कलियुग की विशिष्टता है-

ध्यानम् कृते यजन् यज्ञैः त्रेतायां द्वापरेऽर्चयन्।
यदाप्नोति तदाप्नोति कलौ संकीर्त्य केशवम्।। (विष्णु पुराण)

कुलार्णव तंत्र के अनुसार वेदवाणी में विवद्ध चार प्रकार के साहित्यों की मान्यता चारों युगों में होती है।

कृते श्रुत्य युक्त आचारः त्रेतायां स्मृति सम्भवः।
द्वापरे तु पुराणोक्तः कला वा आगम सम्भवः।।

सतयुग में श्रुति वेद के द्वारा प्रतिपादित आचार की प्रधानता होती है। त्रेता में स्मृति की, द्वापर में पुराण की, कलि में आगम तथा तत्प्रतिपादित आचार की प्रधानता मानी गयी है। कलियुग में मानवों की आध्यात्मिक शक्ति की क्षीणता दिखलायी देती है। जितना त्याग, प्रतिक्षा तथा धैर्य प्राचीनकाल में था उतना आज कहाँ दिखलाई पड़ता है। बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि की भी यही दशा है। वैदिक कर्मो का अनुष्ठान जिस त्याग तपस्या पर आश्रित था उसका नाम भी तो आज कल नहीं दिखता। अतः उनका यथेष्ट आचरण कलियुग में कदापि सम्भव नहीं है। तंत्र में इसकी आवश्यकता इतनी सीमा तक नहीं होती। एक सुमीता और भी है। शूद्र और स्त्री दोनों का अधिकार वैदिक कर्मो के अनुष्ठान में नहीं है परन्तु तंत्रों में इनके लिये छूट है इनका भी पूरा अधिकार है।

तांत्रिक साधना मार्ग सभी के लिये प्रशस्त- निगम जहाँ अपने सिद्धान्तों तथा क्रियाकलापों को केवल त्रिवर्ण के लिये सीमित रखता है- वहाँ आगम ने अपना द्वार प्रत्येक वर्ण के लिये, स्त्री व शूद्रजनों तक के लिये उन्मुक्त कर रखा है। तांत्रिक साधना भूमि पर कोई भी अपना पदचिन्ह अंकित कर सकता है। किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं, जाति-पांति की भिन्नता नहीं। इसीलिये तंत्र का यह सार्वभौम तथा सवर्णिक रूप उसकी लोकप्रियता का प्रधान सेतु है परन्तु इससे यह न समझना चाहिये कि तंत्र में अधिकारी का विचार नहीं है। अधिकारी का विचार है और बड़ी गम्भीरता से विचार है विशिष्ट योग्यता के अभाव में साधक इसमें आ नहीं सकता। यह कार्य गुरु का है कि वह योग्यता के अनुसार शिष्य की परीक्षा करे और उसके अनुसार तंत्र की दीक्षा देकर उसके साधनोत्थान की व्यवस्था करे। तांत्रिक साधना की परीक्षा अत्यन्त कठिन है। योग्य गुरु विभिन्न प्रकार से शिष्य की कठिन परीक्षा लेता है और प्रत्येक दृष्टि से सफल हो जाने पर ही वह दीक्षा प्रदान करता है। यदि वास्तव में गुरु, योग्य और उच्च स्थान प्राप्त है तो सर्वप्रथम अपने प्रति घृणा का भाव उत्पन्न कराने की चेष्टा करेगा। ऐसे कार्य करेगा- जिससे शिष्य के मन में गुरु के प्रति भ्रम एवं घृणा का संचार हो। इस प्रकार से अनेक विपरीत व्यवहार करेगा किन्तु फिर भी शिष्य की श्रद्धा,

विश्वास आदि अटूट रहा तो गुरु तभी दीक्षा देगा।

तंत्र प्रकृष्ट विज्ञान है– वेद तीन है। उनसे आविर्भूत ज्ञान की तीन अवस्थायें हैं जिनकी चर्चा पिछले प्रकरण में की गयी है उन ज्ञानों का जो मूलतत्व है वह विद्या है। जिस प्रकार मुख्य वेद केवल एक है उसी प्रकार ज्ञान और विद्या भी मुख्यतः एक ही है। परमज्ञान अपौरूषेय ज्ञान है उसका मूलतत्व रूपविद्या-परमाविद्या अथवा महाविद्या के नाम से अभिहित है। जिस प्रकार ऋग्वेद से यजुर्वेद का, सामवेद का आविर्भाव हुआ उसी प्रकार परमज्ञान से पराज्ञान और परा-पराज्ञान और महाविद्या अथवा परमाविद्या से पराविद्या एवं परा-पराविद्या की उत्पत्ति हुयी। इन तीनों विद्याओं से पुनः ६४ विद्याओं का जन्म हुआ। भारतीय साधना साहित्य में वेदों को त्रयोवेदा और विद्याओं को त्रयी विद्या कहा गया है। त्रयी विद्या की अधिष्ठात्री क्रम से महाकाली, महासरस्वती और महालक्ष्मी है। इनसे आविर्भूत ६४ विद्याओं की अधिष्ठात्री है चौंसठ योगिनी। प्रत्येक योगिनी से संबंधित एक तंत्र है इस प्रकार तंत्रों की भी मुख्य संख्या ६४ है।

विद्या के दो पक्ष हैं ज्ञान और कर्म। दोनों के प्रयाक्तीकरण से विज्ञान जन्म लेता है। त्रयी विद्या का व्यावहारिक नाम योगविद्या, तंत्रविद्या और ज्योतिषविद्या है। इन तीनों विद्याओं के दोनों पक्षों के आपत्तिकरण से जिन विज्ञानों का आविर्भाव हुआ उसे योग विज्ञान, तंत्र विज्ञान और ज्योतिष विज्ञान की संज्ञा दी गयी। त्रयी विद्या के गर्भ से जन्म लेने वाले ये तीनों विज्ञान प्रकृष्ट विज्ञान हैं। जिनके सिद्धान्त अपरिवर्तनीय और नित्य हैं- उन्हें प्रकृष्ट विज्ञान कहा गया है। स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेवजी ने इस प्रसंग की चर्चा करते हुए एक बार कहा था प्रकृष्ट विज्ञान अभीतक जगत में विशेष रूप से अभिव्यक्त नहीं हुआ है। विशिष्ट ज्ञान ही विज्ञान है। ज्ञान और कर्म दोनों को आयत्त किए बिना इन विज्ञानों में अधिकार प्राप्त नहीं किया जा सकता। ज्ञान रहने पर कर्म नहीं रहता और कर्म रहने पर ज्ञान भी नहीं रहता। एक साथ दोनों की सत्ता अत्यन्त दुर्लभ है। यही मूल कारण है कि योग और तंत्र के विज्ञान में अधिकार प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है। ज्ञान और कर्म की एक साथ सत्ता मानो बाघ बकरी की मैत्री है। इसीलिये यर्थाथ विज्ञान इतना कठिन है। ये तीनों प्रकृष्ट विज्ञान इसलिये है कि उनके मूल में अज्ञान नहीं है। उनके सिद्धान्तों में कभी परिवर्तन नहीं होता ; जगत में आज जिस विज्ञान की उन्नति हो रही है उससे मूल का अज्ञान रह जा रहा है इसलिये समय-समय पर उसके सिद्धान्तों को परिवर्तित करना पड़ जाता है। मूल तथ्यों का भी संशोधन करना होता है। यही कारण है कि आज के विज्ञान से अशान्ति और भय की सृष्टि अधिक है। किन्तु योग, तंत्र जैसे प्रकृष्ट विज्ञान से ऐसी कोई सम्भावना नहीं

है। लौकिक और पारलौकिक दोनों हितों का सम्पादन वह करता है।

तंत्र आध्यात्मिक जगत का व्यवहारिक विज्ञान है। योग्य गुरु के अभाव में कोई भी व्यक्ति तांत्रिक विद्या व साधना में पारंगत नहीं हो सकता है और न तो अपने तात्पर्य को ही सिद्ध कर सकता है। इसीलिये तंत्र मार्ग में गुरु की अत्यधिक आवश्यकता होती है। आध्यात्मिक जगत में ग्रन्थों के सहारे किसी भी विज्ञान का ज्ञान व्यापक नहीं हो सकता। उसके लिये प्रयोग चाहिये। सद्‌गुरु प्रयोग के द्वारा अधिकारी शिष्य को शास्त्र की सत्यता का प्रमाण देकर उसे व्यावहारिक शिक्षा देता है। इसी में तंत्र शास्त्र, तंत्र विद्या और तंत्र विज्ञान की चरितार्थता है। फलतः तंत्र का मार्ग सर्वसाधारण के लिये उन्मुक्त होने पर ही अधिकारी की अपेक्षा रखता है परन्तु इतना तो निश्चित है कि योग्य गुरु की शिक्षा का उचित परिशीलन किया है तो कल की सिद्धि में विलम्ब न होगा। इस विषय में तंत्र विज्ञान आधुनिक विज्ञान के समकक्ष है। दोनों की इस समय आवश्यकता है। व्यवहार में आधुनिक विज्ञान की तथा अध्यात्म में तंत्र विज्ञान की। **"बिना दृश्यागम मार्गेण कलौनास्ति गतिप्रिये"** महानिर्वाण तंत्र की इस गम्भीर घोषणा का यही रहस्य है।

आगम शास्त्र– आगम शास्त्र में शिव के पांच मुख हैं जो तंत्र में प्रतीक रूप में ग्रहण किये गये हैं। यही प्रकारान्तर से आम्नाय का रूप धारण करते हैं। निष्कल शिव सर्वप्रथम नाद के रूप में उद्‌भासित होते हैं और बिन्दु के स्वरूप को उद्‌भासित करते हुये आगे के विकास क्रम को प्रदर्शित करते हैं। कामिकागम के अनुसार सदाशिव के प्रत्येक मुख से पांच श्रोतों का निर्गमन हुआ है वे श्रोत हैं- लौकिक, आध्यात्मिक, वैदिक, अतिमार्ग और मंत्रात्मक। इस प्रकार शिव के पांच मुख होने से श्रोतों की संख्या २५ हो जाती है। विभिन्न तंत्र ग्रंथों में आम्नाय शब्द से इन्हे बताया गया है। आम्नायों के नाम हैं- ऊर्ध्वाम्नाय, पूर्वाम्नाय, पश्चिमाम्नाय, दक्षिणाम्नाय और उत्तराम्नाय। ऊर्ध्व मुख से उत्पन्न 'मुक्ति देने वाला', पूर्व मुख से उत्पन्न 'सर्वविषों को हरने वाला' उत्तर मुख से उत्पन्न 'वशीकरण करने वाला',पश्चिम मुख से उत्पन्न 'भूत पिशाच ग्रह निवारण करने वाला' तथा दक्षिण मुख से उत्पन्न 'शत्रुओं पर विजय दिलाने वाला'है। इसका विस्तृत विवरण 'कामिकागम' में दिया गया है। आगम शास्त्र के विषय में उल्लेखनीय है कि कोई भी मंत्र प्रयोग बिना गुरु के निर्देशन के नहीं करना चाहिए।

चौंसठ तंत्र– वामकेश्वर तंत्र के अनुसार चौंसठ तंत्रों के नाम इस प्रकार हैं- १.गणेशयामल २. रूद्रयामल ३. महाकालीमत ४. लक्ष्मीयामल ५. उमायामल ६. स्कन्दयामल ७. जयद्रथयामल ८. महालक्ष्मीमत ९. कौमारी १०. वैष्णवी ११. वाराही १२. माहेन्द्री १३. चामुण्डा १४. शिवदूती १५. ब्रह्मयामल १६. विष्णुयामल १७. शम्बर

१८. जालशम्बर १९. तत्वशम्बर २०. भैरवाष्टक २१. महामाया २२. ब्राह्मी २३. चन्द्रज्ञान २४. वासुकी २५. महासम्मोहन २६. महोच्छुष्म २७. वातुल २८. वातुलोत्तर २९.हृद्भेद ३०. तंत्रभेद ३१. गुह्यतंत्र ३२. कामिक ३३. कलावाद ३४. कलासार ३५. कुब्जिकामत ३६. तंत्रोत्तर ३७. चीनाख्य ३८. तोडल ३९. तोडलोत्तर ४०. पंचामृत ४१. वीरावली ४२. सर्वज्ञानोत्तर ४३. कुलसार ४४. कुलोड्डीश ४५. कुलचूड़ामणि ४६. भूतडामर ४७. योगिनी ४८. माहेश्वरी ४९. विशुद्धेश्वर तंत्र ५०. कुरूपिकामत ५१. रूपिकामत ५२. सर्ववीरमत ५३. विमलामत ५४. पूर्वाम्नाय ५५. पश्चिमाम्नाय ५६. दक्षिणाम्नाय ५७. उत्तराम्नाय ५८. ऊर्ध्वाम्नाय ५९. वैशेषिक मत ६०. ज्ञानार्णव ६१. रूप भेद ६२. अरूणेश ६३. मोहनीश ६४. सिद्धयोगेश्वरीमत।

उल्लेखनीय है कि भिन्न-भिन्न आगम ग्रन्थों में चौंसठ तंत्रों के नाम आते हैं उनमें संख्या तो ६४ ही रहती है परन्तु नामों में अन्तर आ जाता है। मुख्यतः इसका विवरण श्री कण्ठ संहिता, वामकेश्वर तंत्र, भास्कर राय सम्मत सर्वोल्लास तंत्र, तोडलोत्तर तंत्र, महासिद्धिसार तंत्र आदि में मिलता है।

आदि गुरु शंकराचार्य ने सौन्दर्य लहरी में चौंसठ तंत्रों की संख्या का उल्लेख किया है। चौंसठ की संख्या शायद शिव द्वारा अभिमत चौंसठ वर्णो की निर्देशिका हो सकती है। यह अनुमान है कि विभिन्न मतों तथा विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न तंत्रों का निर्माण हुआ। वर्तमान में सभी तंत्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होते हैं फिर भी जो प्राप्त हैं उनकी संख्या पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त पीठ, भैरव तथा यामल के आधार पर तंत्रों के नाम उपलब्ध होते हैं। पीठ के अनुसार विद्यापीठ, मंत्रपीठ, मुद्रापीठ और मंडलपीठ है जो वस्तुतः तंत्रों के ही भेद हैं। पीठ से सम्बन्धित तंत्रो के नाम इस प्रकार हैं- लाकिनी कल्प, योगिनी जाल,योगिनी हृदय इत्यादि। भैरवों के नामानुसार तंत्रों के जो नाम हैं वे हैं- स्वछन्द भैरव, क्रोध भैरव, उन्मत्त भैरव, उग्र भैरव, कपाल भैरव, झंकार भैरव, शेखर भैरव और विजय भैरव आदि। यामल के अनुसार यामलों के आठ नाम हैं- ब्रह्म यामल, विष्णु यामल, रूद्र यामल, कुबेर यामल, स्कन्द यामल, यम यामल, वायु यामल और इन्द्र यामल। इन यामलों के नामों में कहीं-कहीं नामान्तर भी मिलता है।

योग तंत्र के मूल में महाशक्ति- भारत में मातृरूप में शक्ति की साधना उपासना अत्यन्त प्राचीनकाल से चली आ रही है। मातृसाधना के इस प्रारम्भिक युग में ही 'माता' को शक्ति का रूप दे दिया गया और इसी के साथ-साथ एक महापुरुष की भी कल्पना कर ली गयी थी जो कालान्तर में 'शिव' के रूप में प्रख्यात हुए। शिव-शक्ति का यह सम्मिलित रूप ही शक्तिवाद का आदि स्रोत कहा जा सकता है।

जैसे-जैसे शिव को इतर देवों में श्रेष्ठ मानकर 'महादेव' कहा जाने लगा वैसे ही वैसे 'शक्ति' को भी अन्य देवियों से श्रेष्ठ मानकर 'महादेवी' कहा जाने लगा और जिनके साधक अथवा उपासक 'शाक्त' कहलाने लगे।

सर्वप्राचीन वेद ऋग्वेद है और ऋग्वेद में शक्ति का सर्वप्रथम वर्णन वेदवाणी सरस्वती के रूप में किया गया है। सरस्वती के पश्चात् बहुवर्णित शक्ति उषा और अदिति हैं। अदिति का माता के रूप में वर्णन है। वह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की जननी है। इसके प्रकाशवान् पुत्र आदित्य यानी सूर्य हैं।

शक्तिवाद का आधारभूत जो देवीसूक्त है वह ऋग्वेद के 'वाक्सूक्त' का रूपान्तर है। वाक्सूक्त में जिस शक्ति का उल्लेख है- वह सर्वशक्तिमान्, नाना ऐश्वर्यों को प्रदान करने वाली, इच्छा, ज्ञान, क्रिया रूपिणी ईश्वरी शक्ति है। चेतना, वाक्, वाणी, परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी- इसी ईश्वरी शक्ति के पर्याय हैं।

वैदिक वाङ्मय की अन्तिम गरिमामयी और साथ ही महिमामयी शक्ति 'रात्रि' हैं,' जो तंत्रभूमि की पराशक्ति अथवा प्रभुशक्ति 'काली' है। शाक्ततंत्र की मूल भित्ति है रात्रिरूपा महाकाली।

वेदों के पश्चात् ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदों का काम आता है। ब्राह्मणों और आरण्यकों में शक्ति को गायत्री, सावित्री, दुर्गा, राधा, सुभगा, सुन्दरी, अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका आदि रूपों में चित्रित किया गया है। अब रही बात उपनिषदों की श्वेताश्वतर उपनिषद में ब्रह्म में अन्तर्निहित शक्ति को ही प्रधानता दी गयी है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया उसी शक्ति के त्रिविध रूप हैं। छान्दोग्योपनिषद्, केनोपनिषद्, कठोपनिषद् में शक्ति और शक्तिमान् को अभेद नित्य माना गया है। शक्ति और शक्तिमान में कोई भेद नहीं है- **'शक्तिशक्तिमतोरभेदः'**। वही स्त्री-पुरुष नर-नारी हैं। साधकगण अपने भावानुकूल उसके विग्रह की उपासना करते हैं। मैत्रेय्युपनिषद् में ब्रह्म के दो रूप बतलाये गये हैं- मूर्त और अमूर्त। जो मूर्त है वह असत् है और जो अमूर्त है वह सत् है। तंत्र ने सम्भवतः इन दोनों रूपों को समन्वित कर 'ब्रह्म' को ही शक्ति की संज्ञा दी। कैवल्योपनिषद् में ब्रह्म की शक्ति को अचिन्त्य एवं अलौकिक कहा गया है। बृहजबालोपनिषद् 'ब्रह्म-शक्ति' को चिति शक्ति कहता है। जिस प्रकार अग्नि सर्वत्र व्याप्त है वैसे ही सम्पूर्ण जगत में चिति शक्ति व्याप्त है। सरस्वती, गौरी, विद्या, श्री आदि उसी चिति के पर्याय हैं।

इन उपनिषदों के अतिरिक्त चौदह ऐसे और उपनिषद हैं- जो शक्तिवाद का प्रतिनिधित्व करते हैं और जिसमें शक्तिमत की विशद व्याख्या की गयी है और शक्ति

के विभिन्न स्वरूपों का विवेचन किया गया है। उन चौदह उपनिषदों में निम्नलिखित आठ उपनिषद्-त्रिपुरोपनिषद्, त्रिपुरातापिन्युपनिषद्, देव्युपनिषद्, भावतोपनिषद्, सरस्वतीहस्योपनिषद्, सीतापनिषद् बहुचोपनिषद् और सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद पूर्णरूप में शक्तिवाद का प्रतिनिधित्व तो करते ही हैं इसके अतिरिक्त शक्ति की दार्शनिक और आध्यात्मिक व्याख्या भी करते हैं।

भारतीय वाङ्मय में शक्तिवाद की दृष्टि से 'वेदांग' का भी कम महत्व नहीं है। व्याकरणागम के 'वाक्यपदीप' में 'शक्ति' शक्तिरूपा है। तंत्र ने उसे 'सूक्ष्मवाक्' कहा है। सिद्धान्तमंजूषा' के अनुसार परमेश्वर को सृजन करने की इच्छा से 'माया वृत्ति' प्रकट होती है। उसमें से तीन गुणों वाला अव्यक्त बिन्दु प्रकट होता है। उसी अव्यक्त बिन्दु को ही शक्तितत्व समझा गया। तात्पर्य यह है कि व्याकरणागम की शक्ति बिन्दुरूपा है। बिन्दु का जड़ अंश 'बीज', 'चैतन्यांश', 'अपरबिन्दु' और मिश्रांश 'नाद' है।

शक्ति सम्बन्धी 'सूत्र' और 'स्तोत्र' साहित्य का भी अपना विपुल भण्डार है। वास्तव में यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो शक्ति साधना-उपासना के जितने भी मार्ग हैं उन सबका मूलस्रोत एकमात्र 'सूत्र' और 'स्तोत्र' हैं। वे शक्ति के आध्यात्मिक, दार्शनिक और क्रिया- इन तीनों पक्षों पर प्रचुर प्रकाश डालते हैं। सूत्र साहित्य के अगस्त्य का 'शक्तिसूत्र' दार्शनिक दृष्टि से यद्यपि उतने महत्व का नहीं है लेकिन फिर भी शक्ति सम्बन्धी सूत्र साहित्य का श्रीगणेश अवश्य करता है। वादरायण के 'ब्रह्मसूत्र' की भांति ही 'अथातो शक्ति जिज्ञासा' के ये सूत्र प्रारम्भ होते हैं। परन्तु वादरायण के सूत्रों के समान इनका दार्शनिक महत्व नहीं है। इसकी अपेक्षा अगस्त्य का 'शक्तिमहिम्नः - स्तोत्र' का अधिक महत्व है। अगस्त्य का ही एक और ग्रन्थ है, जिसका नाम है 'श्रीविद्यादीपिका'। इसमें पंचदशी मंत्र की व्याख्या है, जिसे उन्होंने हयग्रीव से प्राप्त किया था।

दुर्वासा ऋषि का 'ललितास्तवरत्न' और 'पराशम्भूस्तोत्र' आगम साहित्य का विपुल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। कई भागों में विभक्तः पराशम्भू स्तोत्र में क्रियाशक्ति, कुण्डलिनी शक्ति, मातृका शक्ति आदि पर विस्तार से विचार किया गया है। इनमें 'त्रिपुरामहिम्नःस्तोत्र' तथा 'आर्यापञ्चाशत्' आदि ग्रन्थ विशेष अध्ययन करने योग्य हैं।

दत्तात्रेय की 'दत्तसंहिता', भास्कर राय की सप्तशती, ललितासहस्रानाम, क्षेमराज का 'शक्तिसूत्र', महर्षि अंगिरा का देवीमीमांसा और गौडपादाचार्य का 'श्रीविद्यारत्नसूत्र' भी अपने-अपने शक्ति तत्व का प्रतिपादन करने वाली अद्भुत रचनायें है।

शंकराचार्य की 'सौन्दर्यलहरी' तथा 'आनन्दलहरी' भी शक्ति सम्बन्धी स्तोत्र ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

पौराणिक साहित्य में 'कालिकापुराण' शक्तिवाद का स्वत्रंत पुराण है। महाभागवतपुराण में भी अधिकांश शक्ति संबंधी रहस्य और तत्व का ही विवेचन है। देवीपुराण तो पूर्णतया शक्तिवाद का पुराण है। ब्रह्माण्ड पुराण में 'ललितासहस्र' का प्रकरण है। मार्कण्डेय पुराण में सप्तशती के रूप में देवी माहात्म्य का वर्णन है। इसका शाक्त सम्प्रदाय में अत्यधिक महत्व है। इसमें सरस्वती को भी विष्णु की शक्ति और जगद्धारी के रूप में वर्णित किया गया है। इसी में लक्ष्मी का रूप 'अम्बिका' है।

विष्णु पुराण में 'लक्ष्मी' अथवा 'श्री' का वर्णन जगन्माता के रूप में मिलता है। वह वेदगर्भा, यशगर्भा, सूर्यगर्भा, देवगर्भा दैत्यगर्भा आदि भी है। कूर्म पुराण में अर्धनारीश्वर का वर्णन है। जिसके पुरुष अंश से शिव (रुद्र), स्त्री अंश से शक्ति का आविर्भाव हुआ। नारदमहापुराण में यक्षिणी, दुर्गा, ललिता, महालक्ष्मी, राधा आदि शक्तियों का वर्णन है। इसमें मंत्रसिद्धि, दीक्षाविधि, जपविधि, गणेश-मंत्र, यन्त्र विधि, देव्युपासना आदि तांत्रिक पूजा पद्धति विशेष रूप से वर्णित हैं। वामनपुराण में शिव और शक्ति का सम्मिलित रूप निरूपित है। मत्स्यपुराण में विष्णु के साथ-साथ शिव-शक्ति की आराधना तथा उनके माहात्म्य का विस्तृत वर्णन है। इन तीनों देवताओं की साधनाओं का सुन्दर समन्वय श्रीमद्भागवत तथा ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है। देवी भागवत में देवी महिमा एवं उसकी पूजा-विधि का वर्णन 'देवीगीता' संज्ञक प्रकरण में मिलता है।

पद्म पुराण में वैष्णवी तथा चामुण्डा शक्तियों द्वारा दैत्य वध का उल्लेख है। इसी में कामाख्या देवी का भी वर्णन है। राधा को यहाँ शक्ति के रूप में वर्णित किया गया है। शिवपुराण में सती पार्वती की अनेक कथाएँ वर्णित हैं। उमासंहिता में देवी के चमत्कार का वर्णन बड़े ही सुन्दर ढंग से किया गया है। इनके अतिरिक्त प्रायः सभी पुराणों तथा महाभारत में भी देवी सम्बन्धी अनेकों प्रसंग हैं। उदाहरणस्वरूप सूतसंहिता के यज्ञवैभव खण्ड के ४७वें अध्याय में आया हुआ शक्ति स्तोत्र एवं देवीभागवत में आया 'देवीगीता' नामक प्रकरण और उस पर लिखी नीलकण्ठी टीका शाक्तवाद अथवा शाक्त मत की अमूल्य निधि है। महाभारत में पाशुपत भागवत, भागवत सम्प्रदायों के साथ-साथ शाक्त सम्प्रदाय की भी चर्चा उपलब्ध है। विराट पर्व में युधिष्ठिर द्वारा दुर्गा की उपासना का वर्णन है, जिसमें देवी को श्रीकृष्ण की भगिनी कहा गया है। भीष्म पर्व में कुमारी पार्वती, काली कपाली, कपिला, भद्रकाली, महाकाली, शाकम्भरी, उमा, कात्यायनी, चण्डी आदि देवियों का उल्लेख हैं। शल्यपर्व में देवी का परा या निर्घोषा

वाणी के रूप में दार्शनिक विवेचन मिलता है। वन पर्व में रुद्र के साथ इलिमा, मालिनी, पलाला आदि मातृकाओं की उपासना का सम्बन्ध शक्ति से जोड़ा गया है। इसी में भानुमति दिन की देवी, 'राका' रात की देवी, सिनीवाली तथा कुहू शुद्ध अमावस्या आदि का भी वर्णन है। इनके अतिरिक्त महाभारत में कीर्ति लक्ष्मी, धृति, मेघा, पुष्टि, श्रद्धा, क्रिया, बुद्धि, लज्ज आदि को भी देवियों के रूप में स्वीकार किया गया है।

शाक्त तंत्रों में उपास्य देवताओं के अनुसार भी तंत्र ग्रन्थों में विभाग है। इस दृष्टि से काली, तारा, श्री विद्या, भुवनेश्वरी, भैरवी, छिन्नमस्ता, धूमावती, बगला, मातंगी, कमला, इन दस महाविद्याओं से सम्बद्ध अलग-अलग ग्रन्थ उपलब्ध है।

महाविद्या काली से सम्बद्ध ग्रन्थों की संख्या काफी हैं। इनमें से कुछ मुख्य नाम इस प्रकार हैं- काली यामल, काली कल्प, कालीकुल, क्रमार्चन, काली विलास तंत्र, काली कुल सर्वस्व, काली सपर्याक्रम, काली तंत्र, काली परा, कालीकार्णव, भद्रकाली चिन्तामणि, व्योमेश संहिता, कल्पवल्ली, श्यामा रहस्य, विश्वसार तंत्र, कुल चूड़ामणि, कौलावलि, कुलमूलावतार, श्यामासपर्या, शक्ति संगम तंत्र आदि महत्वपूर्ण हैं। अनेक ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो विभिन्न देवताओं की उपासना से सम्बन्धित सामग्री से परिपूर्ण है। यह एक प्रकार से संकलन ग्रन्थ है फिर भी महत्वपूर्ण है। जैसे- मंत्र महार्णव, मंत्र महोदधि, शाक्त प्रमोद, तंत्रसार, शारदा तिलक आदि।

महाविद्या तारा से सम्बन्धित जो ग्रन्थ हैं उनमें प्रमुख हैं- तारोपनिषद, तारार्णव, तारा तंत्र, तारा रहस्य, तारा कल्प, तारा सूक्त, तोडल तंत्र, नील तंत्र, महानील तंत्र, नील सरस्वती तंत्र, तारा शाबर तंत्र, एक जटी तंत्र, एक जटा कल्प, एक वीर तंत्र, चीनाचार, महाचीनाचार क्रम, तारिणी तंत्र आदि। तारा से सम्बद्ध संकलन ग्रन्थ भी हैं उनमें मुख्य तारा भक्ति सुधार्णव है।

महाविद्या श्री विद्या से सम्बन्धित जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं उनमें मुख्य हैं- त्रिपुरा रहस्य (महात्म्य खण्ड एवं ज्ञान खण्ड), श्री विद्यार्णव तंत्र, श्री विद्या रत्नाकर एवं श्री विद्या वरिवस्या, स्वछंद तंत्र, कालोत्तर वासना, श्री पराक्रम, ललितार्चन, चन्द्रिका, सौभाग्य तंत्रोत्तर, सौभाग्य सुभगोदय, शक्ति संगम तंत्र का सुन्दरी खण्ड, श्री क्रमोतंग, सुभगपारिजात, सुभगार्चारत्न, चन्द्र ज्ञान, सुन्दरीहृदय, नित्याषोडशिकार्णव, मातृका हृदय, सम्मोहन, वामकेश्वर, बहुरूपाष्टक, प्रस्तावचिन्तामणि और मेरू प्रस्तर। इसके अतिरिक्त संकलन ग्रन्थ श्री योगिनी हृदय, परशुराम कल्प सूत्र वृत्ति, परमानन्द तंत्र, सौभाग्य कल्पलतिका, ज्ञानार्णव, श्री क्रम संहिता, दक्षिणामूर्ति संहिता, आज्ञावतार, संकेत पादुका, चन्द्रपीठ ललितापाख्यान, लक्ष्मी तंत्र, कामकला विलास, सौभाग्य चन्द्रोदय, श्री विद्यारत्न सूत्र आदि अनेक ग्रन्थ हैं।

महाविद्या भुवनेश्वरी से सम्बन्धित ग्रन्थ- भुवनेश्वरी रहस्य, भुवनेश्वरी तंत्र, भुवनेश्वरी पारिजात आदि मुख्य ग्रन्थ हैं।

महाविद्या भैरवी से सम्बन्धित ग्रन्थ- सपर्याविधि, भैरवी रहस्य, भैरवी तंत्र, मुण्डमाला तंत्रादि ग्रन्थ हैं।

महाविद्या छिन्नमस्ता से सम्बन्धित शक्ति संगम के समावेश तंत्र का छिन्ना खण्ड है। किन्तु छिन्नमस्ता का पर्याप्त विषय ग्रन्थों में मिलता है।

महाविद्या धूमावती के लिये प्राणःतोषिणी तंत्र विशेष रूप से उल्लेख है इसके अतिरिक्त मंत्र महोदधि, मंत्र महार्णव आदि प्रकरण ग्रन्थों में इनका स्वरूप और साधना का विवेचन है।

महाविद्या बगला से सम्बन्धित मुख्य ग्रन्थ हैं- सांख्यायन तंत्र। इसके अतिरिक्त बगला क्रम कल्पवल्ली नाम का एक और महत्वपूर्ण ग्रन्थ मिलता है। प्रकरण ग्रन्थों में बगलामुखी रहस्यम् की चर्चा है।

महाविद्या मातंगी से सम्बद्ध ग्रन्थों में मातंगी क्रम, मातंगी पद्धति आदि ग्रन्थों का उल्लेख है इसके अतिरिक्त प्रकरण ग्रन्थ इस विद्या का मुख्य आधार है।

महाविद्या कमला से सम्बन्धित ग्रन्थों में तंत्रसार, शारदा तिलक, शाक्त प्रमोद आदि ग्रन्थ हैं।

यदि विचारपूर्वक देखा जाये तो समस्त भारतीय साधना की कुंजी एकमात्र तंत्र है। तंत्र का अर्थ ही है- 'तनयति विस्तारयति ज्ञानमनेन इति तन्त्रम्'। शिव के पाँच मुखों से समस्त मूल तंत्रों का आगमन होने के कारण उसे आगम भी कहते हैं। यह अति गुह्य विद्या है, जिसे योग्य गुरु से ही ग्रहण किया जा सकता है ग्रन्थ पढ़कर नहीं। तंत्रशास्त्र वस्तुतः साधना-शास्त्र है। लगभग सभी हिन्दू सम्प्रदायों-शैव, शाक्त, वैष्णव, सौर, गाणपत्य, बौद्ध, जैन आदि की सभी प्रकार की साधना का गूढ़ रहस्य तंत्रशास्त्र में निहित है

●

द्वितीय प्रसंग

ईश्वर पथ और शक्ति पथ

वाराणसी के जिस प्रच्छन्न और अप्रच्छन्न योगी साधकों का सान्निध्य मुझे प्राप्त रहा है उनमें एक थे भवतारण तर्कपंचानन महाशयजी। उच्चकोटि के योगी थे वह। उन दिनों उन्हीं के साक्षी में, मैं साधनारत था। एक बार इसी प्रसंग में बोले वह-योग विज्ञान और तंत्र विज्ञान के मूल में पार्थक्य है, जैसे भौतिक विज्ञान के मूल में विद्युत शक्ति है उसी प्रकार योग विज्ञान के मूल में इच्छा शक्ति तथा तंत्र विज्ञान के मूल में संकल्प शक्ति और क्रिया शक्ति है किन्तु फिर भी इन शक्तियों को महाशक्ति का ही विभिन्न रूप समझना चाहिये। योग के बल से भी सृष्टि का कार्य होता है और विज्ञान बल से भी। इच्छा शक्ति का पूर्ण विकास ही योग है किन्तु ज्ञान के बिना उसका विकास सम्भव नहीं। ज्ञान के बिना विज्ञान भी नहीं हो सकता। अज्ञानी के पास योग भी नहीं रहता और विज्ञान भी नहीं रहता।

योगबल सृष्टि में और तंत्रबल सृष्टि में क्या अन्तर है? प्रश्न किया मैंने।

अन्तर कुछ भी नहीं है। योग और तंत्र दोनों एक दूसरे पर आश्रित है। कौन छोटा है और कौन है बड़ा यह नहीं कहा जा सकता।

इच्छा शक्ति का पूर्ण विकास तभी सम्भव है जबकि चित्त वृत्ति का निरोध हो। इस निरोध का भी नाम योग है किन्तु निरोध ऐसा होना चाहिये कि जब द्रष्टा पुरुष अपने स्वरूप में अवस्थित रहे और बुद्धि की तरंगों में अपने को खो न डाले अर्थात् वृत्सिता रूप से मुक्त हो। यह चित्त की वृत्तहीन अवस्था है किन्तु जड़त्व नहीं है क्योंकि साक्षी जागरूक रहता है। ऐसा यदि न रहे तो वह योग की अन्तराय होगी। आप तांत्रिक और योगी किसे कहते हैं? दोनों में कोई अन्तर नहीं है। जो योगी होगा वह तांत्रिक भी होगा। कोई पहले योगी होगा तो बाद में अवश्य तांत्रिक हो जायेगा। इसी प्रकार जो तांत्रिक होगा, वह अन्त में योगी हो जायेगा। जो बिना योग के तांत्रिक साधना मार्ग में हैं वे कदापि उच्च सफलता प्राप्त नहीं कर सकते। योग की प्रवृत्ति उन्हें ले डूबती है अतः अधोगति को प्राप्त हो जाते हैं और जगत में उनकी अपकीर्ति भी होती है। मूल वस्तु महाशक्ति है। योग और तंत्र दोनों की साधना इसी महाशक्ति

की साधना है। उसके साथ यदि किसी का स्थायी अथवा नित्य योग हो, तो उसे योगी और तांत्रिक कहना सर्वथा उचित है।

इसके लिये अग्नि, लौह, न्याय का उदाहरण दिया जा सकता है। लोहे का टुकड़ा दीर्घकाल तक अग्नि में पड़ा रहने के फलस्वरूप अग्नि की लालिमा और दाहिकता शक्ति धारण करता है वह अग्नि के साथ युक्त है। किन्तु लोहा, लोहा ही है पर अग्नि के संयोग से वह अग्नि भावापन्न और दाह शक्ति सम्पन्न होता है। उसी प्रकार योगी अथवा साधक.के उस महाशक्ति के साथ युक्त होने पर उसमें अनन्त शक्तियों के द्वार खुल जाते हैं। वह योगी और तांत्रिक होता है। शक्ति का यह विकास जीवधर्म नहीं है यह महाशक्ति के अनुग्रह से प्राप्त सम्वत है। योगवश वह जीव में प्रकाशित होता है यही योगेश्वर्य है।

प्रश्न : अग्नि के सान्निध्य से पृथक होने पर तो लोहे में उसकी दहनशीलता और लालिमा नहीं रह जाती। तब तो योग रहता ही नहीं। दूसरी दृष्टि से दीर्घकाल तक अग्नि के सान्निध्य में रहने के कारण लोहा के बिल्कुल गल जाने की भी आशंका है। पक्षान्तर में इसे निवित्तम् योग कहा जायेगा।

मेरा प्रश्न सुनकर कुछ क्षण तक तर्कपंचानन महाशय मौन रहे, फिर बोले- महाशक्ति के साथ संबंध नित्य और अच्छेद हो तभी उसे योग कहा जायेगा, अन्यथा नहीं। यदि वे दाहक गर्भ में लीन न होकर लोहा पूर्णतया भस्म हो जाता है सर्वभावेन उसकी सत्ता समाप्त हो जाती है तो उसे योग नहीं कहा जायेगा। अवश्य ही उस अवस्था विशेष को सामरस्य महामिलन अथवा मोक्ष कहा जायेगा। यदि अग्नि लोहे को स्वीकार नहीं करती है तो वह योग नहीं हुआ। इसी को मायाधीन अवस्था अथवा संसार भाव कहते हैं। वास्तव में योग को समझना हो तो दोनों अवस्थाओं को त्याग कर मध्य अवस्था को स्वीकार करना चाहिये।

पहली अवस्था में लौह भाव का अग्नि भाव में तिरोधान है। दूसरी अवस्था में व्यवधान इतना अधिक है कि अग्नि का कोई भी धर्म उसमें संचारित नहीं होता लोहा साधारण लोहा ही रहता है। ये दोनों अवस्थायें भाव हैं योग के उत्कर्ष में अभेद होता है और अपकर्ष में भेद। मध्य अवस्था ही वास्तविक योग है। वैसे तो महाशक्ति के साथ योग तो सभी का सदा ही रहता है।

योगी और साधक की वास्तविक अवस्था क्या है? इसे साधारणजन कदापि नहीं समझ सकते। संसार धर्म, समाज धर्म, परिवार धर्म, और शरीर धर्म से पृथक स्वधर्म में स्थित तथा अकर्म अवस्था को प्राप्त योगी और साधक महाशक्ति के साथ योग युक्त

होता है। अपने स्वरूप की रक्षा करते हुए भी लोहा जिस प्रकार अग्नि के साथ अभिन्न हो ज़ाता है। वह अग्नि होकर भी अग्नि नहीं है और अग्नि न होकर भी अग्नि है। यही वास्तविक योगी की अवस्था है। जागतिक योगी का यही परम आदर्श है। वास्तविक योगी अभेद की अवस्था को प्राप्त होकर भी भेद अवस्था की रक्षा करता है। फिर भेद में रहकर भी अभेद के गौरव से महीयान है। यह न होने पर आस्वादन का आनन्द नहीं रहता।

ऐसा योगी कौन है? सहज भाव से प्रश्न किया मैंने। उत्तर मिला ईश्वर। वही योगेश्वर है योगियों के वे ही आदर्श हैं और हैं उपास्य।

महाशक्ति और ईश्वर अभिन्न नहीं है दोनों को एक ही महासत्ता के दो नाम नहीं कहा जा सकता, इस सन्दर्भ में उन्होंने कहा यह अत्यन्त गम्भीर विषय है। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि ईश्वर उपासक है और महाशक्ति है उपास्य। महाशक्ति की उपासना ईश्वर होकर ही करना चाहिये। योगी का प्रयत्न है ईश्वर होना। इसीलिये योग का अनुशरण आवश्यक है। महायोगी ईश्वर ही योग पथ का आदर्श है। प्रकारान्त में योग पथ ही ईश्वर पथ है।

योगी के ईश्वरत्व पाने पर भी उसका निजस्वरूप लुप्त नहीं होता। उसी प्रकार ईश्वर भी नित्य योगी होने पर भी महाशक्ति की उपासना निरन्तर कर रहे हैं। एकात्मना लाभ कर रहे हैं- फ़िर भी उनका अपना निजस्वरूप लुप्त नहीं है।

भवतारण तर्कपंचानन महाशय अपने समय के अनुभव सिद्ध योगी और तांत्रिक थे। जहाँ एक ओर श्रद्धेय म.म.डा. गोपीनाथजी कविराज ने योग तंत्र के गूढ़ गोपनीय ज्ञान और उनके रहस्यमय सिद्धान्तों से मुझे अवगत कराया वहीं तर्कपंचानन महाशय ने उन्हें कर्म में आयत्त करने का मार्ग दर्शाया। इन दोनों महापुरुषों के ज्ञान और सिद्धान्तों की गंगा जमुना मेरे जीवन में प्रवाहित है इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता।

आध्यात्मिक पथ पर दो प्रकार के साधक अग्रसर होते हैं एक तो वे जो बुद्धि प्रधान होते हैं और दूसरे वे जो भावना प्रधान होते हैं। पहले पथ में मस्तिष्क की प्रेरणा है और दूसरे में हृदय की। मस्तिष्क बुद्धि प्रधान है और हृदय भावना प्रधान।

पहला पथ ईश्वर का पथ है दूसरा है महाशक्ति का पथ। दूसरे शब्दों में दोनों को योग पथ और तंत्र पथ भी कहते हैं। योग पथ का आदर्श ईश्वर है और तंत्र पथ का आदर्श महाशक्ति है।

प्रथम पथ का लक्ष्य है ईश्वरत्व की उपलब्धि और द्वितीय पथ का लक्ष्य है शिवत्व

तदनन्तर सामरस्य। महाशक्ति की उपासना वास्तव में तभी शुरू होती है जबकि साधक ईश्वरत्व को प्राप्त कर लेता है इसीलिये सर्वप्रथम योग पथ अथवा ईश्वर पथ का अनुशरण आवश्यक है। इस पथ की यात्रा समाप्त होने पर ही सच्चे अर्थो में महाशक्ति पथ अथवा तंत्र पथ की यात्रा सम्भव है। ईश्वरत्व एक ऐसी योग्यता है और है एक ऐसी उपलब्धि जिसे प्राप्त कर साधक दूसरे महाशक्ति पथ की यात्रा निर्विघ्न शुरू कर सकने में समर्थ होता है। वैसे बुद्धि के मूल में ज्ञान है और भावना के भी मूल में ज्ञान है और ज्ञान के मूल में महाशक्ति है। इस दृष्टि से ईश्वर पथ भी महाशक्ति का ही पथ है। प्रथम पथ में महाशक्ति साधक की रक्षिका है और द्वितीय पथ में है वह उसकी पथ प्रदर्शिका बस यही अन्तर है।

ईश्वर पथ की यात्रा में साधक अपने सामने ईश्वर को रखता है। उसे दृढ़ विश्वास रहता है कि मुझको पग-पग पर ईश्वर का समर्थन प्राप्त है। वह भी गुरु रूप में ईश्वर को देखता है। उस साक्षात्कार के लिये व्याकुल रहता है जिसे ईश्वर साक्षात्कार भी कहा जा सकता है और आत्म साक्षात्कार भी।

प्रथम पथ के यात्रा काल में साधक योगी होता है और दूसरे पथ के यात्रा काल में वह होता है तांत्रिक। अतः मैं ईश्वर पथ की यात्रा सर्वप्रथम योग और योगी के विवेचन से शुरू करता हूँ।

योग और योगी- इसे पूर्व जन्म का संस्कार ही कहा जायेगा कि बाल्यावस्था से ही मेरी योग और तंत्र के प्रति गहरी रूचि रही है। इसी रूचि के कारण उससे संबंधित अनेक प्रकार की जिज्ञासाओं और लालसाओं का आविर्भाव हुआ मेरे हृदय में। जिसके फलस्वरूप योगी साधकों की खोज में योग तंत्र से संबंधित दुर्लभ साहित्यों, पाण्डुलिपियों की खोज में न जाने कितनी दुर्गम कठिन और कष्टदायिनी यात्रा की मैंने और न जाने मैंने कितना संग्रह किया। इसी सन्दर्भ में मेरा परिचय गिरिनार के स्वामी योगानन्द परमहंसदेव से हुआ। वे उच्चकोटि के योगी थे। उन्हीं की कृपा से मुझे कई गुप्त योगियों से भी मिलने का सौभाग्य प्राप्त हुआ और उन्हीं की प्रेरणा से मैंने हिमालय और तिब्बत की भी यात्रा की। अपने तीन वर्ष के तिब्बत प्रवास काल में मैंने जो तांत्रिक चमत्कार और योग की दुर्लभ सिद्धियाँ देखी उन पर सहसा विश्वास न होगा किसी को। पचास वर्ष के दीर्घकाल में जितना जो कुछ मैंने लिखा है वह सब उन्हीं प्रत्यक्ष अनुभवों के आधार पर ही लिखा है और आज इस प्रसंग को भी लिख रहा हूँ।

प्रायः लोगों की यह धारणा है कि योग से भक्ति सरल है, सहज है। आज का मनुष्य योग मार्ग का पथिक होने योग्य नहीं है। साधना के किसी मार्ग को सरल और किसी मार्ग को कठिन समझने के भूल में भ्रम ही है। वैसे सभी कठिन है और

सभी है सरल। योग शब्द का बड़ा व्यापक अर्थ है। साधना में चित्त को एकाग्र करके भगवद् साक्षात्कार अथवा आत्म साक्षात्कार के जो भी उपाय हैं वे सब योग के अन्तर्गत हैं। योग और भक्ति में विरोध है यह कहना निरर्थक है। हाँ! इतना तो अवश्य कहूँगा कि किसी देव-देवी के नाम का कीर्तन करना, किसी मूर्ति का श्रृंगार करना आदि भक्ति नहीं है। यह सब चित्त को भले ही अच्छा लगता हो इसमें समय कट जाता हो, परन्तु इतना ही कहा जा सकता है कि बुरे कार्य में समय व्यतीत करने से यह कार्य तो अच्छा ही है।

योगी की ही तरह भक्त भी साक्षात्कार चाहता है। उसे मोक्ष नहीं चाहिये। वह जिस अन्तिम पद को प्राप्त करता है वह मोक्ष से अभिन्न है। योगी और भक्त में कौन श्रेयस्कर है-यह कहना कठिन ही नहीं असम्भव है। दोनों का मार्ग उत्तम है। दोनों का लक्ष्य भी एक है। दोनों का मार्ग भिन्न है यह कहना भाषा का दुरूपयोग करना है। गीता में जो ब्रह्मरूपी स्थिति बतलायी गयी है उसी का ही नाम भक्ति है। योग वास्तव में कामधेनु है। इसके मार्ग का अनुशरण वही कर सकता है जिसमें वैराग्य, संवेग, लगन और अध्यवसाय है। योगाभ्यास से सर्वप्रथम तो चित्त को शान्ति मिलती है, सन्तुलन होता है, कृतसमता आती है, एकरूपता आती है। योग मार्ग में जो कुछ उपलब्ध होता है उनमें विभूतियाँ भी हैं और हैं सिद्धियाँ भी। जिनसे धन, वैभव और ख्याति की प्राप्ति हो सकती है किन्तु योग का यह अपमान है, दुरूपयोग है, मूर्खता का प्रदर्शन है। इससे पथभ्रष्ट होने की आशंका बनी रहती है। जो वास्तव में सच्चे योगी हैं वे कभी भी विभूतियों और सिद्धियों का स्वयं प्रदर्शन नहीं करते। यदि उनमें कोई चमत्कारपूर्ण वस्तु दिखलायी देती भी है तो उसे सहज व स्वाभाविक समझना चाहिए। जैसाकि बतला चुका हूँ। योग पथ ईश्वर का पथ है किन्तु इस पथ को सरल नहीं समझना चाहिये।

साधारणतः लोगों का ऐसा विश्वास है कि जिसने कठोर साधना द्वारा प्राप्त सिद्धियों से चमत्कारी कार्यों को करने की क्षमता प्राप्त कर ली है वही योगी है। सर्वाधिक प्रभावित करने वाली जो बात योगियों की है वह है उनकी अनुग्रह और निग्रह की शक्ति। यह कोई आवश्यक नहीं है कि योगी में जो सिद्धियाँ देखी जाय वह नैतिक दृष्टि से सर्वथा निर्विकार हो और यह भी कोई आवश्यक नहीं है कि चमत्कारपूर्ण सिद्धियों का प्रदर्शन करना योगी का कर्तव्य समझा जाता है। सिद्धियों का चमत्कार दिखायें तभी किसी को योगी कहा जाय यह भी आवश्यक नहीं है। जैसाकि संकेत कर चुका हूँ उच्चकोटि के योगी चमत्कारों के प्रदर्शन से बहुत दूर रहते हैं। यहाँ तक कि अपने आपको प्रच्छन्न रखने का ही सदैव प्रयास करते हैं। इससे सबसे बड़ा लाभ उन्हें यह

होता है कि उनकी साधना में किसी प्रकार का विघ्न नहीं पड़ता और आन्तरिक जीवन में किसी भी प्रकार की विश्रृंखलता उत्पन्न नहीं होती। योग की साधना हो या तंत्र की, गुप्त रखने पर ही अबाध गति से चल सकती है नहीं तो मार्ग से च्युत होने का बराबर भय रहता है और नैतिकता से स्खलित होने का भी भय रहता है। योग मार्ग तलवार की धार है।

''क्षुरस्य धारा निशता दुरत्यया''

निस्सन्देह उस पर चलना कठिन है। योग शब्द की उत्पत्ति ''युज्'' धातु से हुई है जिसका अर्थ है मिलना या जुड़ना। योग मार्ग जीवात्मा परमात्मा के मिलन का मार्ग है। अतः योगी वह व्यक्ति है जिसका आत्मा-परमात्मा से मिलन हो चुका है या मिलने का प्रयास कर रहा है। अंश-अंशी के मूल में अज्ञान है। जबतक अज्ञान है तबतक जीव भाव है। योग के द्वारा यह अज्ञानता अथवा अविद्या दूर हो जाती है और जीवात्मा को परमात्मा से अपने अभेद का अनुभव हो जाता है। गीता में एक स्थान पर कहा गया है- **''समत्व योग मुच्चते''**। समत्व को ही योग कहते हैं। स्पष्ट रूप से यहाँ साध्य और साधन दोनों के लिये एक ही शब्द का व्यवहार हुआ है। समत्व के अभ्यास से योग मार्ग पर चलने में सफलता मिलती है। समत्व, योग की परिभाषा नहीं है वास्तव में वह योगी का अनिवार्य आनुषांगिक गुण है। जिसमें यह गुण नहीं है वह और चाहे जो कुछ हो परन्तु योगी नहीं कहा जा सकता।

चित्त और आत्म साक्षात्कार- योग मार्ग का दूसरा लक्ष्य है आत्म साक्षात्कार। आत्मा का स्वरूप शुद्ध, बुद्ध और चैतन्य है किन्तु उसका साक्षात्कार सीधा न होकर चित्त के माध्यम से होता है किन्तु चित्त की चंचलता के कारण उसकी यथावत अनुभूति नहीं हो पाती। चित्त की चंचलता का मूल कारण है काम, क्रोधादि, वासनाएं और पूर्व संस्कारों के मल। इन दोषों को विक्षेप कहते हैं। जबतक यह विक्षेप रहेगा चित्त चंचल रहेगा और आत्मानुभूति सीधे नहीं हो सकेगी। चंचलता योगाभ्यास से दूर होती है। वेदान्त दर्शन ने योगाभ्यास के स्थान पर निदिध्यासन शब्द का प्रयोग किया है। इसके फलस्वरूप समाधि की अवस्था में चित्त में आत्मस्वरूप को आवृत्त करने की शक्ति नहीं रह जाती तब आत्म साक्षात्कार होता है। तात्पर्य यह है कि योग कोई नयी शक्ति प्रदान नहीं करता और न तो कोई नयी योग्यता ही प्रदान करता है। वह केवल आत्म दर्शन और आत्म साक्षात्कार के मार्ग में चित्त द्वारा उत्पन्न हुई बाधा को दूर करता है। इसीलिये वेदान्त भाष्य में योग दर्शन के सिद्धान्त का खण्डन करके भी श्री शंकराचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया है कि योग की क्रिया का खण्डन उनको अभीष्ट नहीं है। स्वयं सूत्रकार व्यास ने **आसीनः सभ्यवात** जैसे सूत्रों में इस ओर संकेत किया है।

इस प्रसंग के अन्त में इतना और कह देना चाहता हूँ कि भारतीय आध्यात्मिक

जीवन कभी भी योग से पृथक नहीं हुआ। योग वह दृढ़ यष्टि है जिसने मानव जीवन को शब्दाडम्बर मात्र से बराबर पृथक रखा है और उसको गाम्भीर्य प्रदान किया है। योग के द्वारा आत्मा का दर्शन करना सबसे बड़ा धर्म है सम्भवतः यह शंका हो सकती है कि आध्यात्म से तो योग का संबंध है किन्तु धर्म से उसका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। धर्म तो मुख्यतया आचार व सदाचार का नाम है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति का यह वाक्य ध्यान में रखने योग्य है-

अयं तु परमो धर्मः यद्योगेनात्म दर्शनम्।।

धर्म का मूलस्रोत योग– जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त ज्ञानी के लिये जीवन का और उसकी सत्ता का जो शाश्वत बिन्दु है- वही सत्य है। इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है या बुद्धि में जो विचार उठते हैं- वह सत्य नहीं है। उस स्तर पर सभी विशेषज्ञों का अतिक्रमण हो जाता है। तर्क के द्वारा उस को नाम देना। व्यर्थ का प्रयास है। इस बात का ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व कि वह वस्तु क्या है?...मनुष्य को बहुत कुछ भूलना होगा। अपनी शिक्षा के स्तर पर उसको इस बात का पता चलेगा कि उसने बहुत से झूठे तादात्म्य स्थापित कर लिये थे। बहुत सी ऐसी वस्तुओं को अपना समझ लिया था जिनसे उसका कोई संबंध नहीं है।

प्राचीन संस्कृतियों और गुह्य विद्याओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान का एक ऐसा भण्डार है जो अमर है और स्वाभाविक रूप से जो मनुष्य का अज्ञात के साथ तादात्म्य स्थापित करा देता है अतः यही तादात्म्य साक्षात्कार भी है और मोक्ष भी है। इस ज्ञान का आधार योग है। योग समस्त धर्मों का स्रोत है। वह मनुष्य का विज्ञान है। उसकी कसौटी यह है कि वह सार्वभौम है। योग का धर्म है कि व्यष्टिगत, व्यक्तिगत चेतना के ऊपर उठ जाना योग है।

योग भारत की अति प्राचीन विद्या है। भारत ने ही इस धार्मिक शास्त्र की सृष्टि की है। उतना साहसिक कोई शास्त्र पृथ्वी पर नहीं है। काल व्यर्थ ही उससे टकराता है। वास्तविकता यह है कि योग दर्शन किसी व्यक्ति के बौद्धिक छानबीन और विचार विमर्श से नहीं बना है। उनका आधार परिक्षित वैज्ञानिक तथ्य है। संसार के प्रत्येक धार्मिक परम्परा के व्यवहारिक पक्ष का एकमात्र आधार योग है। भारतीय दर्शन के अनुसार सारे ज्ञान का आधार अनुभव है परन्तु उसका यह भी कहना है कि बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष, वस्तुतः सच्चा ज्ञान नहीं है। किसी वस्तु को भीतर बाहर से पूर्णतया जान लेने का एकमात्र उपाय यह है कि हम उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लें। तभी हम उसके वास्तविक रूप को जान सकेंगे। योग शब्द का यही अर्थ है अर्थात तादात्म्य स्थापित करना। ईश्वर से तादात्म्य का नाम है साक्षात्कार। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि यदि कोई ऐसा देव हो जो स्थूल शरीर से बंधा न हो और उसकी

गया है। कुछ शताब्दि पूर्व वैदिक तांत्रिक व्यवस्था को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न हुआ इस दिशा में महानिर्वाण तंत्र का प्रयास सर्वाधिक सफल रहा।

तंत्र का साहित्य व्यापक और विशाल है किन्तु सब संस्कृत में है। तांत्रिक उपासना भूमि में बहुत से ऐसे पदार्थो का उपयोग है और बहुत सी ऐसी क्रियाओं एवं पूजा पद्धतियाँ का प्रयोग है जिन्हें व्यवहारिक एवं सामाजिक दृष्टि से त्याज्य और हेय समझा जाता है किन्तु यह भारी भ्रम है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि तंत्र ने अपनी साधनाओं और प्रकट-अप्रकट उपासनाओं का आधार उन्हीं पदार्थो, वस्तुओं और क्रियाओं को बनाया जिनसे मन चंचल अस्थिर होता है। चित्त भोग की ओर भागता है वासनाएं और कामनायें जन्म लेती हैं इसीलिये कि भोग के सागर में आपाद रहकर योग साधना की ओर अग्रसर रहना। मन को अस्थिर करने वाली वस्तुओं का सेवन करते हुये भी मन चित्त आदि को उनसे निर्लिप्त रखना उसका लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त अन्य कई आध्यात्मिक और दार्शनिक कारण हैं जो गुप्त हैं जिन पर मैं आगे प्रकाश डालूँगा। किन्तु यहाँ इतना अवश्य समझ लेना आवश्यक है कि तंत्र स्पष्ट रूप से द्विधा विभक्त है। पहला विभाग चंचु मात्र डूबने वालों के लिये है जिसमें बाह्य उपासना पूजा आदि का विधान है। दूसरा भाग उच्चकोटि के साधकों एवं मुमुक्षुओं के लिये है यह आन्तरिक पथ है जो योग से अभिन्न है। इसलिये तंत्र ग्रन्थों में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से साधारण एवं समाधि भाषा में सीधे एवं प्रतीकों के माध्यम से योग की चर्चा बड़ी गम्भीरता और विस्तार के साथ है। तांत्रिक साधकों में ऐसे योगियों का भी उल्लेख मिलता है जो सिद्धान्त वैदिक होते हुये भी तंत्र सम्मत उपासना शैली के अनुयायी थे। उदाहरण के रूप में शंकराचार्य को सामने रखा जा सकता है और प्रमाण में सौन्दर्य लहरी को उपस्थित किया जा सकता है। इस अनुभव काव्य ग्रन्थ में योग शास्त्र और तंत्र शास्त्र का विचित्र किन्तु गम्भीर अनूठा संगम देखने को मिलता है।

आगम और बौद्ध तंत्र- आगम के आध्यात्मिक विचारधारा के समक्ष ठहरने का साहस केवल बौद्ध तंत्र में है। सैद्धान्तिक मतभेद होते हुये भी बौद्ध तंत्र की मूल भित्ति आगम की ही तरह दृढ़ और गहरी है। आगम के लिये परम पुरुषार्थ मोक्ष है। उधर बौद्ध तंत्र के लिए चरम लक्ष्य है निर्वाण। एक और बड़ा भेद है। आगम ग्रन्थ वेद को जहां प्रमाण नहीं मानते वहीं बौद्ध तंत्र ग्रन्थ बुद्ध के आदेशों को पूर्णतया प्रमाण मानते हैं। एक और कठिनाई यह है कि जिन बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के उपदेश हैं- तंत्र सम्यत बातों का उनमें उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः इसकी धारणा यह हो सकती है कि ऐसी गोप्य बातें सर्वसाधारण के सम्मुख नहीं रखी जा सकती थीं। अतः वे कुछ इने गिने शिष्यों को गुप्त रूप से बतलायी गयी। किन्तु इतना सबके बाद भी बौद्ध तंत्र की बहुत सी बातें आगम से मिलती हैं।

जीवन कभी भी योग से पृथक नहीं हुआ। योग वह दृढ़ यष्टि है जिसने मानव जीवन को शब्दाडम्बर मात्र से बराबर पृथक रखा है और उसको गाम्भीर्य प्रदान किया है। योग के द्वारा आत्मा का दर्शन करना सबसे बड़ा धर्म है सम्भवतः यह शंका हो सकती है कि आध्यात्म से तो योग का संबंध है किन्तु धर्म से उसका कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं है। धर्म तो मुख्यतया आचार व सदाचार का नाम है। इस सन्दर्भ में मनुस्मृति का यह वाक्य ध्यान में रखने योग्य है-

अयं तु परमो धर्मः यद्र्योगेनात्म दर्शनम्।।

धर्म का मूलस्रोत योग- जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त ज्ञानी के लिये जीवन का और उसकी सत्ता का जो शाश्वत बिन्दु है- वही सत्य है। इन्द्रियों के द्वारा जो कुछ प्रतीत होता है या बुद्धि में जो विचार उठते हैं- वह सत्य नहीं है। उस स्तर पर सभी विशेषज्ञों का अतिक्रमण हो जाता है। तर्क के द्वारा उस को नाम देना। व्यर्थ का प्रयास है। इस बात का ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व कि वह वस्तु क्या है?...मनुष्य को बहुत कुछ भूलना होगा। अपनी शिक्षा के स्तर पर उसको इस बात का पता चलेगा कि उसने बहुत से झूठे तादात्म्य स्थापित कर लिये थे। बहुत सी ऐसी वस्तुओं को अपना समझ लिया था जिनसे उसका कोई संबंध नहीं है।

प्राचीन संस्कृतियों और गुह्य विद्याओं के तुलनात्मक अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान का एक ऐसा भण्डार है जो अमर है और स्वाभाविक रूप से जो मनुष्य का अज्ञात के साथ तादात्म्य स्थापित करा देता है अतः यही तादात्म्य साक्षात्कार भी है और मोक्ष भी है। इस ज्ञान का आधार योग है। योग समस्त धर्मो का स्रोत है। वह मनुष्य का विज्ञान है। उसकी कसौटी यह है कि वह सार्वभौम है। योग का धर्म है कि व्यष्टिगत, व्यक्तिगत चेतना के ऊपर उठ जाना योग है।

योग भारत की अति प्राचीन विद्या है। भारत ने ही इस धार्मिक शास्त्र की सृष्टि की है। उतना साहसिक कोई शास्त्र पृथ्वी पर नहीं है। काल व्यर्थ ही उससे टकराता है। वास्तविकता यह है कि योग दर्शन किसी व्यक्ति के बौद्धिक छानबीन और विचार विमर्श से नहीं बना है। उनका आधार परिक्षित वैज्ञानिक तथ्य है। संसार के प्रत्येक धार्मिक परम्परा के व्यवहारिक पक्ष का एकमात्र आधार योग है। भारतीय दर्शन के अनुसार सारे ज्ञान का आधार अनुभव है परन्तु उसका यह भी कहना है कि बाह्य इन्द्रिय प्रत्यक्ष, वस्तुतः सच्चा ज्ञान नहीं है। किसी वस्तु को भीतर बाहर से पूर्णतया जान लेने का एकमात्र उपाय यह है कि हम उसके साथ तादात्म्य स्थापित कर लें। तभी हम उसके वास्तविक रूप को जान सकेंगे। योग शब्द का यही अर्थ है अर्थात तादात्म्य स्थापित करना। ईश्वर से तादात्म्य का नाम है साक्षात्कार। इस बात की कल्पना की जा सकती है कि यदि कोई ऐसा देव हो जो स्थूल शरीर से बंधा न हो और उसकी

सीमाओं के वश में न हो तो वह सभी वस्तुओं को देख सकता है, तो क्या ऐसा नहीं हो सकता कि हमारी चेतना एक दिन किसी उपाय से इस शरीर के बन्धन को तोड़कर उसकी सीमाओं को पार कर जाय असीमित के स्वतंत्रता का अनुभव करे और उन सब वस्तुओं को पूर्णरूप से जान सके जिनको इन्द्रियों के व्यवधान के कारण हम अंशतः जान सकते हैं। भारतीय दर्शन का कहना है कि यह सम्भव है। इतना ही नहीं अनुभव का सच्चा उपाय भी है जिस विशेष प्रशिक्षण को भारतीय दर्शन योग कहता है उसका एक सोपान अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष है। इस प्रशिक्षण का एक उद्देश्य यह है कि हम सब वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित कर उनका प्रत्यक्ष अनुभव कर लें। उसकी साधना एक प्रकार से शारीरिक मानसिक व्यायाम है। जिसके द्वारा चेतन आत्मा, सूक्ष्म शरीर के माध्यम से स्थूल शरीर के बाहर चली जाती है। परन्तु स्थूल शरीर को नष्ट नहीं करती और बाहरी बातों को जानकर अपने विशाल ज्ञान भण्डार के लिये फिर अपने स्थूल शरीर में लौट आती है।

योग का यह तीसरा महत्वपूर्ण लक्ष्य है। आदिकाल से ही भारतीय संस्कृति और सभ्यता ज्ञान के इस साधन से प्लावित रही है और भारतीयों के परम्परागत ज्ञान और प्राचीन भारतीय विज्ञान को समझने के पूर्व इस बात को समझ लेना चाहिये। इसी प्रकार वेद मंत्रों, तांत्रिक मंत्रों एवं उनसे संबंधित गोपनीय साधनाओं, देवी-देवताओं के स्वरूपों की उत्पत्ति हुई है इसीलिये उनकी कुंजी योग में मिलती है इसीलिये कहा गया है कि योग ही सनातन धर्म का रक्षक है। योग ही ज्ञान का संरक्षक है-

योगेन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते।
योग हीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि।।

आध्यात्मिक विचारधारा और योग– भारतीय संस्कृति और साधना की दृष्टि से आध्यात्मिक विचारधाराओं को तीन मुख्य भागों में विभक्त किया जा सकता है – वैदिक धारा, बौद्ध धारा और जैन धारा। वैदिक धारा का अन्तिम प्रमाण वेद है। वेद पर आधारित जितने भी ग्रन्थ हैं प्रायः संस्कृत में हैं। रामायण, महाभारत, महापुराण, उपपुराण, स्मृति ग्रन्थ, धर्मशास्त्र आदि इसी के अन्तर्गत हैं और इन सब में योग की चर्चा मिलती है। योगियों की कथाएं आती हैं। योगाभ्यास संबंधी विस्तृत उपदेश मिलते हैं। देव-देवी विषयक वर्णन में भी प्रायः उनके योगिगम्य होने और योग विभूति युक्त होने का उल्लेख मिलता है।

बौद्ध धारा का उद्भव भगवान बुद्ध के उपदेशों से होता है। इस धारा ने भारत के अतिरिक्त अन्य देशों के आध्यात्मिक जीवन पर गहरा प्रभाव डाला है इसमें सन्देह नहीं। इस धारा से संबंधित ग्रन्थ बुद्ध देव के उपदेशों और आदेशों के संग्रह तो पालि भाषा में हैं परन्तु संस्कृत में भी प्रभूत साहित्य है। बौद्ध ग्रन्थ योग और योगियों की

चर्चा से भरे पड़े हैं। भगवान तथागत का सम्पूर्ण जीवन योग का ज्वलन्त समर्थन है। योग के जिस मध्यम मार्ग का उन्होंने प्रचार प्रसार किया वह उनके सम्पूर्ण जीवन की योग साधना की उपलब्धि थी। अर्हत पद जहाँ पहुँचकर फिर पुनर्जन्म नहीं होता। योगजन्य समाधि का पुरस्कार है। बुद्ध ने कई बार योगाभ्यास का उपदेश दिया है। उनके कई प्रधान. शिष्य सिद्ध योगी थे।

जैन धारा के प्रवर्तक वर्धमान महावीर स्वामी और उनके पूर्ववती तीर्थांकर थे। इसके भी मुख्य प्रस्थान प्रामाणिक ग्रन्थ पाली में हैं किन्तु बाद में इसने संस्कृत में भी विशाल साहित्य को जन्म दिया। इस धारा के सम्प्रदाय में योग का स्थान तपश्चर्या को दिया गया है। साधु गृहस्थों में व्रत उपवास की अधिकता के कारण जैन साहित्य में योग और योगियों की अपेक्षाकृत कम चर्चा मिलती है।

प्रथम प्रसंग में ही इस तथ्य की ओर संकेत किया जा चुका है कि सभ्यता और संस्कृति का अभ्युदय सर्वप्रथम आर्य जाति में हुआ और पूर्व युगों के तपस्वियों, ऋषियों और देवत्व प्राप्त महापुरुषों ने मानव शरीर धारण कर सर्वप्रथम आर्य जाति को आत्मज्ञान का मार्ग दिखलाया। इसीलिये ज्ञान और योग का सर्वप्राचीन और परिपूर्ण भण्डार वेद है और जिससे उपर्युक्त तीन मुख्य आध्यात्मिक विचारधाराओं का आविर्भाव हुआ और समय-समय पर उन धाराओं से महत्वपूर्ण साधना-सम्प्रदायों का भी जन्म हुआ। जिनका आश्रय लेकर आप्त पुरुष बराबर अवतरित होते रहे।

इन तीन मुख्य धाराओं के साथ ही कई ऐसी प्रबल उपधारायें भी अविर्भूत हुई जिनका प्रभाव और विस्तार किसी दूसरे देश या अभारतीय सम्प्रदाय की मुख्य धारा से किसी भी दृष्टि से कम न था। इनमें इतिहास और प्रभाव की दृष्टि से प्रथम स्थान "तंत्र" का है। तंत्र की आध्यात्मिक विचारधारा हर काल और हर परिस्थिति में वैदिक एवं अन्य धाराओं के साथ प्रवाहित रही किन्तु सर्वथा गुप्त रूप से इसका कारण पिछले प्रकरण में स्पष्ट किया जा चुका है। तंत्र का जो रूप वैदिक समाज के बीच प्रस्फुटित हुआ उसे आगम कहते हैं। आगम की आध्यात्मिक भित्ति पूर्णतया योग पर है। उसकी जितनी भी साधनायें हैं उन सभी का आश्रय एकमात्र योग है। कभी तंत्र के कई भेद थे परन्तु वर्तमान में इनमें तीन ही प्रौढ़ और पुष्ट रूप में उपलब्ध है। वैष्णव, शैव और शाक्त। किन्तु वैष्णव तंत्र का बहुत-सा भाग अब भागवत धर्म के रूप में वैदिक सम्प्रदाय का अविच्छेय और अविच्छिन्न अंग बन गया है।

वैदिक और तांत्रिक मार्गों में बहुत बड़ा मौलिक भेद यह है कि तंत्र का एक विशाल भाग वेद को प्रमाण नहीं मानता। वह प्रायः शिव और शक्ति के संवाद रूप में है और उन दोनों के द्वारा धार्मिक एवं आध्यात्मिक तत्वों का निरूपण उसमें कराया

गया है। कुछ शताब्दि पूर्व वैदिक तांत्रिक व्यवस्था को एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न हुआ इस दिशा में महानिर्वाण तंत्र का प्रयास सर्वाधिक सफल रहा।

तंत्र का साहित्य व्यापक और विशाल है किन्तु सब संस्कृत में है। तांत्रिक उपासना भूमि में बहुत से ऐसे पदार्थो का उपयोग है और बहुत सी ऐसी क्रियाओं एवं पूजा पद्धतियाँ का प्रयोग है जिन्हें व्यवहारिक एवं सामाजिक दृष्टि से त्याज्य और हेय समझा जाता है किन्तु यह भारी भ्रम है। यह निर्विवाद रूप से सत्य है कि तंत्र ने अपनी साधनाओं और प्रकट-अप्रकट उपासनाओं का आधार उन्हीं पदार्थो, वस्तुओं और क्रियाओं को बनाया जिनसे मन चंचल अस्थिर होता है। चित्त भोग की ओर भागता है वासनाएं और कामनायें जन्म लेती हैं इसीलिये कि भोग के सागर में आपाद रहकर योग साधना की ओर अग्रसर रहना। मन को अस्थिर करने वाली वस्तुओं का सेवन करते हुये भी मन चित्त आदि को उनसे निर्लिप्त रखना उसका लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त अन्य कई आध्यात्मिक और दार्शनिक कारण हैं जो गुप्त हैं जिन पर मैं आगे प्रकाश डालूँगा। किन्तु यहाँ इतना अवश्य समझ लेना आवश्यक है कि तंत्र स्पष्ट रूप से द्विधा विभक्त है। पहला विभाग चंचु मात्र डूबने वालों के लिये है जिसमें बाह्य उपासना पूजा आदि का विधान है। दूसरा भाग उच्चकोटि के साधकों एवं मुमुक्षुओं के लिये है यह आन्तरिक पथ है जो योग से अभिन्न है। इसलिये तंत्र ग्रन्थों में प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से साधारण एवं समाधि भाषा में सीधे एवं प्रतीकों के माध्यम से योग की चर्चा बड़ी गम्भीरता और विस्तार के साथ है। तांत्रिक साधकों में ऐसे योगियों का भी उल्लेख मिलता है जो सिद्धान्त वैदिक होते हुये भी तंत्र सम्मत उपासना शैली के अनुयायी थे। उदाहरण के रूप में शंकराचार्य को सामने रखा जा सकता है और प्रमाण में सौन्दर्य लहरी को उपस्थित किया जा सकता है। इस अनुभव काव्य ग्रन्थ में योग शास्त्र और तंत्र शास्त्र का विचित्र किन्तु गम्भीर अनूठा संगम देखने को मिलता है।

आगम और बौद्ध तंत्र- आगम के आध्यात्मिक विचारधारा के समक्ष ठहरने का साहस केवल बौद्ध तंत्र में है। सैद्धान्तिक मतभेद होते हुये भी बौद्ध तंत्र की मूल भित्ति आगम की ही तरह दृढ़ और गहरी है। आगम के लिये परम पुरुषार्थ मोक्ष है। उधर बौद्ध तंत्र के लिए चरम लक्ष्य है निर्वाण। एक और बड़ा भेद है। आगम ग्रन्थ वेद को जहां प्रमाण नहीं मानते वहीं बौद्ध तंत्र ग्रन्थ बुद्ध के आदेशों को पूर्णतया प्रमाण मानते हैं। एक और कठिनाई यह है कि जिन बौद्ध ग्रन्थों में बुद्ध के उपदेश हैं- तंत्र सम्यत बातों का उनमें उल्लेख नहीं मिलता। सम्भवतः इसकी धारणा यह हो सकती है कि ऐसी गोप्य बातें सर्वसाधारण के सम्मुख नहीं रखी जा सकती थीं। अतः वे कुछ इने गिने शिष्यों को गुप्त रूप से बतलायी गयी। किन्तु इतना सबके बाद भी बौद्ध तंत्र की बहुत सी बातें आगम से मिलती हैं।

बौद्ध तंत्र की भाषा संस्कृत, बहुधा विकृत और व्याकरण भ्रष्ट संस्कृत है। इस धर्म का महायान सम्प्रदाय जो भारत से होता हुआ तिब्बत, चीन, मंगोलिया, कोरिया और जापान पहुंचा मुख्यतया तंत्र मूलक है। लंका, वर्मा, में फैला हुआ हीनयान सम्प्रदाय प्रायः तंत्र मुक्त है। आगम की भांति बौद्ध तंत्र भी योग चर्चा से प्लावित है। महायान के अनुयायी देशों में योग दीक्षा का पर्याप्त चलन रहा है और कई लब्ध ख्याति सिद्ध पुरुष हुये हैं। तिब्बत में तो तंत्र और योग दोनों हैं। भारत से बहुत आगे समझा जाता है। तंत्र और योग की साधना में तिब्बत संस्कृत के अलावा इन देशों की भाषाओं में योग से संबंधित पर्याप्त तंत्रावलम्बी साहित्य हैं इसमें सन्देह नहीं।

इस बात से स्पष्ट है कि भारतीय संस्कृति और साधना के अन्तर्गत जितनी भी आध्यात्मिक साधनाएं और सम्प्रदाय हैं उन सभी के मूल में योग विद्यमान है। योग विमुख होकर कोई भी साधना या सम्प्रदाय उन्नति न कर सका और अस्त हो गया। जैसाकि इस प्रसंग प्रारम्भ में कहा जा चुका है- योग पथ ईश्वर का पथ है। वेद ईश्वर वाक्य माना जाता है। वेद में ईश्वर के संबंध में कहा गया है- '**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेना नवच्छेदात्**। (१.२६) अर्थात् ईश्वर काल से अवच्छिन्न होने के कारण पूर्वाचार्यो का भी गुरु है। जो भी योगाचार्य हो गये हों, उनका जीवन काल सीमित था। परन्तु ईश्वर नित्य है। इसीलिये प्राचीन से भी प्राचीन आचार्यों का वह गुरु है। अतः वह महायोगी या परमयोगी है। योग पथ के पथिक का एक भाग बड़ा लक्ष्य है।

जिस व्यक्ति का मन योग पदार्थो की ओर आकर्षित न होता हो, स्त्री, धन, वैभव को देखकर चित्त चंचल न होता हो। भूख, प्यास, निद्रा पर नियन्त्रण हो, जिसे एकान्त स्थान प्रिय हो, देवताओं के प्रति श्रद्धा हो, शरीर हल्का व निरोग हो, दुर्गन्ध न निकलती हो, वाणी मधुर व गम्भीर हो, जिसकी दृष्टि स्थिर और करूण हो, जिसमें घोर विरक्ति अथवा वैराग्य के भाव हो, ऐसे व्यक्ति योग पथ पर चल सकते हैं अतः इन सब बातों की छः मास तक परीक्षा लेने के पश्चात ही सद्गुरु को योग विद्या देनी चाहिए-

परीक्षिताम दातव्यं वत्सरार्घोषिताय च।
एतज्ज्ञात्वा वरारोहे सद्यः खेचरतां ब्रजेत्।। (यो.ह.)

यहाँ खेचर शब्द लाक्षणिक रूप से परम शिव के लिये प्रयुक्त है। तात्पर्य यह कि इस विद्या को जानकर मनुष्य शिव के साथ तादात्म्य प्राप्त कर लेता है।

आत्म साक्षात्कार, ईश्वर साक्षात्कार अथवा परमात्म साक्षात्कार, ईश्वरत्व प्राप्ति, कैवल्य प्राप्ति, योग पथ की विशिष्टता है, किन्तु इसके लिये सर्वप्रथम समस्त क्लेशों से निवृत्ति देह का अमरत्व अथवा पिण्डसिद्धि, समस्त पापों एवं उनके संस्कारों का प्रणाश आवश्यक है। ध्यान योग जो योग की अन्तरंग साधना का प्रथम सोपान है से

पापों एवं उनके संस्कारों का तत्काल क्षय हो जाता है-

यदि शैलसमं पापं विस्तीर्ण बहु योजनम्।
भिद्यते ध्यान योगेन नान्यों भेदः कदस्चनः।। (ध्या. वि. ड.)

भारतीय्र दर्शन और योग- सर्वसाधारण में यह मान्यता है कि योग तो विशेष क्रियाओं का समुच्चय है और दर्शन है वाग्विलास तथा तार्किक द्वन्द और शास्त्रार्थ की सामग्री। मैं इसका खण्डन नहीं करता। बात अंशतः सत्य है परन्तु योग और दर्शन में इतना अन्तर नहीं है जितना लोग समझते हैं। योग का लक्ष्य है सत्य का साक्षात्कार करना और दर्शन का लक्ष्य है विश्व को समझने में सहयोग प्रदान करना।

विश्व में उच्चकोटि की आत्मायें हैं और निम्न से भी निम्नकोटि की भी हैं। चेतन पदार्थ है और जड़ पदार्थ भी। विश्व में ही हमारा चित्त है। जहाँ एक ओर वह योगाभ्यास में अथवा साधना में रत रहता है वहीं दूसरी ओर काम, क्रोध आदि से प्रेरित चेष्टाओं में भी रहता है रत। चित्त में जहाँ उच्च से उच्च अनुभूतियाँ होती है वहीं छोटे से छोटा अनुभव भी होता है। इन सब बातों का समन्वय कर एक मंच पर ले जाना दर्शनशात्र का कार्य है। वास्तव में दर्शन और योग का अति घनिष्ट संबंध है। योग की समस्त अनुभूतियाँ, योग की समस्त उपलब्धियाँ दर्शन के द्वारा ही सम्भव है। दर्शन यदि वास्तव में विश्व को समझाने का दावा करता है तो सत्य के साक्षात्कार को उन अनुभूतियों से काम लेना चाहिये जो योग के द्वारा सामने आती है और योग को दर्शन की सार्वभौम सामग्री का अंग बनना ही चाहिये। दोनों में अन्योन्याश्रय संबंध है।

योग साधना की दृष्टि से चित्त को भारी महत्व देता है। योग साधना का प्रारम्भ भी चित्त से होता है। चित्त और आत्मा दोनों योग-तंत्र की यावत् साधना का आधार है किन्तु इन दोनों के प्रति दर्शनशास्त्र, योग और तंत्र का अपना-अपना भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण है और है अपना-अपना सिद्धान्त। चित्त और आत्मा का विषय अत्यन्त गूढ़ है। इसे समझने के लिये सांख्य के सिद्धान्तों को हृदयंगम करना आवश्यक है।

ईश्वर पथ के अन्तर्गत दो मुख्य भूमियाँ है सांख्य भूमि और योग भूमि। इन दोनों भूमियों में क्या तादात्म्य है और उनका सम्मिलित सिद्धान्त क्या है इस पर विचार करना आवश्यक है। तभी दोनों भूमियों की दार्शनिक भित्ति समझ में आ सकती है।

सांख्य और योग- योगशास्त्र के प्रमुख आधार से महामुनि पतञ्जलि ने सांख्य को पूर्णरूपेण स्वीकार किया है। दोनों की मान्यताओं में किञ्चित अन्तर होते हुए भी मुख्य विषय दोनों के समान हैं किन्तु सांख्य को बिना हृदयंगम किए योग के रहस्य को समझना कठिन है इसीलिये सांख्य के प्रवर्तक कपिल का स्थान ऊँचा है। योगियों में

वह सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं **"सिद्धानां कपिलों मुनिः"**। सांख्य सर्वप्राचीन दर्शनशास्त्र है। मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान का तो वह मूलस्रोत ही माना जाता है।

सांख्य शब्द "सम्" पूर्वक चक्षिड, ख्यात्र धातु से बना है इसका अर्थ है- सम्यक ख्यानम यानि सम्यक विचार (चर्चा संख्या विचारणे अमरकोष सं.-१५-२)। इसी सम्यक विचार का ही नाम विवेक, बुद्धि है। जो सांख्यवान है अर्थात विवेक बुद्धिवाला है उसी को कोशकारों ने पण्डित की संज्ञा दी है। इसी संदर्भ में सांख्य में आत्मा पर विचार हुआ है। सांख्य कहता है कि अनादि काल से आत्मा अविद्या से आच्छादित है। अविद्या मुक्त आत्मा को जीवात्मा कहते हैं। यही उसका बंधन है। भारतीय दर्शनशास्त्रों का एकमात्र वही लक्ष्य है जो मानव जीवन का है। मानव जीवन में दुःख के अनुभव के साथ ही उसकी निवृत्ति के उपायों के लिये जिज्ञासा भी उत्पन्न होती ही है। यही बात दर्शनशास्त्रों में सिद्धान्त रूप में विद्यमान है और यही सिद्धान्त सांख्य का भी है। अपने सिद्धान्त के अनुसार उसका एकमात्र लक्ष्य है परम पद की प्राप्ति। किन्तु इसके पूर्व दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होनी चाहिये और इसके लिये आत्म साक्षात्कार अथवा आत्म दर्शन आवश्यक है और यह तभी सम्भव है जबकि अविद्या का प्रणाश होगा। अविद्या के कारण आत्मा को अपने स्वरूप का ज्ञान नहीं होता अतः अविद्या से आत्मा को पृथक करना पहला कर्तव्य है। अविद्या त्रिगुणात्मिका है। अविद्या त्रिगुणातीत आत्मा से पृथक है। इस प्रकार का ज्ञान सर्वप्रथम जीवन को प्राप्त करना है यही लक्ष्य लेकर सांख्य योग मार्ग में वह प्रवेश करता है। इसी पृथक्करण का नाम है विवेक ख्याति। विवेक, प्रकृति पुरुष विवेक, सत्व पुरुषान्यता ख्याति-विवेक ख्याति का ही पर्याय नाम है इसीलिये पंच शिखाचार्य ने कहा है **एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम्**। इस विवेक बुद्धि की प्राप्ति एकमात्र सांख्य दर्शन द्वारा ही सम्भव है इसीलिये इसे सांख्य कहते हैं।

सांख्य की प्राचीनता और ज्ञान : "नहि सांख्य सम ज्ञानम्" यह प्रसिद्ध युक्ति है। यथार्थ ज्ञान तो सांख्य में ही है, जिज्ञासु साधक और विद्वान सभी को दुःख से निवृत्ति चाहिये। सभी को तात्विक ज्ञान की आवश्यकता है। बिना ज्ञान के किसी भी प्रकार की सिद्धि नहीं मिलती।

नहि ज्ञानेन सद्यंश पवित्र मिह विद्यते।। (गीता ४-३८)
ज्ञान के समान संसार में पवित्र वस्तु इस संसार में नहीं है।
ज्ञान लब्ध्वा परां शान्ति मचिरेणाधिगच्छति।। (गीता ४-३६)
ज्ञान की प्राप्ति होते ही साधक को तुरन्त पराशान्ति की उपलब्धि होती है।
ज्ञानेन तु यदज्ञानं येषां नशितमात्मनः।। (गीता ५-१६)

आत्म ज्ञान से तत्काल अज्ञान नष्ट हो जाता है।

गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञान निर्धूतकल्मषाः।। (गीता ५-१७)

ज्ञान की प्राप्ति होते ही समस्त संस्कार एवं आणव मल का तत्काल नाश हो जाता है और साधक की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती।

अभिप्राय यह है कि आत्म कल्याण चाहने वाले जो भी हो उन्हें आत्मा के स्वरूप को ज्ञान के आश्रय से समझना होगा। बिना ज्ञान के आत्म तत्व प्रत्यक्ष नहीं होता। इसलिये सांख्यशास्त्र का अध्ययन अनुशीलन अनादिकाल से होता आया है। उपनिषद से लेकर साहित्य तथा ज्योतिष, तंत्र आदि के भी ग्रन्थों में सांख्यशास्त्र के विषयों का किसी न किसी प्रसंग में उल्लेख मिलता ही है। महाभारत, रामायण, पुराणों की तो बात ही क्या इनमें तो अनेक रूपों में तथा अनेक प्रकार से सांख्य की चर्चा है। सांख्य के बिना कोई भी विद्वान ज्ञानी नहीं हो सकता। कपिल को आदि विद्वान कहा गया है। (योग भाष्य १-२५)

सांख्य शास्त्र के समान अन्य कोई शास्त्र व्यापक नहीं है। इसी व्यापकत्व के कारण सांख्य में तत्व के विवेचन में अनेक प्रकार के मतभेद दिखालायी पड़ते हैं। उदाहरण स्वरूप कहीं 'मूल' प्रकृति एक है। तो किसी ने भिन्न-भिन्न जीवात्मा के लिये भिन्न-भिन्न प्रकृति स्वीकार की है। (द्रष्टव्यः गुण रत्न षट्दर्शन समुच्चय प्रकाश पृ. ६६) कोई-कोई महत् और बुद्धि में भेद स्वीकार करते है- बुद्धेरात्मा महान् पर (कठोपनिषद् १-३-१०) कोई इन्हें पर्यायवाची शब्द स्वीकार करते हैं- (द्रष्टव्य सांख्यकारिका) किसी के मत में प्रकृति स्वतंत्र है और पुरुष से भिन्न है परन्तु किसी के मत में प्रकृति ईश्वर की शक्ति है (द्रष्टव्यः श्वेताश्वर ४.१०.) महाभारत में कहीं (द्रष्टव्य : शान्ति पर्व ३०३-३०८) २४ कहीं २५ तो कहीं २६ तत्वों का उल्लेख है। गीता में प्रकृति दो प्रकार की है परा और अपरा। ये भेद सांख्य का रिक्त में नहीं है किन्तु इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। परन्तु गीता में कहीं प्रकृति को 'माया' कहा गया है और कहीं उससे भिन्न (गी० ६।८)। सांख्य की प्रकृति और गीता की प्रकृति में और भी अनेक भेद हैं। इन भेदों को देखने से ज्ञात होता है कि सांख्य के तत्वों का लोग विशेष विवेचन करते थे। जिन्हें जिस प्रकार का विशेष अनुभव हुआ। उन्होंने उसी प्रकार उन तत्वों को समझा और उसी प्रकार उनका विश्लेषण भी किया।

वास्तव में सांख्य दर्शन तो है मनोवैज्ञानिक दर्शन। इसके तत्व स्थूल नहीं वरन् हमारे बौद्धिक जगत के तत्व हैं। इस जगत में जो तत्व हैं सूक्ष्म ही हैं। उनके संबंध में विचार भी सूक्ष्म है। अतः जिसमें जितनी बुद्धि होती है वह उतना ही सूक्ष्म विचार कर सकता है इसलिये सांख्य के तत्वों में विचार भेद होना स्वाभाविक ही है। मूल विचार

में कोई भेद नहीं है।

अन्य दर्शनों की भाँति सांख्य दर्शन भी स्वतंत्र है। वह अपने ढंग और सिद्धान्त के अनुसार विषयों का प्रतिपादन करता है। न्याय वैशेषिक मत में नौ नित्य द्रव्य हैं। आत्मा जड़ है। मोक्षावस्था में भी आत्मा और मन का संबंध बना रहता है। आत्मा "स्वरूप योग्यता" मात्र है। अद्वैत का स्थान नहीं है किन्तु जिज्ञासुओं को इन सब बातों में सन्तोष नहीं है। न्याय वैशेषिक द्वारा प्रतिपादित सभी नौ तत्व वस्तुतः नित्य नहीं है। इनका सूक्ष्म रूप में विलयन सम्भव है। फिर इन्हीं नौ तत्वों का सूक्ष्म रूप में विश्लेषण करने को उद्धत हो जाता है। विश्लेषण के द्वारा नौ तत्वों के मात्र दो तत्व प्रकृति और पुरुष में, अन्तर्भूत पाता है। अतः इस बात से स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक का जहाँ अन्त होता है वहीं से सांख्य का विचार प्रारम्भ होता है। जो भौतिक परमाणु तथा मन, आकाश आदि न्याय में सूक्ष्मतम् और रूपरहित होने के कारण दृष्टिगोचर नहीं है, वे ही सांख्य में स्थूलतम् तत्व है। सांख्य भूमि में सभी को उनका प्रत्यक्ष होता है। हाँ! इन दोनों का मापदण्ड भिन्न है। एक निम्न स्तर का है और दूसरा उच्चस्तर का है। न्याय वैशेषिक की दृष्टि में जगत स्थूल है, व्यवहारिक है किन्तु सांख्य का जगत सूक्ष्म है और है बुद्धिगम्य। परन्तु जिस प्रकार न्याय का क्षेत्र सत है उसी प्रकार सांख्य का भी क्षेत्र सत है। एक की सत्ता बाह्य है, दूसरे की सत्ता आन्तरिक है यही मौलिक भेद है।

सांख्य में तत्व विचार– ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि सांख्य के सभी तत्व सूक्ष्म हैं। इसके स्थूलतम् तत्व भी हमारी स्थूल दृष्टि से देखे नहीं जा सकते। जिन तत्वों को न्याय वैशेषिक और मीमांसा ने नित्य माना है और जिनके भीतर उनकी दृष्टि नहीं जा सकती वे तत्व सांख्य में स्थूलतम् हैं। (सांख्य दर्शन के तत्व सिद्धान्त का आश्रय लेकर भौतिक विज्ञान, स्थूल से सूक्ष्म जगत में प्रवेश करने जा रहा है। इस सन्दर्भ में आगे 'विज्ञान के चरण स्थूल से सूक्ष्म जगत की ओर' शीर्षक प्रकरण में विस्तृत विवेचन किया गया है।) न्याय वैशेषिक के नित्य नौ द्रव्य ये हैं– पृथ्वी परमाणु, जलीय परमाणु, वायवीय परमाणु, तैजस परमाणु, आकाश, कालदिक्, आत्मा एवं मनस। जिनमें निम्नलिखित ५ भूत हैं।

पृथ्वी परमाणु	=	पृथ्वी द्रव्य + गन्ध।
जलीय परमाणु	=	जलीय द्रव्य + रस।
तैजस परमाणु	=	तैजस द्रव्य + रूप।
वायवीय परमाणु	=	वायवीय द्रव्य + स्पर्श।
आकाश	=	आकाश द्रव्य + शब्द।

स्पष्ट है कि न्याय वैशेषिक के अनुसार परमाणु में द्रव्य और गुण दोनों मिश्रित हैं नित्य विभु आकाश का विशेष गुण "शब्द" है। इसी प्रकार आत्मा भी नित्य विभु

है। उसका विशेष गुण ज्ञान है। लोगों ने इन बातों को ध्यान में रखकर सांख्य के तत्वों का विचार किया है। सांख्य में तीन तत्वों की प्रधानता है- "व्यक्त, अव्यक्त और 'ज्ञ' चेतन है। अव्यक्त को मूल प्रकृति अथवा प्रधान कहते हैं। व्यक्त के २३ भेद हैं और ये कार्य कारण की परम्परा में मूल प्रकृति के परिणाम हैं सांख्य के ये २५ प्रमेय या तत्व हैं। इनके अतिरिक्त सांख्य में और कुछ नहीं है।

सांख्य का कहना है कि इन्हीं तत्वों के यथार्थ ज्ञान से दुःख की निवृत्ति होती है। जैसाकि कहा गया है- व्यक्त, अव्यक्त तथा 'ज्ञ' के विशेष ज्ञान से परम तत्व की प्राप्ति होती है। विवेक ज्ञान या विवेक ख्याति ही एकमात्र मोक्ष है अतः तीन तत्व मुख्य हैं। जिनका आश्रय लेकर सांख्य अपने मोक्ष के मार्ग पर आगे बढ़ता है।

सांख्य के तीन मुख्य तत्व हैं। जिन पर सम्पूर्ण सांख्य निर्भर है। पहला तत्व है चेतन जिसका दूसरा नाम 'ज्ञ' या पुरूष है। शेष दो तत्व व्यक्त और अव्यक्त जड़ है। पुरुष, निष्क्रिय, निर्गुण और निर्लिप्त है शेष दो तत्व अविवेकी और त्रिगुण हैं। सांख्य की दृष्टि में प्रकृति पुरुष दोनों नित्य हैं और दोनों का संयोग अनादि काल से है। पुरुष स्वभावतः निर्लिप्त और त्रिगुणातीत है। पुरुष का बिम्ब प्रकृति पर पड़ता है जिसके फलस्वरूप प्रकृति या बुद्धि चेतन के समान अपने आपको समझने लगती है। व्युत्क्रम रूप से बुद्धि के स्वरूप का आभास पुरुष पर भी पड़ता है जिसके कारण निर्लिप्त त्रिगुणातीत पुरुष अपने को कर्ता, भोक्ता आदि समझने लगता है। प्रकृति पुरुष के इसी आरोपित संबंध को बंधन कहते हैं। इसी बंधन को दूर करना पुरुष का अपने आपको और अपने वास्तविक निर्लिप्त स्वरूप को, त्रिगुणातीत स्वरूप को समझना और पहचानना तथा दूसरी ओर प्रकृति को भी अपने स्वरूप का ज्ञान हो जाना ही विवेक, बुद्धि अर्थात् मुक्ति है।

सूक्ष्म शरीर की कल्पना- प्रकृति पुरुष का संबंध स्वाभाविक है किन्तु अपने आपसे पुरुष को मुक्त करने के लिये प्रकृति सदैव सचेष्ट और क्रियाशील रहती है। मुक्ति एक जन्म के प्रयत्न से नहीं मिलती। इसीलिये अपने प्रभुत्व के बल से तथा बुद्धि के नहीं अपितु भावों की सहायता से प्रकृति एक शरीर को त्यागकर अन्य शरीर को धारण करती है। भिन्न-भिन्न शरीर धारण करने के पीछे प्रकृति का एकमात्र लक्ष्य रहता है पुरूष को बंधन से मुक्त करना। इसीलिये सांख्य ने एक शरीर को छोड़कर अन्य शरीर में जाने के लिये स्थूल शरीर के अन्दर एक सूक्ष्म शरीर की सत्ता स्वीकार की है।

यह सूक्ष्म शरीर महत अहंकार, ११ इन्द्रियाँ, ५ तन्मात्रायें इन १८ तत्वों से बना हुआ रहता है। सांख्य के अनुसार सृष्टि के आदि में प्रत्येक व्यक्ति के लिये अथवा प्रत्येक आत्मा के लिये एक सूक्ष्मं शरीर उत्पन्न होता है। सूक्ष्म शरीर को धारण करते

ही आत्मा में विकार उत्पन्न हो जाता है और वह जीवात्मा पद वाच्य हो जाता है। सूक्ष्म शरीर किसी स्थूल शरीर में आशक्त नहीं होता। इसमें स्वतंत्र रूप से भोग भी नहीं होता। बुद्धि के आठों भाव इसी में रहते हैं। इसकी गति विलक्षण होती है। कोई उसे रोक नहीं सकता। वह स्थूल शरीर के बिना रह नहीं सकता। पुरुष के भोग के लिये सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार के शरीर को धारण करता है।

प्रकृति पुरुष के निजस्वरूप के बोध का आधार एकमात्र ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश होने पर एक प्रकार से प्रकृति पुरुष अपने-अपने निजस्वरूप को पहचान लेते हैं। जिस ज्ञान से स्वरूप बोध होता है। उसी ज्ञान से विवेक बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जिसको प्राप्त कर पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है और अपने आपको निर्लिप्त, निस्संग, त्रिगुणातीत समझने लगता है। प्रकृति उससे पृथक हो जाती है और पथ पर आगे अग्रसर होता है विवेक। बुद्धि का उदय होने पर बुद्धि के सात भाव स्वयं नष्ट हो जाते हैं। केवल ज्ञान जो प्रथम भाव है रह जाता है। इस अवस्था में प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। प्रयोजन तभी तक रहता है जबतक ज्ञान भाव के साथ बुद्धि के अन्य सातों भाव भी रहते हैं। प्रयोजनहीन हो जाने पर प्रकृति विरत हो जाती है और पुरुष कैवल्य को प्राप्त हो जाता है।

कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात यदि पूर्व संस्कार और प्रारब्ध के फलस्वरूप शरीर विद्यमान है तो उसका पतन नहीं होगा। दोनों का क्षय होने पर ही शरीर नष्ट होगा। अतः शरीर रहते हुए कैवल्य प्राप्त होने की स्थिति को जीवन मुक्ति कहते हैं। जबतक संस्कार व प्रारब्ध है और उसके भोग के लिये है शरीर तबतक जीव इसी अवस्था में रहता है। यह कैवल्य की पहली स्थिति मानी जाती है।

जीवन मुक्ति की स्थिति में विवेक, बुद्धि प्राप्त होने के अनन्तर भी भोगों के द्वारा पूर्व संस्कार व प्रारब्ध कर्म के सम पर्यन्त शरीर चलता ही रहता है। जीवन मुक्त योगी पुनः शरीर न धारण करना पड़े संस्कार व प्रारब्ध कर्म के क्षय के निमित्त इसके लिये अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर उसी शरीर में विद्यमान रहता है। इसके लिये भले ही क्यों न उसे आयु की सीमा का अतिक्रमण कर सैकड़ों वर्ष पर्यन्त शरीर में रहना पड़े। जो जीवन मुक्त योगी एक ही शरीर में सैकड़ों वर्ष तक रहते हैं उसका यही रहस्य है। ऐसी स्थिति में पुरूष निरपेक्ष द्रष्टा, साक्षी होकर प्रकृति को देखता है तथापि वह पुनः प्रकृति के बंधन में नहीं पड़ता। कैवल्य प्राप्ति की स्थिति में यदि संस्कार व प्रारब्ध कर्म का प्रणाश हो चुका है और शरीर की आवश्यकता नहीं है तो योगी तत्काल विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। यह कैवल्य की दूसरी स्थिति है।

जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्त योगी संसार में जल कमलवत् रहते हैं। विशेषकर

इस प्रकार के योगी शरीर पात पर्यन्त सर्वथा गुप्त भाव से नितान्त एकान्त स्थान में निवास करते हैं। हिमालय की दुर्गम घाटियों और हिमाच्छादित कन्दराओं में ऐसे योगियों के दर्शन आज भी सुलभ हैं। यदि कठिन है तो उन तक पहुँच पाना और उनके सान्निध्य का लाभ प्राप्त करना।

जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त योगी और उनके अनुभव- जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त योगी के लक्षण क्या हैं अथवा उनकी संसार में स्थिति कैसी है और उनका स्वरूप कैसा है? इन सब बातों का स्थूल दृष्टि से अनुमान लगाना अथवा उनको समझना कठिन है। संसार समाज के बीच उनकी स्थिति मृतवत् होती है और उनका व्यवहार होता है जड़वत्। उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अकर्मण्य हो जाती है। उनका व्यवहार समाप्त हो जाता है। किन्तु मन की गति अत्यधिक तीव्र हो उठती है और इच्छाशक्ति भी प्रबल हो जाती है। जो व्यापार इन्द्रियों के द्वारा मन करता है वह स्वयं मन ही करने लग जाता है। पच्चीस वर्ष पूर्व हिमालय की एक अत्यन्त दुर्गम घाटी की यात्रा की थी मैंने। वहाँ मेरा साक्षात्कार जिन गुप्त योगियों से हुआ था उनमें सभी जीवन मुक्त थे।

स्वामी योगेश्वरानन्द इस अवस्था को प्राप्त एक उच्चकोटि के योगी थे। तीन जन्म के अनवरत साधना के पश्चात वर्तमान शरीर में उन्हें जीवन मुक्ति अवस्था की प्राप्ति पैतीस वर्ष की आयु में हुई थी और उस शरीर में पूर्व संस्कार एवं प्रारब्ध कर्म को क्षय करते हुये लगभग एक सौ दस वर्ष हो गये थे। किन्तु इस दीर्घकाल का किञ्चित भी प्रभाव उनकी स्थूल देह पर नहीं पड़ा था। वे बिल्कुल युवक प्रतीत होते थे। उन्नत ललाट। नेत्रों में एक विचित्र प्रकार का तेज। दिव्य कान्तिमय मुखमण्डल। धवल केशराशि। काशी में कुछ समय निवास कर श्यामाचरण लाहिड़ी और अन्य उच्चकोटि के योगियों का सत्संग लाभ प्राप्त किया था उन्होंने।

क्या अब आपका काशीयात्रा करने का विचार नहीं होता? प्रश्न किया मैंने। इसका उत्तर मुझे जो उन्होंने दिया वह योग साधना भूमि में अपना महत्व रखता है। उन्होंने बतलाया योगी सर्वव्यापक है। उसे शरीर से कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। वह अवर्णनीय शक्ति से मुक्त होता है। उसका अस्तित्व सर्वत्र है। इसीलिये किसी प्रकार की यात्रा का प्रश्न ही नहीं है उसके सामने।

जीवन मुक्ति की अवस्था में सर्वप्रथम जो उपलब्धि है वह है कालातीत अवस्था की उपलब्धि। जिस क्षण मुक्त अवस्था की प्राप्ति होती है उसी समय से खण्डकाल से निवृत्त होकर अखण्डकाल की सत्ता में योगी का प्रवेश हो जाता है। अखण्डकाल में केवल वर्तमान का अस्तित्व है और योगी का तादात्म्य उसकी शक्ति से हो जाता है। मैंने अनुभव किया कि मेरे सामने बैठा हुआ अविचल मुद्रा में उस महान योगी के पलक

झपकते नहीं थे और न तो नेत्र की पुतलियाँ इधर-उधर घूमती थीं। सहज भाव से मैंने इस संबंध में जिज्ञासा व्यक्त की। इस पर मुस्कुरा कर बोले वह- खण्डकाल का अतिक्रमण होने से ऐसा होता है। पलकों का झपकना और पुतलियों का घूमना खण्डकाल के प्रभाव से होता है। उसकी सत्ता से पृथक होने पर स्वभावतः ऐसा हो जाता है। खण्डकाल की शक्ति को अपराशक्ति कहते हैं। अखण्डकाल की शक्ति को पराशक्ति के नाम से संबोधित करते हैं। इसी प्रकार महाकाल की शक्ति को कहते हैं परमाशक्ति।

खण्डकाल- अपराशक्ति (भूत, भविष्य, वर्तमान)
अखण्डकाल- पराशक्ति (केवल वर्तमान)
महाकाल- परमाशक्ति (केवल अनुभूति मात्र)

केवल वर्तमान रूप अखण्डकाल विश्व में सर्वत्र व्याप्त है तादात्म्य होने पर योगी भी सर्वव्यापक हो जाता है विश्व में। इसके पश्चात दूसरी उपलब्धि इन्द्रियातीत अवस्था की है। इन्द्रियाँ खण्डकाल के अधीन हैं। उससे निवृत्त होने पर इन्द्रियों के अस्तित्व का भी तिरोधान हो जाता है। केवल मन का अस्तित्व रह जाता है। मन की शक्ति से ही इन्द्रियों का कार्य व्यापार होता है। इन्द्रियों और मन के बीच खण्डकाल है। इन्द्रियों से रहित मन स्वतंत्र होकर स्वयं इन्द्रियों का कार्य व्यापार योगी की इच्छा शक्ति से करने लग जाता है। यह अखण्डकाल की भूमि है। इस भूमि में बुद्धि के प्रथम भाव ज्ञान के साथ मन का केवल अस्तित्व रहता है। यह भूमि इन्द्रियातीत अवस्था की भूमि है। इसे भूलना न चाहिये। इसमें योगी की इच्छामात्रेण सिद्धि है। इच्छामात्र से ज्ञानमुक्त मन द्वारा जो कार्य होता है उसे ज्ञानमुक्त कर्म कहते हैं। जो भी कर्म है वह ज्ञानमय है। इसी को योगभाव भी कहते हैं। तांत्रिक इसी को पराभूमि के नाम से सम्बोधित करते हैं।

इसके बाद है तीसरी उपलब्धि, मनसातीत अवस्था की। इस अवस्था विशेष में योगी की इच्छाशक्ति मनःशक्ति में सदैव के लिये विलीन हो जाती है। उसकी संकल्प शक्ति, विचारशक्ति और इच्छाशक्ति, मनःशक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। केवल रहता है ज्ञान और रहता है केवल मन। अन्त में मन भी पराशक्ति में अर्पित हो जाता है। फिर रह जाता है मात्र ज्ञान। इसी को मनसातीत अवस्था कहते हैं। यही अकर्म अवस्था है। तांत्रिक लोग इसे संन्यास अवस्था कहते हैं अर्थात संन्यास भाव। योगी इसी अवस्था को प्राप्त कर महाकाल भूमि में प्रवेश करता है। मन का अर्पण अथवा तिरोधान हो जाने पर केवल आत्मा रहती है। आत्मा और मन के बीच महाकाल है। यह अनुभूतिजन्य भावनामंय प्रवाह है। ज्ञान का स्वरूप परम ज्ञान में परिवर्तित हो

जाता है और उसी के द्वारा महाकाल की भूमि में योगी आत्मानुभव करता है। योगी की मात्र केवल आत्मा रहती है और इस अवस्था में अर्थात मनसातीत अवस्था में परमाशक्ति के अवर्णनीय अनन्त शक्तियों से योगी मुक्त होता है। यह परम संन्यास अथवा परमयोगी की अवस्था मानी जाती है। इसमें योगी सिद्धियों से परे परमाशक्ति की इच्छा को भोक्ता है। इससे सम्पन्न होकर वह महाशक्ति के प्रयोजन के अनुसार समस्त ऐश्वरिक कार्य करता है। इसके अनन्तर एक ऐसा भी समय आता है जबकि योगी को, अपने आपको महाशक्ति में अर्पित करना पड़ता है। इस महा समर्पण के पूर्व आत्मानुभूति, आत्म दर्शन और आत्म साक्षात्कार का क्रम सम्पन्न होता है। तांत्रिक दृष्टि में यह परमाभूमि है। क्रम के अनुसार महाकाल का भी तिरोधान हो जाता है। मात्र रह जाता है अस्तित्व परमाशक्ति अर्थात् महाशक्ति का। तब उसकी अपरिछिन्न अनन्त आनन्द स्वरूप में स्थिति हो जाती है। इस दिशा में योगी को किसी भी कार्य के लिये इच्छा नहीं करना पड़ता। उसके समस्त कार्यो और प्रयोजनों की सिद्धि महाशक्ति की महाइच्छा से स्वतः होती रहती है। कैवल्य, निर्वाण, मोक्ष आदि सब कुछ अवलम्बित हो जाता है महाशक्ति की इच्छा पर। इसके लिये आत्मरूप योगीगण अनन्त काल तक प्रतीक्षा करते रहते हैं ''माँ'' की अनुकम्पा की। आत्मरूप प्राप्त इस प्रकार महायोगी ''माँ'' की कृपा से प्रेरित होकर आश्रितों के दुःख नाश के लिये भूतल पर भी अवतरित होते हैं और माँ की महाइच्छा को साकार करते हैं।

योगी पुरुष और अवतारी पुरुष– इसी प्रसंग में उन्होंने बतलाया कि अवतारी पुरुष और योगी पुरूष में अन्तर है। एक ही पुरुष एक साथ योगी और अवतारी दोनों नहीं हो सकता। एक ही शरीर में संस्कार व प्रारब्ध क्षय कर सकने में असमर्थ जीवन मुक्त योगी अपनी इच्छानुसार शरीर धारण करते हैं। दूसरे वह योगी होते हैं जो जीवन मुक्त अवस्था की समस्त उपलब्धियों के पश्चात मोक्ष की कामना लिये माँ की अनुकम्पा की प्रतीक्षा में हैं। तीसरे योगी वह हैं जो महाशक्ति के साथ पूर्ण मुक्त हैं और कैवल्य की स्थिति को प्राप्त हैं। चौथे वह योगी हैं जिनकी आत्मसत्ता परमात्म सत्ता में विलीन हो चुकी है। जो अद्वैत स्थिति में होकर भी द्वैत हैं।

प्रथम प्रकार के योगी को शरीर धारण करने के अनन्तर पथ भ्रष्ट होने की शंका रहती है क्योंकि राजसी-तामसी लोक की आत्मायें उन्हें पथच्युत करने के लिये माता, पत्नी, पुत्र आदि के रूप में आती हैं और ऐसा वातावरण उपस्थित हो जाता है कि जीवन में अपने निजरूप को विस्मृत कर योगी जीव भावी हो जाता है इसीलिये प्रायः एक ही शरीर में संस्कार व प्रारब्ध कर्म क्षय करने का प्रयत्न किया जाता है।

माँ की कृपा की प्रतीक्षा में रत जो दूसरे प्रकार के योगी हैं- वे संसार में भ्रमण करने अथवा अनुभव प्राप्त करने के लिये इच्छानुसार स्थूल शरीर ग्रहण करते हैं। ऐसे लोग प्रायः उच्च कुल में अपने संस्कार के अनुरूप परिवार में जन्म ग्रहण करते हैं। ऐसे लोगों से संसार में ज्ञान का प्रचार-प्रसार होता है। ज्ञान के क्षेत्र में उन्नति होती है। नवीन सिद्धान्तों का जन्म होता है। उन्हें भोग व मोह बंधन में नहीं बांध सकता। वे पूर्ण वैराग्य और त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य, महावीर इसी कोटि के योगी थे।

तीसरे प्रकार के योगी 'माँ' की प्रेरणा अथवा आदेश से उनकी किसी विशेष इच्छा को साकार करने के निमित्त जगत में शरीर धारण करते हैं। धर्म के नये मार्ग, नये सिद्धान्त आदि का उनसे निर्माण होता है। साधना, उपासना के नये मार्गो का भी वे निर्माण करते हैं। सामाजिक और राजनीति के क्षेत्र में भी उनसे सहायता मिलती है। वे संसार, समाज, देश को नये विचारों की श्रृंखला में बांधने का प्रयत्न करते है। बुद्ध आदि इसी कोटि के योगी थे। सुखदेव, व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि भी इन तीनों प्रकार के पुरुषों को मात्र योगी कहा जा सकता है अवतारी पुरूष नहीं।

अवतारी पुरुष माँ की कृपा, अनुकम्पा और प्रेरणा अथवा आदेश की प्रतीक्षा नहीं करता। वह स्वयं धर्म, उद्धार, अधर्म का नाश, जगत कल्याण और धर्म साधना और ज्ञान के नये मार्ग के निर्माण के लिये अवतरित होता है। इस दिशा में शक्ति एवं सहयोग प्राप्त करने के लिये 'माँ' की अपेक्षा रहती है उसको। अतः माँ की षोडश कला में से कोई भी अनुकूल कला उसके सहयोग के लिये पृथ्वी पर साकार रूप धारण करती है। महाशक्ति की सोलह कलायें हैं। अन्तिम कला षोडशी कला है। यही चित्त कला भी है। तंत्र में इसे षोडशी विद्या अर्थात त्रिपुर सुन्दरी कहते हैं। षोडशी कला अपने निज रूप में रहती है। महाशक्ति का यह निज रूप समझा जाता है यह अवतार नहीं लेती।

भगवान श्रीकृष्ण, भगवान राम आदि अवतारी पुरुष थे। महामाया परमाशक्ति अथवा महाशक्ति इनके सहयोग के लिये अवतरित हुई थी। राधा और सीता में महाशक्ति की एक साथ पन्द्रह कलायें विद्यमान थी। भगवान कृष्ण, धर्म की रक्षा के लिये तथा राम, धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये विशेष रूप से अवतरित हुये थे। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण पूर्ण और योगेश्वर अवतारी महपुरुष थे। रासलीला में उनके साथ महाशक्ति की पन्द्रह कलायें एक साथ राधा के रूप में रहती थी। यही सबसे बड़ी रहस्यमयी विशेषता है श्रीकृष्ण के अवतार में।

सांझ की स्याह चादर हिमालय के उत्तुंग शिखरों पर फैलने लगी थी। सहसा

बर्फिली हवा की गति तीव्र हो गयी और उसी के साथ होने लगी हिमवर्षा। परमहंसदेवजी के स्थान से लगभग तीन चार मील दूर पहाड़ी गांव में ठहरा हुआ था मैं। ऐसी स्थिति में वापस लौटकर जाना कठिन ही था। विवश होकर रात्रि वहीं व्यतीत करने का निश्चय किया मैंने।

रात्रि का प्रथम प्रहर। निस्तब्ध शान्त वातावरण। शान्त, निर्विकार मुद्रा में पूर्ववत् बैठे थे स्वामी योगेश्वरानन्द परमहंसदेव। तभी एक विचित्र घटना घटी शनैः शनैः गह्वर में स्निग्ध धवल शुभ्र प्रकाश फैलने लगा। फिर वह प्रकाश एक स्थान पर सिमटने लगा और आकार ग्रहण करने लगा एक मानवाकृति का। दूसरे क्षण स्पष्ट हुआ सब कुछ। मेरे सम्मुख एक महात्मा खड़े थे। सौम्य तेजोमय मुखमण्डल, नेत्रों में असीम करूणा और असीम दया, गौरवर्ण के थे।

परमहंसदेव ने उन्हें आसन दिया। ऐसा लगा मानों सम्पूर्ण गह्वर में कोई विचित्र अनर्वचनीय गन्ध व्याप्त हो गयी है। बाद में ज्ञात हुआ कि वह स्वर्गीय गन्ध महात्मा के शरीर से प्रस्फुटित हो रहा है।

उन महात्मा का आगमन प्रथम सिद्धाश्रम से हुआ था। वे निर्वाण शरीर में थे। किन्तु प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर सूक्ष्म शरीर के माध्यम से कभी भी स्थूल शरीर धारण कर सकने में समर्थ थे। कुछ समय तक दोनों महापुरुषों के बीच समाधि भाषा में वार्तालाप होता रहा। जब परमहंसदेव ने मेरे विषय में बतलाया कि काशी से इनका आगमन हुआ है तो बड़ी सरल मधुर हँसी-हँस कर बोले- अच्छा। जब स्वामी रामकृष्ण काशी में पधारे थे तब उनके अनुरोध पर एक बार सत्संग के लिये काशी जाना हुआ था मेरा।

हे ईश्वर! क्या बोल रहे हैं ये महात्मा, आश्चर्य से अपने आप बोल उठा मैं। रामकृष्ण परमहंसदेव को तो शरीर छोड़े लगभग एक लम्बा समय हो गया। मेरे भाव को समझ लिया महात्मा ने। बोले- इसमें आश्चर्य की क्या बात है? ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर योगी के लिये सब कुछ सम्भव है। दिक्काल का व्यवधान उसके मार्ग में नहीं है। सर्वज्ञ सर्वकालज्ञ होता है योगी।

प्रसंग था जीवन मुक्ति का। इस पर बोले- बाहर का व्यवहार देखकर किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जीवन मुक्त को पहचाने। जीवन मुक्त वास्तव में जीवन मुक्त है कि नहीं यह अनुभव करने के लिये एकमात्र सरल उपाय यह है कि साधारणतः मनुष्य दूसरे का विचार करते हुए उनके दोष गुण देखकर उसी के आधार पर उसके चरित्र का मूल्यांकन करता है परन्तु इस विचार के मूल में है अज्ञान। जबतक अपने में कर्तृत्वाभिमान रहता है तबतक जगत में सर्वत्र कर्तृत्वाभिमान ही दिखलायी पड़ता है। किन्तु अपना कर्तृत्वाभिमान छूट जाने पर आगे चलकर उसको अनुभव होता है

ही आत्मा में विकार उत्पन्न हो जाता है और वह जीवात्मा पद वाच्य हो जाता है। सूक्ष्म शरीर किसी स्थूल शरीर में आशक्त नहीं होता। इसमें स्वतंत्र रूप से भोग भी नहीं होता। बुद्धि के आठों भाव इसी में रहते हैं। इसकी गति विलक्षण होती है। कोई उसे रोक नहीं सकता। वह स्थूल शरीर के बिना रह नहीं सकता। पुरुष के भोग के लिये सूक्ष्म शरीर नाना प्रकार के शरीर को धारण करता है।

प्रकृति पुरुष के निजस्वरूप के बोध का आधार एकमात्र ज्ञान है। ज्ञान के द्वारा अविद्या का नाश होने पर एक प्रकार से प्रकृति पुरुष अपने-अपने निजस्वरूप को पहचान लेते हैं। जिस ज्ञान से स्वरूप बोध होता है। उसी ज्ञान से विवेक बुद्धि की उत्पत्ति होती है। जिसको प्राप्त कर पुरुष अपने स्वरूप को पहचान लेता है और अपने आपको निर्लिप्त, निस्संग, त्रिगुणातीत समझने लगता है। प्रकृति उससे पृथक हो जाती है और पथ पर आगे अग्रसर होता है विवेक। बुद्धि का उदय होने पर बुद्धि के सात भाव स्वयं नष्ट हो जाते हैं। केवल ज्ञान जो प्रथम भाव है रह जाता है। इस अवस्था में प्रकृति का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता। प्रयोजन तभी तक रहता है जबतक ज्ञान भाव के साथ बुद्धि के अन्य सातों भाव भी रहते हैं। प्रयोजनहीन हो जाने पर प्रकृति विरत हो जाती है और पुरुष कैवल्य को प्राप्त हो जाता है।

कैवल्य प्राप्त होने के पश्चात यदि पूर्व संस्कार और प्रारब्ध के फलस्वरूप शरीर विद्यमान है तो उसका पतन नहीं होगा। दोनों का क्षय होने पर ही शरीर नष्ट होगा। अतः शरीर रहते हुए कैवल्य प्राप्त होने की स्थिति को जीवन मुक्ति कहते हैं। जबतक संस्कार व प्रारब्ध है और उसके भोग के लिये है शरीर तबतक जीव इसी अवस्था में रहता है। यह कैवल्य की पहली स्थिति मानी जाती है।

जीवन मुक्ति की स्थिति में विवेक, बुद्धि प्राप्त होने के अनन्तर भी भोगों के द्वारा पूर्व संस्कार व प्रारब्ध कर्म के सम पर्यन्त शरीर चलता ही रहता है। जीवन मुक्त योगी पुनः शरीर न धारण करना पड़े संस्कार व प्रारब्ध कर्म के क्षय के निमित्त इसके लिये अपनी प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर उसी शरीर में विद्यमान रहता है। इसके लिये भले ही क्यों न उसे आयु की सीमा का अतिक्रमण कर सैकड़ों वर्ष पर्यन्त शरीर में रहना पड़े। जो जीवन मुक्त योगी एक ही शरीर में सैकड़ों वर्ष तक रहते हैं उसका यही रहस्य है। ऐसी स्थिति में पुरूष निरपेक्ष द्रष्टा, साक्षी होकर प्रकृति को देखता है तथापि वह पुनः प्रकृति के बंधन में नहीं पड़ता। कैवल्य प्राप्ति की स्थिति में यदि संस्कार व प्रारब्ध कर्म का प्रणाश हो चुका है और शरीर की आवश्यकता नहीं है तो योगी तत्काल विदेह कैवल्य को प्राप्त हो जाता है। यह कैवल्य की दूसरी स्थिति है।

जीवन मुक्ति की अवस्था प्राप्त योगी संसार में जल कमलवत् रहते हैं। विशेषकर

इस प्रकार के योगी शरीर पात पर्यन्त सर्वथा गुप्त भाव से नितान्त एकान्त स्थान में निवास करते हैं। हिमालय की दुर्गम घाटियों और हिमाच्छादित कन्दराओं में ऐसे योगियों के दर्शन आज भी सुलभ हैं। यदि कठिन है तो उन तक पहुँच पाना और उनके सान्निध्य का लाभ प्राप्त करना।

जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त योगी और उनके अनुभव- जीवन मुक्त अवस्था प्राप्त योगी के लक्षण क्या हैं अथवा उनकी संसार में स्थिति कैसी है और उनका स्वरूप कैसा है? इन सब बातों का स्थूल दृष्टि से अनुमान लगाना अथवा उनको समझना कठिन है। संसार समाज के बीच उनकी स्थिति मृतवत् होती है और उनका व्यवहार होता है जड़वत्। उनकी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अकर्मण्य हो जाती है। उनका व्यवहार समाप्त हो जाता है। किन्तु मन की गति अत्यधिक तीव्र हो उठती है और इच्छाशक्ति भी प्रबल हो जाती है। जो व्यापार इन्द्रियों के द्वारा मन करता है वह स्वयं मन ही करने लग जाता है। पच्चीस वर्ष पूर्व हिमालय की एक अत्यन्त दुर्गम घाटी की यात्रा की थी मैंने। वहाँ मेरा साक्षात्कार जिन गुप्त योगियों से हुआ था उनमें सभी जीवन मुक्त थे।

स्वामी योगेश्वरानन्द इस अवस्था को प्राप्त एक उच्चकोटि के योगी थे। तीन जन्म के अनवरत साधना के पश्चात वर्तमान शरीर में उन्हें जीवन मुक्ति अवस्था की प्राप्ति पैतीस वर्ष की आयु में हुई थी और उस शरीर में पूर्व संस्कार एवं प्रारब्ध कर्म को क्षय करते हुये लगभग एक सौ दस वर्ष हो गये थे। किन्तु इस दीर्घकाल का किञ्चित भी प्रभाव उनकी स्थूल देह पर नहीं पड़ा था। वे बिल्कुल युवक प्रतीत होते थे। उन्नत ललाट। नेत्रों में एक विचित्र प्रकार का तेज। दिव्य कान्तिमय मुखमण्डल। धवल केशराशि। काशी में कुछ समय निवास कर श्यामाचरण लाहिड़ी और अन्य उच्चकोटि के योगियों का सत्संग लाभ प्राप्त किया था उन्होंने।

क्या अब आपका काशीयात्रा करने का विचार नहीं होता? प्रश्न किया मैंने। इसका उत्तर मुझे जो उन्होंने दिया वह योग साधना भूमि में अपना महत्व रखता है। उन्होंने बतलाया योगी सर्वव्यापक है। उसे शरीर से कहीं आना-जाना नहीं पड़ता। वह अवर्णनीय शक्ति से मुक्त होता है। उसका अस्तित्व सर्वत्र है। इसीलिये किसी प्रकार की यात्रा का प्रश्न ही नहीं है उसके सामने।

जीवन मुक्ति की अवस्था में सर्वप्रथम जो उपलब्धि है वह है कालातीत अवस्था की उपलब्धि। जिस क्षण मुक्त अवस्था की प्राप्ति होती है उसी समय से खण्डकाल से निवृत्त होकर अखण्डकाल की सत्ता में योगी का प्रवेश हो जाता है। अखण्डकाल में केवल वर्तमान का अस्तित्व है और योगी का तादात्म्य उसकी शक्ति से हो जाता है। मैंने अनुभव किया कि मेरे सामने बैठा हुआ अविचल मुद्रा में उस महान योगी के पलक

झपकते नहीं थे और न तो नेत्र की पुतलियाँ इधर-उधर घूमती थीं। सहज भाव से मैंने इस संबंध में जिज्ञासा व्यक्त की। इस पर मुस्कुरा कर बोले वह- खण्डकाल का अतिक्रमण होने से ऐसा होता है। पलकों का झपकना और पुतलियों का घूमना खण्डकाल के प्रभाव से होता है। उसकी सत्ता से पृथक होने पर स्वभावतः ऐसा हो जाता है। खण्डकाल की शक्ति को अपराशक्ति कहते हैं। अखण्डकाल की शक्ति को पराशक्ति के नाम से संबोधित करते हैं। इसी प्रकार महाकाल की शक्ति को कहते हैं परमाशक्ति।

खण्डकाल- अपराशक्ति (भूत, भविष्य, वर्तमान)
अखण्डकाल- पराशक्ति (केवल वर्तमान)
महाकाल- परमाशक्ति (केवल अनुभूति मात्र)

केवल वर्तमान रूप अखण्डकाल विश्व में सर्वत्र व्याप्त है तादात्म्य होने पर योगी भी सर्वव्यापक हो जाता है विश्व में। इसके पश्चात दूसरी उपलब्धि इन्द्रियातीत अवस्था की है। इन्द्रियाँ खण्डकाल के अधीन हैं। उससे निवृत्त होने पर इन्द्रियों के अस्तित्व का भी तिरोधान हो जाता है। केवल मन का अस्तित्व रह जाता है। मन की शक्ति से ही इन्द्रियों का कार्य व्यापार होता है। इन्द्रियों और मन के बीच खण्डकाल है। इन्द्रियों से रहित मन स्वतंत्र होकर स्वयं इन्द्रियों का कार्य व्यापार योगी की इच्छा शक्ति से करने लग जाता है। यह अखण्डकाल की भूमि है। इस भूमि में बुद्धि के प्रथम भाव ज्ञान के साथ मन का केवल अस्तित्व रहता है। यह भूमि इन्द्रियातीत अवस्था की भूमि है। इसे भूलना न चाहिये। इसमें योगी की इच्छामात्रेण सिद्धि है। इच्छामात्र से ज्ञानमुक्त मन द्वारा जो कार्य होता है उसे ज्ञानमुक्त कर्म कहते हैं। जो भी कर्म है वह ज्ञानमय है। इसी को योगभाव भी कहते हैं। तांत्रिक इसी को पराभूमि के नाम से सम्बोधित करते हैं।

इसके बाद है तीसरी उपलब्धि, मनसातीत अवस्था की। इस अवस्था विशेष में योगी की इच्छाशक्ति मनःशक्ति में सदैव के लिये विलीन हो जाती है। उसकी संकल्प शक्ति, विचारशक्ति और इच्छाशक्ति, मनःशक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। केवल रहता है ज्ञान और रहता है केवल मन। अन्त में मन भी पराशक्ति में अर्पित हो जाता है। फिर रह जाता है मात्र ज्ञान। इसी को मनसातीत अवस्था कहते हैं। यही अकर्म अवस्था है। तांत्रिक लोग इसे संन्यास अवस्था कहते हैं अर्थात संन्यास भाव। योगी इसी अवस्था को प्राप्त कर महाकाल भूमि में प्रवेश करता है। मन का अर्पण अथवा तिरोधान हो जाने पर केवल आत्मा रहती है। आत्मा और मन के बीच महाकाल है। यह अनुभूतिजन्य भावनामय प्रवाह है। ज्ञान का स्वरूप परम ज्ञान में परिवर्तित हो

जाता है और उसी के द्वारा महाकाल की भूमि में योगी आत्मानुभव करता है। योगी की मात्र केवल आत्मा रहती है और इस अवस्था में अर्थात मनसातीत अवस्था में परमाशक्ति के अवर्णनीय अनन्त शक्तियों से योगी मुक्त होता है। यह परम संन्यास अथवा परमयोगी की अवस्था मानी जाती है। इसमें योगी सिद्धियों से परे परमाशक्ति की इच्छा को भोक्ता है। इससे सम्पन्न होकर वह महाशक्ति के प्रयोजन के अनुसार समस्त ऐश्वरिक कार्य करता है। इसके अनन्तर एक ऐसा भी समय आता है जबकि योगी को, अपने आपको महाशक्ति में अर्पित करना पड़ता है। इस महा समर्पण के पूर्व आत्मानुभूति, आत्म दर्शन और आत्म साक्षात्कार का क्रम सम्पन्न होता है। तांत्रिक दृष्टि में यह परमाभूमि है। क्रम के अनुसार महाकाल का भी तिरोधान हो जाता है। मात्र रह जाता है अस्तित्व परमाशक्ति अर्थात् महाशक्ति का। तब उसकी अपरिछिन्न अनन्त आनन्द स्वरूप में स्थिति हो जाती है। इस दिशा में योगी को किसी भी कार्य के लिये इच्छा नहीं करना पड़ता। उसके समस्त कार्यो और प्रयोजनों की सिद्धि महाशक्ति की महाइच्छा से स्वतः होती रहती है। कैवल्य, निर्वाण, मोक्ष आदि सब कुछ अवलम्बित हो जाता है महाशक्ति की इच्छा पर। इसके लिये आत्मरूप योगीगण अनन्त काल तक प्रतीक्षा करते रहते हैं "माँ" की अनुकम्पा की। आत्मरूप प्राप्त इस प्रकार महायोगी "माँ" की कृपा से प्रेरित होकर आश्रितों के दुःख नाश के लिये भूतल पर भी अवतरित होते हैं और माँ की महाइच्छा को साकार करते हैं।

योगी पुरुष और अवतारी पुरुष– इसी प्रसंग में उन्होंने बतलाया कि अवतारी पुरुष और योगी पुरूष में अन्तर है। एक ही पुरुष एक साथ योगी और अवतारी दोनों नहीं हो सकता। एक ही शरीर में संस्कार व प्रारब्ध क्षय कर सकने में असमर्थ जीवन मुक्त योगी अपनी इच्छानुसार शरीर धारण करते हैं। दूसरे वह योगी होते हैं जो जीवन मुक्त अवस्था की समस्त उपलब्धियों के पश्चात मोक्ष की कामना लिये माँ की अनुकम्पा की प्रतीक्षा में हैं। तीसरे योगी वह हैं जो महाशक्ति के साथ पूर्ण मुक्त हैं और कैवल्य की स्थिति को प्राप्त हैं। चौथे वह योगी हैं जिनकी आत्मसत्ता परमात्म सत्ता में विलीन हो चुकी है। जो अद्वैत स्थिति में होकर भी द्वैत हैं।

प्रथम प्रकार के योगी को शरीर धारण करने के अनन्तर पथ भ्रष्ट होने की शंका रहती है क्योंकि राजसी-तामसी लोक की आत्मायें उन्हें पथच्युत करने के लिये माता, पत्नी, पुत्र आदि के रूप में आती हैं और ऐसा वातावरण उपस्थित हो जाता है कि जीवन में अपने निजरूप को विस्मृत कर योगी जीव भावी हो जाता है इसीलिये प्रायः एक ही शरीर में संस्कार व प्रारब्ध कर्म क्षय करने का प्रयत्न किया जाता है।

माँ की कृपा की प्रतीक्षा में रत जो दूसरे प्रकार के योगी हैं- वे संसार में भ्रमण करने अथवा अनुभव प्राप्त करने के लिये इच्छानुसार स्थूल शरीर ग्रहण करते हैं। ऐसे लोग प्रायः उच्च कुल में अपने संस्कार के अनुरूप परिवार में जन्म ग्रहण करते हैं। ऐसे लोगों से संसार में ज्ञान का प्रचार-प्रसार होता है। ज्ञान के क्षेत्र में उन्नति होती है। नवीन सिद्धान्तों का जन्म होता है। उन्हें भोग व मोह बंधन में नहीं बांध सकता। वे पूर्ण वैराग्य और त्याग का जीवन व्यतीत करते हैं। जगद्गुरु शंकराचार्य, महावीर इसी कोटि के योगी थे।

तीसरे प्रकार के योगी 'माँ' की प्रेरणा अथवा आदेश से उनकी किसी विशेष इच्छा को साकार करने के निमित्त जगत में शरीर धारण करते हैं। धर्म के नये मार्ग, नये सिद्धान्त आदि का उनसे निर्माण होता है। साधना, उपासना के नये मार्गो का भी वे निर्माण करते हैं। सामाजिक और राजनीति के क्षेत्र में भी उनसे सहायता मिलती है। वे संसार, समाज, देश को नये विचारों की श्रृंखला में बांधने का प्रयत्न करते है। बुद्ध आदि इसी कोटि के योगी थे। सुखदेव, व्यास, वशिष्ठ, विश्वामित्र आदि भी इन तीनों प्रकार के पुरुषों को मात्र योगी कहा जा सकता है अवतारी पुरूष नहीं।

अवतारी पुरुष माँ की कृपा, अनुकम्पा और प्रेरणा अथवा आदेश की प्रतीक्षा नहीं करता। वह स्वयं धर्म, उद्धार, अधर्म का नाश, जगत कल्याण और धर्म साधना और ज्ञान के नये मार्ग के निर्माण के लिये अवतरित होता है। इस दिशा में शक्ति एवं सहयोग प्राप्त करने के लिये 'माँ' की अपेक्षा रहती है उसको। अतः माँ की षोडश कला में से कोई भी अनुकूल कला उसके सहयोग के लिये पृथ्वी पर साकार रूप धारण करती है। महाशक्ति की सोलह कलायें हैं। अन्तिम कला षोडशी कला है। यही चित्त कला भी है। तंत्र में इसे षोडशी विद्या अर्थात त्रिपुर सुन्दरी कहते हैं। षोडशी कला अपने निज रूप में रहती है। महाशक्ति का यह निज रूप समझा जाता है यह अवतार नहीं लेती।

भगवान श्रीकृष्ण, भगवान राम आदि अवतारी पुरुष थे। महामाया परमाशक्ति अथवा महाशक्ति इनके सहयोग के लिये अवतरित हुई थी। राधा और सीता में महाशक्ति की एक साथ पन्द्रह कलायें विद्यमान थी। भगवान कृष्ण, धर्म की रक्षा के लिये तथा राम, धर्म की मर्यादा की रक्षा के लिये विशेष रूप से अवतरित हुये थे। किन्तु भगवान श्रीकृष्ण पूर्ण और योगेश्वर अवतारी महपुरुष थे। रासलीला में उनके साथ महाशक्ति की पन्द्रह कलायें एक साथ राधा के रूप में रहती थी। यही सबसे बड़ी रहस्यमयी विशेषता है श्रीकृष्ण के अवतार में।

सांझ की स्याह चादर हिमालय के उत्तुंग शिखरों पर फैलने लगी थी। सहसा

बर्फिली हवा की गति तीव्र हो गयी और उसी के साथ होने लगी हिमवर्षा। परमहंसदेवजी के स्थान से लगभग तीन चार मील दूर पहाड़ी गांव में ठहरा हुआ था मैं। ऐसी स्थिति में वापस लौटकर जाना कठिन ही था। विवश होकर रात्रि वहीं व्यतीत करने का निश्चय किया मैंने।

रात्रि का प्रथम प्रहर। निस्तब्ध शान्त वातावरण। शान्त, निर्विकार मुद्रा में पूर्ववत् बैठे थे स्वामी योगेश्वरानन्द परमहंसदेव। तभी एक विचित्र घटना घटी शनैः शनैः गह्वर में स्निग्ध धवल शुभ्र प्रकाश फैलने लगा। फिर वह प्रकाश एक स्थान पर सिमटने लगा और आकार ग्रहण करने लगा एक मानवाकृति का। दूसरे क्षण स्पष्ट हुआ सब कुछ। मेरे सम्मुख एक महात्मा खड़े थे। सौम्य तेजोमय मुखमण्डल, नेत्रों में असीम करूणा और असीम दया, गौरवर्ण के थे।

परमहंसदेव ने उन्हें आसन दिया। ऐसा लगा मानों सम्पूर्ण गह्वर में कोई विचित्र अनर्वचनीय गन्ध व्याप्त हो गयी है। बाद में ज्ञात हुआ कि वह स्वर्गीय गन्ध महात्मा के शरीर से प्रस्फुटित हो रहा है।

उन महात्मा का आगमन प्रथम सिद्धाश्रम से हुआ था। वे निर्वाण शरीर में थे। किन्तु प्रबल इच्छाशक्ति के बल पर सूक्ष्म शरीर के माध्यम से कभी भी स्थूल शरीर धारण कर सकने में समर्थ थे। कुछ समय तक दोनों महापुरुषों के बीच समाधि भाषा में वार्तालाप होता रहा। जब परमहंसदेव ने मेरे विषय में बतलाया कि काशी से इनका आगमन हुआ है तो बड़ी सरल मधुर हँसी-हँस कर बोले- अच्छा। जब स्वामी रामकृष्ण काशी में पधारे थे तब उनके अनुरोध पर एक बार सत्संग के लिये काशी जाना हुआ था मेरा।

हे ईश्वर! क्या बोल रहे हैं ये महात्मा, आश्चर्य से अपने आप बोल उठा मैं। रामकृष्ण परमहंसदेव को तो शरीर छोड़े लगभग एक लम्बा समय हो गया। मेरे भाव को समझ लिया महात्मा ने। बोले- इसमें आश्चर्य की क्या बात है? ऐश्वर्य की प्राप्ति होने पर योगी के लिये सब कुछ सम्भव है। दिक्काल का व्यवधान उसके मार्ग में नहीं है। सर्वज्ञ सर्वकालज्ञ होता है योगी।

प्रसंग था जीवन मुक्ति का। इस पर बोले- बाहर का व्यवहार देखकर किसी का सामर्थ्य नहीं है कि जीवन मुक्त को पहचाने। जीवन मुक्त वास्तव में जीवन मुक्त है कि नहीं यह अनुभव करने के लिये एकमात्र सरल उपाय यह है कि साधारणतः मनुष्य दूसरे का विचार करते हुए उनके दोष गुण देखकर उसी के आधार पर उसके चरित्र का मूल्यांकन करता है परन्तु इस विचार के मूल में है अज्ञान। जबतक अपने में कर्तृत्वाभिमान रहता है तबतक जगत में सर्वत्र कर्तृत्वाभिमान ही दिखलायी पड़ता है। किन्तु अपना कर्तृत्वाभिमान छूट जाने पर आगे चलकर उसको अनुभव होता है

कि समस्त संसार अभिमान में बंधा हुआ है इसलिये अपने आप को अच्छा-बुरा कर्मो का अपने को कर्ता समझता है कोई। वस्तुतः आत्माभिमान के कारण ही ऐसा बोध होता है और लौकिक दृष्टि से यह ठीक भी है परन्तु अभिमान छूट जाने पर दिख पड़ेगा कि कोई किसी कर्म का कर्ता नहीं है। कर्ता एक परमपुरुष और एक परमाशक्ति है। वह जिस आधार.से जिस प्रकार का कर्म करता है वह वैसा ही कर्म करने को प्रवृत्त होता है। इसमें कर्ता की स्वतंत्रता नहीं है। संसार इस आधार को कर्ता समझ कर दोषी या गुणी ठहराता है। जागतिक दृष्टि से यह ठीक भी है। जीवन मुक्त पुरुष की दृष्टि इस प्रकार की नहीं होती। वह स्पष्ट देखता है कि सब कर्मो का वास्तविक कर्तृत्व एकमात्र महाशक्ति में है जीव में नहीं इसलिये जीवकृत किसी कर्म के लिये वस्तुतः जीवन में उत्तरदायी नहीं है। उसका अभिमान रहने के कारण ही जीव उत्तरदायी माना जाता है परन्तु यह लौकिक दृष्टि है। वास्तव में पुतली यदि अच्छी तरह नाचे तो इसमें उसका महत्व नहीं है। अगर महत्व माना जाय तो है नचाने वाले का। इस प्रकार की दृष्टि मुक्त पुरुष को छोड़कर इस लोक में अन्य किसी की हो नहीं सकती। अगर किसी में यह दृष्टि खुल गयी तो उसे जीवनमुक्त समझना चाहिये। जीवन मुक्त पुरुष एकमात्र महाशक्ति का कर्तृत्व देखते हैं। यही जीवन मुक्ति के स्वरूप का लक्षण है।

कालतत्व और क्षणविज्ञान- उक्त महात्मा का स्थूल परिचय दे दूँ मैं। लगभग अस्सी वर्ष पूर्व स्थूल शरीर में रहते हुए जीवनमुक्त अवस्था की प्राप्ति हुई थी। तब से क्रमोलंघन के पश्चात निर्वाण शरीर में थे और उस शरीर से उनका संबंध भू-लोक के अतिरिक्त अन्य लोक-लोकान्तरों के नित्य, अनित्य योगियों से था। उनका कहना था कि भू-मण्डल से जाने वाले योगियों को कुछ कालपर्यन्त सौर मण्डल में निवास करना पड़ता है। स्वामी रामकृष्ण, विवेकानन्द जैसे लोग अभी भी सौर मण्डल में हैं। जिस आकाश गंगा में हमारी पृथ्वी है उसमें लगभग डेढ़ सौ ऐसे सौर लोक हैं जिनमें उच्चकोटि के योगियों, साधकों का निवास है। इनमें कुछ खण्डकाल और कुछ अखण्डकाल के अन्तर्गत हैं। समयानुसार आवश्यकता पड़ने पर वहाँ के निवासी योगीगण सूक्ष्म शरीर द्वारा भू-मण्डल का भी संचरण करते हैं और दीक्षा प्रदान करने के योग्य पात्र को भी खोजते हैं। योग्य पात्र मिलने पर उसके सूक्ष्म शरीर को अपने साथ अपने लोक में ले जाकर दीक्षा प्रदान करते हैं और फिर समय-समय पर ज्ञान-विज्ञान का उपदेश भी प्रदान करते हैं।

काल और क्षण के संबंध में आपका क्या विचार है? इस पर बोले- कालातीत अवस्था जीवनमुक्ति की प्रथम प्राप्तव्य है। बिना इसकी उपलब्धि के योगी का आगामी मार्ग प्रशस्त ही नहीं हो सकता। कालतत्व है और क्षण उस तत्व का विज्ञान है।

जगत अथवा पदार्थों एवं इन्द्रियों के बीच खण्डकाल है। इन्द्रियों और मन के बीच खण्डकाल और मन एवं आत्मा के बीच महाकाल की सत्ता है।

खण्डकाल का तिरोधान हो जाने पर इन्द्रियाँ विषय रहित हो जाती है। अखण्ड काल का तिरोधान हो जाने पर मन इन्द्रियों से पृथक हो जाता है। इसी प्रकार महाकाल का तिरोधान होने पर आत्मा और मन में पृथकत्व हो जाता है। काल के ये तीन रूप हैं। इन तीनों का क्रमिक अतिक्रमण है।

काल के तीन रूप और उनसे प्रभावित तीन शरीर– खण्डकाल का प्रभाव स्थूल शरीर पर पड़ता है। जिसके फलस्वरूप स्थूल शरीर के विकास के मार्ग में जन्म के बाद बाल्य, किशोर, यौवन, प्रौढ़ता, वृद्धिक्य, क्रमबद्ध अवस्था में उत्पन्न होती है। एक ही शरीर क्रमशः इन सब अवस्थाओं को प्राप्त होकर और फिर उसको अतिक्रम करके भी चलता है इसीलिये कहा जाता है कि स्थूल शरीर काल के आधीन है। अनित्य जितनी भी वस्तुएं हैं उन सबमें ही सृष्टि से विनाशपर्यन्त इस प्रकार एक क्रम की धारा परिलक्षित होती है इसीलिये इसको परिवर्तनशील पर परिणामी कहकर वर्णन किया जाता है। यही काल की आधीनता है। इस आधीनता अथवा परतंत्रता से मुक्त हो जाना सर्वप्रथम आवश्यक है क्योंकि स्थूल शरीर अनित्य है। संस्कार और प्रारब्ध के आधार पर उसकी प्राप्ति होती है और इसी के आधार पर काल की मर्यादा और सीमा बंधती है अतः शरीर को उक्त बंधन से मुक्त करने का ही नाम कालातीत अवस्था है।

सूक्ष्म शरीर खण्डकाल की सीमा से परे है। अखण्ड काल से प्रभावित है स्थूल शरीर आयु की सीमा खण्डकाल की मर्यादा में है। इसके द्वारा केवल बहिरंग साधना पर उपासना सम्भव है अन्तरंग साधना आदि नहीं। वह सूक्ष्म शरीर द्वारा साध्य है। कालातीत अवस्था प्राप्त करने पर स्थूल शरीर से फिर कोई संबंध नहीं रह जाता, उसकी आवश्यकता, संस्कार और प्रारब्ध क्षय करने के निमित्त ही रह जाती है। अखण्डकाल केवल वर्तमान का प्रतिनिधि है। उसकी मर्यादा केवल वर्तमान है न भूत है और न तो है भविष्य। इसीलिये अखण्डकाल प्रभावी सूक्ष्म शरीर अपरिवर्तनशील है। स्थूल शरीर की भांति उसमें अवस्थायें नहीं है। जैसा था, वैसा है और वैसा ही रहेगा किन्तु फिर भी नित्य नहीं है। उसकी अपरिवर्तनीय स्थिति को "नित्य" की परिभाषा में नहीं बांधा जा सकता। नित्य इसलिये नहीं है कि दीर्घकाल के पश्चात आत्मा उसका भी त्याग कर देती है। जिस प्रकार स्थूल शरीर की मृत्यु होती है उसी प्रकार उसकी भी समझना चाहिये। दोनों शरीरों में परिवर्तनशीलता और अपरिवर्तनशीलता का भेद है। जिस प्रकार मुख, दर्पण में बिम्बित होता है किन्तु उसका प्रभाव नहीं पड़ता उसी

प्रकार स्थूल शरीर का बिम्ब सूक्ष्म शरीर पर पड़ता है किन्तु फिर भी स्थूल शरीर जनित वासना संस्कार आदि से अप्रभावित रहता है। इन दोनों शरीरों के बीच एक और शरीर है नाम है भाव शरीर अर्थात आकाशीय शरीर। स्थूल शरीर द्वारा अर्जित वासना, कामना, संस्कार आदि के अनुरूप एवं स्थूल शरीर के अनुसार उसका निर्माण और नाश होता रहता है इसीलिये भाव शरीर को वासना या प्रेत शरीर भी कहते हैं। प्रेतादि इसी शरीर में दिखलायी देते हैं। स्वप्न का अनुभव भी इसी शरीर के माध्यम से समझना चाहिए। तीसरा मुख्य शरीर कारण शरीर है। वह महाकाल से प्रभावित होता है। इस काल की सत्ता तरल भावनामयी प्रतीप्ति मात्र होती है।

इन्द्रियाँ स्थूल शरीर का विषय है, मन सूक्ष्म शरीर का विषय है और आत्मा है कारण शरीर का विषय। इन तीनों की अनुभूति अलग-अलग तीनों शरीरों के द्वारा होती है। इन्द्रिय संयम और अधिकार, मनः संयम और अधिकार, आत्म संयम और अधिकार। साधना की ये क्रमिक अवस्थायें हैं।

•••

नित्य वस्तु काल के आधीन नहीं है। वह सर्वदा हर एक भाव में विद्यमान रहता है। उसमें कभी भाषान्तर नहीं होता। काल एक गम्भीर तत्व है। सांसारिक सृष्टि प्रक्रिया के मूल में जैसा काल है ठीक उसी प्रकार मनुष्य के ज्ञान के मूल में भी काल है। कालगत समसूत्रता न रहने के फलस्वरूप द्रष्टा न दृश्य का दर्शन कर सकता है और न तो भोक्ता भोग्य का भोग कर सकता है। काल आपेक्षित है अतः द्रष्टा और दृश्य के एक ही काल में वर्तमान रहने पर दर्शन सम्पन्न हो सकता है। द्रष्टा शुद्ध अवस्था में सर्वदा वर्तमान काल में ही स्थित रहता है। दृश्य, वर्तमान रहने पर यानि अभिव्यक्त रहने पर और द्रष्टारूपी बिन्दु के साथ उसका संबंध होने से दर्शन क्रिया अवश्य सम्पन्न होती है किन्तु एक बात अवश्य है वह यह कि उसकी तादृश्य समसूत्रता रहने पर भी परिच्छिन्न दृष्टा के लिये दृश्य दर्शन कभी नहीं हो सकता है इसीलिये अनुभवी योगियों ने कहा है कि द्रष्टारूपी बिन्दु के साथ संबंध आवश्यक है। नहीं तो द्रष्टा के दृष्टिगोचर होने पर भी दृश्य प्रत्यक्ष नहीं होता। इस तथ्य को इस प्रकार समझा जा सकता है कि दृष्टि के सामने, सामान्य या व्यापक रूप में दृश्य विद्यमान रहता है परन्तु उसका विशिष्ट या मुख्य रूप प्रस्फुटित नहीं होता। द्रष्टा और दृश्य के बीच काल अलग रहने के कारण द्रष्टा के लिये दृश्य, अदृश्य हो जाता है। यह बड़ा गूढ़ रहस्य है। योगी ही समझ सकते हैं साधारण व्यक्ति नहीं। किन्तु किसी भी प्रकार से हो, उस दृश्य की सत्ता को आभास रूप में द्रष्टा की दृष्टि के निकट उपस्थित करने पर दृश्य वर्तमान हो जाता है इसीलिये दृष्टि पथ पर भी आ जाता है। वास्तव में दृश्य, द्रष्टा के निकट

नहीं आता केवल उसका आभास आता है। दूसरे प्रकार से इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि द्रष्टा यदि अपनी दृक् शक्ति के आभास रूप में दृश्य के निकट प्रयोजित कर सके तब भी द्रष्टा की आभास दृष्टि में उसके निकट अलौकिक होकर दृश्य का स्फुरण होता है। द्रष्टा, द्रष्टा ही रहता है और उसकी दृक् शक्ति भी वर्तमान का त्याग नहीं कर सकती। फिर भी विक्षेप के कारण दृक शक्ति का आभास संचारित हो सकता है। इन दोनों प्रकार के आभास संचार के मूल में ईश्वरी शक्ति जिसे योगीगण वैशी कहते हैं- की क्रिया से विद्यमान है जो द्रष्ट और दृश्य दोनों का अधिष्ठाता है।

काल की आरोहिणी और अवरोहिणी गति- प्रकृति का प्रवाह लोम और विलोम है। काल, प्रकृति का अधिष्ठाता है। प्रकृति के लोम प्रवाह के साथ उसकी आरोहिणी गति है और विलोम प्रवाह के साथ है अवरोहिणी गति। ३६ वर्ण मात्रिकाओं की उत्पत्ति ३६ तत्वों से हुई है। प्रत्येक वर्ण मातृका में एक तत्व है इसीलिये वर्ण मात्रिकायें नित्य हैं। "क" सदैव "क" ही रहेगा, "ख" भी सदैव "ख" ही रहेगा। वर्ण मातृकायें अपरिवर्तनीय और नित्य हैं। ये मातृकायें, काल की चरण अथवा मात्रायें हैं। १८ चरण-मात्रायें कलिका अवरोहिणी गति में तथा १८ चरण मात्रायें आरोहिणी गति में है। इनके आधार पर काल को चार भागों में विभक्त किया गया है- जिसे चतुर्युग, सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग कहते हैं। वर्तमान में काल की दोनों गतियाँ व्यक्त और अव्यक्त रूप में विद्यमान रहती हैं। काल का यह व्यक्त और अव्यक्त स्रोत, अखिल विश्व ब्रह्माण्ड के पूर्व केन्द्र बिन्दु से होकर शून्य की ओर प्रवाहित हो रहा है। काल की आरोहिणी गति में वस्तु की सत्ता व्यक्त अथवा दृश्य होती है और अवरोहिणी गति में अव्यक्त अथवा अदृश्य रहती है। दोनों गतियाँ साथ रहने के कारण "वस्तु" की सत्ता व्यक्त और अव्यक्त रूप में भी साथ रहती है। कोई भी वस्तु का स्वरूप इस दृष्टि से पूर्णरूपेण प्रकट नहीं है। उसका जितना अंश व्यक्त है समझना चाहिये वह आरोहिणी गति में है और जितना अंश अव्यक्त है समझना चाहिये वह अवरोहिणी गति में है किन्तु कालातीत हो जाने पर पूर्णरूप से स्वरूप का प्रकटीकरण हो जाता है यह अखण्ड वर्तमान की अवस्था है। दोनों गतियों की सन्धि में स्थित होने पर व्यक्त-अव्यक्त दोनों तिरोहित होकर सत्ता का स्वरूप वर्तमान में उपस्थित हो जाता है। खण्डकाल का संबंध देश और दिक् से है। देश और दिक् से ऊपर उठ जाने पर एवं दोनों गतियों की सन्धि में चले जाने पर केवल वर्तमान रह जाता है यानि अखण्ड काल की सत्ता। जैसे सूर्य उदय काल से पुनरोपण कालपर्यन्त आवर्तन कर रहा है। इसे स्वीकार कर लिया जाय तो फिर भी सूर्य का उदय काल अथवा पूर्वान्ह प्रभृति अन्य किसी काल विशिष्ट का देश के साथ संबंध मूल से समझना होगा। द्रष्टा निराधार नहीं है। वह जिस आधार अथवा भूमि में स्थित है और देख रहा है उसी के अनुसार उदय

काल अथवा पूर्वान्ह काल आदि का व्यवहार सिद्ध होता है क्योंकि द्रष्टा के एक भूमि में रहने पर जो उदय काल है, दूसरी भूमि में रहने पर उसी का अस्तकाल होना आश्चर्यजनक नहीं है। काल के स्रोत के रहस्य को समझने के लिये विशिष्ट देश के साथ संबंध पहले समझ लेना चाहिये।

•••

इस गम्भीर तथ्य को महात्मा ने और सरल ढंग से समझाते हुए कहा- मान लो काशी में तुम सूर्य को मध्यान्ह काल में देख रहे हो, ठीक है न। तुम्हारे लिये उदय काल अतीत और अस्तकाल भविष्य है उस समय। किन्तु किसी देशवासी के लिये सूर्य का मध्यान्ह काल उदय काल और किसी देशवासी के लिये अस्त काल है उस समय। तुम्हारा जो वर्तमान है वह कहीं भूत और कहीं भविष्य के रूप में विद्यमान है। तात्पर्य यह कि तीनों काल इस दृष्टि से एक ही अवस्था और समय में एक साथ विद्यमान है। इस दृष्टि से न कहीं भूत है न कहीं भविष्य है और न कहीं है वर्तमान। स्थान और द्रष्टा के कारण एक ही वर्तमान, भूत, भविष्य में पृथक है। यदि तुम काल के मूलस्रोत-बिन्दु में चले जाओ तो खण्डकाल का रहस्य खुल जायेगा। वहाँ से तुम सूर्य का न उदय देख सकोगे, न मध्यान्ह और न तो अस्त। बस सूर्य को देख सकोगे यानि मात्र वर्तमान। यही कालातीत अवस्था की उपलब्धि है और है अखण्ड काल का राज्य।

यदि तुम इसी प्रकार शून्य में स्थित हो जाओगे तो वर्तमान भी नहीं रहेगा बस केवल काल की अनुभूति मात्र रहेगी जिस प्रकार स्वप्नावस्था में त्रिकाल का ज्ञान लुप्त होकर केवल वर्तमान की अनुभूति मात्र रहती है।

शरीर और काल- जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत इन पाँच अवस्थाओं को समझते ही हो तुम- महात्मा ने कहा। किन्तु इन अवस्थाओं को काल की दृष्टि से समझने का कभी प्रयत्न किया है। स्थूल शरीर से पार्थिव जगत का संबंध है। दोनों की सत्ता एक दूसरे से प्रत्यक्ष होती है। दोनों खण्डकाल के आधीन है। स्थूल शरीर से जो भी ज्ञान होता है पार्थिव जगत की भूमि में खण्डकाल का होता है। दोनों खण्डकाल में बंधे हैं। यह जागृत अवस्था है। इसके बाद स्वप्नावस्था है। यह वासना भूमि है। इस अवस्था में जो जगत उद्‌घाटित होता है वह भी वासना जगत है। इसमें खण्डकाल के आधार पर केवल वर्तमान की प्रतीति मात्र होती है और वह होती है वासनामय शरीर द्वारा। योगियों के लिये इस जगत और इस शरीर का कोई महत्व नहीं है।

जागृत अवस्था के बाद की महत्वपूर्ण स्थिति है सुषुप्ति की। इसमें केवल वर्तमान काल का प्रवाह है। स्वप्नावस्था, वासना शरीर व वासना जगत की सीमा जहाँ समाप्त हो जाती है वहां से सुषुप्ति अवस्था, सूक्ष्म शरीर और सूक्ष्म जगत की सीमा शुरू होती है। यह सूक्ष्म भूमि है। इसमें सूक्ष्म जगत के साथ, सूक्ष्म शरीर अखण्ड काल यानि मात्र केवल वर्तमान से बंधा हुआ है। एक की सत्ता एक दूसरे से प्रत्यक्ष होती है। जिस

प्रकार स्थूल जगत का वाहक स्थूल शरीर, स्वप्न जगत का वाहक वासना शरीर है उसी प्रकार सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म जगत का वाहक होता है। इसमें वर्तमान काल का पूर्ण अनुभव होता है न भूत है और न तो है भविष्य इस भूमि में। यह जगत काल के स्रोत के पूर्ण बिन्दु में है। स्थूल और स्वप्न भूमि है मध्य बिन्दु में। इन भूमियों के बाद, कारण जगत है। इस जगत का वाहक है कारण शरीर। इसमें काल की अनुभूति मात्र है। त्रिकाल में से किसी काल की सत्ता नहीं है। महाकाल की भूमि है यहं। इस भूमि को योगियों ने मुख्य चार भागों में विभक्त किया है।

कारण शरीर और कारण जगत महाकाल के आधीन है। दोनों की सत्ता एक दूसरे से प्रत्यक्ष होती है। महाकाल के जो चार भाग हैं उसे महाकाल की चार अवस्थायें कहें तो समझ में आएगा। कारण जगत तुरीयावस्था में है। कारण जगत की दो अवस्थायें- तुरीय अवस्थायें हैं। शेष दो अवस्थायें तुरीयातीत अवस्थायें हैं इस अवस्था विशेष में काल, जिस शून्य की ओर प्रवाहित हो रहा है उसका अस्तित्व है अर्थात महाशून्य। यह काल का परमशून्य बिन्दु है।

महाकाल की चारो अवस्थाओं में जाने के लिये चार प्रकार की समाधियाँ हैं जिनमें दो हैं सविकल्प और निर्विकल्प समाधि और शेष दो हैं नरमेध और धर्ममेध समाधि। ये चारों समाधियाँ अवस्था विशेष है। काल के तीन भेद या अवस्थायें (खण्डकाल, अखण्डकाल, महाकाल) संबंधित तीन जगत (स्थूल, सूक्ष्म, कारण) और उन तीनों जगत से संबंधित काल प्रवाह की तीन अवस्थायें (मध्यावस्था, पूर्णावस्था और शून्यावस्था) हैं। खण्डकाल की अभिव्यक्ति प्राणों में होती है अतः स्थूल शरीर और जगत में प्राण की प्रधानता है। अखण्ड काल की अभिव्यक्ति मन में होती है अतः सूक्ष्म शरीर और जगत में मन की प्रधानता है। इसी प्रकार महाकाल की अभिव्यक्ति आत्मा में होती है अतः कारण शरीर और कारण जगत में मात्र केवल आत्मा की प्रधानता है इसीलिये तीनों को प्राणमय, मनोमय और आत्ममय जगत भी कहते हैं।

प्राणमय जगत पर अधिकार हठयोग मार्ग से, मनोमय जगत पर अधिकार राजयोग मार्ग से तथा आत्ममय जगत पर अधिकार ज्ञानयोग मार्ग से चलकर होता है। स्थूल जगत के पार्थिव वस्तुओं एवं घटनाओं के साथ त्रिकाल का संबंध होने से उसकी दीर्घकालीन प्रतीति हुआ करती है। घटना के अनुसार वातावरण की सृष्टि में जितना समय स्थूल जगत में व्यतीत होता है उसका सौवां अंश समय स्वप्नावस्था में व्यतीत होता है। हजारवां अंश सूक्ष्म जगत में और एक लाखवां अंश कारण जगत में व्यतीत होता है। हमारे पुराणों में ऋषियों की हजारों वर्ष पर्यन्त तपस्या करने की जो चर्चा मिलती है उसका यही रहस्य है। काल का प्रवाह जैसे-जैसे शून्य की ओर बढ़ता जाता है वैसे ही वैसे सूक्ष्म से सूक्ष्मतम् होता जाता है। इसी प्रकार मध्य बिन्दु पर्यन्त

स्थूल से स्थूलतम् भी होता जाता है।

•••

महात्मा ने आगे बतलाते हुये कहा- "वर्तमान" की सत्ता के साथ भूत और भविष्य भी अव्यक्त भाव में विद्यमान रहता है। भूत की अव्यक्त सत्ता सूक्ष्म शरीर में रहती है। जिसका परिणाम है "स्मृति"। भूत की सत्ता स्मृति रूप में विद्यमान रहती है। इसी प्रकार एक ही काल में भविष्य भी कारण शरीर में रहता है। वर्तमान रहता है स्थूल शरीर में। स्थूल शरीर के साथ अन्य दोनों शरीरों का अस्तित्व रहने के कारण इस प्रकार अतीत-अनागत और वर्तमान का एक साथ विद्यमान रहना व्यक्त-अव्यक्त रूप में स्वाभाविक ही है।

शरीर में काल का केन्द्र और शक्ति का पीठासन : स्थूल शरीर का केन्द्र नाभि है। सूक्ष्म शरीर का केन्द्र हृदय है और इसी प्रकार कारण शरीर का केन्द्र है मस्तिष्क। ये तीनों केन्द्र काल के मध्यबिन्दु, पूर्णबिन्दु और शून्यबिन्दु हैं। ये तीनों स्थान शून्य हैं। क्रमशः इन्हें शून्य, महाशून्य और परमशून्य स्थान कह सकते हैं। योगी लोग इन्हें व्योम, महाव्योम और परम व्योम के नाम से भी सम्बोधित करते हैं। शून्य स्थान शक्ति का पीठासन है। इस प्रकार तीनों शून्य अथवा व्योम काल की तीनों अवस्थाओं की शक्तियों के तीन पीठासन माने जाते हैं।

शून्य अर्थात व्योम अपराशक्ति का पीठासन है। महाशून्य अर्थात महाव्योम पराशक्ति का और परमव्योम अथवा परमशून्य परमा शक्ति का पीठासन है। तांत्रिक साधना भूमि में इन्हीं तीनों काल की शक्तियों को क्रम से श्यामाकाली, वामाकाली और दक्षिणाकाली के नाम से सम्बोधित किया गया है। वामाकाली, कालप्रवाह की आरोहिणी गति शक्ति है। इसी प्रकार दक्षिणाकाली अवरोहिणी गति शक्ति है। श्यामाकाली काल की मध्यमा गति शक्ति है। दक्षिणा काली महाकाल की महाशक्ति है। इनका स्थान परमव्योम अथवा परमशून्य है। यही महाश्मशान है। वामाकाली अखण्ड काल की पराशक्ति है इनका स्थान महाव्योम अथवा महाशून्य है। यही श्मशान है। इसी प्रकार श्यामाकाली का स्थान व्योम शून्य है। यह खण्डकाल की शक्ति है। इस स्तर पर काशी के दो श्मशानों में एक महाश्मशान है और दूसरा श्मशान। ज्ञान और कर्म की दृष्टि से काशी दो भागों में विभक्त है। दशाश्वमेध से अस्सी संगम तक की सीमा ज्ञानखण्ड है। इसी खण्ड में महाश्मशानवासी केदारेश्वर लिंग समक्ष गौरी कुण्ड और दक्षिण ओर महाश्मशान भूमि है। यह दक्षिणाकाली की लीला स्थलि है।

दशाश्वमेध से वरूणा संगम पर्यन्त की सीमा कर्मखण्ड है। इसमें श्मशानवासी विश्वेश्वर लिंग ज्ञानवापी कुण्ड और मणिकर्णिका श्मशान भूमि है। इसे वामाकाली की लीला भूमि समझना चाहिये।

•••

खण्डकाल के अन्तर्गत काल वैषम्य सर्वत्र है। महात्मा ने आगे कहा पूर्वोक्त दृष्टान्त से समझ गये होंगे कि जैसे यहाँ सन्ध्या है इस समय। उसी समय दूसरे स्थान में प्रातःकाल। जैसे कई काल वर्तमान रहते हैं। उसी प्रकार यहाँ जब कलियुग है उसी समय अन्य स्थान में चतुर्युग में से कोई युग विद्यमान है। तात्पर्य यह कि कलियुग कहने से ही सर्वत्र ही कलि का समरूप में प्रभाव है यह बात नहीं है। किसी स्थान पर अन्य किसी युग का प्रभाव पड़ रहा है। कलियुग के भीतर भी अवान्तर भेद इस प्रकार से समझना होगा। इस विशाल विश्व के भीतर ऐसे स्थान हैं जहाँ इस समय सतयुग, त्रेता या द्वापर युग चल रहा है। कहने का अर्थ यह कि एक ही समय में भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न युग चल रहा है। यदि एक युग का व्यक्ति दूसरे युग के व्यक्ति का अन्वेषण करे तब भी पता नहीं चल सकेगा। जिन-जिन स्थानों पर भिन्न-भिन्न युग कार्य कर रहे हैं उनका भी सन्धान नहीं हो सकता इसीलिये मैंने पूर्व में कहा कि द्रष्टा और दृश्य दोनों कालगत समसूत्रता में है। अगर ऐसा न रहे तो दर्शन ही न होगा। यह आधार मतभेद केवल देश में ही नहीं है बल्कि प्रत्येक व्यक्ति में पर्यवासित है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का शरीर ही उसकी कर्म भूमि है। एक ही स्थान में दो व्यक्ति ठीक एक ही काल में निवास नहीं कर सकते। दोनों के भीतर कालगत वैषम्य रहेगा ही। इसीलिये प्रत्येक व्यक्ति के लिये प्रत्येक व्यक्ति रहस्यमय है। स्त्री जाति में गतिशक्ति अर्थात काल की शक्ति का वैषम्य होने के फलस्वरूप मनुष्य से अधिक वह रहस्यमयी है। मनुष्य हो या स्त्री दोनों का परस्पर व्यवधान जबतक काल के क्षण में प्रतिष्ठित न होगा तबतक तिरोहित नहीं हो सकता।

काल निस्सन्देह दुर्भेद्य रहस्य है। इसके इस रहस्य को समझना ही योग की महिमा है। योगीगण रहस्य भेद कर जगतव्यापी सत्ता के साथ अपने को मुक्त कर लेते हैं। तब उनको किसी भी देश-देशान्तर में जाना न होगा। मुक्त होने के फलस्वरूप इच्छा मात्र से कोई भी स्थान परदेश समक्ष प्रस्फुटित हो जायेगा। वहाँ वह उपस्थित हो जायेगा। व्यापक सत्ता के अंश विशेष के साथ द्रष्टा बिन्दु का योग स्थापन ही एक विशिष्ट काल के अनुभव का मूल है। त्रिकाल के साथ साधारणतः सभी का परिचय है परन्तु एक अखण्डकाल वर्तमान रूप महाकाल ही है। अतीत और अनागत अव्यक्त रूप में विद्यमान है। वर्तमान का प्रकाश आवरण शून्य होने पर सर्वत्र अभिन्न रूप से स्फुटित होता है इसलिये अन्य दोनों काल नहीं रहते। एक भाग वर्तमान ही रहता है। यह वर्तमान ही योगियों का क्षण है। इसी को सन्धि क्षण भी कहते हैं। भूत और भविष्य की सन्धि या उसकी उपलब्धि होती है। एकमात्र योगी को छोड़कर और कोई भूत और

भविष्य से अलग करके इस अन्तरालवर्ती क्षण को ग्रहण नहीं कर सकता। वह इतना सूक्ष्म है कि बिना योगी के कोई उसका अनुभव नहीं कर सकता।

जिस प्रकार एक अणु में असीम शक्ति भरी है, उसी प्रकार एक सूक्ष्मतम् क्षण के गर्भ में विश्व की व्यापकता विद्यमान है। भगवान श्रीकृष्ण ने अन्तरालवर्ती क्षण का ही आश्रय लेकर अर्जुन को अपने विराट रूप का दर्शन कराया था।

क्या, इसी प्रकार किसी योगी की सहायता से साधारण व्यक्ति इन सबका अनुभव नहीं कर सकता। क्यों नहीं और फिर उन्होंने निर्मिनेष दृष्टि से मेरी दृष्टि की ओर देखा और मेरी दृष्टि स्वयं फिर स्थिर हो गयी। दूसरे क्षण मेरे सम्मुख मेरे ही जीवन का अतीत, अनागत और वर्तमान उद्घाटित हो गया। मातृगर्भ से बाहर निकलने की घटना से लेकर मृत्युपर्यन्त तक की समस्त घटनायें मेरे चर्मचक्षु के समक्ष एक साथ उपस्थित हो गयी।

शरद पूर्णिमा की धवल शुभ्र रात्रि। अवसान की ओर उन्मुख। शान्त निर्जन पर्वतीय वन प्रदेश। पूर्व दिशा का आकाश पटल शनैः शनैः श्वेत हो रहा है। फिर उषा और अरूणोदय काल की सन्धि बेला। पक्षियों का सुमधुर कलरव। वन प्रान्तों का स्पर्श कर मन्द गति से बहता हुआ शीतल समीर। शान्त निस्तब्ध वातावरण। फिर मैं अपने आपको देख रहा हूँ संन्यासी भेष में। दो-दो भयंकर राज रोगों से क्लान्त जीर्ण-शीर्ण वृद्धोन्मुख काया।

पाकड़ का पुराना वृक्ष। जिससे लगा हुआ किसी मन्दिर का भग्न अवशेष। उसी मन्दिर के चबूतरे पर लेटी हुई है मेरी काया। जिसके बगल में रखा है कमण्डल, आसन और चार पुस्तकें और उन्हीं पर रखी हुई है रूद्राक्ष की माला। एक बार मैं उन पुस्तकों को और रखी हुई माला की ओर देखता हूँ और फिर शनैः शनैः दृष्टि वहाँ से हटकर पूर्व दिशा की ओर चली गयी जहाँ अरूणोदय काल का सिन्दूरी रंग उषा की मांग में भरता जा रहा था और उसी दृश्य को समेट कर सदैव के लिये मेरे नेत्र फिर बन्द हो गये। जिसके साथ ही छूट गयी मेरी काया और छूट गया मुझसे यह पार्थिव जगत।

किसी एक दृश्य का सर्वदा के लिये दर्शन किया जा सकता है या नहीं? तत्पश्चात् प्रश्न किया मैंने। अवश्य किया जा सकता यदि ऐसा सम्भव न होता तो 'सदापश्यन्ति सूरय' इस निगम वाक्य की सार्थकता नहीं रहती।

सर्वदा दर्शन करने के लिये किस प्रकार की योग्यता आवश्यक है? प्रश्न किया मैंने। साधारणतः दृश्य परिणामी अथवा परिवर्तनशील है। ऐसा लोगों का कहना है अर्थात सदा एक रूप लेकर वर्तमान नहीं रहता। दृश्य निरन्तर परिवर्तित होता रहता है इसीलिये द्रष्टा के स्थिर रहने पर भी एक ही दृश्य बराबर दृष्टिगोचर नहीं हो

सकता। यह संशय वास्तव में निरर्थक है। जो लोग दृश्य विज्ञान को नहीं जानते हैं वे ही इस प्रकार का संशय प्रकट करते हैं और जो जानते हैं- वे निरर्थक अथवा निराधार समझते हैं। इसका कारण स्पष्ट करता हूँ।

सूर्य और पृथ्वी के बीच में किसी एक को स्थिर मानकर दूसरे को गतिशील मानने पर गणना के कार्य में कोई बाधा नहीं होती। यदि दोनों ही स्थिर होते या दोनों ही समरूप में गतिशील होते तब स्थिति और गति की उपलब्धि न होती। ठीक इसी प्रकार दृश्य को परिणामी मानकर द्रष्टा को स्थिर मानने पर विशिष्ट दशा का नित्य दर्शन नहीं हो सकता। क्योंकि दृश्य के परिवर्तनशील होने के कारण जिस क्षण में जो दृश्य प्रकट है उसी क्षण में उस दृश्य का दर्शन हो जाता है परन्तु एक ही विशिष्ट दृश्य का सर्वदा दर्शन इस प्रकार से नहीं होता। कुछ क्षण तक निर्विकार भाव से बैठे रहे महात्मा, फिर गम्भीर वाणी में बोले- काल का चक्र निरन्तर घूम रहा है। इस आवर्तन में जो वृत्त रचित हो रहा है उसमें ३६० कलायें हैं। योगी जब द्रष्टा भाव से इन कलाओं के समष्टि रूप बिन्दु का आश्रय करके दर्शन करते हैं तब दृश्य नित्य रूप से दृश्यमान होता है। इस पूर्ण दृष्टि के सम्मुख में दृश्य का तिरोधान नहीं होता। बिन्दु में अधिष्ठित होकर योगी अखण्ड मण्डलाकार दृश्य दर्शन करते हैं। प्रत्येक दृश्य ही इस दर्शन में नित्य रूप से प्रतिष्ठित रहता है। क्षणिक का द्रष्टा, दृश्य का क्षणिक रूपी दर्शन करता है। दृश्य का नित्य रूप उसको दृष्टिगोचर नहीं होता। इसका कारण यह है कि द्रष्टा आवर्तन काल चक्र में अधिष्ठित है। यदि परिधि से न देखकर केन्द्र से दर्शन किया जाय यानि बिन्दु में आसीन न होकर दर्शन किया जाय अथवा ३६० कलाओं की समष्टि में अधिष्ठित होकर दर्शन किया जाय तब वह दृश्य का नित्य रूप दर्शन अवश्य कर सकेगा। इस अवस्था में उसका सर्वदा दर्शन स्वाभाविक है।

इस विवरण से स्पष्ट है कि कालिका दर्शन क्रमबद्ध दर्शन है। मध्य बिन्दु में प्रतिष्ठित होकर जो दर्शन लाभ होता है वह कालिक दर्शन नहीं है। इसी से उस दर्शन में क्रम नहीं रहता। क्रम भाव से केन्द्र एक होकर भी अनन्त है और परिधि का प्रतिरूपक है। इसी से उसमें ३६० कलायें एक महाकला रूप में अद्वैत भाव से प्रकाशमान हैं। केन्द्र का एकत्व इस अद्वैत भाव के ऊपर प्रतिष्ठित है। केन्द्र अथवा मध्य बिन्दु से जब योगी दृश्य का दर्शन करता है तब दृश्य का एक देश दर्शन नहीं होता। एक अखण्ड दर्शन ही समग्र दृश्य या दृष्टि रूप में प्रकाशित होता है अर्थात एक अभिन्न दृश्य दर्शन में अनन्त विशिष्ट दृश्यों का विशिष्ट दर्शन युगयत विद्यमान रहता है। इसी का नाम है योगी का काल लंघन।

महानिशा बेला। वर्षा थम गयी थी। मेघ हिमालय की गोद में छिप गये थे।

चतुर्दशी का रूपहला स्निग्ध चांद उत्तुंग हिमशिखरों की ओट से झांकने लगा था। धवल चांदनी शान्त वातावरण में बिखरी हुई थी चारो ओर। महात्मा का स्थूल शरीर जिस प्रकार अभिव्यक्त हुआ था उसी प्रकार तिरोहित हो गया महानिशा में। केवल शेष रह गया था उस गुफा के वातावरण में उनके दिव्य शरीर से प्रस्फुटित होने वाला अनर्वचनीय दिव्य गन्ध।

स्वामी परमहंसदेव ने बतलाया कि वे एक साथ कई चित्तों का निर्माण और उसके अनुसार कई शरीरों की सृष्टि कर सकने में समर्थ योगी हैं। एक ही समय में कई स्थानों पर प्रकट होकर इसी प्रकार वे गूढ़ तत्वों का प्रकाशन करते हैं।

योग तंत्र के अपने अनुभव पूर्व विशाल ज्ञान-भण्डार में से मुझे उन्होंने जो कुछ प्रदान किया उच्चृष्ट, वह मेरी साधना और आध्यात्मिक जीवन की अमूल्य सम्पत्ति सिद्ध हुई इसमें सन्देह नहीं। सबसे दुर्लभ बात तो यह हुई कि उनकी कृपा से मैंने अपने सम्पूर्ण जीवन को चलचित्र की तरह देखा और अनुभव किया। पिछले प्रकरण में जिन गूढ़ तथ्यों पर सांख्य दर्शन प्रतिष्ठित है उनकी संक्षिप्त विवेचना और आलोचना की मैंने। उन तथ्यों के आधार पर वह अपने लक्ष्य को स्थिर करता है।

सांख्य का मुख्य लक्ष्य है विवेक, बुद्धि की प्राप्ति और उसके द्वारा अविद्या का नाश। अपने प्रखर सिद्धान्तों के अनुसार उन उपायों का उसने वर्णन किया है जिनसे विवेक बुद्धि की प्राप्ति सम्भव है। सांख्य दर्शन ईश्वर पथ का प्रथम प्रवेश द्वार है। जब तक विवेक बुद्धि की प्राप्ति न होकर अविद्या का पूर्ण प्रणाश नहीं होता तबतक ईश्वर पथ का अनुशरण असम्भव है। बाह्य पूजा, उपासना, साधना जप-तप, तपश्चर्या और वैदिक यज्ञ-यज्ञादि द्वारा मनुष्य के आत्यन्तिक और एकान्तिक रूप से दुःख का नाश नहीं हो सकता। दुःख के मूल में अविद्या है। अविद्या के मूल में है अविवेक बुद्धि। अविद्या का दूसरा नाम है अज्ञान। सांख्य ने जिन उपायों का वर्णन किया है उनमें मुख्य है ज्ञान। जैसाकि स्प्रष्ट है सांख्य की दृष्टि में दो मूल तत्व हैं। पहला है चेतन तत्व और दूसरा है जड़ तत्व। जिनको वह पुरुष और प्रकृति के नाम से अविहित करता है। इन दोनों का संबंध सूत्र है अविद्या। जिसके कारण चेतन प्रकृति को प्रभावित करता है। जिसके फलस्वरूप प्रकृति जड़ होने पर भी चेतन की तरह कार्य करने लगती है और उसके गुणों का आरोप चेतन पर पड़ता है।

चेतन यानि पुरुष स्वभावतः निर्लिप्त त्रिगुणातीत और असंग होने पर भी प्रकृति के गुणों के कारण अपने आप को कर्ता, भोक्ता आदि समझने लगता है। यही पुरुष का बंधन है और दुःख का है मूल कारण। जबतक पुरुष अपने निजस्वरूप को नहीं

पहचान लेगा तबतक वह बन्धन से मुक्त कदापि नहीं हो सकता और न तो दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही हो सकती है। दोनों के परस्पर आरोप का नष्ट होना आवश्यक है किन्तु यह 'ज्ञान' होने पर ही सम्भव है। ज्ञान से तात्पर्य है अपने निजस्वरूप को पहचानना।

सांख्य के सिद्धान्त और उद्देश्य- निजस्वरूप को पहचानने की दिशा में मुख्य उपाय एकमात्र ज्ञान है। यहाँ ज्ञान से तात्पर्य है आत्मज्ञान। ज्ञान के द्वारा परस्पर आरोप नष्ट हो जाते हैं। पुरुष प्रकृति से अपने आपको भिन्न समझने लगता है और प्रकृति भी पुरुष से अपने को मुक्त कर लेती है और पुनः उक्त मुक्त पुरुष के लिये सृष्टि नहीं करती। इसी का नाम है विवेक, बुद्धि या कैवल्य। इसी अवस्था में दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। पुरुष का अपने स्वरूप को जान लेने के पश्चात् प्रकृति से उसका कोई संबंध नहीं रह जाता। वह अपने निजस्वरूप में स्थित होकर प्रकृति को देखता है किन्तु विवेक बुद्धि के कारण उससे न प्रभावित होता है और न तो उसके बंधन में ही पड़ता है। सारांश यह कि प्रकृति से अपने को मुक्त कर लेना और अपने निजस्वरूप में स्थित हो जाना कैवल्य है और यही सांख्य का एकमात्र लक्ष्य है। कैवल्य प्राप्ति से तात्पर्य है ईश्वर पथ की आधी यात्रा पूरी कर लेना।

शेष आधी यात्रा आध्यात्मिक संघर्ष की यात्रा है। पुरुष का एकमात्र कैवल्य प्राप्ति तक लक्ष्य नहीं। कैवल्य तो एक उच्च स्थिति है और एक ऐसी अवस्था है- वह प्रकृति के बंधनों से मुक्त होकर निर्विकार, निर्लिप्त और एकाकी भाव से, प्रकृति का द्रष्टा बनकर शेष आधी यात्रा पूर्ण करता है। ईश्वर पथ के दीर्घ आध्यात्मिक इस प्रकार दो लक्ष्य सामने आते हैं। पहला है कैवल्य और दूसरा है ईश्वर साक्षात्कार। यात्रा के पूर्वार्द्ध में पहला और उत्तरार्ध में दूसरा लक्ष्य पूर्ण होता है। कैवल्य से तात्पर्य आत्म साक्षात्कार अथवा आत्म ज्ञान है।

•

तृतीय प्रसंग

बिन्दु सिद्धि

तांत्रिक साधना के सम्बन्ध में पूर्ण ज्ञान न होने के कारण ही उसके प्रति अनेक भ्रान्त धारणायें और कुत्सित विचार जनसाधारण में देखने को मिलते हैं। यहाँ यह ज्ञात कर लेना चाहिए 'तंत्र' समस्त ज्ञान-विज्ञान का मूल स्रोत है। इसका मार्ग सर्वोच्च है। तांत्रिक साधना अति गूढ़, रहस्यमय और गूढ़गम्य है। गुरु के अभाव में इस मार्ग में गति संभव नहीं। यहां यह बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि लगभग तीन सौ वर्षों से मेरा परिवार शाक्तमार्ग का अनुयायी रहा है। इस दीर्घ अवधि में कुल परम्परा में अनेक गुप्त शाक्ततंत्र साधक हो गये हैं जिनका महत्व अवर्णनीय है। उनके साधना मार्ग के अनुभव पाण्डुलिपि रूप में आज भी मेरे पास सुरक्षित हैं साथ ही सुरक्षित हैं परिवार द्वारा संग्रहित तंत्र शास्त्र के अलभ्य, दुष्प्राप्य और हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथों एवं दुर्लभ पाण्डुलिपियाँ जिनमें तंत्र पारिजात, भैरवी तंत्र, कालीकाम तन्त्र, कला विलास, मुण्डमाला तंत्र आदि मुख्य है।

अब प्रश्न यह है कि यंत्र अथवा मंत्र में कौन-सी ऐसी गुप्त शक्ति कार्य करती है कि उसके द्वारा अभीष्ट सिद्धि संभव हो जाती है। साथ ही दूसरा प्रश्न यह भी है कि यंत्र और मंत्र के द्वारा सूक्ष्म लोकवासी दिव्य आत्मायें अथवा अदृश्य जगत में देवतागण किस प्रकार आकर्षित होकर मनुष्य को दैवी सहायता प्रदान करते हैं। क्या इन सबका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण है?

इनका उत्तर देते हुए मैं टेलीविजन, रेडियो प्रसारण यंत्र और रेडियो ध्वनि ग्राहक यंत्रों का प्रमाण दूंगा। इन यंत्रों से शब्द और चित्रों के प्रसारण और ग्रहण का माध्यम मात्र केवल वायु तरंगें ही तो हैं। इन वायु तरंगों में विद्युत चुम्बकीय तरंग मिश्रित होकर शब्दों अथवा चित्रों को हजारों मील एक क्षण में ले जाते हैं। इसी से मिलता जुलता 'तंत्र-विज्ञान' है। कहना असंगत न होगा कि तंत्र-विज्ञान के ही सिद्धान्तों पर रेडियो और टेलीविजन जैसे यंत्रों का आज निर्माण हुआ है अन्तर केवल क्रियाओं का है। तंत्र में भौतिक विज्ञान और आध्यात्मिक विज्ञान दोनों का समावेश है। दोनों की साधना का माध्यम स्थूल शरीर है।

बिन्दु सिद्धि ही परम लक्ष्य– तांत्रिक साधना के बहुत से मार्ग हैं। इस साधना का मुख्य लक्ष्य है बिन्दु सिद्धि, बिन्दु साधना और सिद्धि के द्वारा तृष्णा अथवा वासना का प्रणाश कर कैवल्य प्राप्ति एकमात्र उद्‌देश्य है। बिन्दु को ही शिव, बोधिचित्त, शुक्र आदि नामों से अभिहित किया गया है।

तांत्रिक साधना में मनोमय कोश, प्राणमय कोश और अन्नमय कोश का महत्व है। इन तीनों का सारांश क्रमशः मन, प्राण और वीर्य अथवा शुक्र है किन्तु साधना में मन और प्राण इन दोनों का योग समझना चाहिए। साधना के प्रथम सोपान में साधक को, बिन्दु में इन दोनों का सामञ्जस्य करना पड़ता है। इसके अभाव में बिन्दु उर्ध्वगामी नहीं हो सकता।

तांत्रिक साधना में मनोमय पीठ, प्राणमय पीठ और बिन्दुमय पीठ ये मूल पीठ माने गये हैं, पीठ का अर्थ है केन्द्र। इन तीनों में परब्रह्म परमात्मा की भिन्न-भिन्न शक्तियाँ क्रियाशील है। मनोमय पीठ में शक्ति, प्राणमय पीठ में गति शक्ति और बिन्दुमय पीठ में आकर्षण शक्ति है। इन तीनों की एकता से जिस महाशक्ति का प्रादुर्भाव होता है वह है 'कुण्डलिनी शक्ति'। मनुष्य के शरीर में तथोक्त तीन पीठ और उनकी शक्तियों के अतिरिक्त 'कुण्डलिनी महाशक्ति' भी स्थित है। इसी एकमात्र शक्ति के माध्यम से पंचतत्वों का एकत्रीकरण अथवा जीवात्मा का स्थूल से सूक्ष्म रूप और ग्रहण करने की क्रिया सम्पन्न होती है। जब यह शक्ति योग साधना द्वारा जागृत होती है, तो उसके पश्चात् वह क्रिया भी समाप्त हो जाती है। तंत्र की सगुणोपासना भूमि में भिन्न-भिन्न भावों और स्वरूपों द्वारा एकमात्र इसी महाशक्ति को लिया गया है। साधना मार्ग में इस महाशक्ति के इतने रूप लिए गए हैं-

मायाकुण्डलिनी क्रिया मधुमती कालीकला मालिनी।
मातंगी विजया जया भगवती देवी शिवा शाम्भवी।।
शक्तिः शंकर वल्लभा त्रिनयना वाग वादिनी भैरवी।
ह्रीं कारी त्रिपुरा परा पर मयी माता कुमारी त्यसि।।

(कापालिक तंत्र)

कुण्डलिनी महाशक्ति का प्रणव रूप **'ह्रीं'** और **'ओम'** में कोई अन्तर नहीं दोनों प्रणव हैं। यह त्रिकोण योनि पीठ के मध्य में प्रतिष्ठित है। योनि पीठ ही महापीठ है। त्रिकोण के ऊपर दो कोणों में मनस्तत्व पीठ और प्राणतत्व पीठ है। नीचे बिन्दु पीठ है। मन का लय प्राण में और प्राण का विलीनीकरण बिन्दु में होता है। एवमेव मन प्राणयुक्त बिन्दु की उद्‌बोध अवस्था है। बिन्दु का उद्‌बोध और कुण्डलिनी जागरण वस्तुतः एक ही व्यापार है। तंत्र में इसी को स्वशक्ति चण्डालिनी का जागरण कहते

हैं। इस जागरण के साथ ही मस्तकस्थ चन्द्र बिन्दु से अमृत क्षरण होना आरम्भ होता है। यह सब व्यापार अन्नमय कोश अथवा मनोमय कोश में होता है। इस कोश में आनन्दमय कोश पर्यन्त विभिन्न अग्नियों की स्थिति है। ये अग्नियाँ औपनिषद साधन राज्य में पंचाग्नक नाम से प्रसिद्ध है। विक्षुब्ध बिन्दु उर्ध्वगामी होकर इनमें क्रमशः आहत होता हुआ आनन्दमय कोश में प्रविष्ट होता है। उर्ध्वोन्मुख बिन्दु अपने इस अर्पण भाव से अग्नि द्वारा शुद्व परिशुद्ध होकर अपनी मूलावस्था में प्राप्त होता है। यह शुद्धि आपेक्षिक मात्र है क्योंकि निम्न स्तरों से कुछ न कुछ रह ही जाता है। अन्त में जब शुद्ध क्रियापूर्ण हो जाती है तब मल नहीं रहता फिर अर्पण अथवा आहुति का प्रयोजन भी नहीं रहता। वस्तुतः वहां अग्नि की क्रिया समाप्त हो जाती है। वहीं विशुद्धतम् अमृतत्व का लाभ होता है। पांचों स्तर में पांच प्रकार के अमृत मिलते हैं किन्तु पांचवाँ अमृत ही मुख्य माना जाता है। यही आनन्दमय कोश का उपादान तथा उपजीव्य है। इसी को रस सिद्धी कहते हैं। यही भक्ति रस, प्रेम और मातृअंक है। यह परम आनन्द है। साधक उसमें अपने को विलीन कर स्वरूपानन्द को प्राप्त होता है। तंत्र का यही रहस्य साधन है। इस भूमि में बिन्दु की पूर्ण शुद्धि और स्थिरता सिद्ध होती है।

बिन्दु का विक्षुब्ध होना तो योग से संभव है किन्तु इसके क्षेम से चाण्डालिनी का जागरण तबतक संभव नहीं, जबतक योग्य गुरु के द्वारा स्पर्श दीक्षा की प्राप्ति नहीं होती। तांत्रिक साधना का यही गुप्त उपदेश है कि दीक्षा के बिना सत्य ज्ञान का उदय नहीं होता है।

यह हुआ तंत्र साधना के मूल का सारांश। अब हम यंत्र और मंत्र पर विचार करेंगे। ये क्रियायें षट्कर्म साधन के अन्तर्गत हैं। इनके दो रूप हैं भौतिक और आध्यात्मिक। तंत्र-मंत्र की भौतिक भूमि में केवल उचित विधि एवं निर्देशन में सब कुछ संभव है किन्तु उसकी आध्यात्मिक भूमि में गुरु के आलम्बन के अभाव में साधक इस मार्ग में सर्वथा असमर्थ है। ईश्वर की माया जिसको प्रकृति कहा जाता है, वह हमेशा से रहस्यमयी है। उनके रहस्य का उद्घाटन किसी भी काल में असम्भव है। उस पर विजय प्राप्त करना बहुत दूर की बात है। आज के वैज्ञानिक जो यह कहते हैं कि प्रकृति के अमुक रहस्य का उद्घाटन कर उस पर हमने विजय प्राप्त कर लिया, यह उनकी भूल अथवा भ्रम मात्र है। जिनको वो रहस्योद्घाटन या विजय प्राप्त करना कहते हैं, वह एक प्रकार से अज्ञान की भूमि में ज्ञान का उदय मात्र है। जैसे एक अज्ञानी मनुष्य गुरु के सान्निध्य से विद्वान हो गया तो वह यह नहीं कहेगा कि मैंने ज्ञान का रहस्योद्घाटन किया है अथवा उस पर विजय प्राप्त किया है। ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञाता

इन तीनों में जब तक भिन्नता है अथवा उनकी सत्ता अलग-अलग भासित है, तब तक किसी वस्तु पर विजय प्राप्त करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

ईश्वर की अद्‍भुत शक्तियाँ- मायारूपी प्रकृति की भूमि में ईश्वर की अद्‍भुत और रहस्यमयी शक्तियाँ क्रियाशील हैं। भिन्न-भिन्न देवता उसी शक्ति के प्रतीक मात्र है। यदि यह कहा जाय कि एक ही मूल शक्ति भिन्न-भिन्न भावों और रूपों में क्रियाशील है तो अतिशयोक्ति न होगी। तांत्रिक दृष्टि में उन विभिन्न शक्तियों से सम्पर्क स्थापित कर उनसे भौतिक और आध्यात्मिक जीवन में प्रचुर सहायता लेकर उसे स्वस्थ, समृद्धशाली और सुख-साधन सम्पन्न बनाने का एकमात्र माध्यम यंत्र व मंत्रों के माध्यम से प्रकट होता है इसमें किंचित भी संदेह नहीं।

सूक्ष्म अथवा अगोचर भूमि में अहर्निश क्रियाशील शक्ति के प्रतीक देवताओं की अपनी सीमा और कार्य सम्पादन क्षेत्र है। ये अपनी सीमा के प्रवर्तक और अधिष्ठात्र हैं। जिस प्रकार रेडियो स्टेशन से प्रसारित विद्युतमय ध्वनि तरंग हमारे चारो तरफ वायुमण्डल में व्याप्त होते हुए भी बिना रेडियो यंत्र के प्रकट नहीं होते, उसी प्रकार दैवी जगत की क्रियाशील शक्तियां भी हमारे चारो तरफ बिखरी हुई है, जिनका प्राकट्य उपासना तथा विविध साधनाओं के माध्यम से साधक के स्थूल शरीर में साधनाओं के माध्यम से अथवा उसके इष्ट प्रतिमा में होता है। प्राकट्य के पांच माध्यम हैं-सूक्ष्म दैवी शक्ति का साधक या उपासक की काया प्रकट होने का नाम चिन्मय सृष्टि है। इसी प्रकार प्रतिमा में आत्मबल और संकल्प शक्ति के माध्यम से दैवी शक्ति को आरोपित करने की कला को पीठ सृष्टि कहते हैं। इसके कई भेद हैं। पीठ का निर्माण प्रतिमा के अतिरिक्त किसी योग्य स्थान विशेष में, शव में, बालक में और नारी में भी किया जाता है। तीसरी प्रकार की सृष्टि अथवा प्राकट्य शुद्ध, पवित्र आत्मा वाले मनुष्य में होता है, जिसे 'आवेश' भी कहते हैं।

चौथे और पांचवें प्रकार के माध्यम मंत्र और यंत्र भी हैं। मंत्र का विधिवत् जप करने से सूक्ष्म दैवी शक्तियों से साधक का संबंध स्थापित हो जाता है। फलतः उसके मानसपटल पर मंत्र के माध्यम से उस देवता की सृष्टि अथवा प्रकटीकरण होता है। इसे मानसिक सृष्टि भी कहते हैं। चिन्मय सृष्टि में और इसमें केवल इतना ही अन्तर समझना चाहिए कि चिन्मय सृष्टि हृदय में और यह मस्तिष्क अथवा मनः भूमि में होती है। यंत्र में शक्ति के आविर्भाव अथवा दैवी जगत से उसके द्वारा संबंध स्थापित करने की कला कुछ भिन्न है। यह "पीठ विज्ञान" के अन्तर्गत है। इसका निर्माण प्रचुर इच्छाशक्ति और दृढ़ संकल्पशक्ति के ऊपर अवलम्बित है। इसके अभाव के कारण ही यंत्र असफल होते हैं। मंत्र में वर्ण संयोजन है और यंत्र में अंक और बीजाक्षर दोनों

का संयोजन है। शब्द और अंक दोनों समान प्रकाशमय हैं। एक शब्द में जितने वर्ण होते हैं वे सब प्रकाश को व्यक्त करते हैं। मगर उनका प्रकाश एक सा नहीं है। भिन्न-भिन्न वर्णों का होता है। वर्ण यानी रंग इसी से उनको वर्ण कहा गया है। एक शब्द अपने वर्णों के सामूहिक प्रकाश को व्यक्त करता है। वह प्रकाश विभिन्न रंगों का एक पुंज सदृश होता है। अंको में भी यही बात समझनी चाहिए। वर्णों की तरह अंको की भी संख्या है। एक से नौ तक की संख्या मूल संख्या है। इसके बाद 'शून्य' है। इसको अंकों का प्रभाव समझना चाहिए। यह एकांकी अवस्था में व्यर्थ है किन्तु जब यह एक से नौ तक की किसी संख्या के साथ प्रयुक्त होता है तो उसकी वह दसगुनी शक्ति प्रहार कर देता है। किसी भी अंक का प्रकाश भी शून्य के योग से दस गुना अधिक हो जाता है। प्रकाश का आविर्भाव कम्पन से और कम्पन का जन्म ध्वनि से होता है। इससे स्वतः सिद्ध हो जाता है कि प्रत्येक शब्द और अंक प्रकाशमय, कम्पनमय और ध्वनिमय है।

ध्वनि का आविर्भाव "नाद" से होता है। इसी प्रकार नाद की उत्पत्ति 'बिन्दु' से होती है। 'बिन्दु' मनोमय, प्राणमय है। मन और प्राणों का लय बिन्दु में होता है। योगशास्त्र के अनुसार 'बिन्दु' ही अणु है। प्रत्येक अणु बिन्दु है। इसी बिन्दु अथवा अणु से यंत्र तन्मात्रा, सूक्ष्म तन्मात्रा आदि की सृष्टि होती है। पर्याय यह है कि शुक्र में कई अणुओं का समूह है। अणु में अग्नितत्व की युक्तता होने के फलस्वरूप उसको तेज भी कहा गया है।

अणु का मन और प्राण के साथ सम्पर्क होने से हमेशा चंचल रहता है। योग साधना के द्वारा उसको स्थिर किया जाता है। चंचल अणु अथवा बिन्दु संवृत्त बौधिचित है और स्थिर बिन्दु विवृत्त है। संवृत का अर्थ संकुचित और विवृत का अर्थ फैला हुआ समझना चाहिए। बौधिचित्त जब विवृत्त हो जाता है तब वही महासुख के रूप में परिणित हो जाता है। यही अणुवाद है।

प्रत्येक शब्द-अंक अणु युक्त है- इस विचारसारणी से यही सारांश निकलता है कि प्रत्येक शब्द और अंक भी अणुयुक्त है क्योंकि उनका जो नाद है उसकी उत्पत्ति बिन्दु अथवा अणु से ही होती है। तंत्र में बिन्दु के मूलरूप को 'महाबिन्दु' कहा है। 'महाबिन्दु' बिन्दु का आदि रूप है। इसको समझने में विद्वद्गण भी भ्रम कर जाते हैं। बिन्दु गोचर है किन्तु महाबिन्दु नहीं है। वह अगोचर और दृश्यमान जगत से परे शब्द ब्रह्म की सीमा से भी ऊपर है। बिन्दु में मन और प्राण अवस्थित होकर 'महाबिन्दु' में जाकर लय हो जाते हैं बिन्दु में लय होना महत्व की बात नहीं। 'महाबिन्दु' ही चरम प्राप्तव्य है। महासुखकाय है। आठ महाबिन्दु के योग से एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु। आठ

सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु से एक सूक्ष्म रेणु और आठ रेणु से एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु, आठ सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से एक सूक्ष्म परमाणु, आठ सूक्ष्म परमाणु से एक परम अणु। तीन परम अणु से एक त्रसरेणु, नौ त्रसरेणु से एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु बनता है।

इसी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु से जगत निर्माण स्थूल रूप में प्रकट होता है, किन्तु वह भी इतना धुंधला और अस्पष्ट रहता है कि शीघ्र चर्मचक्षु की पकड़ में नहीं आता। आठ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु, एक सूक्ष्म अणु का निर्माण करता है इसी प्रकार आठ सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु से एक अणु प्रत्यक्ष होता है।

सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु से जिस स्थूल पदार्थ का आभास मिलने लग जाता है वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणुओं का एक सामूहिक रूप मात्र है। वहां सामूहिक रूप कालान्तर में 'अणु' रूप धारण करता है। प्रामाण्यवादी मत के अनुसार परमाणु निश्चय होते हैं। ये परस्पर संगठित होने पर भी संयुक्त नहीं होते। परमाणु का बोध तो होता है, किन्तु प्रत्यक्ष में नहीं आता वह। यही परमाणु क्रमशः पृथ्वी, जल, तेज और वायु में विद्यमान है जिनसे क्रमशः रूप, रस, गंध और स्पर्श की उत्पत्ति होती है। रूप, रस, गंध और स्पर्श परमाणु के अन्तर्गत होने के कारण बोधगम्य तो हैं मगर अगोचर हैं। जिनमें वे प्रकट होते हैं वह गोचर है। जहाँ गोचर है उसे अणु के अन्तर्गत समझना चाहिए। परमाणु से लेकर अणु तक को बिन्दु कहते हैं। इसी बिन्दु को महाबिन्दु में विलीन करना ही तेज का लक्ष्य है। सूक्ष्मावाक् का स्थान नाभिमण्डल है। उच्चारित शब्द नाभि मण्डल में हुए अणुओं के आपसी संघर्ष से उत्पन्न विस्फोट अथना नाद का परिणाम है। यह संघर्ष तभी होता है जब मन और प्राण तत्व परस्पर मिलकर दो विपरीत अणुओं का स्पर्श करते हैं। यह अणु स्पर्श आकाश तत्व में होता है। प्राणों में जो विद्युत चुम्बकीय शक्ति है, वह शब्द को बाहर प्रकट करने को प्रेरित करती है। प्राण की विद्युत को 'प्रभविष्णु' कहते हैं। मंत्र के शब्द और यंत्र के अंकों में प्राण तत्व, मनस्तत्व के अतिरिक्त 'अणु' भी विद्यमान है। शब्द का उच्चारण होते ही परमाणु में परिवर्तित होकर पहले गन्ध, रस, रूप और अन्त में रूप अथवा आकार में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यदि हम किसी मंत्र का बारम्बार उच्चारण करते हैं अथवा किसी अंक को बारम्बार लिखते हैं तो उसके अणु जो परमाणु के रूप में स्थित होकर आकार बनाए रहते हैं वे मंत्र के अधिष्ठात्र देवता को प्रकट कर देते हैं इसीलिए मंत्र को अधिक से अधिक संख्या में जपने का विधान है और यंत्र को भी एक सीमा तक की संख्याओं में लिखने की विधि है। एक जपने से दूसरा लिखने से सिद्ध होता है।

जिस प्रकार हम एक छोटे से रेडियो यंत्र में केवल उसकी सूई घुमाने से हजारों मील दूर के कई स्टेशनों में से इच्छित स्टेशन की आवाज को सुन सकने में सफल

होते हैं, उस समय दूसरे किसी स्टेशन से हमारा संबंध नहीं रहता है। उसी प्रकार जिस मंत्र या यंत्र को हम जपते या लिखते हैं और वह जिस देवता से संबंधित होता है, हमारे संकल्प के अनुसार वह दैवी जगत की भूमि में उसके अणु-परमाणु में परिवर्तित होकर उसी देवता के आकार का निर्माण करता है। महाबिन्दु तक ही शब्द ब्रह्म की व्यापकता है। महाबिन्दु से लेकर अणु अथवा बिन्दु तक की सीमा में नौ खंड विद्यमान हैं। नौ के बाद शून्य की स्थिति है। अणु अथवा बिन्दु (गोचर भूमि) नवां खंड है। ये खंड क्रमशः स्थूल से सूक्ष्म और सूक्ष्मतम् जगत है।

प्रथम खण्ड अथवा जगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु से बना है। दूसरा जगत सूक्ष्म रेणु से, तीसरा जगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म परमाणु से, चौथा जगत परमाणु से, पांचवा जगत परम अणु से, छठे जगत में त्रसरेणु की प्रधानता है। सातवां जगत सूक्ष्मातिसूक्ष्म अणु से बना है। इसी प्रकार आठवां जगत जिसको शास्त्र प्रेतलोक कहते हैं- सूक्ष्म अणु से बना है। नवां जगत जिसे भू-लोक कहते हैं वह अणुओं से बना है। सातवाँ जगत पितृ लोक है। इसके ऊपर से एक से छः लोक दैवी जगत हैं। इन नौ जगतों में से जिस जगत से संबंधित मंत्र-यंत्र होंगे इसका ज्ञान मंत्र या तंत्र से ही हो जाता है उसके अणु वहां के अणुओं में परिवर्तित होकर उस लोक में अधिष्ठात्र देवता के रूप में निर्माण करने लग जाते हैं और जब यह व्यापार अपनी सीमा पर पहुँचता है, उस अवस्था में हमारा संबंध उस लोक और वहां बने आकार से स्थापित हो जाता है और जब वह संबंध स्थिर हो और गूढ़तम् हो जाता है तो उस आकार में उस देवता की शक्ति आ जाती है जो पहले से ही उस लोक में विद्यमान रहा करती है। यदि हम यंत्र को सिद्ध कर शरीर में बांध लेते हैं तो वह शक्ति उस यंत्र के माध्यम से हमारे पास सुरक्षित रहती है और संकल्प की सिद्धि करती है।

हमने जिन नौ लोकों अथवा खंडों की चर्चा की है, उनमें सूर्य से लेकर अन्य सभी ग्रहों की भी स्थिति है। सूर्य शब्द ब्रह्म की सीमा पर और सूक्ष्म जगत की सर्वप्रथम भूमि में स्थित है। यहां से सात लोकपर्यंत उसकी रश्मियाँ अगोचर रहती हैं। आठवें लोक में आकर वे प्रकट होती हैं और नवें में यानि भू-लोक में वे रश्मियां प्रकाशमयी गोचर होती हैं। रश्मियाँ विविधवर्णा हैं। श्वेत, पीत, श्याम, हरित आदि रंगो की हैं। इसका कारण विभिन्न लोकों के विभिन्न अणु ही हैं, जिनका स्पर्श कर वे धरातल पर अवतरित होती हैं। ग्रहों के जो भिन्न-भिन्न वर्ण हैं वे विविध वर्ण रश्मियों के कारण ही हैं। प्रत्येक लोक में ग्रहों के अतिरिक्त क्रम से नक्षत्रों में भी स्थित है। वे सभी ग्रह और नक्षत्र सूर्य की रश्मियों के कारण प्रकाशित और वर्णमय है इसीलिए यंत्र के निर्माण और सिद्धि के समय उनसे संबंधित ग्रह है और नक्षत्रों का महत्त्व है। सूर्य की

तथोक्त रश्मियां विभिन्न लोकों, अणुओं, ग्रहों और नक्षत्रों का स्पर्श करती हुई पृथ्वी में जब अवतरित होती हैं तो उनके प्रभाव से वहां नाना प्रकार की औषधियों और वनस्पतियों का निर्माण होता है। जिस नक्षत्र में, जिस औषधि का निर्माण होता है उस नक्षत्र से युक्त तिथि को उस औषधि का सेवन लाभप्रद बतलाया गया है।

शब्दशक्ति और मंत्र विज्ञान- अध्यात्म वेत्ताओं ने वाणी के चार रूप बतलाए हैं- परा, पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी (विस्तृत अध्ययन के लिए पढ़ें- 'आवाहन')। जो जीभ द्वारा शब्दोच्चारण के रूप में बोली जाती है जिसे कान से सुनते हैं। वह वैखरी है। परष्कृत मन की वाणी को 'मध्यमा' कहते हैं। जिसे नेत्र सुनते हैं। हृदय की वाणी को पश्यन्ति कहते हैं। जिसे केवल हृदय ही सुनता है। परावाणी आत्मा की वाणी है। उसे आत्मा सुनती है। आत्मा के अन्तरंग क्षेत्र में जो अनहद ध्वनि उत्पन्न होती है। उस सन्देश को दूसरी आत्माएं सुनती हैं। यह सन्त महात्माओं, सिद्ध साधकों और योगियों की वाणी है। देववाणी भी इसी को कहते हैं। जो सीधे मनुष्य के अन्तःकरण में प्रवेश कर जाती है। वैखरी के अतिरिक्त अन्य सूक्ष्म वाणियों को शास्त्रकारों ने इन्द्रियातीत अनाहद शब्द ब्रह्म और नाद ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत कर उनकी शब्द शक्ति की महिमा का वर्णन किया है। अब जबकि विज्ञान ने 'पराध्वनि' के रूप में अश्रव्य (न सुनने वाली) ध्वनियों को खोज निकाला है तो ऋषियों का प्रतिपादन सत्य प्रतीत होने लगा है कि इस सृष्टि की उत्पत्ति ही 'शब्द शक्ति' से हुई है। विज्ञान कहता है कि हम इस ध्वनि तरंगों के अनन्त सागर में रह रहे हैं। हम जो भी बोलते हैं उसका विनाश नहीं होता। प्रत्युत वह सूक्ष्म ध्वनि तरंग के रूप में हमारे चारो ओर चक्कर काटता रहता है और अनन्त काल तक अस्तित्व में बराबर बना रहता है। इस संसार में शब्द रूप में अबतक जितने नियम प्रकट किए गये हैं। उन सबकी सूक्ष्म तरंगे हमारे मस्तिष्क की पकड़ में आकर हमें नये विचार दे जाती है लेकिन इसके लिए मस्तिष्कीय तरंगों की फ्रिक्वेन्सी ब्रह्माण्डव्यायी सूक्ष्म तरंगों से समरस होना आवश्यक है। सापेक्षवाद का सिद्धान्त ऐसे ही एक अवसर की देन बतलाया जाता है। मनीषी लायन वाटसन का मानना है कि गहन चिन्तन की स्थिति में आइंस्टीन के मस्तिष्क से दो अल्फा तरंगे निकला करती थी। ज्ञातव्य है कि अलग-अलग स्थिति में से मानवीय मस्तिष्क से अल्फा, वीटा, थीटा और डेल्टा तरंगे निकला करती हैं। ये सब मस्तिष्कीय तरंगे हैं। ध्यान और गहनतम् चिन्तन की अवस्था में प्रायः अल्फा तरंगे निकलती हैं। ऐसी स्थिति में योगी और साधक सूक्ष्म जगत से सम्पर्क स्थापित कर लेते हैं। ऐसी ही गहन स्थितियों में ऋषियों को वेद उपलब्ध हुए थे। शब्द शक्ति की अपनी अत्यन्त सूक्ष्म तरंगे होती हैं। जिनको सुना नहीं जा सकता। तंत्र शास्त्र शब्द शक्ति की सूक्ष्मतम् तरंगों पर आधारित है। तंत्र के विलक्षण और

आश्चर्यजनक व अविश्वसनीय कार्य उन्हीं तरंगों की सहायता से होते हैं। शब्द शक्ति कितना सामर्थ्यवान है और उसकी सूक्ष्मतम् तरंगे कितनी प्रबल हैं इसे विज्ञान ने भी स्वीकार कर लिया है। इस सूक्ष्मतम् तरंगों से निकटस्थ या दूरस्थ किसी भी व्यक्ति को प्रभावित किया जा सकता है। ईश्वर के सम्पर्क में आने पर वे सूक्ष्मतम् तरंगे हजारों लाखों नहीं करोड़ों मील की दूरी एक सेकेण्ड में पूरी कर लेती है। कहने की आवश्यकता नहीं योगी साधकगण ईश्वर की सहायता से उन सूक्ष्मतम् तरंगों द्वारा क्षण मात्र में किसी भी लोक से अपना चौरासी लाख योनियों में भटकने के पश्चात् यह चौरासी अंगुल का मानव शरीर जीव को प्राप्त होता है। भारतीय मनीषियों ने दो प्रकार से मानव शरीर की श्रेष्ठता स्वीकार की है। एक तो यह है कि जो समस्त विश्व की नियंत्रणकारिणी शक्ति है उसकी सर्वश्रेष्ठ लीलाओं, मानव शरीर के आश्रय से ही प्रकट होती है। परब्रह्म के तो अनेक अवतार हुये किन्तु जो अवतार सर्वाधिक मानवीय हैं वे हैं राम, कृष्ण और बुद्ध। जिनके आश्रय से इस काल की समस्त धर्म साधना और यावत काव्य साधना विकसित हुई।

दूसरा यह है कि वह जगत नियंत्रणकारिणी शक्ति जिसे महामाया आदिशक्ति, पराशक्ति, कुण्डलिनी शक्ति आदि विविध नामों से सम्बोधित किया गया है जो घर-घर में और अणु परमाणुओं में है परन्तु मानव शरीर ही एक ऐसा केन्द्र है जिसका आश्रय करके अपने आपको पूर्णरूप से विकसित कर सकने में समर्थ होता है। शक्ति का विकास और आश्रय केन्द्र होने कारण मानव शरीर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से संबंधित बतलाया जाता है। जो शरीर में है, वह ब्रह्माण्ड में है, इस सत्य को सभी ने समयानुसार स्वीकार किया है।

ऊपर की विवेचना से स्पष्ट है कि प्रत्येक पिण्ड में, प्रत्येक अणु परमाणु में वह एकांकी शक्ति भिन्न-भिन्न रूपों में विद्यमान है। प्रत्येक प्राणी और प्रत्येक जीव उसका विचार, ज्ञान, इच्छा, क्रिया, अनुभूति आदि के रूप में हर क्षण अनुभव करता है। मानवपिण्ड में जहाँ एक ओर वह महाशक्ति तथोक्त विभिन्न रूपों में प्रकाशित है वहीं दूसरी ओर कुण्डलिनी के रूप में स्थित है। कुण्डलिनी से मेरा तात्पर्य है मानव पिण्ड स्थित जगत नियंत्रणकारिणी महाशक्ति का मूल केन्द्र, जहाँ से वह खण्ड-खण्ड होकर विज्ञान, ज्ञान, विचार, इच्छा, क्रिया आदि रूपों में प्रकाशित होती है। कुण्डलिनी केवल मानव पिण्ड में ही है अन्य प्राणियों में नहीं यहां तक कि देव शरीर में इसका अभाव है। मनुष्य को छोड़ कर अन्य सभी प्राणी शक्ति द्वारा संचालित सबसे बड़ी एक यह भी विशेषता है कि कुण्डलिनी के कारण जहाँ उसका शक्ति द्वारा संचालन होता है। वहीं वह शक्ति को भी अपनी इच्छा के अनुसार संचालित कर सकने में समर्थ है किन्तु यह सामर्थ्य

उसको तभी प्राप्त होता है जबकि वह कुण्डलिनी को यौगिक क्रियाओं के माध्यम से जागृत कर लेता है यह सामर्थ्य प्राप्त करना ही मानव जीवन के श्रेष्ठ लक्ष्यों में से एक है। कुण्डलिनी को जागृत कर शक्ति को संचालित करने में उसको कई ऐसी मानवेतर स्थितियों का लाभ होता है जो उसके लिये परमसुख, परमआनन्द, परमपद आदि के साधन सिद्ध होती है। मानव शरीर को महत्व देने का एक यह महत्वपूर्ण रूप है। दूसरा रूप है उसकी वाणी, उसका प्राण, उसका मन और उसका बिन्दु यानि शुक्र। मानव शरीर स्थित ये पांच वस्तुयें एक साथ अन्य प्राणियों में दुर्लभ हैं। ये पांच वस्तुएँ अपार और अनन्त शक्ति के आश्रय हैं। योग और तंत्र में इन्हें पंचाग्नि, पंचविज्ञान, पंचामृत आदि नामों के अलावा सभी प्रकार की योग तांत्रिक साधनाओं का आधार अथवा साधन बतलाया गया है। परमतत्व की जो पराशक्ति है वह जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है और है क्रियाशील। उसी प्रकार मानव पिण्ड में भी व्याप्त है और क्रियाशील है। प्रधानरूप से मनुष्य में इच्छा, ज्ञान, क्रिया इस त्रिभूता रूप में प्रकट होकर 'त्रिपुर' कहलाती है। अन्य प्राणियों में देवता तक में शक्ति का यह त्रिपुर स्वरूप या तो बिल्कुल सुप्त है अथवा फिर कम जागृत है। जहाँ तक देवपिण्ड की बात है उसमें वह पूर्णरूप से जागृत नहीं है। इसका कारण यह है कि देवता प्राकृतिक शक्तियों के रूप हैं। वे भोग योनि में हैं। उसमें केवल भोगने की शक्ति है, कर्म करने की नहीं। वे जिस कार्य के निर्मित हैं, उससे अधिक या न्यून की उनमें इच्छा ही नहीं होती। इच्छा के अलावा क्रिया भी नहीं होती। किन्तु मनुष्यों में भोगने की और कर्म करने की दोनों शक्ति विद्यमान है। यह कर्म द्वारा भोग वस्तु को प्राप्त कर सकता है और इच्छानुसार भोग भी सकता है। यह सबसे महत्वपूर्ण बात है कि मनुष्य को ही मात्र केवल इच्छा, ज्ञान, क्रिया की त्रिधारा प्राप्त करने का सौभाग्य मिला है प्रकृति की ओर से। इसीलिये परब्रह्म परमेश्वर को जब कभी प्रकृति को ठीक करना होता है तब उसको नरदेह धारण करना पड़ता है। देह तो और भी धारण कर सकता है, पर नरदेह में उसका पूर्णावतार होता है। बिना नरदेह धारण किये परब्रह्म कोई भी लीला जगत कल्याणार्थ नहीं कर सकता।

जो तथ्य प्रकाश में आता है उससे विदित होता है कि मनुष्य का शरीर सभी सिद्धियों का आश्रय है मूलशक्ति का केन्द्र है। यह वाक्, मन, प्राण, शुक्र आदि चंचल किन्तु शक्तिशाली तत्वों का आश्रय होने पर भी समस्त पिण्डों की अपेक्षा श्रेष्ठ है। शब्द साधना, शब्द शक्ति और उस पर आधारित मंत्र विज्ञान। 'शब्द' वाक् इन्द्रिय का विषय है। 'वाक' जगत-नियंत्रणकारिणी महाशक्ति का एक महत्वपूर्ण रूप है। 'वाक्' को परमतत्व बतलाया गया है। वह महाशक्ति के त्रिपुरा के अन्तर्गत आने वाले 'ज्ञान' का सर्वश्रेष्ठ अंश है। प्राण और मन के साथ संलग्न होकर 'वाक्' यावत सृष्टि का

कारण बनता है। हालांकि यह विषय अत्यन्त गम्भीर है यहाँ उसके उतने ही अंशों का प्रयोग करेंगे जितने मूल विषय से संबंधित हैं। स्थूल दृष्टि से शब्द बाहर की वस्तु है किन्तु उसको ग्रहण करने वाला इन्द्रिय वाक् भीतर स्थित है। कहना न होगा शब्द और उसको ग्रहण करने वाले वाक् के आश्रय से भारतीय संस्कृति और साधना की मूलभित्ति मंत्र, जप, नाड़ी विज्ञान, प्राणतत्व, देवतत्व, नक्षत्र विज्ञान, सूर्य विज्ञान, चन्द्र विज्ञान, योग विज्ञान आदि का बहुत विशाल और गम्भीर साहित्य जो हमारे सामने है उसकी बड़ी भारी साधना-परम्परा इतनी ही प्राचीन है जितनी की मानव सभ्यता और उसका इतिहास। किन्तु इसे दुर्भाग्य ही कहा जायेगा कि आज हमारे देश की परम्परा का विकास अवरुद्ध हो गया है। आधुनिक दृष्टि जिस दिन हमें प्राप्त हुई उसी दिन से और उसी समय से हमें प्राचीन ज्ञान-विज्ञान की समझ लेने और परख लेने की दृष्टि नहीं रह गयी। आज हम जिसे भारतीय सभ्यता, संस्कृति और कला का प्रतीक समझते हैं वास्तव में वह न सभ्यता है, न संस्कृति है और न है कला।

शब्द साधना के सिद्धान्त का मूलस्रोत वेद है अतः वेद के अनुसार 'शब्द' समस्त शक्तियों का केन्द्र है। किसी वस्तु की सत्ता उसके रूप पर निर्भर है। रूप दैवी मानसी धारणा का मानव जाति के रूप में प्रत्यक्षीकरण है। अर्थात् 'रूप' शब्द का दो विग्रह है। जो कुछ ज्ञान है वह अभिव्यक्ति है और जो कुछ सत्ता है वह इन्द्रिय ग्राह्य सत्य नहीं। जबतक यह दैवी धारणा किसी देव चित्र में अविभूत नहीं होनी तबतक वस्तु रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित नहीं हो सकती। सभी जड़-चेतन वस्तुयें मानसिक धारणा मात्र हैं अतः मानसिक क्रिया में वे प्रत्यक्ष होती है।

दो वस्तुओं के आघात से उत्पन्न शब्द ध्वन्यात्मक कहलाता है। जिन शब्दों से हम परिचित हैं वे ध्वन्यात्मक हैं। शब्दों का उच्चारण होने के पूर्व शरीर के अन्दर विशेष स्थान पर घात-प्रतिघात होता है और सब शब्द बाहर निकलता है इस प्रकार की आहत शब्द ध्वनि क्षणिक होती है और विभिन्न होती है। अपनी शक्ति सीमा के बाहर नहीं जा सकती। इसके विपरीत, जो बिना किसी आघात से उत्पन्न शब्द है वह ब्रह्म रूप है यानि वह शब्दब्रह्म है। जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

स्थूल और सूक्ष्म शब्द-जिस प्रकार मनुष्य का शरीर स्थूल और सूक्ष्म है उसी प्रकार प्रत्येक शब्द के स्थूल और सूक्ष्म दो रूप हैं। प्रत्येक के दो-दो रूप व अवस्थायें हैं। जिन्हें परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी कहते हैं। कुण्डलिनी का अन्य परिचय मैंने ऊपर दिया है। आपको ज्ञात होना चाहिये कि कुण्डलिनी दो शब्दों का अक्षय भण्डार है। उसमें विद्यमान शब्द अपने प्रारम्भिक रूप में है जिसे 'परा' कहा गया है। परा अथवा महाबिन्दु का विस्फोट है जो हर क्षण हो रहा है। परा शब्द जब गतिशील

होता है तब वह स्पन्दन रूप ग्रहण करता है। वह स्पन्द रूप 'पश्यन्ती' है। पश्यन्ती मात्र स्पन्दन है। विस्फोट की तरह स्पन्दन भी अहर्निश हो रहा है। जिस स्थान पर वह हो रहा है वह मूलाधार से मणिपूरक चक्र है। इसी स्थान पर मन से उसका संबंध स्थापित होता है और दोनों के संयोग से विचार शक्ति का जन्म होता है। परा और पश्यन्ती शब्द की ये दोनों अवस्थायें शब्द ब्रह्म की अवस्थायें हैं। योगीगण इसी अवस्था में प्रविष्ट होकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से तादात्म्य स्थापित करते हैं।

मध्यमा शब्द और अर्थ : स्पन्दन ही आगे चलकर मध्यमा शब्द में परिवर्तित होता है। इसी स्थान से सृष्टि का आरम्भ समझा जाता है। अपनी उत्पत्ति के प्रथमावस्था में मध्यमा का कोई बाह्य अर्थ नहीं होता। वास्तव में मध्यमा शब्द वह मानसिक गति है जो किसी वस्तु की मात्र केवल धारणा बनाती है और मध्यमा अर्थ, स्थूल एवं बाह्य वस्तु की मानसिक बिम्ब है। इस प्रकार मध्यमा शब्द, मध्यमा का अर्थ क्रमशः ज्ञात और ज्ञेय है अथवा ग्राहक और ग्राह्य है। यहाँ तक का विषय सूक्ष्म शरीर से संबंध रखता है। तात्पर्य यह कि मध्यमा शब्द, सूक्ष्म शरीर से तथा मध्यमा अर्थ स्थूल शरीर से संबंध रखता है। इसके साथ यह भी समझ लेना आवश्यक है कि मध्यमा के रूप का आधा अंश परा और पशयन्ती के गर्भ में रहता है, जो उसके समान अव्यक्त और सूक्ष्म है किन्तु है पूर्ण गतिशील। इसी अर्ध रूप को मैंने मध्यमा शब्द के नाम से अभिहित किया है। मध्यमा के शेष अर्ध रूप के साथ हृदय और कंठ के मध्य स्थान पर प्राण के साथ संयोग होता है और संयोग होते ही वह जिस रूप में परिवर्तित होता है वही 'वैखरी' शब्द है। वैखरी शब्द है तो स्थूल किन्तु उसके गर्भ में परा, पश्यन्ती का रूप और मध्यमा का आधा रूप बीज रूप में विद्यमान है अतः इसी कारण वैखरी शब्द एक ऐसा सूत्र समझा जाता है जिसकी सहायता से साधक और योगीगण क्रम से मध्यमा, पश्यन्ती का स्पर्श करते हुये अन्त में 'परा' शब्द में पहुँचते हैं।

शब्द त्रय और ओम- 'परा' शब्द परमात्म तत्व है। 'पश्यन्ती' शब्द आत्मतत्व है। 'मध्यमा' का आधा अंश मनस्तत्व है। यह अढ़ाई तत्व मध्यमा के शेष आधे रूप वैखरी शब्द में आकर व्यक्त हो जाते हैं। इस प्रकार तीसरा तत्व भी पूर्ण हो जाता है। मौलिक रूप से तीन तत्व हैं और तीन शब्द हैं। वैखरी तो तीनों की स्थूल अभिव्यक्ति मात्र है। वेदों में उपुर्यक्त तीनों शब्दों को 'त्रयी विद्या' के पद से सम्बोधित किया है। त्रयी विद्यायुक्त तत्व त्रय ओम (ॐ) है जो शब्द ब्रह्म का स्वरूप समझा जाता है। जिसे मंत्र शास्त्र में 'प्रणव' की संज्ञा मिली है। उसी के अनुसार परा-घोर तुरियावस्था है और पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी-क्रमशः सुषुप्ति, स्वप्न व

जागृत अवस्थायें है।

सूक्ष्म शब्द : आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मानसिक अवस्था का जो सूक्ष्म अर्थ है यह एक प्रकार का संस्कार अथवा प्रतिबिम्ब है। जब मनुष्य सुषुप्ति अवस्था जो एक प्रकार की अवस्था विस्मृति की अवस्था है के संस्कारों अथवा प्रतिबिम्बों के माध्यम से विगत बातों का स्मरण करता है। अब प्रश्न है कि उन संस्कारों अथवा प्रतिबिम्बों का कारण क्या है क्योंकि संस्कार जब कार्य है तो उसका कारण भी तो होना चाहिए। इसका कारण है शब्द या नाम। अतः स्पष्ट हो जाता है कि गर्भ अवस्था में, शब्द संस्कार के रूप में मानस मूर्तियों का निर्माण करता है इसीलिए कहा गया है कि सम्पूर्ण जगत शब्द और अर्थ नाम व रूप है।

मंत्र शास्त्र का आविर्भाव– यही वह स्थान है जहाँ से मंत्र शास्त्र का आविर्भाव होता है किन्तु मंत्र शास्त्र के अन्तराल में प्रविष्ट होने के पूर्व में एक बार मन के आधार पर वाक् के रहस्य पर विचार करूँगा। मध्यमा वाणी और उसका अर्थ दोनों सूक्ष्म है। सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर से सम्बद्ध है। किसी अर्थ को ग्रहण करने की दिशा में मन दो कार्य करता है उसका एक अंश तो सूक्ष्म शब्द के साथ एकाकार होता है और दूसरा अंश बाह्य वस्तु के रूप में आकार ग्रहण करता है। यही सूक्ष्म अर्थ है। इस प्रकार सूक्ष्म शब्द और सूक्ष्म अर्थ दोनों मन के ही दो प्रतिरूप हैं।

योग-तंत्र का कहना है कि मनुष्य के शरीर में छः चक्र हैं जिनमें पचास दल हैं। प्रत्येक दल पर संस्कृत वर्णमाला के एक-एक अक्षर हैं, जो सूक्ष्म हैं और शरीर के अन्दर स्थित कंठ, तालू आदि स्थानों के आघात से वैखरी अधाराण करते हैं। उन्हीं सूक्ष्म अक्षरों को 'मातृका' कहा गया है। 'मातृका' पराशक्ति अर्थात् परावाक् के पचास रूप समझी जाती हैं। अतः पचास वर्ण मातृका बीजरूप भी है। जिस चक्र के दलों पर जितनी बीजरूप वर्ण मातृकाओं की स्थिति है वे आपस में मिलकर बीजाक्षर मंत्र कहलाते हैं। प्रत्येक बीजाक्षर मंत्र से शरीर में मंत्र तत्वों में से एक-एक तत्व का उदय होता है। बाद में उन बीजाक्षर मंत्र को उसी तत्व से संबंधित बतलाया जाता है। जब कोई बीजाक्षर वैखरी का रूप धारण करेगा तब अपने से उत्पन्न होनेवाले तत्व को भी साथ-साथ व्यक्त करेगा।

तंत्र शास्त्र में केवल छः चक्रों की चर्चा की गयी है किन्तु योग पर जो तंत्र आधारित है, उन्होंने छः चक्रों के अलावा एक सातवें चक्र की भी कल्पना की है जिसे 'सहस्त्रार' कहा जाता है। सहस्त्रार चक्र में एक हजार दल हैं किन्तु उन दलों पर मातृकाओं की स्थिति नहीं है, बल्कि मातृकाओं से संबंधित लोकों, देवताओं और तत्वों के दर्शन वहाँ होते हैं। सहस्र दलों के बीच जो कर्णिका है– वह विश्व ब्रह्माण्ड का केन्द्र

है। वहां पहुँचने पर मन पूर्ण शान्त होकर आत्मा में विलीन हो जाता है और तत्पश्चात मन से युक्त आत्मा, परमात्मा अथवा परमात्म तत्व में विलीन हो जाती है।

प्रत्येक चक्र के दलों पर स्थित मातृकाओं में एक मातृका प्रधान होती है जिसमें से तत्व का उदय होता है। बाद में वह तत्व अन्य संबंधित मातृकाओं में विभक्त हो जाता है। जो बीज मातृका स्थूल रूप में उच्चारित होती है उसके सूक्ष्म रूप को जो शक्ति चालित और उत्पन्न करती है वही उन तत्वों का सेतु है। स्थूल रूप में केवल बीज मातृकाओं के उदाहरण से कोई लाभ नहीं। उसके साथ मन की एकाग्रता आवश्यक है। मन और विचारों की एकाग्रता एवं स्थिरता से क्रमशः वैखरी शब्द मध्यमा, पश्यन्ती में परिवर्तित होता हुआ परा रूप को प्राप्त हो जाता है किन्तु यह मन और विचार की एकाग्रता की मात्रा पर निर्भर है। उच्चारित होने वाली बीज मातृका जिस दल और चक्र से संबंधित होती है उनके जप से उस चक्र से संबंधित होती है, उनके जप से उस चक्र में एक प्रकार की हलचल होने लगती है जिसके परिणाम स्वरूप इनमें परिवर्तन होने लग जाता है। इसी अवस्था विशेष को मंत्र जागरण अथवा मंत्र चैतन्य कहते हैं इसके अभाव में कोई भी मंत्र काम नहीं कर सकता। मंत्र जागृत होने पर शक्ति चैतन्य होती है और शक्ति के चैतन्य होने पर यंत्र के अधिष्ठात्र देवता आकर्षित होकर फल प्रदान करते हैं।

मंत्र और देवता : शब्द मंत्र है और उसका अर्थ देवता है। मंत्र जब जागृत होकर शक्ति युक्त होता है उस समय उसका अर्थ भाव जगत एवं सूक्ष्म जगत में आकार धारण करने लगता है। जो समायनुसार देव रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह परिवर्तन होने पर जागृत शक्ति उसमें समाविष्ट हो जाती है। इस स्थिति में वह मंत्राभिमानी देवता की शक्ति कहलाती है। जैसे-जैसे मंत्र सिद्धि की दिशा में उन्मुख होता है वैसे-वैसे वह शक्ति दैवी जगत में क्रियाशील अनन्त शक्तियों के साथ तादात्म्य स्थापित करती जाती है। पूर्णरूपेण तादात्म्य स्थापित हो जाने के बाद मंत्र साधक की विचारशक्ति, मनःशक्ति, इच्छाशक्ति और प्राणशक्ति इन चारों शक्तियों में परिवर्तित होकर वह उसका अभीष्ट सिद्ध करती है। मंत्र को जागृत और सिद्ध करने के लिये और उसके द्वारा अभीष्ट फल प्राप्त करने के लिये मन पर संयम और विचारों की एकाग्रता तो आवश्यक है ही इसके अतिरिक्त मंत्र जिस देवता का हो उसका ध्यान भी हृदय में बराबर होना चाहिये। जिव्हा पर मंत्र और हृदय में ध्यान यही ठीक प्रक्रिया है।

यंत्र-मंत्र और तंत्र : सभी प्रकार के देवताओं के स्वरूप की अभिव्यक्ति के तीन साधन हैं यंत्र-मंत्र और तंत्र। मंत्र के आधार पर यंत्र और दोनों के समन्वय से तंत्र यानि पूजा पद्धति कां निर्माण होता है। पूजा पद्धति एक विशिष्ट साधन है

अभिव्यक्ति की। यदि किसी साधक ने सब चैतन्य के सिद्धान्त को ठीक से समझ लिया ठीक से पकड़ लिया तो तंत्र साधना की अनेक जटिल और रहस्यमयी बातें सरल हो जायेंगी। मंत्र और तंत्र की व्याख्या तो कर दी मैंने और 'यंत्र' के विषय में भी बतला दूँ। यंत्र शब्द का अर्थ है शक्ति को संयमित और नियमित करना है। उसे केन्द्रित करना। तंत्र साधना करने वाले साधकों के विश्वास पर यदि ध्यान दिया जाय तो साधना की स्पष्टता सामने आ जायेगी। पाठकों को भली भांति यह समझ लेना चाहिए कि तांत्रिक साधना मामूली नहीं है। यह छः प्रकार की साधनाओं में सर्वोच्च मानी गयी है। इसके द्वारा लौकिक और पारलौकिक दोनों का कल्याण हो सकता है। भौतिक लाभ भी हो सकता है। लोक कल्याण भी ही सकता है किन्तु इन सबके लिये समय और विश्वास की आवश्यकता है। यह बहुत बड़ा रहस्यमय विज्ञान है। किसी शब्द के अर्थ का यदि ध्यान किया जाय और उसके साथ चैतन्य के सम्पूर्ण योग साध लिया जाय-तो वह अर्थ प्रकट हो जाता है। शरीर में स्थित छः चक्र अनन्त शक्ति के केन्द्र हैं। तंत्र शास्त्र यही बतलाता है कि किस प्रकार की अभिलाषित सिद्धि के लिये किस प्रकार की शक्ति पर ध्यान एकाग्र करना चाहिये। किस प्रकार ध्यान द्वारा अभीष्ट देवता के रूप में कार्य सिद्धि के लिये उत्पन्न किया जा सकता है। यह साधना अत्यन्त कठिन है। सभी को इसमें सफलता नहीं मिल सकती। जो सच्चे अर्थों में साधक हैं वे साधना के बल पर लौक्रिक कार्य की सिद्धि की दिशा में बड़ी सावधानी से कार्य करते हैं। देश, काल और पात्र पर बड़ा ध्यान रखना पड़ता है। उनको शरीर के जिस केन्द्र में स्थित शक्ति को जागृत करना है उसका ठीक परिज्ञान कराना और उस पर ध्यान कर मन को एकाग्र कराने का कौशल बतलाना तंत्र शास्त्र के मुख्य उद्देशों में से एक है। वास्तव में यंत्र मूलरूप में विभिन्न शक्ति केन्द्रों के मानचित्र के समान है। जो साधक को अभीष्ट शक्ति के उद्बुद्ध करने की साधना में सहायता देते हैं। यंत्र कहने का मतलब है मन को संयत करके केन्द्रित करने का प्रयास किन्तु जो लोग इस तत्ववाद को बिना समझे भोज पत्र पर कुछ खाने बना कर उसमें कुछ अंक स्थापित कर सब कुछ मान लेते हैं और सोचते हैं अपना काम बन गया तो निश्चय ही ऐसे लोग भ्रम में रहते हैं और जब सफलता नहीं मिलती है तो यंत्र को ही दोषी बतलाने लग जाते हैं। यही हालत मंत्रों की भी है। लोग जपते चले जाते हैं, मन कहीं और भटकता रहता है विचार कहीं और। जब सफलता और सिद्धि नहीं मिलती तो कहने लग जाते हैं कि सब व्यर्थ है, पाखण्ड है।

शास्त्रीय दृष्टि से तंत्र का एक अर्थ विस्तार भी है जब शक्ति अपने स्थान पर उद्बुद्ध हो जाती है तो उसे सम्पूर्ण देह के विभिन्न केन्द्रों में प्रसारित करने की प्रक्रिया को तंत्र कहते हैं। तंत्र को जादू टोना आदि समझना बहुत भारी भूल है। इसके रहस्यमय

विज्ञान से परिचित लोग भी रहस्यमय ढंग से तथा सर्वथा गुप्त भाव से रहते हैं। उनको पहचानना उसके क्रियाकलाप पर नहीं बल्कि उनके द्वारा प्राप्त शिष्यत्व पर निर्भर है।

पुस्तक में "शब्दशक्ति और मंत्र" पर योग और तंत्र शास्त्र की दृष्टि से मैंने चर्चा की है, जिसके अन्तर्गत षड्चक्र, बीजाक्षर, वर्णमातृका आदि ऐसे विषयों का उल्लेख किया है जिस पर स्वतंत्र रूप से व्यापक एवं विस्तृत विवेचना की जा सकती है। यहां अब मैं पूर्व-विषय पर वैज्ञानिक दृष्टि में विचार करूँगा। यह कहना असंगत नहीं है बल्कि प्रत्येक शास्त्र के तीन रूप हैं आध्यात्मिक, यौगिक एवं व्यवहारिक। तीसरे व्यवहारिक रूप की आलोचना यदि वैज्ञानिक दृष्टि से होती है तो सभी प्रकार के लोग समझ सकने में समर्थ होते हैं और विषय को वर्तमान में स्थान और महत्व भी मिलता है।

क्या आपने कभी कल्पना की है कि संसार के लगभग तीन अरब मनुष्यों में आधे लोग रात्रि में जब सोते रहते हैं तब आधी आबादी दिन के प्रकाश में अपने कार्य में व्यस्त रहती है यदि वे डेढ़ अरब मनुष्य दिन के अपने जागरण काल में केवल तीन घण्टे भी बातें करते हों तो क्या आप यह अनुमान लगा सकते हैं कि ये कितनी शक्ति इस प्रकार उत्पन्न करते हैं? विद्युतीय ध्वनि शास्त्र यानि एलेक्ट्रो एकास्टिक्स तथा इंजीनिरिंग द्वारा गणना करके यदि देखा जाय तो लोग केवल उक्त तीन घंटों में कम से कम ६००० खरब वाट विद्युत शक्ति केवल अपने शब्दों या ध्वनियों से उत्पन्न करते हैं। शब्दों से उत्पन्न यह विद्युत ऊर्जा दामोदर नदी घाटी, रिहन्द बांध, भाखरा नांगल एवं परमाणु प्रतिवर्तन की सम्मिलित शक्ति के कहीं अधिक है यों कहिये कि भारत में कुल जितनी विद्युत उत्पन्न होती है उससे कहीं आठ गुनी अधिक है। इस ऊर्जा से सम्पूर्ण विश्व में घण्टों प्रकाश किया जा सकता है और यदि उस ऊर्जा की एक यूनिट का मूल्य पचास पैसे भी रखा जाय तो इतनी बिजली का मूल्य लगभग अरबों रुपये होंगे। कल्पना कीजिए कि इतनी बिजली और इतना धन प्राणी केवल होंठ हिला कर हवा में फूंक कर उड़ा देता है। जिस स्थान पर तामसिक विचार और मन वाले लोगों की संख्या अत्यधिक हो जाती है, उसके मुख से निकलने वाले शब्द भी ईर्ष्या द्वेष, घृणा, क्रोध आदि से भरे हुये होते हैं। वातावरण में पहले घनीभूत होने के बाद उन शब्दों में उत्पन्न ऊर्जा ईथर में पहुँचती है जिसे ग्रहण कर प्रकृति कृत्याओं को जन्म देती है वे कृत्यायें उस स्थान पर, उस देश पर नाना प्रकार के संघर्ष-युद्ध, रक्तपात आदि कराने लग जाती हैं जिससे हानि ही होती है, लाभ नहीं।

शब्द एवं मंत्रों की शक्ति : शब्दों की अथवा मंत्रों की शक्ति और उसके परिणामों के विषय में एक वैज्ञानिक डाक्टर वोएड का वृत्तान्त सुनिये। उन्होंने एक ऐसा विचित्र यंत्र बनाया कि जिसके सामने यदि आप मुंह तक खोले तो उसमें उठने वाली

हिलोरें और कम्पन स्पष्ट देखे और आंके जा सकते थे। उस यंत्र के सम्मुख कोई जोर जोर से बोलने लगे तो यंत्र में कांच के सामान और उसमें लगे लट्टू चूर चूर होकर बिखर जाते हैं। उच्चारित शब्दों का ठीक इसी प्रकार का प्रभाव हमारे तन और मन पर भी पड़ता है। यह प्रभाव विशेष रूप से कानों और त्वचा के द्वारा पड़ता है क्योंकि इस संबंध में कान और त्वचा की संवेदनशीलता प्रायः एक प्रकार की होती है। शब्दों के लिये कानों की संवेदनशीलता सर्वाधिक होती है और त्वचा की एतादृशण संवेदन प्रायः नगण्य होती है। कान सूक्ष्म विद्युत घर का भी काम करते हैं। मोटे तौर पर आप ये समझिये कि कान एक प्रकार का माइक्रोफोन होता है। इसकी विशेषता यह होती है कि इसमें २० से २०,००० आवर्तन के सुनाई पड़ने योग्य कोई शब्द पड़ते ही विद्युत-धारा प्रवाहित होने लगती है तथा वह सीधे मस्तिष्क तक पहुँचती है। तदन्तर विविध क्रिया प्रतिक्रियाओं आदि को जन्म देती हुई शरीर के सभी भागों एवं ग्रन्थियों को सचेष्ट क्रियाशील तथा विद्युत धारविता बना देती है। त्वचा पर पहले ध्वनिचाप का प्रभाव पड़ता है फिर ग्राहक स्नायु तन्तुओं में बिजली का संचार होता है, बिजली की यह धारा तदन्तर अपनी दीर्घ मात्रा के पश्चात् मस्तिष्क के स्नायु तन्तुओं का अत्यल्प मात्रा में विद्युतमय करती है। शब्दों का सर्वाधिक प्रभाव कर्ण स्नायु मस्तिष्क अन्य स्नायु, सूत्र हृदय, अन्तस्त्रावी ग्रन्थियों, पेट वृक्क, यकृत, रक्त तथा आटोनोमिक स्नायु पर पड़ता है।

जिस समय हम शब्दों का उच्चारण करते हैं उस समय श्रोता के मस्तिष्क पर दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है (१) मुख से शब्द निकलने के प्रथम वक्ता के मस्तिष्क से उसी प्रकार की विद्युत-चुम्बकीय तरंगे निकलती हैं जिन्हें श्रोता का मस्तिष्क ग्रहण करने की चेष्टा करता है। (२) उच्चारित शब्द वायु के माध्यम से कर्ण रन्ध्रों से होते हुये विद्युत संचार के रूप में मस्तिष्क में पहुँचते हैं तदन्तर वे हर्ष, शोक, विषाद, घृणा भय तथा कामेच्छा आदि आवेगों को मस्तिष्क में उत्पन्न करते हैं और तदनुरूप शरीरांगों में प्रस्फुरण और सन्दीपन होता है। इस प्रकार शब्द प्रेरणा प्रस्फुरण, स्फूर्ति और झकझोर उत्पन्न कर प्रायः शरीर के अवयवों में साधारण अवस्था से अधिक ऊर्जा उत्पन्न करते हैं। वे कभी-कभी शिथिलता और निष्क्रियता भी उत्पन्न करते हैं।

स्नायु मण्डल पर शब्दों का प्रभाव- स्नायु मण्डल पर भी शब्दों के विविध प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। उद्विग्नता, क्लान्ति शरीर, कम्पन, चित्त की चंचलता, बुरे भयानक स्वप्न उन प्रभावों की स्पष्ट विकृतियाँ होती है। मूर्च्छा, स्मृति भ्रम और विक्षिप्तता का भी आक्रमण हो सकता है। शब्दों में काम, क्रोध, भय आदि उत्पन्न होने पर हृदय की धड़कन बढ़ जाती है और रक्त का दबाव भी बहुत ऊँचा उठने लगता है। रक्त में विशेष प्रकार का विष (टाक्सिन) उत्पन्न होने लगता है। इसी प्रकार हर्षोत्पादक,

आशाजनक शब्द मस्तिष्क, हृदय और रक्त पर अमृत तुल्य काम करते हैं। प्रिय और अप्रिय शब्दों के अनुसार पेट में भी प्रक्रियायें होती है- उनसे भूख और पाचन क्रिया बढ़ जाती है या घट जाती है। इन्हीं सब बातों के द्वारा प्रश्नों तथा बातों के माध्यम से उत्तेजित कर अपराधों का पता लगाने के लिये मिथ्यान्वेषी (लाइडिक्टेटर) यंत्र का आविष्कार किया गया है। शब्दों की बौछार से अपराधी के शरीरांगों में होने वाली क्रिया-प्रतिक्रियाओं को विद्युत द्वारा ग्रहण कर रहस्य का बहुत कुछ पता चल जाता है।

क्रोध, घृणा, भयजनक शब्दों को सुनकर मनुष्य के उपवृक्क-एड्रीनल ग्लैण्ड से एड्रीनल नामक स्राव बड़े वेग से निकल-निकल कर रक्त में मिलने लग जाता है और वह मस्तिष्क को एवं अन्यान्य अंगों को असाधारण रूप से जागरूक और शक्तिशाली बना देता है पर अल्पकाल के लिये। उसके निकलते समय यकृत,लीवर से एक विशेष प्रकार की पहले से जमा की हुई चीनी (ग्लाइकोजिन) स्वयं निःसृत होने लगती है इसी क्रम से लघुशंका (मूत्र) की आवश्यकता और मात्रा भी बढ़ जाती है।

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से शब्द शक्ति का मूलाधार- यंत्रशास्त्र में शब्दों की इन्हीं सब प्रक्रियाओं को ध्यान में रखकर कल्याण मनोकामना सिद्धि, उच्चाटन, शत्रु मारण, विद्वेषण, मोहन, वशीकरण आदि के लिये विविध शब्द प्रक्रियाओं का विधान किया गया है जिसे मंत्र कहते हैं। ये आजकल मनोवैज्ञानिक युद्ध (साइकोलॉजिकल वार) या स्नायु शातक युद्ध (वार ऑफ नर्व्ज) के अन्तर्गत सब आता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मंत्र शक्ति का मूलाधार यही है। शब्द उच्चारण के मूल में यही भावना काम करती है। मैं इस संबंध में अपना एक अनुभव लिपिबद्ध करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। बहुत दिनों की बात है। मैं अपने एक मित्र के शत्रु पर मारण प्रयोग कर रहा था। शास्त्रीय दृष्टि से विधि विधान में किसी भी प्रकार की त्रुटि न थी मगर समय व्यतीत हो जाने पर परिणाम सामने कुछ नहीं आ रहा था। अत्यधिक चिन्तित थे हम लोग। मैंने कारण का पता लगाना शुरू किया। वास्तव में उस व्यक्ति के प्रति मेरे मन में न घृणा थी न क्रोध था और न तो था किसी प्रकार का द्वेष। वह मेरे मित्र का शत्रु था मेरा तो नहीं। घृणा क्रोध द्वेष आदि कैसे उत्पन्न हो, इसके लिये मैं उस व्यक्ति के यहाँ गया। मिलते ही उसने मेरा घोर अपमान किया जिसके परिणाम स्वरूप मेरे मस्तिष्क और मन में वे सारी चीजें आ गयीं जिनकी मुझे आवश्यकता थी। बस फिर क्या था मेरा प्रयोग सफल हो गया। जिस प्रकार मारण, उच्चाटन, विद्वेषण आदि के लिये उपुर्यक्त भावनाओं की आवश्यकता है, उसी प्रकार मोहन, आकर्षण, वशीकरण के लिये मन में प्रेम, मोह, व्याकुलता आदि का भी होना आवश्यक है। गाली गलौच, व्यंग धमकियाँ आदि उन्हीं उपर्युक्त कार्यों की अभिव्यक्तियाँ हैं। पाश्चात्य देशों में इन्हीं

के एक रूप को 'सम्मोहन और आत्म परामर्श' संज्ञा प्रदान की गयी है। यद्यपि वहां इसमें उच्चारित और अनुच्चारित शब्द दोनों ही सम्मिलित किये जाते हैं।

प्रसिद्ध रूसी शरीर शास्त्री चिकित्सक तथा मनोवैज्ञानिक आई.पी. पैवलोव तथा उसकी शिष्य परम्परा ने शब्दों का बड़ा ही विशुद्ध तथा मार्मिक शरीर शास्त्रीय एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन किया है। पैवलोव ने शब्दों की अत्यन्त शक्तिशाली अनुकूलित प्रतिवर्त (उत्तेजन) कण्डिशन रेपलेक्स कहा है। इन वैज्ञानिकों के शब्दों की संजीवनी शक्ति और शब्द चिकित्सा के क्षेत्र में बड़े-बड़े आविष्कार तथा गंवेषणायें की हैं और नित नूतन आविष्कारों के आधार पर सिद्धान्तों की नींव डालते जा रहे हैं। उन्होंने इस प्रकार मस्तिष्क, स्नायु, पक्षाघात हृदय, पेट एवं अन्यान्य अंगों की चिकित्सा की सफल विधियाँ निकाली हैं।

पशु, पक्षी और पेड़-पौधो में सभी में बिजली होती है। वे सभी वैसे भी हमारे शब्दोत्पन्न शारीरिक, मानसिक बिजली से अत्यन्त सूक्ष्म रूप से प्रभावित होते हैं। आप लोगों ने देखा होगा-फसलों की गुड़ाई बोआई के समय किसानों की स्त्रियाँ गाती रहती हैं। वैज्ञानिकों के अनुसार संगीत के प्रभाव से पैदावार बढ़ती है। शब्दों के सम्मोहन भरे आदेश द्वारा पाश्चात्य देशों में घोड़ों, कुत्तों, बिल्लियों आदि को पूर्ण आज्ञाकारी बनाकर प्रयोगकर्ताओं ने दिखा दिया है।

यह तो हुआ जीवों पर शब्दों का प्रभाव। पत्थरों पर भी शब्द और संगीत का प्रभाव कम नहीं पड़ता। मिस्र देश के जितने पिरामिड बने हैं, उनमें लगे पचासों मन के विशाल पाषाण खण्डों को उठाकर लगाने के पीछे संगीत का ही प्रभाव है। उस समय आज के समक्ष कोई यांत्रिक साधन तो थे नहीं कि जिनके द्वारा उन्हें एक स्थान से उठा कर दूसरे स्थान पर इच्छानुसार लगाया जा सकता। अब शब्द और संगीत का और अद्भुत प्रभाव सुनिये। बिल्लौर और रोचीसाल्ट (एक कृत्रिम पत्थर) तथा अमोनियम गन्धित के सम्मुख यदि आप बोलें और गीत गायें तो वह चंचल हो उठता है और उससे एक प्रकार की विद्युत धारा निकलने लगती है। इसी सिद्धान्त के सहारे वैज्ञानिकों ने ध्वनि विद्युत घर का निर्माण किया है। एक रेडियो स्टेशन का निर्माण किया है जिसमें बैटरी या बिजली की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहाँ शब्दों के अपूर्व सामन्जस्य और संगीत के क्रान्तिकारी एवं उन्मादक प्रभाव का विशेष विवेचन करने की आवश्यकता नहीं। कविता की हँसा-रूला देने वाली शक्ति, क्रान्ति उत्पन्न करने वाली ज्वालामुखीय उग्रता, तरुणों को उन्मत कर देने वाली गीतावली, मन को सम्मोहित कर तरुणियों को विवश कर देने वाले गीतों से सभी परिचित हैं।

इन सब तथ्यों के विवेचन से मंत्रों में निश्चित शक्ति होती है यह बात सिद्ध

होती है किन्तु उससे लाभ तभी उठाया जा सकता है, जैसाकि पूर्व प्रकरण में बतलाया गया है। इसके अलावा मंत्रों के संबंध में बहुत सी आवश्यक बाते हैं, जैसे-मंत्रोच्चारण विधि, मंत्रों के भेद, मंत्रों को जागृत करने का समय, उनकी पुनरश्चरण विधि, मंत्रों के जप की संख्या, मालाओं के भेद, दिशा भेद, काल भेद आदि।

मंत्र के द्रष्टा : मंत्र तीन होते हैं-वैदिक मंत्र, पौराणिक मंत्र और तांत्रिक मंत्र। इन तीनों प्रकार के मंत्रों का निर्माण जिनके द्वारा हुआ है अथवा होता है उनको 'मंत्रद्रष्टा' कहते हैं। ये साधारण मनुष्य नहीं बल्कि साधना के उच्चतम् शिखर पर पहुँचे हुये परमयोगी होते हैं। एक विशेष अवस्था में जब वे पहुँचते हैं तो मातृकाओं के चिन्मय स्वरूप और उनके निश्चित देवताओं के दर्शन उन्हें होते हैं जिनकी शक्ति और सामर्थ्य की मर्यादा देख कर वे उनका संयोजन करते हैं और फिर क्रमशः पश्यन्ति, मध्यमा और वैखरी रूप में उन्हें प्रकट करते हैं। इस प्रकार के जिन मंत्र द्रष्टाओं के द्वारा जिन मंत्रों का अविर्भाव होता है उनके वे ऋषि कहलाते हैं। ऋषि निमित्त मंत्र के आधार पर देवता का ध्यान, स्तोत्र, कवच, अगन्यास, करन्यास आदि की रचना होती है।

तीन प्रकार के मंत्र और उनके फल : कलियुग में वैदिक मंत्र बारह लाख जपने पर, पौराणिक मंत्र ६ लाख जपने पर और तांत्रिक मंत्र केवल १०८ बार जपने पर सिद्ध होता है। इसका एक कारण यह भी है कि वैदिक और पौराणिक मंत्रों का विध ाान अत्यन्त विस्तृत एवं श्रम साध्य है।

मूल रूप से मंत्र दो प्रकार के हैं। पहला है मूलमंत्र। जिन्हें एकाक्षर और बीजाक्षर मंत्र भी कहते है। इसके अलावा इनके कई और नाम है, जो आगे बतलाये जायेंगे। दूसरा है महामंत्र। जिस मंत्र में बीजाक्षरों की संख्या अधिक हो, देवता का नाम हो और अन्त में हूँ फट स्वाहा नमः आदि शब्दों का प्रयोग किया गया हो वह महामंत्र है।

मुख्य रूप से मंत्रों के ५ भेद हैं- (१) पुल्लिंग मंत्र स्त्री मंत्र, नपुंसक मंत्र। (२) सिद्ध साध्य सुसिद्ध अरिमंत्र (३) पिण्ड कर्त्तरी बीज माला मंत्र (४) सात्विक, राजस, तामस (५) सावर, डामर।

(१) पुल्लिंग मंत्र वह है जिनका देवता पुरुष होता है। सौर-पुरुष देवता के मंत्र को 'सौर' कहते हैं। सौम्य-जिस मंत्र के देवता स्त्री होती है-उसे सौम्य कहा गया है। सौम्य मंत्र को 'विद्यामंत्र' भी कहा जाता है।

सौर और सौम्य दोनों प्रकार के मंत्रों का जप बिना गुरु की आज्ञा के और बिना लिये कदापि न करना चाहिये। यदि गुरु न हो तो इष्ट देव के सामने मंत्र को लिख कर तीन रात्रि पर्यन्त रखें-तत्पश्चात आज्ञा लेकर जप शुरू करें।

एक और बात ध्यान में रखना चाहिए। जिन मंत्रों के अन्त में 'हूं फट' का प्रयोग

किया गया हो, उन्हे भी पुल्लिंग मंत्र समझना चाहिये। 'वौषट' शब्द का भी प्रयोग पुल्लिंग मंत्र में प्रायः होता है किन्तु यह मंत्र-तंत्र के एक विशेष सम्प्रदाय का है। सभी इसे स्वीकार नहीं करते।

जिस मंत्र के अन्त में दो बार 'ठः ठः' और 'वौषट' तथा 'स्वाहा' का प्रयोग होता है वह 'स्त्री मंत्र'. है। इसके अलावा 'हूं नमः' से समाप्त होनेवाला मंत्र 'नपुंसक कहलाता है।

(२) मंत्रों का संबंध ज्योतिष शास्त्र से कितना घनिष्ठ है-इसका परिचय मंत्र के दूसरे भेद से स्पष्ट हो जाता है।

शान्ति, वशीकरण एवं मोहन, मंत्र की 'राशि' का संबंध पुकारने के नाम की राशि से है। इसके अलावा जितने प्रकार के मंत्र हैं उनकी राशि का संबंध जन्म राशि से समझना चाहिये। अपनी राशि से मंत्र की राशि ६, १, ५, है तो उसको सिद्ध कहते हैं। ६, १०, २, है तो उसको 'साध्य' कहते हैं। ३, ७, ११ है तो उसको सुसिद्ध कहते हैं और ४, २, १२ है तो उसको 'रिपु' कहते हैं। साध्य मंत्र सिद्ध होने में बहुत समय और परिश्रम लेता है। वह सिद्ध हो सकता है और नहीं भी।

सिद्ध मंत्र- सिद्ध होने में समय लेता है।

साध्य मंत्र- सिद्ध होने में बहुत समय लेता है।

सुसिद्ध मंत्र- तत्काल सिद्ध होकर फल देता है।

रिपु मंत्र- साधक का नाश करता है। इस मंत्र का कदापि जप नहीं करना चाहिए।

इन चारों प्रकार के मंत्रों के देवताओं के वर्ण क्रमशः ये हैं- रक्त वर्ण, श्वेत वर्ण, पीत वर्ण और श्याम वर्ण। जप काल में विचित्र रूप धारण कर वे साधक को स्वप्न में दर्शन देते हैं। यदि उनका मुख क्रूर, क्रोध से पूर्ण लगे तो मंत्र जप नहीं करना चाहिए। यदि सौम्य एवं प्रसन्न है तो जपना चाहिए।

(३) एक अक्षर वाले मंत्र को 'पिण्ड' मंत्र, दो अक्षर वाले को कर्तरी, तीन वर्णों से लेकर नौ वर्णों तक के मंत्र को बीज और दस से बीस वर्ण पर्यन्त वर्ण वाले मंत्र को 'मंत्र' कहते हैं। इससे ऊपर वाली संख्या के मंत्र को माला मंत्र कहते हैं मालामंत्र की संख्या अपरिमित हैं।

(४) सात्विक देवता का मंत्र सात्विक, राजस देवता का राजस, तामिसक देवता के तामसिक मंत्र होता है। प्रथम प्रकार के मंत्र का जप उत्तर मुख, दूसरे प्रकार का मंत्र का जप पूर्व मुख, तीसरे प्रकार का मंत्र जप पश्चिम मुख होकर जपना चाहिये।

(५) सावर मंत्र का कोई शास्त्रीय रूप नहीं मिलता है। इस मंत्र की आयोजना वर्णाक्षरों की शक्तियों और स्वरों की विभिन्न शक्तियों के सम्मिश्रण से होती है इसलिए

प्रत्यक्ष में यह मंत्र ऊटपटांग एवं बेमेल में प्रतीत होता है किन्तु सभी मंत्रों से उसमें अत्यधिक शक्ति होती है और तत्काल सिद्ध होकर सिद्धि लाभ कराता है। सावर मंत्रों के 'द्रष्टा' का नामोच्चारण एवं उनकी साक्षी के शब्द मंत्र के अन्त में लगा जाने के कारण मंत्र अत्यन्त प्रबल सिद्ध हो जाता है, इसमें सन्देह नहीं। सावर का ही एक भेद 'डामर' मंत्र है। ये काफी लम्बे होते हैं और सावर की ही तरह सफल और सिद्ध होते हैं किन्तु उनका फल स्थायी नहीं होता है।

मंत्रोच्चारण : पुल्लिंग और सात्विक मंत्र का जप कंठ में करना चाहिये, स्त्रीलिंग राजसी मंत्र का जप होठों में करना चाहिये। इसी प्रकार नपुंसकलिंग, तामसी मंत्र का जप भ्रामरी स्वर में करना चाहिये।

मंत्र जागरण का समय : प्रथम प्रकार के मंत्र का प्रातःकाल, दूसरे प्रकार के मंत्र का सन्ध्या काल और तीसरे प्रकार के मंत्र का जागरण मध्य रात्रि के समय करना चाहिये। इनके लिये क्रमशः चर्मासन, कम्बलासन एवं वस्त्रासन का प्रयोग करना चाहिए।

मंत्र का पुरश्चरण : मंत्र साधना का संबंध महत्वपूर्ण और अभिन्न है। पुरश्चरण इससे मंत्र की शक्ति स्थायी एवं श्रृंखलित हो जाती है। फिर मंत्र जागृत करने तथा सिद्ध करने की आवश्यकता भी नहीं रहती। पुरश्चरण के चार अंग हैं-(१) मंत्र की जप संख्या जितनी हो उसका चौगुना जप करना। (२) दुगनी संख्या का हवन करना। (३) आधी संख्या का तर्पण करना (४) उस आधी संख्या की भी आधी संख्या में अपने नामक्षर का भाग लेकर जितनी शेष बचे उसके अनुसार ब्राम्हण भोजन कराना चाहिये। यह तांत्रिक पुरश्चरण विधान है।

जप और माला : सभी प्रकार के मंत्रों के लिये रुद्राक्ष की माला को श्रेष्ठ माना गया है। स्त्री देवता का मंत्र ५१ दाने पर, पुरुष देवता का मंत्र १०८ दाने पर तथा नपुंसक मंत्र का जप २१ दाने पर करना चाहिए।

जप और माला एक दूसरे के पूरक हैं। सोलह प्रकार के मुख्य यज्ञ हैं और उन यज्ञों में जप यज्ञ सर्वश्रेष्ठ है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने भी कहा- **'यज्ञाना जप यज्ञोस्मि'**। श्रद्धा और विश्वासपूर्वक कामना के अनुसार किया गया जप अवश्य सफल और फलदायी होता है। जप के अनुसार माला भी अनुकूल हो तो शीघ्र अभीष्ठ फल की प्राप्ति होती है। हर माला के अपने-अपने नियम होते हैं। अलग-अलग मालाएँ अलग-अलग देवी-देवताओं के स्मरण ध्यान, न्यास, जप और उनकी सिद्धि के लिए प्रयुक्त होती है।

रूद्राक्ष की माला द्वादश रूद्र है। जो भगवान शंकर का ही एक विशेष रूप है। वे द्वादश रूद्र वर्णमाला के द्वादश स्वर हैं। प्रत्येक स्वर रूद्र का मुख है। एक मुखी रूद्राक्ष

से लेकर द्वादश मुखी रूद्राक्ष रूद्रमुख प्रतिनिधित्व करता है। इस आधार पर रूद्राक्ष एक मुखी से लेकर बारह मुखी तक का होता है। इन रूद्राक्षों में एक मुखी रूद्राक्ष अति महत्वपूर्ण और अति मूल्यवान है। उसके धारण मात्र से रोग, शोक, व्याधि आदि तत्काल नष्ट हो जाती है। श्री, यशकीर्ति, मान-सम्मान, ख्याति प्रतिष्ठा आदि की उपलब्धि होती है लेकिन प्रश्न तो यह है कि वह उपलब्ध हो कहाँ? वास्तव में एक मुखी रूद्राक्ष दुर्लभ है। कभी किसी भाग्यवान और संस्कारवान व्यक्ति को दर्शन होता है एक मुखी रूद्राक्ष का। सामान्यतः जप के लिए पंचमुखी रूद्राक्ष ही प्रयुक्त होता है। छोटे-दाने की माला सर्वाधिक उपयुक्त है जप के लिए। माला धारण करने पर उसे हृदय के नीचे तक लटकना चाहिए। पंचमुखी के बड़े दाने की माला केवल धारण करने के लिए है जप के लिए नहीं। रूद्राक्ष की माला पर सभी प्रकार के मंत्र जपे जा सकते हैं। विशेष कर शिव संबंधी मंत्र।

रुद्राक्ष तभी प्रभावशाली माना जाता है, जब वह शुद्ध हो, कहीं टूटा-फूटा अथवा घुना न हो। रुद्राक्ष विकृत भी नहीं होना चाहिए। पके हुए फल से प्राप्त, सुन्दर सुडौल, कांटेदार, चिकना, प्राकृतिक छिद्रयुक्त (प्राकृतिक छिद्र न होने पर सावधानी से छिद्र बनाया जाये) और दृढ़ बीज ही श्रेष्ठ रुद्राक्ष होता है। यह प्रायः चार रंगों में उपलब्ध होता है- सफेद (बादामी), पीला, लाल और काला।

मर्मज्ञों ने रुद्राक्ष के वर्णभेद को, मानव जाति के वर्ण भेद पर आधारित माना है ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। कदाचित् इसीलिए रुद्राक्ष धारण में व्यक्ति के वर्णानुसार ही रुद्राक्ष के वर्ण को गृहणीय बताया गया है। किसी भी रंग का रुद्राक्ष हो, यदि वह निर्दोष है तो निश्चय ही कल्याणकारी होगा धारण चाहे जिस जाति-वर्ण का हो।

धारण विधि : यद्यपि रुद्राक्ष का छोटा दाना विशेष प्रभावशाली माना जाता है, फिर भी यदि वह असली है, तो चाहे जिस आकार में हो, शुभ फल अवश्य देता है किन्तु रुद्राक्ष धारण का एक विधान है। यह नहीं कि कहीं से दान का माला ले आये और उसे पहन लिया, बस फल मिल जायेगा। फल प्राप्ति के लिए रुद्राक्ष के दानों को (अथवा माला को) किसी शुभ दिन, मुहूर्त में, गंगा या अन्य किसी नदी (नदी जल के अभाव में शुद्ध कूप जल से) के जल से स्नान कराकर, धूप, दीप, अक्षत, नैवद्य द्वारा उसकी पूजा करके हवन करना चाहिए। हवनोपरान्त उसके धुएँ से माला को शोधित करके धारक को चाहिए कि पहले हवनकुण्ड से भस्म लेकर अपने माथे पर लगाये, फिर माला को शिव प्रतिमा से स्पर्श कराकर स्वयं धारण करें। इस समस्त क्रिया-कलाप में धारक का मुंह पूर्व अथवा उत्तर की ओर होना चाहिए तथा स्थानोपरान्त पूजास्थल पर आने से लेकर रुद्राक्ष धारण तक अबाध रूप से उसे शिवमंत्र ऊँ नमः शिवाय का जप करते

रहना चाहिए। रुद्राक्ष शोधन के समय गंगाजल से स्नान कराने के बाद उसे केसर, गोरोचन जैसी पवित्र वस्तुओं के घोल में भी स्नान कराया जाता है। उत्तम होगा कि इस प्रक्रिया को समझने के लिए किसी वयोवृद्ध, साधु-पुरोहित अथवा आचार्य का निर्देश प्राप्त कर लिया जाये।

रुद्राक्ष दाने को शोधित करने के बाद उसे कण्ठ अथवा बाहु में धारण किया जाता है। धारण करने के लिए उसे लाल रंग के धागे में पिरोना चाहिए। समर्थ व्यक्ति चांदी के तार में भी पिरोते हैं। विधिपूर्वक शुद्ध करके धारण किया गया रुद्राक्ष दैहिक, दैविक और भौतिक सभी प्रकार के क्लेशों में निवारक सिद्ध होता है। इसकी क्षमता रत्नों से भी अधिक स्वीकार की गयी है। विकिरण प्रभाव और स्पर्श शक्ति के द्वारा यह अद्भुत चमत्कार दिखाता है। शारीरिक क्लेश, मानसिक अशांति और भौतिक विघ्नों को दूर करने की हमारी अद्भुत क्षमता के अनेक विदेशी विद्वानों को भी, जो घोर नास्तिक और पदार्थवेत्ता थे, अभिभूत कर दिया है। प्रत्येक रुद्राक्ष का अपना महत्व होता है।

एकमुखी रूद्राक्ष साक्षात् शिव स्वरूप है। यह रुद्राक्ष बड़ा उत्तम एवं पवित्र है, एक मुखी रुद्राक्ष बड़े ही भाग्यशाली को मिलता है, इसके दर्शन मात्र से ही पाप निवृत्ति हो जाती है। दुर्लभ किन्तु सर्वश्रेष्ठ है। यह सर्वबाधा प्रशासक, समृद्धिदाता और आध यात्मिक भावना का पोषक होता है।

दोमुखी रूद्राक्ष को शिव और शक्ति स्वरूप माना गया है यानी अर्ध नारीश्वर स्वरूप माना गया है। घर में हर प्रकार की सुख-सुविधा उपलब्ध रहती है। चित्त एकाग्रता, मानसिक शान्ति, आध्यात्मिक उन्नति, कुण्डलिनी जागरण के लिए यह अचूक माना गया है। शिव और शक्ति की उपासना करने वालों को यह रुद्राक्ष अवश्य ही धारण करना चाहिए। भूत बाधा निवारक, कामनापूरक और वशीकरण प्रभावयुक्त होता है।

तीनमुखी रुद्राक्ष साक्षात् तीनों देवों का स्वरूप माना गया है यानि ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप है। इसका दाना ज्वर को दूर करता है। कार्य-सिद्धि, विद्या आदि साधनों का दाता है।

चारमुखी रुद्राक्ष ब्रह्माजी का स्वरूप माना गया है। चारमुखी रुद्राक्ष धारण करने से ब्रह्माजी अति प्रसन्न होते हैं और जो मनुष्य वेद, पुराण, संस्कृत के अध्ययन हेतु इच्छा रखते हैं, उनको चारमुखी रुद्राक्ष धारण करना चाहिए। जिसकी मन्द बुद्धि हो, वाक् शक्ति कमजोर हो, स्मरण शक्ति क्षीण हो उसके लिए अधिक कल्याणकारी है और शिक्षा में आश्चर्यजनक सफलता मिलती है। जीव हत्या पाप से छुटकारा दिलाता है इसलिए मानव को अपनी शुद्धता के लिए चारमुखी रुद्राक्ष अवश्य धारण करना चाहिए, ऐसा कथन अग्नि पुराण में आता है। चारमुखी रुद्राक्ष जितना बड़ा दाना होगा

उतना ही अधिक शक्तिशाली होगा। पापनाशक, धर्म, अर्थ, काम मोक्ष का प्रदाता और ब्रह्मा का स्वरूप होता है।

पंचमुखी रुद्राक्ष स्वयं कालाग्नि के समान रुद्र स्वरूप है। पाँचमुखी रुद्राक्ष को परम पिता परमेश्वर स्वरूप माना गया है। इसको धारण करने से सर्वशक्तिमान परमपिता परमेश्वर भगवान शिव अति प्रसन्न होकर हर तरह से हर सुख प्रदान करते हैं।

छःमुखी रुद्राक्ष स्वयं कार्तिकेय स्वरूप है। इसको जो मनुष्य अपनी दायीं भुजा में धारण करते हैं, वे पापों से छूट जाते हैं। छःमुखी रुद्राक्ष ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त करने, व्यापार में महान सफलता प्राप्त करने के लिए इसका प्रयोग अवश्य करना चाहिए। ज्ञानवर्द्धक की अद्भुत क्षमता रखता है। पापनाश ...र प्रतिभा संवर्धन में यह विशेष रूप से समर्थ होता है।

सप्तमुखी रुद्राक्ष महासेन है। सातमुखी रुद्राक्ष अनन्त नाम करके विख्यात है। सातमुखी रुद्राक्ष लक्ष्मी का स्वरूप भी माना गया है। जो व्यक्ति सातमुखी रुद्राक्ष को धारण करते हैं, उनको नौकरी एवं व्यापार में उन्नति और धन की प्राप्ति होती हैं। सातमुखी रुद्राक्ष को सप्तऋषि स्वरूप भी माना गया है। साक्षात् कामरूप होता है। दारिद्रयनाश, समृद्धि प्राप्ति और रोग-मुक्ति के लिए इसको धारण करना चाहिए।

अष्टमुखी रुद्राक्ष साक्षात् काल भैरव जी और गणेश जी का सवरूप है। अष्टमुखी रुद्राक्ष काल भैरव का स्वरूप होने के कारण अति बलशाली है और शत्रु भी वश में हो जाते हैं। गणेश जी का स्वरूप होने के कारण ऋद्धि-सिद्धि और लक्ष्मी के दाता है और यह मांगलिक कार्यों के लिए शुभ माना गया है। अष्टमुखी रुद्राक्ष बटुक भैरव का स्वरूप भी माना गया है। इसलिए आयु को बढ़ाने वाला है।

नवमुखी रुद्राक्ष का नाम भैरव कपिल वर्ण है, जो मनुष्य अपनी दाईं भुआ में धारण करते हैं। नवमुखी रुद्राक्ष लक्ष हजार करोड़ पापों का नाश करने वाला है। नवमुखी रुद्राक्ष नव दुर्गा का स्वरूप है यानि नव देवियों का रूप माना गया। इसको धारण करने से सभी प्रकार के पापों से मुक्ति मिलती है। नवमुखी रुद्राक्ष को गले में डालकर जाये तो अनहोनी भी होनी में बदल जाती है और शत्रु भी वश में हो जाते हैं।

दसमुखी रुद्राक्ष के प्रधान देव भगवान जनार्दन एवं दसों दिकपाल कहे गये हैं। इसके धारण करने से सर्व कार्य सिद्ध होते हैं और किसी शत्रु के मारे नहीं मरता तथा दसों दिशाओं का प्रेमपात्र बन जाता है। दसमुखी रुद्राक्ष के धारण करने से ग्रह शान्त होते हैं भूत, प्रेत, सर्प आदि का भय नहीं रहता है। यह रुद्राक्ष धारण करने से गृह बाधा आदि दोष निवृत्त होता है। जो मनुष्य दसमुखी रुद्राक्ष धारण करता है, उस पर

मारण, मोहन, वशीकरण आदि का प्रभाव नहीं होता है। दस मुखी रुद्राक्ष भगवान विष्णु का स्वरूप होने के नाते अधिक बलशाली माना गया है।

ग्यारहमुखी रुद्राक्ष पुराणों में जो एकादश रुद्र वर्णन किये हैं, उनमें साक्षात् रुद्र स्वरूप हैं।

बारहमुखी रुद्राक्ष'साक्षात् सूर्य भगवान का स्वरूप है जो मनुष्य इसे अपने कण्ठ में धारण करता है तो आदित्य बारहमुखी रुद्राक्ष में वास करते हैं इसलिए उन मनुष्यों को चोर, अग्नि का भय तथा अनेक प्रकार की व्याधि नहीं होती है।

त्रयोदसमुखी रुद्राक्ष साक्षात् देवराज इन्द्र का स्वरूप है। शिवजी बोले कि हे स्कंदजी जो मनुष्य तेरहमुखी रुद्राक्ष को धारण करते हैं, उनको सम्पूर्ण कामना की प्राप्ति होती है।

चौदहमुखी रुद्राक्ष साक्षात् हनुमान जी का स्वरूप है। चौदहमुखी रुद्राक्ष के धारण करने से कोई कष्ट नहीं हो पाता है और सभी पापों से तुरन्त छुटकारा दिलाता है। सभी प्रकार की व्याधि का नाश करता है एवं आरोग्यता की प्राप्ति होती है। चौदह मुखी रुद्राक्ष को ललाट पर या हृदय में धारण करना चाहिये। यह हनुमानजी का स्वरूप होने के कारण भी अति बलशाली माना गया है।

किसी भी मंत्र, जप में रूद्राक्ष माला को सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

स्फटिक माला के छोटे बड़े दाने होते हैं। बड़े दाने की माला पहनने के लिए है। देवी को अर्पित करने के लिए भी है। यदि श्रीयंत्र पर बड़े दाने की स्फटिक माला चढ़ाकर रखा जाय पूर्व दिशा की ओर तो सभी प्रकार के उत्तम फल की प्राप्ति होती है। स्फटिक के छोटे-दाने की माला जप के लिए है इस माला पर विशेष रूप से सरस्वती और बृहस्पति के मंत्र जप करने का विधान है वैसे सभी बीजाक्षर मंत्र का जप किया जा सकता है सावरी मंत्र को छोड़कर। सरस्वती मंत्र का जप करने पर विद्या की प्राप्ति होती है। बृहस्पति मंत्र का जप करने पर ज्ञान, विवेक और प्रज्ञा की उपलब्धि होती है। इसी प्रकार शुक्र मंत्र का जप करने से शुभ कार्य सम्पन्न होते हैं।

तुलसी की माला पर गायत्री, राम, कृष्ण, विष्णु से संबंधित मंत्रों का जप करने से अभीष्ठ सिद्धि होती है। तुलसी की पत्ती तकिया के नीचे रख कर सोने से नींद अच्छी आती है। सपनों में देव दर्शन भी होता है।

लाल चन्दन की माला पर नौ दुर्गा से संबंधित मंत्रों के अतिरिक्त किसी भी देवी रूपा शक्ति का मंत्र जपा जा सकता है। नवरात्रि में दुर्गा का मंत्र जपने से सभी शुभ कार्य सम्पन्न होते हैं। मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं।

मूंगा की माला पर आप हनुमानजी और गणेशजी के मंत्र का जप करिए और

फिर देखिए क्या उपलब्धि होती है। धन, धान्य, यश, कीर्ति, सन्तान, दारिद्रय नाश, शत्रुनाश, रोग व्याधि का निवारण और परिवार में सुख शान्ति आदि सब कुछ। मंगल ग्रह कितना ही खराब हो, यदि उसके मंत्र का जप मूंगे के २१ दाने पर नित्य ५ माला किया जाय तो निश्चय ही मंगल का कुप्रभाव नष्ट होकर रहेगा।

कमल गट्टे की माला पर लक्ष्मी का अधिकार है। लक्ष्मी के दो रूप हैं- उलूक वाहिनी लक्ष्मी और श्वेतगजवादिनीं लक्ष्मी। पहली लक्ष्मी केवल वैश्यों की मात्र पूजनीय है। दूसरी लक्ष्मी ब्राह्मण और क्षत्रिय की है पूजनीया। कमल गट्टे की माला पर प्रातःकाल मंत्र जपने से महालक्ष्मी प्रसन्न होती है और धन यश की प्राप्ति होती है।

हल्दी की माला पर पीताम्बरा यानी वल्गामुखी देवी का मंत्र जप करने से शत्रुनाश निश्चित है। इस माला का संबंध बृहस्पति से भी है उनका मंत्र जपने से बृहस्पति का कुप्रभाव कम होता है।

फिरोजा की माला का संबंध विशेष इस्लामी मंत्रों से है। वे मंत्र कोई भी हो उनके जपने से सिद्धि होती है। पति-पत्नी के संबंध को प्रगाढ़ करने के लिए, मनमुटाव दूर करने के लिए तथा अन्य परेशानियों को दूर करने के लिए इस माला का उपयोग किया जाता है।

मूंगों की माला से, हीरों की माला से या मणियों की माला से वशीकरण और पुष्टिकर्म में जप करें, हाथी के दांत की माला से आकर्षण में जप करें।

जिस मनुष्य पर प्रयोग करना है उसके बाल को घोड़े के दांतों की माला गूंधकर विद्वेषण और उच्चाटन में जप करें।

मरे हुए मनुष्य के दांतों की या गधे के दांतों की माला बनाकर उससे मारण के प्रयोग में जप करें।

शंख और मणियों का माला से धर्माथ सिद्धि के लिये जप करें और कमल गट्टों की माला से सब कार्यों सिद्धि के लिये जप करें।

रुद्राक्ष की माला से जप करने पर सब फल प्राप्त होते हैं। विद्याभिलाषी मनुष्य स्फटिक की माला, मोतियों की माला, रुद्राक्ष की माला व मूंगों की माला से जप करें।

मुक्ति की इच्छा करने वाले २७ दानों की माला से जप करें और अभिचार कर्म में १५ दानों की माला फल देती है।

सम्पूर्ण तांत्रिक कर्मों में तत्व के जानने वालों ने १०८ दानों की माला से जप करना कहा है।

शान्ति, पुष्टि, स्तम्भन और वशीकरण में अंगूठे के अग्रभाग से माला चलावें, अंगूठे और अनामिका, अंगुली से आकर्षण में माला चलावें।

अंगूठे और तर्जनी अंगूली से विद्वेषण में माला चलावें और अंगूठे एवं कनिष्ठिका अंगुली से मारण में जाप करें।

वशीकरण में पूर्व मुख करके जप करें, अभिचार (मारणादि) कर्म में दक्षिण मुख करके जपे, धन की लालसा से पश्चिम मुख करके और आयु की रक्षा के निमित्त, शांतिकर्म एवं पुष्टिकर्म में उत्तर मुख करके जपे।

माला में १०८ दाने का रहस्य- १६, ३६, ७८ और ६५ दाने की माला पर जप कदापि नहीं करनी चाहिए। बाहु या कण्ठ में धारण करने के लिए १५,२७ और ५४ दाने की माला शुभ है। किसी भी प्रकार के मंत्र जप के लिए १०८ दाने की माला पूर्णरूप से आवश्यक है। माला के दोनों शिरों को जोड़कर वहां एक विशिष्ठ दाना अवश्य लगाना चाहिए। उसे सुमेरू कहते हैं। सुमेरू के अभाव में माला निष्प्राण, व्यर्थ और निष्प्रभावी समझा जाता है। १०८ की संख्या एक आध्यात्मिक तत्व है। जो अपने आप में रहस्यमय है। श्वास और प्रश्वास की क्रिया एक प्राकृतिक व्यवस्था है। यदि माला जपते समय साधक श्वास-प्रश्वास की गति को अनुकरण करते हुए प्रति श्वास पर एक मंत्र पढ़े और उसी के साथ एक दाना आगे से पीछे सरकायें। तो १ घंटे में ६०० और १२ घंटे में १०,८०० जप हो जायेगा। उपांशु जप से नियमानुसार यदि कोई साधक केवल १०८ बार ही जप करता है तो उसे, १०,८०० जप के बराबर फल मिलता है। ऐसी स्थिति में १०, ८०० की संख्या का जप केवल १०८ जप में शुद्रतापूर्वक करने के लिए १०८ दाने की माला उपयोगी समझी जाती है। ज्योतिष शास्त्र के अनुसार खगोल विज्ञान के मत से भी ब्रह्माण्ड स्थित २७ नक्षत्रों के चरणों का स्पर्श करने के लिए १०८ बार जप करना चाहिए। ऐसे जप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त नक्षत्रीय क्षेत्र, वायुमण्डल से साधक का सम्पर्क हो जाता है। जबकि नक्षत्र के चार-चरण होते हैं अतः २७ नक्षत्र १०८ चरणों के माध्यम से ब्रह्माण्ड का स्पर्श करने के लिए १०८ बार मंत्र का जप करना आवश्यक होता है और यह १०८ बार की जप क्रिया तभी सुविधापूर्वक सम्पन्न होती है जब माला में १०८ दाने हों। यहां यह बतला देना आवश्यक है कि क्यों न कोई जप हो। जप के पूर्व माला के सुमेरू पर मंत्र के अधिष्ठात्र देवी या देवता का ध्यानपूर्वक आवाहन कर लेना चाहिए। सफलता निश्चित है।

अंक नौ का महत्व आध्यात्मिक दृष्टि से अति महत्वपूर्ण प्रभावशाली माना गया है। न जाने कितने पौराणिक वैदिक प्रसंग नौ अंक से जुड़े हुए हैं। ग्रहों की संख्या ६ है। नवार्ण मंत्र ६ वर्णाक्षर है। नवरात्र के ६ दिन हैं। भगवती दुर्गा के भी ६ रूप हैं। कितने ही प्रसंग ऐसे हैं जिनकी संख्या में १८, १८०० या १८००० की प्रधानता है। गणना करके देखे तो स्पष्ट होता है कि सभी संख्याओं का मूल ६ का अंक ही है और इसी के विस्तार से उपरोक्त संख्यायें निर्मित हुई है। इसी प्रकार कुछ

विशेष गणतीय सिद्धान्तों के आधार पर १०८ की संख्या को माला के सन्दर्भ में सर्वश्रेष्ठ मानकर 'मनको' की संख्या भी १०८ रखी गयी है।

मंत्र साधना और उससे संबंधित जितनी क्रियायें और उपासनायें हैं वे सभी तांत्रिक संस्कृति के प्रमुख अंग हैं। तांत्रिक संस्कृति भारत की आदि संस्कृति है और तांत्रिक साधना है आदि साधना। मंत्र तत्व, मंत्र शक्ति, मंत्र साधना आदि को समझने के लिए तांत्रिक संस्कृति, तांत्रिक साधना और साधक की विषय की गम्भीरता से परिचित होना आवश्यक है।

विश्व में जितने धर्म प्रचलित हैं और जितनी उपासना की पद्धतियाँ आविर्भूत हैं उन सभी का मूलस्रोत तांत्रिक संस्कृति और उपासना है। संस्कृति का अर्थ है मन और हृदय की वृत्तियों का संस्कार आभ्यंतरिक तत्व होना। तांत्रिक संस्कृति का मूल सूत्र न धर्म है, न भाषा है और न तो है भौगोलिक खंड। यह सूत्र तो जीवन यात्रा के वास्तविक उपकरण, सामाजिक व्यवस्था और इन सबकी सहायता से बना मानवलोक।

वृत्तियों को उदात्त बनाना और सुधारने का जो कार्य है वही तांत्रिक साधना है। स्वार्थ सिद्धि की अपेक्षा परसेवा, समाज सेवा, स्वार्थ की अपेक्षा परमार्थ सिद्धि यह तांत्रिक संस्कृति की पहली विशेषता है।

मनुष्य का चरम लक्ष्य बनाकर उसे प्राप्त करने का उपाय और मार्गदर्शन करना यह उसकी दूसरी विशेषता है।

शारीरिक, मानसिक तथा आत्मशक्ति का विकास के लक्ष्य की सिद्धि के लिए मार्ग स्पष्ट करना उसकी तीसरी विशेषता है।

पिंड में स्थित शक्ति का क्रमोत्तर विकास करना तथा उससे ब्रह्माण्ड में स्थित शक्ति का तादात्म्य स्थापित करना उसकी चौथी विशेषता है। निर्लिप्त भाव से तथा आकांक्षा रहित कर्म द्वारा भौतिक सुखोपलब्धि और साथ ही साथ, पारलौकिक सुखोपलब्धि के लिए चैतन्य रहना तांत्रिक संस्कृति की पांचवीं विशेषता है।

तांत्रिक संस्कृति में मानव तथा मानवीय जीवन की आवश्यकताओं, अभिरूचियों, उद्देश्यों तथा आकांक्षाओं के समन्वय का प्रयास किया गया है। इस समन्वय के दो आकार हैं एक लौकिक जीवन की आवश्यकताओं और दूसरा इस जीवन की आवश्यकतायें तथा उद्देश्य।

मानव जीवन केवल शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति तक ही सीमित नहीं है। मानवी दैविक गुण है किन्तु मानवीयता की मांग है कि मोक्ष और मोक्ष की प्राप्ति धर्म से होती है। धर्म का समन्वय और साधना कर्म से होता है। कर्म के माध्यम से मोक्ष की साधना पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ आवश्यक है क्योंकि मानव जीवन का उद्देश्य है

मानवीस्तर से मानवीयता की ओर अग्रसर होना। जिसका तात्पर्य है पुरुष से पुरुषोत्तम और नर से नरोत्तम होना। इसकी प्रक्रिया में जो साधन है बड़ी ही कठिन तांत्रिक साधना है। शाक्त तांत्रिक साधना योगपरक है। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित चार योगों का समावेश है : ध्यानयोग, मंत्रयोग, लययोग, राजयोग।

इन चारों प्रकार के योगों का समन्वय तंत्र योग है। तंत्र योग का तात्पर्य ही है तथोक्त चारों योगों का समन्वय साधना। ध्यानयोग का लक्ष्य है समाधि और उसकी भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ। मंत्रयोग का प्राप्तव्य है इष्ट साक्षात्कार। लययोग का उद्देश्य है पिण्ड ब्रह्माण्ड तादात्मय स्थापन और राजयोग का उद्देश्य है विचार शक्ति का उन्मेष और प्राप्ति। विचार शक्ति ही कुण्डलिनी शक्ति है इसलिए इसे कुण्डलिनी योग भी कहते हैं।

मंत्रों में शक्ति को जागृत करने के लिए जप क्रिया मुख्य है। मंत्रयोग के प्रमुख अंग हैं मंत्रजप, जप द्वारा शक्ति का जागरण, मंत्र चैतन्य, मंत्र शक्ति का प्रयोग आदि। इसी प्रकार उसके अतिरिक्त विषय के प्रमुख अंग हैं इष्ट प्राप्ति और इष्ट साक्षात्कार। मंत्र योग अथवा मंत्र साधना धर्म का प्रमुख और आवश्यक अंग समझा जाता है इसीलिए यह सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में पाया जाता है।

मंत्र तीन प्रकार के होते हैं मानवी मंत्र, आसुरी मंत्र और दैवी मंत्र। पहले प्रकार का मंत्र भूत, प्रेत, पिशाच, दूसरा यक्ष-गंधर्व आदि के वासना लोक, तामसिक लोक के सूक्ष्म शरीरधारिणी आत्माओं से संबंधित है। इसी प्रकार तीसरा दैवी मंत्र राजसी और सात्विक लोक की दैवी एवं उच्चकोटि के दिव्य आत्माओं से संबंधित है। इन तीनों प्रकार के मंत्रों के अपने-अपने सिद्धान्त हैं और उन सिद्धान्तों के अनुसार क्रिया पद्धतियाँ हैं। मंत्र की अपनी स्वशक्ति है। उसकी वह स्वशक्ति एक प्रकार की बल शक्ति है जिसे हम "पावर" कहते हैं। बल शक्ति में जबतक क्रिया शक्ति का आविर्भाव नहीं होता तबतक उससे कोई लाभ नहीं। क्रिया शक्ति फोर्स है और गति शक्ति एनर्जी है। इसीलिए मंत्र शक्ति के साथ संकल्प शक्ति और विचार का समन्वय आवश्यक है। संकल्प और विचार से मंत्र शक्ति में गति और क्रिया शक्ति का आविर्भाव होता है। मन के एकाग्र होने पर संकल्प शक्ति का उदय होता है इसलिए मंत्र साधना में सर्वप्रथम मन की एकाग्रता को आवश्यक बतलाया गया है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो सफलता असम्भव है।

यह हुआ मंत्र का एक पक्ष। उसका दूसरा पक्ष 'वर्ण' और 'स्वर' है। इन दोनों की अपनी स्वतंत्र संत्ता है। तंत्र साधना में वर्णों को चेतन शक्ति का और स्वर को जड़

शक्ति का आधार बतलाया गया है। निष्कर्ष यह कि दोनों क्रमशः चेतन और जड़ शक्ति है अतः दोनों के मिश्रित रूप को 'शब्द शक्ति' कहते हैं। शब्द शक्ति ही मंत्रों की स्वशक्ति है।

'शब्द शक्ति' से निकलने वाली जो उर्जाएँ है उसे हम 'ध्वनि' कहते हैं। ध्वनि, वास्तव में विद्युतमय है। हमारे शरीर में जो मनोवहा नाड़ी है जिसका मार्ग हृदय केन्द्र से मस्तिष्कपर्यन्त बतलाया गया है यही ध्वनि मनोवहा नाड़ी भी है। संकल्प-विकल्प, बोध, अनुभूति आदि मनोवहा नाड़ी में प्रकट होते हैं इसलिए उनका प्राकट्य जब हम शब्दों में करते हैं तो उनमें ध्वनि विद्युत कण 'साउन्ड इलेक्ट्रोन' का होना स्वाभाविक है। वास्तव में शब्द एक प्रकार से ध्वनि तरंग है। शब्द से ध्वनि को और ध्वनि को शब्द से पृथक नहीं कर सकते। शब्दोच्चारण होते ही वायुमण्डल में उसकी ध्वनि, तरंगे उत्पन्न करती हैं। वे तरंगे स्वाभाविक गति से हमारे कान के परदे पर जिसमें शब्द ध्वनि मिश्रित तरंगों को ग्रहण कर पुनः शब्द रूप देने के गुण हैं टकराकर उसी प्रकार कंपन उत्पन्न करती है।

वैज्ञानिक दृष्टि से व्यापक खोज करने पर हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि शब्दोच्चारण के साथ ही वायु में कंपन नहीं होता बल्कि बोलने की इच्छा होते ही बायु में कम्पन होने लगता है। शब्दों में विचार शक्ति, संकल्प शक्ति का मिश्रण तो रहता ही है इसके अलावा उसमें बोलने वाले की इच्छा शक्ति, मनःशक्ति भी विद्यमान रहती है। विचार शक्ति में अन्य सभी शक्तियों का योग रहता है इसीलिए शब्द विज्ञान विचार शक्ति को प्रधानता देता है। शब्द शक्ति की तरह विचार शक्ति की भी अपनी स्वतंत्र सत्ता है।

जिस प्रकार शब्दों में कंपन होते हैं उसी प्रकार विचारों में भी कम्पन हुआ करते हैं। विचार सूक्ष्म हैं इसीलिए उसके कम्पन स्थूल है इसीलिए वे स्थूल वायु में होते हैं। मगर विचारों के कंपन सूक्ष्म होने से वायु के उस भाग में होते हैं जिसे हम ईथर कहते हैं। अतएव विचारों द्वारा जो कंपन होता है वह ईथर में होता है। इस विचार से दो प्रकार के कंपनों का अस्तित्व सामने आता है-शब्द-ध्वनि कंपन और विचार कंपन। पहला स्थूल वायु में और दूसरा सूक्ष्म वायु यानि "ईथर" में होता है। स्थूल वायु में जो कम्पन होता है वह थोड़ी देर बाद नष्ट हो जाता है किन्तु "ईथर" में हुआ कंपन नष्ट नहीं होता कभी। उसका अस्तित्व रूपान्तरित होकर बना रहता है बराबर।

स्थूल वायु में जबतक एक सेकेण्ड में ३२ से ३२७६८ तक कंपन होते हैं तब तक कान का पर्दा उसे ग्रहण कर सकने में समर्थ होता है। एक सेकेण्ड में इससे कम

या इससे अधिक कंपन उत्पन्न होने पर शब्द नहीं सुन सकते। ३२७६८ के ऊपर होने पर उसकी गति इलनी तीव्र हो जाती है कि कान का पर्दा तीव्र गति के कारण हिल नहीं पाता। वायु की तीन अवस्था है-स्थूल वायु (ऑक्सीजन), सूक्ष्म वायु (नाइट्रोजन) और सूक्ष्मतम् वायु (ईथर)।

सूक्ष्मतम् वायु सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में व्याप्त है जबकि अन्य दोनों प्रकार के वायु की सीमा गुरुत्वाकर्षण तक ही है।

ध्वनि विज्ञान की सबसे पहले खोज भारतीयों ने ईसा की कई शताब्दियों पूर्व की थी। उन्हें ध्वनि विज्ञान और उसके सभी रहस्यों की जानकारी थी। वे जानते थे कि ध्वनि से क्या-क्या लाभ प्राप्त हो सकते हैं। पुराने समय में मंत्रों की ध्वनि के विभिन्न उपयोग थे। मंत्र शास्त्र के अलावा संगीत शास्त्र की राग-रागिनी, ताल-मात्राएँ प्राच्य भारतीय विज्ञान का ज्वलंत प्रमाण है। ध्वनि की साधारण गति ३३२ मीटर प्रति सेकेण्ड है। जो लगभग ७६० मील प्रति घंटा है जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है। ३२७६८ आवृति (फ्रीक्वेंसी) के ऊपर ध्वनि गति तीव्र हो जाने के कारण कान को शब्द सुनाई नहीं देता। उपर्युक्त फ्रीक्वेंसी के ऊपर जब ध्वनि की गति बढ़ती है तो उसको वैज्ञानिक भाषा में 'अल्ट्रासॉनिक, कहते हैं। हालांकि इस ध्वनि को मनुष्य नहीं सुन सकता मगर पशु-पक्षी जगत इससे परिचित हैं। जहां कम्पन है वहां ध्वनि है और जहां ध्वनि है वहाँ प्रकाश है। विज्ञान के इस सिद्धान्त के अनुसार एक तथ्य और भी स्पष्ट होता है कि निश्चित आकृति से न्यून अथवा अधिक ध्वनि को जिस प्रकार कान सुन नहीं पाता उसी प्रकार निश्चित प्रकाश की गति से कम या अधिक में नेत्र भी देख नहीं पाता। ध्वनि की तरह प्रकाश में भी कंपन है। नेत्र की मर्यादा से अधिक कंपन वाले प्रकाश नेत्र के लिए अन्धकार में परिणत हो जाता है। प्रकाश की गति, ध्वनि से सैकड़ों गुना अधिक मानी गयी है।

जैसाकि स्पष्ट किया गया है कि जहां ध्वनि है वहां प्रकाश है। ध्वनि की अन्तिम आवृत्ति यानि 'फ्रीक्वेंसी' प्रकाश को जन्म देती है। ऑक्सीजन और नाइट्रोजन में होने वाली ध्वनि जिसे हमने वायु भेद के आधार पर स्थूल ध्वनि और सूक्ष्म ध्वनि की संज्ञा दी है क्रमशः अपनी अन्तिम आवृत्ति में प्रकाश में परिवर्तित हो जाती है किन्तु परिवर्तन अति न्यून होने के कारण वह प्रकाश आँखों से दिखलाई नहीं दे पाता। इसी प्रकार 'अल्ट्रासॉनिक साउंड' से उत्पन्न प्रकाश तीव्र होता है तो वह भी आंखों की मर्यादा से बाहर हो जाता है यदि कभी उसकी मर्यादा में आ भी जाती है तो आँखों की कणिकायें जल जाती हैं। आदमी अन्धा हो जाता है। रात्रि में देखने वाले पशु-पक्षी 'अल्ट्रासॉनिक साउंड' से उत्पन्न तीव्र प्रकाश में ही देखते हैं। सबसे आश्चर्य की बात यह है कि निद्रा

मे जो स्वप्न हम देखते हैं। वह 'अल्ट्रासॉनिक साउंड' से उत्पन्न प्रकाश में देखते हैं। अल्ट्रासॉनिक, ध्वनि की 'फ्रीक्वेन्सी' ईथर में होती है अतः इसका संयुक्त उपयोग राडार, टेलीविजन, माइक्रोस्कोप आदि में होता है। इनका जो सिद्धान्त है वही मंत्र विज्ञान का भी समझना चाहिए।

जिन तीन प्रकार के वायु और उनमें होने वाले तीन प्रकार के ध्वनि तरंगों की चर्चा हमने वैज्ञानिक दृष्टि से की है उसके आधार पर तंत्र विज्ञान के मुख्य अंग मंत्र, यंत्र और देव प्रतिमा तत्व के रहस्यमय सिद्धान्तों, तथ्यों को भलीभांति समझा जा सकता है। योग और तंत्र विज्ञान के जो सिद्धान्त हैं वे ही सिद्धान्त भौतिक विज्ञान के हैं यह निर्विवाद सत्य है इसमें सन्देह नहीं।

पाश्चात्य अनुसंधानवेत्ता जो इस समय योग और तंत्र पर व्यापक खोज कार्य कर रहे हैं, उनका कहना है कि योगतंत्र विज्ञान विशाल, अनन्त गहराइयों वाला समुद्र है जिसकी एक बूंद भौतिक विज्ञान है।

यह सत्य है कि अन्य दोनों प्रकार के वायु से होने वाली ध्वनि तरंगें क्रमशः नष्ट हो जाती हैं, परन्तु ईथर सूक्ष्मतम् वायुमण्डल में जो अखिल ब्रह्माण्ड में सर्वत्र एक समान व्याप्त है- होने वाली ध्वनि तरंग कभी किसी काल में नष्ट नहीं हुआ करतीं।

उपकरणों द्वारा ध्वनि को विद्युत प्रवाह में परिवर्तित कर उसको सूक्ष्मतम् अल्ट्रासॉनिक रूप दिया जाता है अतः इसी वैज्ञानिक पद्धति पर रेडियो, वायरलेस आदि का निर्माण हुआ है। आपको मालूम होना चाहिए कि ईथर में होने वाले कम्पन्न, आवृत्ति, फ्रीक्वेंसी की संख्या एक सेकेण्ड में १०४८५७६ से ३४३५९७३८३६८ तक होती है। जब कम्पन की संख्या अपनी निश्चित सीमा से आगे बढ़ती है तो कम्पन से एक विचित्र और आश्चर्यजनक अखण्ड प्रकाश का आविर्भाव होता है जिसे वैज्ञानिक 'एक्सरेज' कहते हैं। ईथर में एक सेकेण्ड में इतने अधिक कम्पनों के उत्पन्न होने के कारण उनकी गति भी विलक्षण होती है। आप उसकी इस विलक्षण गति का अनुमान इसी से लगा सकते हैं कि रेडियो स्टेशन के प्रसारण कक्ष में हो रहे संगीत के कार्यक्रमों को हम उसी समय सुनते हैं जिस समय वहां कार्यक्रम हो रहा होता है। एक सेकेण्ड के हजारवें हिस्से जितना भी समय नहीं लगता। ईथर के कंपनों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वे जहां अपने समान कंपन पाते हैं वहीं आकर्षित हो जाते हैं।

यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि जबतक ध्वनियों के माध्यम से जितने शब्द ईथर में न पहुंचे हैं उनका विशाल ओर छोर ही नहीं भण्डार भी अभी विद्यमान है और हमेशा रहेगा। एक बात और वह यह कि ईथर के समुद्र में सूक्ष्मतम् ध्वनि ही प्रवेश कर सकती है अन्य प्रकार की ध्वनियाँ वहां पहुँचने के पूर्व ही नष्ट हो जाती हैं।

मानव सभ्यता के साथ ही साथ मंत्र-तंत्र का उदय हुआ है। उनकी प्राचीनता उतनी ही है, जितनी मानव संस्कृति की। इस विशाल विश्व में ईश्वर की अद्भुत शक्तियाँ क्रियाशील हैं। भिन्न-भिन्न देवता उसकी शक्ति के प्रतीक मात्र हैं। संसार के व्यापार में इन शक्तियों का उपयोग नाना प्रकार से है। इन्हीं देवताओं की अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए मंत्र का उपयोग नाना प्रकार से है। जिस फल की उपलब्धि के लिए अश्रान्त परिश्रम करना पड़ता है, वही फल दैवी कृपा से अल्प प्रयास में ही सुलभ हो जाता है। मनुष्य सदा से ही सिद्धि पाने के लिए किसी सरल मार्ग की खोज में लगा रहता है। उसे विश्वास है कि कुछ ऐसे सरल उपाय हैं, जिनकी सहायता से दैवी शक्तियों को अपने वश में रखकर अपना भौतिक कल्याण तथा पारलौकिक सुख सम्पादन किया जा सकता है। मंत्र-तंत्रों के प्रयोग ऐसे ही सरल मार्ग हैं।

यह बात केवल भारत वर्ष के लिए ही चरितार्थ नहीं होती, प्रत्युत अन्य देशों में भी प्राचीनकाल में इस विषय की पर्याप्त चर्चा थी। भारत में तंत्र अध्ययन और अध्यापन की और प्राचीन काल से ही विद्वानों की दृष्टि आकृष्ट रही है। यह विषय नितांत रहस्यपूर्ण है तंत्र-मंत्र की शिक्षा योग्य गुरु के द्वारा उपयुक्त शिष्य को ही दी जा सकती है। इसे गुप्त रखने का प्रधान उद्देश्य यही है कि सर्वसाधारण, जो इसके रहस्य से अनभिज्ञ हो इसका प्रयोग न करें, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि होने की अधिक आशंका अथवा संभावना है।

बल, शक्ति और क्रिया इन तीनों को तंत्र में अति सूक्ष्मता से ग्रहण किया गया है। इन तीनों को एक ही मूलतत्व रूप, परब्रह्म शक्ति का रूप बतलाया गया है-

"परास्य शक्ति विविधेर्व श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया च।"

शक्ति जब सुप्त तथा क्रियारहित अवस्था में रहे तो वह "बल" कहलाता है और वही जब कोई कार्य करने को समुद्यत हो तब उसका नाम शक्ति पड़ जाता है। अन्त में क्रिया रूप होकर उपशांत हो जाता है। शक्ति की ये तीन अवस्थाएँ हैं। फिर नया बल जागृत होता है किन्तु स्मरण रखना चाहिये कि बल, शक्ति और क्रिया अपने आश्रय से पृथक-पृथक होकर प्रत्यक्ष नहीं हो सकती। उसे आश्रय से पृथक भी नहीं किया जा सकता। एक ही आश्रय में तीनों का परस्पर उच्छेद होता है। बल और शक्ति अर्थात स्थिर और अस्थिर शक्ति का संघर्ष तीसरी शक्ति क्रिया का जनक है। 'ऋण' की ओर 'धन' का प्रवाह स्वाभाविक है। इसी प्रकार पौरुष पर आक्रमण करना शक्ति का सहज भाव है। अपने इस भाव के फलस्वरूप पौरुष को हमेशा पराजित करना शक्ति का सहज धर्म माना गया है। जबतक यह क्रिया के रूप में उपशांत होती रहती

है तबतक 'पौरुष' जागृत रहता है और जहां उपशांति का क्रम बन्द हुआ कि शक्ति तुरन्त पौरुष को पराजित कर उसे पौरुषहीन अथवा बलहीन बनी देती है। इस अवस्था में पुरुष शक्ति के चरणों में लुण्ठित होना स्वाभाविक है। प्रायः देखा गया है कि अतीव पुरुषार्थी और बलवान मनुष्य की अजेयता को पराजित करने के लिए नारी शक्ति का आश्रय लिया जाता है। नारी में शक्ति है और पुरुष में बल। पहली चंचला है दूसरी स्थिर। नारी से साक्षात्कार होते ही पुरुष में विक्षोभ होता है। वह विक्षोभ ही उसके नाश और निर्माण का कारण है। महान पुरुषों के जीवन के उत्थान में यदि नारी का सहयोग है तो दूसरी ओर उसके पतन का भी मुख्य कारण है। युद्ध और शांति दोनों में नारी का हाथ है। युद्ध के बिगुल में यदि नारी का अट्टहास मिलेगा तो काव्य के छन्द में नारी के आँसू मिलेंगे। तात्पर्य यह है कि शक्ति अपराजिता है, अजेया है-पौरुष के प्रति हर क्षण उसकी ललकार है-

गर्ज गर्ज क्षणं मूढ़ मधु यावत्पिवाम्यहम्।
मया त्वयि हते अत्रैव गर्जिश्यन्त्याशु देवता।।

बल और शक्ति के विविध पर्याय- यदि हम कहें कि वेद, पुराण, दर्शन और श्रुति-स्मृति के यावत ग्रन्थों में इन्हीं दोनों तथ्यों को लेकर विषयों की रचना हुई है तो अतिश्योक्ति न होगी। मनुष्य में परमार्थ की चेतना उत्पन्न करा देना ही वेदों का कार्य है। पूर्व आचार्यों ने वेदों की संख्या चार बतलाई है किन्तु हम वेदों की संख्या अनन्त मानते हैं। कण-कण में वेद हैं। वेद संहिताओं में, मोटे-मोटे ग्रन्थों में या पोथियों में छुपे हुए नहीं हैं। वे तो विश्व में सर्वत्र फैले हुए हैं। यदि हम समझने योग्य अपने आपको बना लें तो बहते हुए झरनों में, प्रवाहमयी नदियों में, हमें सद्ग्रन्थों में मिलेंगे। वायु में हमें उनके प्रवचन सुनाई पड़ेंगे। तात्पर्य यह है कि वेद न संस्कृत में है न संहिताओं में वे सृष्टि में है। किवदन्ती है कि शंकराचार्य को आठ वर्ष की अवस्था में सम्पूर्ण वेदों का सम्यक ज्ञान हो गया था। पर हम कहते हैं कि आठ वर्ष की क्या आवश्यकता हम स्वयं जीते-जागते वेद हैं। सारी पस्म्परा हमसे निकली है और हमसे ही आत्मसात हुई है। हम उस परम्परा के प्रत्यक्ष फल हैं। वेद बीज का जो फल है वही तो हम हैं। सेवा करो तो वेद दिखाई देंगे। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है तो ब्रह्म वाक्य खुलता है **"प्रभाते कर दर्शनम्।"** अर्थात कल हमने इन हाथों से जो कार्य व सेवा की थी उनको फिर करने लायक यह हाथ है कि नहीं। सेवा, प्रेम और ज्ञान ही **"सत्यम् शिवम् सुन्दरम्"** है पर हम इसे अपने जीवन में नहीं खोजते, नहीं ढालते और नहीं समझते। इसीलिए वेद हमारे लिए अगम्य हैं सेवा में हम शक्ति का बोध करते हैं। प्रेम में उसके रूप का चिन्तन करते हैं और ज्ञान में हम उसके विराट

रूप का दर्शन करते हैं। वेदों की जो प्रथम ध्वनि निकली, वह अग्नि की उपासना के लिए ही है– **"अग्नि मिले पुरोहित यज्ञस्य देवमृत्विजम्"।**

सारी शक्ति अग्नि में समाहित है। अग्नि सूर्य का अंश है और सूर्य है अंशी। अंश से अंशों का ज्ञान कराना वेद का कार्य है। यदि हम वेद की ऋचाओं अथवा मंत्रों को ध्यान से हृदयंगम करें तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि उसमें आदि से लेकर अन्त तक अग्नि, सूर्य, चन्द्र और आकाश में चार पदार्थ हैं। सारे मंत्र और अर्थ इन्हीं चारों के आस-पास चक्कर काटते मिलेंगे। हमने अनेक प्रसिद्ध वैदिकों में इन चारों के अर्थ पूछे जाने पर सन्तोष नहीं हुआ। एक ही तेजस इन चारों पदार्थों में भासित हो रहा है। अग्नि सूर्य का यदि अंश है तो चन्द्र उसका प्रतिबिम्ब। जलती हुई अग्नि हमें सतत कर्म करते रहने की प्रेरणा देती है। मरण समय तक हम कर्म करते रहें। तपता हुआ सूर्य हमको बुद्धि की प्रभा अन्त तक चमकते रहने की शिक्षा देता है। मृत्यु के समय तक भावना पवित्र रहे इसकी शिक्षा चन्द्र देता है। चन्द्र, मन और भावना का देवता कहा गया है। हृदयाकाश में आशक्ति रूपी बादल, कभी नहीं रहने देना चाहिए यह शिक्षा हमें आकाश से मिलती है। सतत शुभ कर्म, बुद्धि की दिव्य प्रभा, पवित्र भावना और अशान्ति रहित जीवन, बस यही तो हमें मोक्ष दिलाते हैं। यही सत्य है।

वेद के बाद पुराण आते हैं। वेद के गूढ़ प्रयोजनों को जीवन में उतारने के लिए पुराणों ने काल्पनिक कथाओं एवं दृष्टान्तों के द्वारा यज्ञ, याज्ञ, क्रिया साधना, उपासना तथा विविध तपश्चर्या को बतलाया। कर्मकाण्ड निरुपयोगी नहीं फिर भी उनके लिए अधिकार चाहिए। कर्मकाण्ड सबके लिए सुलभ नहीं। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति नारियल के पेड़ पर चढ़कर फल तोड़ने के समान है। पुराणों ने वेदों की प्रयोजनों को सूक्ष्मता से समझा और उसे कर्मकाण्ड में बांधकर अन्ततः मोक्ष का साधन निश्चित किया। इससे भी सन्तोष नहीं हुआ तो भक्ति को ९ भागों में बाँट कर 'हरिनाम' में मोक्ष का सारा 'रस' भर दिया। इस प्रकार पुराणों ने मोक्ष को सर्व सुलभ कर स्त्री, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गंवार, मूर्ख, विद्वान, दीन, दुःखी, दुर्बल, रोगी एवं पंगु के लिए उसका मार्ग खोल दिया।

मोक्ष पर केवल विशिष्ट मनुष्यों का ही अधिकार नहीं, इससे स्पष्ट हो जाता है। महाभारत में जो स्त्री, वैश्य, शूद्र आदि की कथाएँ आयी हैं, उनका मूल उद्देश्य यही है कि मोक्ष का द्वार सबके लिए खुला है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों के बन्धन में पड़े मोक्ष की सेवा, कर्म और ज्ञान के चौराहे पर लाकर खड़ा कर देना यह पुराण की ही कला है। कुकर्मों से बचे इसके लिए नर्क, सतकर्मों की ओर प्रवृत्त हों इसके लिए स्वर्ग की कल्पना बड़ी सावधानी से पुराणों ने हमारे सामने प्रस्तुत की।

सारांश यह है कि मोक्ष न विद्वान पर अवलम्बित है न कर्मकाण्ड पर। उसके लिए सरल शक्ति की आवश्यकता है। "मैं" "मैं" कहने वाले महात्मा और ज्ञानी पीछे रह गये, भोली भावुक स्त्रियाँ आगे बढ़ गयीं। तात्पर्य यह है कि मन पवित्र हो, सेवा पवित्र हो, तो कर्म अपने आप सुन्दर होने लगेंगे। अतः इससे सिद्ध होता है कि वेद और पुराण इन शुचि त्रय पर ही मोक्ष निर्भर करते हैं।

इसके पश्चात हमारे सामने दर्शन ग्रन्थ है। पूर्वाचार्यों ने दर्शनशास्त्र की संख्या छः बताई है। सच तो यह है कि दर्शन की संख्या में बांधकर उन्होंने अपनी संकीर्णता का परिचय दिया है। प्रत्येक मानव एक 'दर्शन' है क्योंकि वह दृश्य और अदृश्य जगत विषयक कतिपय श्रद्धाओं, विचारों तथा कल्पनाओं का समुदाय मात्र है। निखिल मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार है। श्रद्धाओं के अनुरूप मनुष्य होता है तथा उसी के अनुरूप उसे फल भी मिलता है। इस प्रकार प्रत्येक मनुष्य का एक "दर्शन" है। इस तरह दर्शन हमारे जीवन के साथ समरस है। हम उससे पृथक बोध नहीं कर सकते। मनुष्य की सबसे बड़ी विशेषता है धर्म धारण करने वाला वस्तु समुदाय, उसका विवेक, उसका विचार, उसका दर्शन। दर्शन का मूल सिद्धान्त है आत्मोन्नति और परमात्म तत्व की प्राप्ति। भिन्न-भिन्न समयों में उत्पन्न हुए दर्शनाचार्यों ने केवल इसी सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग सामने प्रस्तुत किये हैं। जिन्हें हम श्रोत दर्शन, गस्ता दर्शन, चार्वाक दर्शन, जैन दर्शन, न्याय दर्शन, वैशेषिक दर्शन, सांख्य दर्शन, योग दर्शन, मीमांसा दर्शन, वेदान्त दर्शन, वैष्णव दर्शन, शैव दर्शन आदि नामों से जानते हैं। अपने अनुमान विचार और अनुभव तथा कल्पना के आधार पर दर्शनाचार्यों ने एकमात्र परमात्म तत्व की पुष्टि के लिए दर्शनशास्त्र को इतना गूढ़ और अगम्य बना दिया कि साधारण जनता को इस शास्त्र से अरुचि हो गई। किन्तु ध्यान से देखें तो एक ही "आत्मतत्व" की उपलब्धि की इन आचार्यों ने। कैवल्यपद बुद्धत्व, मुक्ति, निर्वाण, सिद्धावस्था, मोक्ष, परमहंस पद, शिव अथवा सदाशिव पद, शिवशक्ति-संगम और रक्तबिन्दु योग आदि नाम संज्ञा देकर अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। तात्पर्य यह कि एक ही प्राप्य वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम हैं। प्राप्य वस्तु है "परमात्मा" जिसे प्राप्त करने वाला है 'आत्मा'। एक अंशी है दूसरा अंश। अंशी और अंश के मिलन में एकमात्र बाधक है आन्तरिक संघर्ष, जिसका उल्लेख हम ऊपर कर चुके हैं। यह आन्तरिक संघर्ष सत-असत् का, देव-असुर का, कर्म-अकर्म का, जीव-माया का, सद्-असद्वृत्ति का, पुरुष-शक्ति का, रक्त और बिन्दु का है। संघर्ष से मुक्त हो जाना ही परम पुरुषार्थ है, मानव उद्देश्य है, धर्म है, तंत्र का उपासना पक्ष देवी और दानव के युद्ध जैसी कथाओं के द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म रूप

से सद्-असद्वृत्ति अथवा पौरुष एवं शक्ति के संघर्ष का मनोरम रूप हमारे सामने रखता है। इसी प्रकार देवासुर-संग्राम और कौरवों-पाण्डवों के युद्ध से हम यही भाव निकालते हैं। हमारे अन्दर सृष्टि के प्रारम्भ से सद्गुण-दुर्गुण का, सद्-असद् वृत्तियों का अथवा हिंसा-अहिंसा का झगड़ा चला आ रहा है। एक ओर सद्गुण रूपी दैवी सेना और दूसरी ओर असद् अथवा दुर्गुणरूपी आसुरी सेना आमने-सामने खड़ी है। उसका रूपकात्मक वर्णन करने की परिपाटी भी अति प्राचीनकाल से चली आ रही है। वेद में इन्द्र और वृत्र, पुराणों में देव और दानव, वैसे ही राम और रावण, कौरव और पाण्डव तथा देवी और महिषासुर आदि इसी प्रकार पारसियों के ग्रन्थों में अहुर-मरुद और अहरिमान, ईसाई ग्रन्थों में प्रभु और शैतान, इस्लाम में अल्लाह और इब्लीस की कथा उसी संघर्ष का बोधक है।

काव्य में स्थूल और मोटे विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओं के रूपकों के द्वारा किया जाता है तो धर्मग्रन्थों में सूक्ष्म मनोभावों का वर्णन उन्हें ठोस व स्थूल रूप देकर किया जाता है। कवि अपने इष्ट हेतु सिद्ध करने के लिए युद्ध की कल्पना करता है। कुरुक्षेत्र बाहर भी है और हमारे भीतर भी। युद्ध मन में होता है। वही इस जगत में साकार दिखायी देता पड़ता है। मन का ही तो प्रतिबिम्ब जगत है। हमें जो शत्रु बाहर दिखाई पड़ता है, वह हमारे मन का विकार, कुवृत्ति अथवा अशुभ संस्कार ही साकार रूप में खड़ा है। वस्तुतः हजारों वर्ष जी कर भी किस तरह जीयें, इसका विचार हमने अभी तक नहीं किया। हम जो उद्देश्य लेकर जगत में आते हैं उसके अनुसार हमें जीना आता नहीं। हम जीते हैं इसलिए कि हम मरते नहीं। तंत्रशास्त्र इस विचार सारणी को अति सावधानी से साधना मार्ग में प्रस्तुत करता है। योगशास्त्र और तंत्र साधना के पक्ष में एक मत हैं। दोनों प्रारम्भ में चित्त वृत्तियों को वश में करने के लिए उपदेश देते हैं, क्योंकि तंत्र की दृष्टि में चेतन से संबंधित समस्त वृत्तियाँ 'शक्ति' है और उनके पुरुष भाव अथवा बल तत्व 'पुरुष' हैं। इस प्रकार पुरुष और शक्ति अर्थात उभय लिंगात्मक सृष्टि के अन्तर्गत जगत के समस्त पदार्थों अथवा प्राण में है। पुरुष और स्त्री तत्व दोनों विद्यमान है। उसी प्रकार स्त्री में भी दोनों तत्व की प्रधानता समझनी चाहिए। इसी आधार पर तंत्रयोग में "अर्धनारीश्वर" की कल्पना की गई है। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आज हो रहे यौन परिवर्तन हैं। अक्सर स्त्री-पुरुष के यौन परिवर्तन की कथा समाचार पत्रों में प्रकाशित होती है। जिन लोगों ने योगतंत्र का सम्यक ज्ञान प्राप्त किया है वे वस्तु परिवर्तन, रूप परिवर्तन तथा यौन परिवर्तन करने की क्रिया अच्छी तरह जानते हैं। यह क्रिया सूर्य विज्ञान के अन्तर्गत है।

तंत्रशास्त्र ने पुरुष शक्ति को उपासना का मूल केन्द्र मान कर पराशक्ति को छः भागों में विभक्त किया है। इन छः भागों के स्थान को योगशास्त्र में षट्चक्र कहा गया

है प्रायः लोग समझते हैं कि षट्शक्ति और षट्चक्र भिन्न-भिन्न है। यह विचार निर्मूल है, हम स्वीकार नहीं करते। प्रत्येक शक्ति अपने उद्गम को केन्द्र बिन्दु बचाकर उसके चतुर्दिक भ्रमणशील है। उसकी भ्रमण क्रिया वृत्ताकार है। वृत्त से जो परिधि बनती है उसे चक्र कहते हैं। हमारे शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियाँ हैं। आश्चर्य तो इस बात का है कि जिन शक्तियों से जितनी नाड़ियाँ संबंधित हैं, वे दूसरी शक्तियों से संबंधित नाड़ियों से संबंध नहीं रखती। षट्चक्र ये हैं-१. मूलाधार, २. स्वाधिष्ठान, ३.मणिपूरक, ४. अनाहद, ५. विशुद्ध और ६. आज्ञा चक्र। आप ये कल्पित नाम न समझें। सब गुणवाचक हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने भी इन चक्रों का गहराई से अध्ययन और चिन्तन किया है। चक्रों को नाड़ीपुंज कहते हैं ये नाड़ी पुंज अथवा चक्र मेरूदण्ड के उन भागों में स्थित है, जहाँ हजारों की संख्या में गुच्छ रूप में नाड़ियाँ निकलती हैं। इन्हीं गुच्छों को योग की भाषा में कमलदल कहते हैं। उन षट्पुंजों अथवा गुच्छों में जो रक्त प्रवाहित होता है भिन्न-भिन्न शक्तियों का उन पर प्रभाव पड़ने के कारण उनका प्रत्येक गुच्छ में रंग बदल जाता है शक्ति का प्रभाव तत्वों के अनुसार पड़ता है। मैंने प्रयोगकाल में मनुष्य के सद्यः रक्त के ऊपर क्रिया करके देखा है। विभिन्न प्रकारों से एक ही रक्त ६ वर्णों में अलग-अलग किया जा सकता है। मगर मूल वर्ण में केवल तीन ही हैं। अर्थात इनसे ६ वर्णों की उत्पत्ति होती है। जल में प्रायः रूधिर का रंग मटमैला हल्का पीला हो जायेगा। शुद्ध वायु में रुधिर का रंग गहरा लाल मालूम होगा अंधकार में रखें तो सिन्दूरी रंग हो जायेगा। गहरे आकाश में देखिए तो धूमिल दिख पड़ेगा अतः इस प्रकार पांचों तत्वों के प्रभाव से रुधिर के वर्ण बदल जाते हैं।

मूलाधार चक्र- इसका स्थान गुदा और लिंग के बीच में है। यहां से होता मेरूदण्ड का प्रारम्भ होता है। ध्यान देने योग्य बात है कि मेरूदण्ड का जो मुख है वह इस चक्र के बीच में है। मेरूदण्ड के भीतर से गई हुई सुषुम्ना नामक नाड़ी के भीतर वज्रा, चित्रिणी और ब्रह्म नामक तीन और नाड़ियाँ हैं। मेरूदण्ड के भीतर से सुषुम्ना नाड़ी निकल कर अपने अन्दर स्थित तीनों नाड़ियों के साथ तीन बार में घुमी हुई है। जिसे रत्नकूट कहते हैं और जहाँ यह फेरा समाप्त हुआ है उस स्थान पर तीनों नाड़ियाँ सुषुम्ना के साथ मिल गई हैं। इसे तंत्र में अर्गला कहते हैं।

मूलाधार चक्र के अन्दर जो शक्ति अपनी गति से वृत्त बनाती है उस अवस्था में, उस वृत्त में से तेजोमय स्फुलिंग निकलते हैं। ये अत्यधिक चमकदार और चंचल होते हैं। ये स्फुलिंग निकलते हैं केवल चार कोणों से किन्तु वृत्त भ्रमण के योग में आकर मण्डलाकार बन जाते हैं। चमकदार होने के कारण तंत्रों ने उस रूप को विद्युत कोटि समप्रभाम तथा सूर्यकोटि प्रतीकाशी, चन्द्र कोटिद्रवा प्रिये कहा है। उपयुक्त मण्डल को भी इसी प्रकार शिवार्क मण्डल बतलाया गया है। चार कोणों से स्फुलिंग निकलने के

कारण इस चक्र की कल्पना चतुर्दल कमल नाम से की गई है। मूलाधार चक्र के अन्दर जो शक्ति विद्यमान है उसे योग में कुण्डलिनी, शाक्त तंत्र में आत्मशक्ति, वैष्णव तंत्र में परा अथवा महामाया और दर्शनशास्त्र में मूलविद्या कहा गया है। ये सभी नाम गुणवाचक हैं। जन्म-जन्मान्तर से विद्यमान आत्मशक्ति के कारण ही हम पिछले जन्म में अर्जित ज्ञान-विज्ञान, बुद्धि और प्रतिभा का वर्तमान जन्म में उपभोग करते हैं। सहसा ही प्रतिभा का उदय और व्यक्तित्व बुद्धि का प्रादुर्भाव इसी आत्मशक्ति के द्वारा ही संभव है इसलिए तन्त्र ने इसे ब्रह्माणी भी कहा है। जिसका अर्थ है समस्त विद्याओं की मूलभूता **जगतस्त्वमे का महीस्वरूपेण यतः स्थितांसि** और **विद्या समस्त सकला**......का भी वास्तविक यही अर्थ है।

आत्मशक्ति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण- अपनी विचार सारणी के अन्तर्गत हमने शक्ति के रहस्य के संबंध में अति सूक्ष्म रूप से विचार किया है। आत्मशक्ति का मूल होने के कारण भारतीय चिन्तनधारा के अनुसार पाश्चात्य विद्वानों ने भी उसे "एनर्जी" और "फोर्स" नाम देकर दो भेद किया है "फोर्स" शक्ति है और "एनर्जी" बल है। एक ही शक्ति के दो रूप हैं। इन दो रूपों को लेकर उसके १० अन्य रूप निर्धारित किये गये हैं। यही नहीं दर्शन में भी कई भेद हैं।

१. ईश्वर की एकाकी शक्ति "चित्त" (पावर) है।

२. यही शक्ति उद्भव है। विनाश के धर्म में दो प्रकार की है जिसे हमने ऊपर फोर्स और एनर्जी कहा है।

३. जैसे ब्राह्माणी, वैष्णवी, रौद्री अथवा महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली है।

४. गायत्री रूप से भी इच्छाक्रिया, ज्ञान, अग्नि, आकाश और वायु यह तीन भेद हैं।

५. तेरह वर्ष से पच्चीस वर्ष तक की अपसूता युवतियों में रूप, यौवन, शील और सौभाग्य के भेद से चार है। यही लक्ष्मी, बुद्धि, ज्ञान, दुर्गा और सरस्वती ये पांच रूप सावित्री भेद से हैं।

६. रासायनिक भेद से ताप, तड़ित, चुम्बक, मध्याकर्षण, आलोक ये पाँच रूप में है। पाश्चात्य विद्वानों ने गति शक्ति को Energy of Motion, क्रियमाण शक्ति को Rintic Energy, मध्याकर्षण शक्ति को Energy of Gravitation, ताप शक्ति को Heat Power, स्थित स्थापकता Energy electricity और तड़ित शक्ति Electrical Energy बतलाया है।

आत्मशक्ति ब्रह्माणि का सगुण रूप- अदृश्य वस्तु की सिद्धि के लिए हम कोई प्रत्यक्ष प्रतीक देखना चाहते हैं। इसके लिए तंत्र ने मूर्ति की कल्पना की। यह

कल्पना की सगुणोपासना की जननी है। कल्पना की जो आधार-भित्ति है वह "निर्गुण" है। सगुण और निर्गुण दोनों समान रूप से अपना महत्व रखते हैं। एक ही माता के दो छोटे-बड़े बालक के समान हैं। सभी धर्मों में किसी न किसी रूप में मूर्ति पूजा प्रचलित है, परन्तु यह याद रहे कि जबतक मूर्ति पूजा निर्गुण की सीमा में रहती है तभी तक उसको निर्दोष समझना चाहिए। इस मर्यादा के भंग होते ही सगुणोपासना अवनति के अन्धकार में लीन हो गई।

"शक्ति" शब्द स्त्रीलिंग वाचक होने के कारण षट् शक्तियों को नारी के रूप में प्रत्यक्ष करना स्वाभाविक है। तांत्रिक उपासना की दृष्टि से स्त्री, नारी और कन्या शब्दों का अतिसूक्ष्म तथा गूढ़ अर्थ है। भिन्न-भिन्न स्थानों पर उपासना के समय इन शब्दों का प्रयोग तंत्र ने किया है। 'स्त्री' का पर्याय 'नारी' है, जिसके मुख्य दो रूप हैं पत्नी और माता का। तंत्र की सगुणोपासना का आधार मात्र ये ही दोनों रूप हैं। एक भोग्या दूसरा पूज्या रूप है। "स" शक्तिवाचक है। 'त' त्राणवाचक है। 'र' अग्नि तत्वबोधक है। अग्नि की दो क्रियाएँ हैं-उत्पत्ति और लय। "ई" गति है। "म" लय भाव है। प्रत्येक शब्द 'म' में आकर लय हो जाते हैं। एकमात्र स्त्री में शक्ति, त्राण, उत्पत्ति, लय और गति होने के कारण नारी को पूज्या भाव से ग्रहण किया। अतएव इस भाव को लेकर ब्रह्माणी को मातृरूप में प्रतिष्ठित किया गया। स्कन्द स्थान पर मूल आधार चक्र की स्थिति होने के कारण इन्हें स्कन्दमाता भी सम्बोधित किया गया है। इसी प्रकार विभिन्न गुणों एवं उपासना भेदों के अनुसार इस शक्ति का नाम मातंगी पीताम्बरा रक्तवर्णा, दुर्गा भी है। उसी प्रकार क्रिया भेद के आधार पर शाक्तोपासना में इसकी महामुद्रा वज्र-कन्या, पद्मा, प्रज्ञा, जननी, भगिनी, भगवती,योनि कहा गया है।

ब्रह्माणि उपासना के पांच मार्ग- तंत्र ने ब्रह्माणी उपासना को अत्यधिक गम्भीर और समस्त साधनाओं का मूल बतलाया है। इस उपासना के पांच मार्ग हैं। १. मातंगी साधना मार्ग, २. पीताम्बरा साधना मार्ग, ३. महामुद्रा साधना मार्ग, ४. योनि साधना मार्ग, ५. व्रज साधना मार्ग। ये क्रमिक साधना हैं। पांचों प्रकारों में इष्टधात्री, ब्रह्माणी अथवा आत्मशक्ति ही है किन्तु उपासना की भिन्नता के कारण इन पंचमार्गों में ब्रह्माणी के स्वरूप की परिकल्पना उद्देश्य के आधार पर अलग-अलग की गई। मातंगी साधना में यावत नारी को मातृ भाव से लिया गया है। मातंगी में माता की कल्पना है। इनकी उपासना को कल्पना और परिकल्पना से अत्यधिक परिष्कृत कर पीताम्बर का स्वरूप दिया गया। प्रथम मार्ग से की गई साधना आत्मोन्नति एवं सूक्ष्म आध्यात्मिकता की घरिपूर्णता प्रदान करती और दूसरे मार्ग की साधना बुद्धि, विद्या एवं विशेष ज्ञान प्राप्ति के लिए है। तीसरे मार्ग में ब्रह्माणी को "प्रज्ञा" कहा गया है जिसका अर्थ है-"नारी"। यहां एक नारी को मातृ इष्ट मानकर अन्य यावत नारी जाति

को भोग्य वस्तु बतलाया गया है। भोग के लिए ८४ प्रकार की मुद्रा, आसन और विधान हैं। अन्तिम मुद्रा को "महामुद्रा" कहा गया है। इस साधना मार्ग की समाप्ति इसी महामुद्रा में है। चौथे मार्ग में ब्रह्माणी को वज्र-कन्या, रक्त और रक्ताम्बरी अथवा रक्तावर्णा कहा गया है। नारी महासुख की आश्रया है। उसमें निहित सभी सुखों की प्राप्ति करना इस मार्ग का उद्देश्य है। पांचवें मार्ग में ब्रह्माणी की "भगवती" के रूप में कल्पना की गई। समस्त प्रकार के कष्टों एवं दुःखों का नाश करने के कारण यह भगवती है। अतएव ब्रह्माणी का इस अन्तिम साधना मार्ग का अतिक्रमण हो जाने पर आत्मा को सहजानन्द की प्राप्ति होती है इसीलिए शक्ति मार्ग को आत्मा का मार्ग कहा गया है और शिव मार्ग को शरीर का।

उपासना के अन्तिम चरण में आकर साधक अपने को शिव बोध कर वज्र की उपाधि ग्रहण करता है। वज्र का ही दूसरा नाम बल है। इस अवस्था में शक्ति को "रक्त" कहा जाता है। तंत्र का दूसरा पक्ष "रक्त" के साथ वज्र को "बिन्दु" की उपाधि भी देता है। "रक्तबिन्दु" एक शक्तिवाचक है दूसरा शिववाचक है। इन दोनों के बीच का मार्ग अद्वय मार्ग है। यह मार्ग तभी संभव है जबकि शिव और शक्ति एक दूसरे में विलीन हों शक्ति शिव-शिव मैथुन-पिण्ड (अर्धनारीश्वर) का रूप ग्रहण कर लेते हैं। साधन और साध्य एकाकार को जाते हैं। इस रूप को बौद्ध तंत्र ने "प्रज्ञोपाय" कहा है। यह शिव को बुद्ध और शक्ति को प्रज्ञा कहता है। इसी प्रकार नर को उपाय अथवा बुद्ध क्रा अवतार और नारी को प्रज्ञा से सम्बोधित करता है। शिव ज्ञेय है, शक्ति ज्ञान है। इन दोनों के योग से मूलाधार चक्र के चारो तरफ अवधूत मण्डल का निर्माण होता है। द्वय रूप ग्रहण करते ही इस मण्डल से अतिक्रमण हो जाता है। मूलाधार चक्र के बाद अन्य शेष पांच चक्रों में क्रमशः प्रवेश इसी रूप में होता है।

स्वाधिष्ठान चक्र- लिंग के ठीक पीछे मेरूदण्ड के शिरोभाग से जो जव के अन्तर पर है। मेरूदण्ड अन्दर से जाने वाली सुषुम्ना आदि नाड़ियों चक्र बिन्दु के चारो ओर तीन प्रकार घूमकर आगे की ओर बढ़ी है। इनके भ्रमण से जो तीन वृत्त बनते हैं, उन्हें "योनिकूट" कहते हैं। इसमें से शक्ति के छः तेजोमय सिन्दूरी रंग के स्फुलिंग निकलते रहते हैं। इस स्फुलिंग से बने स्वाधिष्ठान चक्र में "जलतत्व" की प्रधानता समझनी चाहिए। अतः इसके फलस्वरूप "शुक्रमण्डल" में व्याप्त वीर्याणुओं (शुक्राणुओं) का आकर्षण योनिकूट में होता है। जल तत्व में अग्नि तत्व का भी मिश्रण होने के कारण उन शुक्राणुओं में किंचित न्यूनता भी आ जाती है। अतएव शुक्र के न्यून पक्ष को रज की संज्ञा देकर उसे शुक्र और रज दो नामों में विभक्त कर दिया गया। यह विशेषता केवल नारी में होती है। पुरुष में केवल शुक्राणु रहते हैं। जब ये नारी के शुक्राणु

से योग करते हैं उस समय न्यून पक्ष रज उनके चतुर्दिक तीव्र गति से भ्रमण करने लग जाते हैं। स्वाधिष्ठान के अन्दर ज्ञान शक्ति विद्यमान है। ज्ञान के दो भेद हैं-पूर्व ज्ञान और संचित ज्ञान है। इस भेद के अनुसार उपर्युक्त शक्ति दो रूपों में विभक्त है।

प्रथम रूप को "मेधा" और दूसरे रूप को "बुद्धि" कहा गया है। पूर्वजन्म में अर्जित ज्ञान मेधा के रूप में वर्तमान जन्म में प्रकट होता है। जिस मात्रा में या भाव में प्रकटीकरण होगा उसके अनुसार ही बुद्धि का निर्माण होता है। बुद्धि का केवल कार्य है वाणी, भावना और वर्णों के द्वारा ज्ञान का अर्जन करना। यह अर्जन ही अगले जन्म में मेधा के रूप में उपस्थित होता है।

वाणी, भावना और वर्ण बुद्धि के अनुसार ही प्रकट होकर ज्ञान का अर्जन करते हैं। देश, काल और पात्र इसमें सहायक हैं फलस्वरूप वाणी में १८ दोष आ जाते हैं। वाणी वर्ण का स्थूल रूप है, वर्ण समुदाय को वाक्य कहते हैं। बुद्धि पहले भावना के रूप में प्रकट होती है, भावना वर्ण के रूप में और इसी प्रकार वर्ण वाणी के रूप में प्रत्यक्ष होता है। एक प्रकार से ये ज्ञान के ही अंश हैं।

वर्ण समुदाय रूप वाक्य शब्दों का संयुक्त रूप है सूक्ष्मता, संख्या, क्रम, निर्णय और प्रयोजन ये पांच अर्थ जिसमें उपलब्ध होते हैं यह वाक्य है। दोष रहित वाणी से अर्जित ज्ञान ही मेधा के रूप में प्रकट होती है। अतः ज्ञान शक्ति को हम स्थिर और क्रियाभाव के आधार पर मेधा और बुद्धि कह सकते हैं। मेधा स्थिर है, बुद्धि भावना के अनुसार क्रियाशील है। ज्ञान के ये दो पक्ष मेधा और बुद्धि का नाश नहीं होता। स्थूल शरीर के नाश हो जाने पर जीवात्मा के साथ ये दोनों युक्त रहती हैं। बुद्धि के क्रियाशील होने के कारण तदानुसार स्थूल स्वरूप ग्रहण करने में जीवात्मा सफल होता है। यहां एक बात और समझ लेना चाहिए कि मेधा का प्राकट्य प्रतिभा में होता है और बुद्धि का प्राकट्य भावना में। इस विचार सारणी से स्पष्ट हो जाता है कि मेघा जन्म-जन्मान्तर से क्रमबद्ध चली आने वाली ज्ञान शक्ति का अक्षुण्ण पक्ष है। ज्ञान शक्ति सनातनी है, अविनाशी है तथा ब्रह्माण्ड में सर्वत्र व्याप्त है इसीलिए इसे **व्याप्तयेन चराचरम्** कहा गया है। तांत्रिक आचार्यों ने ज्ञान शक्ति को ब्रह्माण्ड में सीमित कर उसे ज्ञान मण्डल कहा है। इसके उदर में यावत विश्व है। सूर्य अग्नि, सोम मण्डलों की आवृत्ति किए हुए है। शुक्र मण्डल की स्थिति भी इस ज्ञान मण्डल के अन्दर है। शुक्र मण्डल के व्यापक प्रभाव से ही सूर्य अग्नि, सोम में जाज्वलता, तीव्रता, प्रखरता, ऊष्मा और प्रदीप्तता उत्पन्न होती है। इसी प्रकार ज्ञान मण्डल के प्रभाव से शुक्रत्रय में शुभ्रता, ज्योति और प्रखरता का आविर्भाव होता है। ज्ञान मण्डल के आकर्षण-विकर्षण तत्वों

के द्वारा शुक्रत्रय क्रमशः क्रियाशील होते हुए अंत में परमाणुओं का रूप ग्रहण कर लेते हैं। परमाणुओं से ही स्थूल जगत का निर्माण हुआ है। ये परमाणु भी क्रमशः गुण, अणु, रेणु स्कंद और तत्व में बदल जाते हैं। इसमें केवल गुण को शुद्ध बतलाया गया है। यह शुद्ध गुण पंचतन्मात्रा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध बतलाया गया है। जो शब्द और स्पर्श में प्रतीत होते हैं, ये शब्द तन्मात्रा और स्पर्श तन्मात्रा आदि नहीं हैं। वे तो महाभूत निर्माण के अनंतर इन्द्रीय संयोग से प्रतीत होते हैं। इस तथ्य को गीता में स्पष्ट किया गया है-

मात्रा स्पर्शास्तु कौन्तैम शीतोष्ण सुखदुः ददाः।
ये च संस्पर्शजा भौगा दुःखयोनय एव ते।।

शब्द स्पर्शादि का ग्रहण हमारी इन्द्रियों से होता है। वे इन्द्रियों और विषयों के संबंध से प्रकट होते हैं इसीलिए तंत्र में इन्हें स्पर्शजा और संयोग कहते हैं। तन्मात्राएं इन्द्रियों के द्वारा ग्रहणीय नहीं। तन्मात्राएं योगदर्शन के मतानुसार गुण हैं।

तंत्र दर्शन उपर्युक्त सांख्य, वेदान्त और योगदर्शन से पृथक होकर इस तथ्य पर अपना विचार रखता है।

तन्मात्राएँ आगे चलकर ज्ञान मण्डल के अन्दर ही आपस में मिल जाती हैं जिसे पंचीकरण कहते हैं। पंचीकरण से भूतों के अणुओं की उत्पत्ति होती है। ये अणु आपस में मिलकर रेणु उत्पन्न करते हैं। इसी प्रकार रेणु के आपसी संबंध से स्थूल भाव में आकर तत्व बनता है। तंत्र में इसे कला तत्व कहते हैं। तंत्र विज्ञान में मौलिक तत्व दो हैं रस और बल। आगे के सब योगज हैं। जिस मौलिक तत्व की खोज हजारों वर्ष पूर्व की गयी है, उसका तो स्वप्न भी पाश्चात्य विज्ञान को कितने समय बाद होगा यह अभी नहीं कहा जा सकता।

अतएव चारों मण्डलों के ऊपर ज्ञान का मूलाचरण है, जिसके अन्दर चारों तत्वांश मिश्रित होकर सत्व, रज और तमोगुण का प्रादुर्भाव करते हैं। शुक्र के तत्वांश का तीनों मण्डलों के तत्वांश से मिश्रित होने के फलस्वरूप सूर्य, अग्नि और सोम, चमक, जाज्वलता, प्रखरता और ऊष्मा आती है। चारों तत्वांशों के मिश्रित में जो शुक्रत्रय के अंश विशेष मात्रा में रहते हैं, गुणत्रय का जन्म होते ही वह विशेष मात्रा उनमें आ जाती है। इस सारणी के अनुसार ज्ञान शक्ति में सूर्य, अग्नि सोम के अतिरिक्त शुक्रत्रय के तत्वांश गुणत्रय के साथ विद्यमान रहते हैं। फलतः तंत्र की उपासना पद्धति शक्ति में गुणों की विशिष्टता देकर उसके अनुसार ज्ञान शक्ति को महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली-इन तीनों रूपों में विभाजित किया। महासरस्वती में ब्रह्मशुक्र और सत्वगुण, महालक्ष्मी में विड्शुक्र और रजोगुण तथा महाकाली के क्षत्रशुक्र और तमोगुण की प्रचुरता बतलायी गयी है। जिसके अनुसार महासरस्वती

ब्राह्मणों की, महाकाली क्षत्रियों की और महालक्ष्मी वैश्यों की अधिष्ठात्री बनकर उपासना भूमि में अवतरित हुई।

चराचर जगत के कण-कण में शुक्रत्रय की व्याप्ति है, किन्तु उसके अणुओं में, सूर्य रश्मियों के द्वारा ही चेतना एवं परिवर्तनशीलता आती है। इतना ही नहीं, विभिन्न कोणों में उन पर पड़ने वाली रश्मियां शुक्राणुओं को एकत्र कर, क्रम से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्वों में विघटन भी करती है।

इस प्रकार पंचतत्व शुक्रमय हैं, गुणत्रय युक्त है। इस प्रकार शुक्रयुक्त पंचतत्व गुणत्रय का संसर्ग प्राप्त कर जब सोम रश्मियों के द्वारा अभिभूत होता है तो सर्वप्रथम चैतन्य जगत में मनस्तत्व की उत्पत्ति होती है और मनस्तत्व जब ज्ञानतत्व के आवरण से युक्त होता है तो बुद्धि की उत्पत्ति समझनी चाहिए। इसी क्रम से मन और बुद्धि मिल कर अहंकार के रूप में अपना स्वभाव प्रकट करते हैं। मन निर्विकार है, बुद्धि के योग में आकर स्वभावधाम हो जाता है अतः यही उसका स्वभाव अहंकार है। मन, बुद्धि और अहंकार ये तीनों ही स्थूल शरीर के कारण हैं।

बिम्ब प्रतिबिम्ब मण्डल- सूर्य की स्थिति जगत के बिल्कुल मध्य में है। इसकी तेजस्विनी रश्मियाँ अपने मण्डल में चतुर्दिक व्याप्त हैं। मण्डल की सीमा में आकर रश्मियाँ.लोहित, पीत, हरित और श्याम वर्णों की मेखलाओं में स्थिर हो जाती हैं। ये मेखलाएँ ही शब्द मण्डल अथवा शब्दब्रह्म मण्डल हैं। तंत्र साधक कुण्डलिनी जागृत कर उसके द्वारा जो अलौकिक शक्ति प्राप्त करते हैं, वह उनको इस मण्डल से बाहर निकालने में सहायक होती है। इस क्रिया को तंत्र में 'शब्द-भेदन' कहते हैं।

चतुरंगी मेखलाएँ सूर्य का गुरुत्वाकर्षण है। यह गुरुत्वाकर्षण स्थूल सृष्टि के प्रभाव पर अधिकार किए रहता है। एक प्रकार से अत्यन्त सूक्ष्म दैवी जगत और स्थूल जगत के मध्य में सूक्ष्म जगत का यह प्रबल प्रतिबन्ध है। यदि स्थूल प्राणी सहज रूप से उच्चतम् दैवी जगत से सम्पर्क स्थापित करना चाहे तो यह प्रतिबिम्ब बाधक होगा। इसका भेदन मूलबीज अर्थात वर्ण बीज द्वारा ही सम्भव है। जिन वर्णों में भेदन-क्रिया की शक्ति सहज भाव से प्राप्त है उसे ही बीज कहते हैं।

सूर्य मण्डल के बाहर क्रमशः सोम और अग्नि मण्डल की स्थिति है। जैसाकि ऊपर कहा गया है कि शुक्र मण्डल की स्थिति इनमें बाहर है और उसे ज्ञान मण्डल आच्छादित किए हुए है अतः इस व्यवस्था के फलस्वरूप सूर्य रश्मियों की चतुरंगी मेखलाओं का बिम्ब सोम मण्डल पर पड़ता है। ये चारो बिम्ब मेखला वर्ण के अनुसार चार वर्णों के हैं। इन बिम्बों का भी अपना मण्डल है, जिन्हें 'ग्रह मण्डल' कहते हैं।

चतुर्बिम्ब अग्नि मण्डल में अपना प्रतिबिम्ब बनाते हैं। इनका वर्ण बिम्ब वर्णों के मिश्रण से बने पृथक होते हैं। बिम्ब मण्डल की तरह इनका भी मण्डल है, जिन्हें उपग्रह मण्डल कहते हैं अतः चार ग्रह एवं चार उपग्रह के साथ मूल में सूर्य की स्थिति कर नौ ग्रहों की कल्पना ज्योतिषशास्त्र ने की। इस स्थल से तंत्र का सम्बन्ध ज्योतिष से स्थापित होता है। चौंसठ तंत्रों में हरिहर तंत्र का भी नाम लिया गया है। इसका एक पटल ज्योतिष तंत्र है। इसमें ज्योतिष विद्या के रहस्यों को समझने के लिए तंत्र को बतलाया गया है। तंत्र ज्ञानविहीन ज्योतिष विद्या पंगु है। आज के ज्योतिषियों में तंत्र ज्योतिष का समन्वित ज्ञान प्रायः देखने को नहीं मिलता। नवग्रह मण्डल, जो एक प्रकार के बिम्ब प्रतिबिम्ब मण्डल हैं का विस्तार 'ज्ञान मण्डल' के अन्तर्गत है। बिम्ब और प्रतिबिम्ब में ज्ञान का एक-एक अंश व्याप्त है। इस अंश को तंत्र में 'बीज' कहते हैं। यह 'ज्ञान बीज' है। बीजाक्षर 'न' है। मूल में नौ 'न' ही ज्ञानबीज है। दुर्गा सप्तशती के एक ही श्लोक में इन नौ 'न' को रखकर काव्यकार ने इसी तथ्य की ओर संकेत किया है। तांत्रिक 'नवान्ह' इसी 'नौ बीज' को लेकर बनाये जाते हैं।

मणिपूरक चक्र– मणिपूरक चक्र का स्थान नाभि प्रदेश के ठीक सामने है। यहाँ मेरुदण्ड स्थित नाड़ियाँ चक्र बिन्दु के चारों तरफ अण्डाकार वृत्त बनाती है। वृत्त को 'रत्नकूट' कहते हैं। इसमें से दस तेजोमय नीलवर्ण के स्फुलिंग निकलते हैं। इसी कारण इस चक्र को दसदल पद्मवाला कहा गया है। मणिपूरक चक्र ही रत्नकूट चक्र है। इसमें 'अग्नि-तत्व' की प्रधानता है। यह त्रिकोण आकृति का है। इसमें इच्छाशक्ति की स्थिति है। त्रिकोण में क्रमशः कल्पना, विचार और संकल्प शक्ति का वास है। मध्य में इच्छाशक्ति है। भाव जगत में त्रिकोण शक्तिपीठ है। त्रिकोण पीठ मध्य शक्ति से आच्छन्न है। सगुणोपासना भूमि में कल्पना, विचार और संकल्प में व्याप्त इच्छाशक्ति का प्रतीक स्वरूप 'शिवा' है। शिवायुक्त ही पुरुष 'शिव' है। पूर्व कर्मानुसार एकमात्र इच्छा ही प्रथम कल्पना के रूप में मानस-पटल पर अवतरित हुआ करती है। कल्पना से विचार का उदय होता है। विचार को दृढ़ कर क्रियारूप में प्रत्यक्ष करने की शक्ति 'संकल्प' है। यह एकमात्र मानसिक कर्म है ऐसा कहा गया है। इच्छा का व्यापार मन के अन्तर्गत होने के कारण इसका दूसरा नाम मनःशक्ति भी है। इच्छाशक्ति जब एकाग्र अवस्था में होकर मनन करती है तो मनःशक्ति कहलाती है और जब बाह्य विषयों के प्रभाव से चंचल होती है तो चित्त बन जाती है। तात्पर्य यह कि मन चित्त, इच्छा के ही रूप हैं।

शिवा के भेद : आगमशास्त्र ने मणिपूरक चक्र में 'शिवा' की स्थिति बतला कर उसके चार भेद बतायें हैं-१. भवानी, २. रुद्राणी, ३. सर्वाणी, ४. मंगला।

सोलह मातृका– 'शिवा' का वर्ण नील है। दिव्य तेजोमय एवं अग्नियुक्त है।

अग्निबीज 'र' होने के कारण शिवा बीज भी 'र' है। एवमेव उपर्युक्त शिवा के चारों भेद के अलग-अलग चार रूप हैं। ये सोलह रूप ही 'सोलह मातृकाएं' हैं। इनके भी भिन्न-भिन्न सगुण रूप हैं अतः मातृका के ५२ वर्ण हैं। जिनमें प्रथम वर्ण 'औं' है।

ओंकार, प्रथमतस्य चतुर्दश स्वरास्त।
वर्णाशवेव त्रयस्त्रिशनदुस्वारस्तथेव च।।
विसर्जनीयश्च परो जिह्वामूलीय एव च।
उपध्मानीय एवापि द्विपचासधमी स्मृता।। *(महामाया चामरतंत्र)*

'औं' आदि वर्ण है इसमें 'अ' और 'उ' ये दो स्वर और 'म' एक वर्ण है। जिस वर्ण में दो स्वर हों वह वर्ण प्रणव कहलाता है ऐसा वर्ण केवल 'औं' ही है। इसीलिए इसे "ब्रह्म" का प्रतीक माना गया है। जिस प्रकार ब्रह्म सत्वगुण और उसके प्रतीक विष्णु रजोगुण और उसके प्रतीक शिव अर्थात गुणत्रय और रूपत्रय का सामञ्जस्य रूप है, उसी प्रकार "औं" में ब्रह्मा की कल्पना कर गुणत्रय और स्वत्रय का प्रतीक उसे कहा गया है। "अ" रजोगुणी और ब्रह्मा का प्रतीक है "उ" सत्वगुणी और विष्णु का प्रतीक है। "म" तमोगुणी और रुद्र (शिव) का प्रतीक है। इनके अतिरिक्त "औं" में अनुस्वार भी है। इसे मूर्ध्न अथवा अर्धमात्रा कहते हैं, जो सदाशिव, गुणंरहित, भावरहित, रूपरहित, निराकार ब्रह्म का प्रतीक है।

'औं' के विषय में तंत्र के आचार्यों ने अति गहनता से मनन किया है। इसका स्वतंत्र तंत्र-ग्रन्थ "ब्रह्मयामल तंत्र" है। इसके अनुसार 'औं' में सृष्टि, स्थिति और लय ये तीन क्रियाएँ हैं। जिसमें इन तीनों क्रियाओं की शक्ति हो, वह ईश्वर है। इन तीन क्रियाओं के अलग-अलग बीज क्रमशः 'औं' हैं। जो महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली इन तीन मूल शक्तित्रय के बीज भी हैं। प्रणव औरं तांत्रिक दृष्टिकोण-तंत्र के अनुसार बैखरी (सूक्ष्मतम्) सृष्टि में ध्वनि का रूप, सत्यरूप प्रतिध्वनि में से निकलता है। ध्वनि का प्रतिध्वनि में मूल शब्द समाया रहता है और वह मूल शब्द 'औं' है। किसी भी शब्द के उच्चारण की प्रतिध्वनि ओंकार ही होगी। स्वर मिले हुए हैं। "अ" में सा-रे-गा। उ में म-प-ध। "म" में ऊपर के छः स्वर जिसे षड्ज कहते हैं। "नौ" कार निषद में लय होते हैं। "षड्ज और निषाद" का ध्वनि-विज्ञान में अत्यधिक महत्व है।

"षड्ज" गति है और "निषाद" प्रकाश है। दोनों के योग से मणिपूरक के मध्य में जो वृत्त बनता है उसे "गुह्य मण्डल" कहते हैं। इसके चतुर्दिक बारह-बारह मुहूत के अन्तर पर "निषाद" (प्रकाश) से उत्पन्न अतुल प्रकाशपुंज है। ये ही सप्तऋषि मण्डल हैं। बैखरी वाणी का प्रादुर्भाव इन्हीं प्रकाशपुंजों से हुआ है। बैखरी वाणी की सृष्टि में "औं" के अतिरिक्त कोई बीज नहीं है। ३६ अक्षरों का उच्चारण "अ" के बिना

नहीं हो सकता। इसलिए प्रत्येक अक्षर को "ब्रह्म" माना गया है। रज इसका गुण है और उत्पत्ति इसकी क्रिया है। "अ" कार को खींचने से "ई" कार उत्पन्न होगा तथा अकार को वर्तुल गति देने से "उकार" उत्पन्न होगा। "उकार" की उत्पत्ति अकार से ही होती है। प्रणवमात्र में क्रिया बतायी गई है।

चौंसठ योगिनी- सोलह मातृका और बावन वर्ण का निवास मणिपूरक में बतलाया गया है। इसी स्थान से इनकी उत्पत्ति होती है। आगमाचार्यों ने सोलह मातृका को साकार रूप देकर उनका भी अलग-अलग चार भेद किया। इस प्रकार जो चौंसठ भेद हुए उनको उपासना की भूमि पर चौंसठ योगिनी बतलाया गया है। प्रत्येक मात्रिका के साथ चार-चार योगिनियों का संबंध है। तंत्र में मातृका सिद्धि, योगिनी सिद्धि अपना महत्व रखती है, क्योंकि प्रत्येक योगिनी के आधार पर पूर्वाचार्यों ने तंत्र की रचना की है। जो इस प्रकार है।

१. कापालिक भैरव तंत्र- १. शक्ति २. भैरव ३. महाभैरव ४. योगिनी भैरव ५. कालाग्नि भैरव ६. कालभैरव ७. कंकाल भैरव ८.बटुक भैरव ६. सिद्ध भैरव ये नौ भैरव हैं। "नौ नकार" के ये अधिष्ठात्र देवता माने गये हैं। भैरवी इनकी शक्ति है जो मणिपूरक से ऊपर दूसरे चक्र तक अलग-अलग चक्राकार स्थिति में विद्यमान रहती है। इसी स्थिति को "भैरवी चक्र" कहते हैं। चक्र के मध्य में भैरव मधुरूप में स्थित है। अहर्निश इस मधु का पान भैरवी शक्ति किया करती है। फलस्वरूप उसके अन्दर वे तत्व उत्पन्न होते हैं, जो सूक्ष्म वस्तु को मानसपटल पर लाकर स्थूल रूप प्रदान करते हैं।

२. सम्बर तंत्र- १०. तत्व सम्बर ११. योगिनी जाल सम्बर १२. महामाया सम्बर ये सम्बर त्रय है। इनमें भैरवी चक्र की साधनाओं के प्रकार हैं।

३. बहुरूपाष्टक तंत्र- १३. शिदूती १४. चामुण्डा १५. माहेन्द्री १६. वाराही, १७. वैष्णवी १८. कौमारी, १६. माहेश्वरी, २०. ब्राह्मी ये आठ सिद्धियों की अधिष्ठात्री देवियाँ हैं।

४. काम सिद्धि यामल तंत्र- २१. जयद्रध यामल २२. गणेश यामल २३. स्कन्द यामल २४. उमा यामल २५. लक्ष्मी यामल २६. रुद्र यामल २७. विष्णु यामल २८. ब्रह्म यामल।

५. विद्यातंत्र- २८. चन्द्रर्शन २६. मालिनी विद्या ३०. महासम्मोहन ३१. वामजुष्ट ३२. महादेव ३३. वास्तु ३४. वातुलोत्तर ३५. कायिक ३६.हृदभेद ३७. तंत्रभेद ३८. गुह्यत्री ३६. कलावाद ४०. कला-सार ४१. कण्डिका ४२. मत्तौतर (पारद विज्ञान का विषद वर्णन है) ४३. वीनाख्य ४४. त्रौतल ४५. त्रौतलोत्तर (चतुषष्टी सहस्त्र याक्षिणी उपासना, सिद्धि विधान) ४६. पंचामृत (पंचतत्व ही पंचामृत है, परिणाम

स्थूल शरीर है।) ४७. रूपभेद ४८. भूत डामर ४६. कुलसार ५०. कुलोड्डीश ५१. कुलचूणामणि।

६. दिगम्बर तंत्र- ५२. बैकुण्ठेश्वर : इनके ५ भेद हैं- पातालेश्वर, यमलेश्वर, लिंगेश्वर कालेश्वर और रूद्रेश्वर ५३. मौदिनी,. अरुणेश ५४. महाकाली ५६ सर्वज्ञानोत्तर।

७. क्षपणक तंत्र- ५७. पूर्व आम्नाय ५८. पश्चिम आम्नाय ५६. दक्षिण आम्नाय ६०. उत्तर आम्नाय ६१. निरुत्तर आम्नाय ६२. विमल ६३. विमलोत्तर ६४. देवीमत।

त्रिकोणपीठ– योगतंत्र में 'भगकूट' का उपासना भूमि में अत्यधिक महत्व है। इसकी अधिष्ठात्री भगवती है। इनके चार अर्थ हैं, १. **भगवतः शक्ति भगवच्छक्ति :** अर्थात यह भगवान की शक्ति है। २. **भगवती शक्ति भगवच्छक्ति** : इस सप्तमी तत्पुरुष समासवाली व्युत्पत्ति से हमें जानना है कि भगवान में जो शक्ति है उसी का नाम देवी है और उसकी उपासना के बिना भगवान की उपासना कदापि सम्भव नहीं। ३. **भगवांश्चासो शक्तिश्च भगवच्छक्ति** इस कर्मधारय समासवाली व्युत्पत्ति से देवी और भगवान में भेद नहीं है ऐक्य भाव है। ४. चौथे अर्थ में हम रघुवंश का एक श्लोक उपस्थित करते हैं-

महिमानं यत्दुकीर्त्य तव सहियते वच।
श्रमेण तदशकता वा न गुणाना मियप्तयव।।

यह श्लोक भगवान की महिमा के संबंध में कहा गया है। भेद इतना ही है कि हम उस प्रकरण में और इस प्रकरण में **श्रमेद तदद शक्त्या** इस पाठ को स्वीकार न कर उसके स्थान पर **श्रमेण तद शक्त्या** कह कर यह स्पष्ट रूप से कहेंगे कि कौमुतिक न्याय से देवी महिमा का भण्डार विशाल है इसीलिए आगमाचार्यो ने समस्त साधनाओं एवं उपासनाओं के अन्दर बीज रूप में शक्ति को ही बतलाया है।

यावत जगत की सृष्टि मैथुनी है अर्थात दो तत्वों के प्राकृतिक संयोग से तीसरे की उत्पत्ति। दो तत्वों की शक्ति और संयोगजनित तीसरे तत्व की शक्ति मिल कर शक्तित्रय बनता है। ये तीनों अहर्निश जागृत हैं। इनका जागृत होना ही सृष्टि है।

कोश के अनुसार भगवान की शक्ति के भावार्थ को शाक्त धर्म ने अत्यधिक महत्व दिया है। क्रमशः उन शक्तित्रय की स्थिति मणिपूरक चक्र में है इसीलिए उसे त्रिकोणपीठ भी कहते हैं। पीठ का अर्थ है 'शक्ति' का स्थान विशेष। प्रत्येक पीठ में तीन भैरव और तीन भैरवी का स्थान है। एक पीठ से दूसरे पीठ के स्थान के मध्य ५२ मातृका पीठ हैं। ये पीठ एक दूसरे से संबंधित हैं और उनमें ''अ'' से ''क्ष'' तक

के वर्ण वास करते हैं। कापालिकों के मत से मातृका पीठ को ही वर्ण पीठ कहते हैं। मातृका से युक्त त्रिकोणपीठ भैरवी चक्र कहलाता है। जिसके मध्य में रमा सहित रमापति अर्थात भगवान और भगवती का निवास प्रणव स्वरूप में है। वस्तुतः इसी से वर्ण ''शब्द ब्रह्म'' कहा गया है। मातृका रूपी ५२ शक्तियाँ समस्त जगत में व्याप्त हैं।

अकारादिक्ष का रान्ता मातृका वर्ण रूपिणी।
यया सर्व मिदं व्याप्त त्रलोक्य स चराचरम।।

भैरवी साधना– तंत्र साधना के दो पक्ष हैं- **यौगिक और उपासकीय।** यौगिक पक्ष में योग विषयक क्रियायें हैं। उपासकीय पक्ष में उन्हीं क्रियाओं को भाव, भावना की भित्ति पर स्वरूप प्रदान कर विभिन्न देवी-देवताओं की कल्पना है। प्रथम पक्ष को निर्गुण और दूसरे को सगुण साधना भी हम कह सकते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार मणिपूरक चक्र में क्रमानुसार श्वास के माध्यम से जीव (साधक) प्रवेश कर भैरवी चक्र का अतिक्रमण करता है तो दूसरी ओर उसकी सगुणोपासना भी करता है। जो साधक दो में से केवल एक पक्ष की साधना करता है उसकी उसमें सिद्धि कदापि नहीं मिलती।

इसीलिए सगुणोपासना और निर्गुणोपासना को एक दूसरे का पूरक समझा गया है। यहाँ इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि प्रथम पक्ष का पथिक योगी है और दूसरे का उपासक किन्तु जबतक दोनों का समन्वय नहीं हो जाता जबतक सच्ची साधना नहीं होती और दोनों मार्ग पर आकर एक में मिल जाते हैं, तबतक साधक को देह और आत्मा के पृथककरण का ज्ञान नहीं होता। यही ज्ञान सत्य और असत्य का विवेक भी जागृत करता है। यहां साधना और साध्य एकाकार हो जाते हैं। यहाँ बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु को जानना ''ज्ञान'' नहीं है। वस्तुतः आत्मा के द्वारा जानना ही ''ज्ञान'' है। ऐसे ज्ञान के दो गुण हैं। ज्ञान की जो साधना है, वही ज्ञान है। ज्ञान ज्ञानीभाव की ऐक्य अवस्था ही 'स्थितप्रज्ञता' है। यह वही अवस्था है जबकि साधक यह समझ लेता है कि वह देह से भिन्न है।

कर्म करते हुए भी कर्म न करना योगी का कार्य है और कर्म न करते हुए भी बहुत कुछ करना उपासक का कार्य है। यह एक ही तथ्य के दो पहलू हैं किन्तु तंत्रशास्त्र दोनों पहलुओं के बीच का मार्ग बतलाता है। तात्पर्य यह है कि तंत्र का साधक योग और उपासना दोनों मार्गों पर समान रूप से उन्नति करेगा तभी वह सच्चे अर्थ में साधक कहला सकता है अन्यथा नहीं। दोनों पक्षों को साथ ग्रहण कर चलने वाले साधक ही 'कौल' हैं, किन्तु जब तंत्र साधना में सगुणोपासना का अत्यधिक महत्व हुआ तो दोनों पक्षों को पृथक-पृथक कर दिया गया। इस अवस्था में भी साधना का उद्देश्य

एक ही रहा किन्तु पक्षों के नाम भिन्न-भिन्न हो गये। एक को वज्रोपासना दूसरे को भैरवी उपासना कहा गया। वज्रोपासना में ''पंचामृत'' की प्रधानता है। विशुद्ध यौगिक क्रियाएं है भैरवी उपासना में विशुद्ध नौ भैरवी और भैरव की साधना है। कौलमार्ग का सत्यरूप वज्रोपासना में पाया जाता है। शरीर के अन्दर पांच द्रव रस हैं- शुक्र, शौणित, भेद, मज्जा और मूत्र। इन्हीं को पंचामृत कहते हैं, जिन्हें आकर्षित करके शरीर को वज्रवत वनाया जा सकता है किन्तु यह तभी संभव है, जबकि पंच चक्रों पर विजय प्राप्त हो, क्योंकि प्रत्येक चक्र में एक-एक अमृत का वास है।

पूर्व पक्ष की इस विचार-सारणी को भैरवी उपासना में भी ग्रहण किया गया। इसमें मांस, मदिरा, मुद्रा, मीन और मैथुन ये पंचमकार ही ''पंचामृत'' है। उपासना के समय साधक अपने आप में भैरव की और नारी में भैरवी का आरोपण करता है। जिस प्रकार पंचामृत पंचमकार है, उसी प्रकार साधना के क्षेत्र में ''पंचकन्या'' का भी महत्व है। साधना के आरम्भ में नीच जाति की कन्याओं का ग्रहण है, तत्पश्चात् वैश्य और क्षत्रिय तथा ब्राह्मण की कन्या को स्वीकार किया गया है। भैरवी चक्र में प्रथम वर्ण-भेद नहीं हैं। किन्तु बाद में जब उपासना परिपक्व होती है तब वर्णों को पृथक कर दिया जाता है। इस प्रकार ''सर्वे वर्णा पृथक-पृथक'' हो जाने के बाद अन्त में ब्राह्मण की कन्या साधना भूमि में रहती है, जिसके माध्यम से साधना क्रमशः पीठ साधना; बेताल साधना, कपाल साधना, गुह्यसाधना, पंचमकार साधना, डाकिनी साधना, हाकिनी साधना, भूतोड्डामर साधना कर अन्त में बिन्दु साधना के माध्यम से आत्म साधना करता है। इस प्रकार भैरवी साधना का क्रमबद्ध उद्देश्य से स्पष्ट हो जाता है कि दोनों पक्षों की साधनाओं का चरम लक्ष्य एक ही है।

नाभि मण्डल– मणिपूरकचक्र में त्रिकोणपीठ ५२ मातृकापीठ, नौ भैरवी चक्र की स्थिति ऊपर बतलायी जा चुकी है। इस चक्र के ठीक सामने नाभि मण्डल की स्थिति है। यदि शरीर में यह मण्डल न होता तो निश्चय ही मनुष्य शब्दों के बजाय इशारे से अपने भावों को प्रकट करता है। जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त मनुष्य असंख्य शब्द, असंख्य भावों को व्यक्त करने के लिए प्रयोग में लाता है, परन्तु शब्द का अक्षय भण्डार कभी भी रिक्त नहीं होता। आखिर क्या रहस्य है, कौन सा कारण है, कौन सी ऐसी शक्ति है जो हमारे शब्द भण्डार को अक्षय किए रहती है। इसका उत्तर किसी भी काल में भौतिक विज्ञान नहीं दे सकता, क्योंकि वह एकक्षेत्रिय है। तंत्र विज्ञान का क्षेत्र व्यापक और सर्वदेशीय है। उसका एक क्षुद्र अंश भौतिक विज्ञान है।

५२ मातृका के जो १४ स्वर हैं, वे १४ स्वर ''मनु'' हैं। इनका निवास नाभि मण्डल में हैं। चौदह मनु ये हैं स्वायम्भुव, स्वारोचित, औत्तम, रैवत, तामस, चाक्षुष, वैवस्वत, सावर्णी, ब्रह्म सावर्णी, रुद्र सावर्णी, दक्ष सावर्णी, धर्म सावर्णी, रौच्य और भौत्य। स्वर ही

मनु है। इनके अधिष्टात्त देवता सूर्य हैं अर्थात सूर्य से ही चौदह स्वरों की उत्पत्ति हुई है।

अग्नि एवं सोम तत्व के योग से इनके १४ रंग क्रमशः इस प्रकार हैं-श्वेत, पाण्डु, लोहित, ताम्र, पीत, कपिल, कृष्ण, श्याम, धूम्र, अधिक पिंगल, किंचित पिंगल, तिरंगा, बहुरंगा तथा कबरा। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक स्वरों का संबंध सूर्य से है और वे अलग-अलग रंगों में होते हैं।

सूर्य की प्रखर रश्मियों के माध्यम से स्वरों का प्रवेश रोम कूपों द्वारा शरीर में होता है और उनका केन्द्र स्थल एकमात्र नाभि मण्डल है। स्वरूपी मनुवों से वर्णरूपी, ३३ देवताओं की उत्पत्ति होती है। ''क'' से लेकर ''ह'' तक के वर्ण ३३ देवता हैं। जिनमें ''क'' से ''ठ'' तक के वर्ण १२ आदित्य माने गये हैं-

घाता मित्रोर्यमा शुक्रो वरुश्चाशुरैव च।
नगो विवस्वान्, पूषा च सविता दशमस्तथ।।
एकादशस्तथा स्वष्टा विष्णुर्द्वादश उच्यते।
जघन्यजः स सर्वेषामादित्याना गुणाधिकः।। (सूर्यतंत्र १४ पटल)

ये १२ आदित्य हैं। इसी प्रकार ''ड'' से लेकर ''ब'' तक के वर्ण ११ रुद्र हैं।

कपाली पिंगला भीमो विरुपाक्षो विलोहितः।
अजकः शासनः शास्ता शम्भुश्चण्डो भवस्तथा।।

और ''स'' और ''ह'' वर्ण अश्विनी कुमार है। स्वर से वर्ण की उत्पत्ति का कारण भी सूर्य है। उसी प्रकार वर्ण से अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मनीय इन चार वर्णों की उत्पत्ति होती है। ये चारों जरायुज, अण्डज, स्वेद्ज और उद्भिज जीव माने गये हैं। इनका भी स्थान नाभिमण्डल ही है।

अनाहद चक्र- यह चौथा चक्र भी मेरुदण्ड में हृदय के ठीक सामने स्थित है। तीनों प्रमुख नाड़ियों का मिलन यहाँ पर ६४ हजार नाड़ियों से होता है। ६४ हजार नाड़ियों के गुच्छ की आकृति शिवलिंग के अर्ध जैसी है, जिसके बीच में त्रिकोण शक्ति की स्थिति है, इसे शक्ति त्रिकोण कहते हैं। वस्तुतः अनाहद चक्र एक मनोरम और ''सत्यम् शिवम् सुन्दरम्'' को स्पष्ट करने वाला चक्र है। अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने केवल सिद्धान्त के आधार पर इस चक्र का वर्णन किया है, किन्तु जो लोग इस चक्र का दर्शन कर चुके हैं उनके अनुभव के द्वारा इसका कुछ दूसरा ही स्वरूप प्रत्यक्ष होता है।

ऊपर के प्रसंग में जैसाकि कहा गया है कि तदनुसार ६४ हजार नाड़ियों के गुच्छ की आकृति ही शिवलिंग का अर्थ अथवा आसन है। आध्यात्मिक जगत में इसे योनि चक्र और शक्ति त्रिकोण कहते हैं। पीठ त्रिकोण एवं शक्ति त्रिकोण में काफी अन्तर समझना चाहिए। पीठ में शक्ति का आवाहन है, जबकि इस त्रिकोण में शक्ति

स्वयं स्थित है। बाह्य जगत में केवल शक्ति त्रिकोण एक ही है और वह है उत्तर प्रदेश के मीरजापुर जिले के अन्तर्गत विन्ध्याचल, अष्टभुजा और कालीखोह भारत में एकमात्र यही 'शक्ति त्रिकोण'' है। इसके अतिरिक्त ५१ पीठ, उपपीठ और १०८ पीठ हैं। शक्ति त्रिकोण को तंत्र शास्त्र- चक्र, सम्बर यंत्र अथवा महायंत्र कहता है। त्रिकोण में ऊपर महासरस्वती, बायें महालक्ष्मी और दाहिने महाकाली शक्ति हैं। वाम मार्ग के कापालिक मत से क्रमशः इन्हें महाभैरवी, महाकालिकी और महाहाकिनी कहा गया है। त्रिकोण में मध्य में लिंगरूप में महारुद्र और उनमें निहित उनकी शक्ति महारुद्राणी की स्थिति है। त्रिकोण का रंग धूम्रवर्ण का है। इसके अन्दर वायु तत्व है। धूम्रवर्ण शक्ति त्रिकोण में से प्रखर स्फुलिंग निकलते हैं। वायु तत्व की प्रधानता का सूचक "यं" बीज की स्थिति मध्य में है। यहीं पर रुद्र, रुद्राणी का भी निवास है। त्रिकोण शक्ति में से तीन-तीन की संख्या में स्फुलिंग निकलते हैं। इन १२ स्फुलिंगों को लेकर ही इस चक्र में द्वादश दल कमल (पद्म) की कल्पना योगशास्त्र ने की है। वायु तत्व की प्रधानता के कारण इन स्फुलिंगों का रंग 'अरुण' है। अरुण रंग स्फुलिंगों से जो प्रकाश निकलता है, वह लाखों विद्युत प्रकाश के समान प्रखर है। यह प्रकाशपुंज तीव्र गति से त्रिकोण चक्र के चारों ओर भ्रमण करता है। जिस प्रकार जल में वृत्ताकार लहरें एक दूसरे में से प्रकट होती हैं उसी प्रकार इस प्रकाशपुंज में से भी वृत्ताकार लहरें उत्पन्न करती हैं। ये प्रकाश तरंगे हैं इनकी संख्या २४ है। प्रत्येक तरंगों में असीम शक्तियाँ निहित हैं इसीलिए तंत्रशास्त्र में इन्हें २४ देवियाँ कहा है। जिनके नाम इस प्रकार हैं- १. विष्णुमाया, २. चेतना, ३. बुद्धि, ४. निद्रा, ५. क्षुधा, ६. छाया, ७. शक्ति, ८. तृष्णा, ९. क्षान्ति, १०. जाति, ११. लज्जा, १२. शान्ति, १३. श्रद्धा, १४. क्रान्ति, १५. लक्ष्मी, १६. घृति, १७. वृत्ति, १८. स्मृति, १९. दया, २०. तुष्टि, २१. पुष्टि, २२. माता, २३. भ्रान्ति और २४. चिति।

चौबीस देवियों की अधिष्ठात्री छः महादेवियाँ हैं, जिनका नाम यह है-नन्दजा, रक्तदन्तिका, शाकम्भरी, दुर्गा, भीमा और भ्रामरी। इन छः देवियों की एकमात्र अधिष्ठात्री शक्ति त्रिकोण स्थित शक्तित्रय है। इसी प्रकार इस शक्तित्रय की भी अधिष्ठात्री महारुद्र से युक्त महारुद्राणी है। २४ देवियों और ६४ हजार नाड़ियाँ २४ प्रकाश तरंगों के तत्वों को २४ हजार नाड़ियाँ आकर्षित कर निर्दिष्ट स्थानों पर एकत्र करती हैं। अन्तिम चेतना का वास तो हृदय में ही है। निन्द्रा "स्मृति" का संबंध मस्तिष्क से ही है। लज्जा, तुष्टि, शान्ति, दया, भ्रान्ति, तृष्णा का संबंध भी हृदय से है। ये वृत्तियाँ हृदय में ही उत्पन्न होती है। इसी प्रकार नाड़ियों के योग से अन्य प्रकाश तरंगों के तत्व यथा-यथा स्थानों से अपना संबंध बनाये रखते हैं।

चेतना और अचेतना- चेतना का निवास हृदय में है, किन्तु जो इनका

विरूद्ध पक्ष है अर्थात अचेतना, वह भी उसके साथ रहती है। दोनों के योग से उपर्युक्त तत्वों का निर्माण होता है। जिस प्रकार फोटोग्राफ का चित्र, प्रकाश और तम के संयोग से तैयार होता है उसी प्रकार चेतना प्रकाश और अचेतना तम के योगायोग से समस्त वृत्तियों का जन्म समझना चाहिए। इस संयोगावस्था में ही ब्रह्मसत्ता का ज्ञान होता है-

एवं सर्वगता शक्तिः सा ब्रह्मेति विविच्यते।

चेतना और अचेतना का हृदय गुहा के ऊपर पूर्व कर्म एवं वर्तमान कर्म से बने सूक्ष्म संस्कारों के अनुसार प्रभाव पड़ता है। यदि ये संस्कार बुरे हैं तो अचेतना की मात्रा प्रबल होगी। परिणामस्वरूप मूर्खता, जड़ता, कृपणता, अल्पज्ञता तथा हीनता आदि वृत्तियों की विशेषता होगी। संस्कार सुन्दर हैं, अच्छे हैं तो चेतना की मात्रा विशेष होगी। इसके प्राबल्य से सुन्दर, स्वच्छ कल्पना, बुद्धि, प्रखर ज्ञान, विवेक एवं परिष्कृत विचारों का उदय होता है। चेतना की प्रबलता के समय भी अचेतना रहती है परन्तु उसकी स्थिति रहती है प्रभावहीन। अचेतना से प्रभावित वृत्ति को असद्वृत्ति और चेतना से प्रभावित वृत्ति को सद्वृत्ति कहते हैं। यही अविद्या और विद्या है। जिन लोगों ने अविद्या का सर्वथा विकास कर लिया है और साथ ही साथ विद्या का पूर्णभावेन विकास कर लिया है, वे ही विशुद्ध आत्मा वाले पराशक्ति के आश्रय में रहने वाले सच्चे महापुरुष और महात्मा हैं। इन्हीं को 'सद्गुरु' कहा गया है अर्थात सद्वृत्तियों का पूर्ण विकास कर लिया है। गीता में इस तथ्य को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है-

महात्मानस्तु माँ पार्थ दैवी प्रकृतिमाश्रिता।
जन्त्यनन्नयमनसो ज्ञाता भूतादिमव्ययम्।।

ऐसे महात्मा लोग मन से, वचन से और कर्म से सद्वृत्तियों का उदय करते हैं। इस प्रकार से सद्वृत्ति को उपार्जित करना ही धर्म रहस्य को जानना है-

सर्वेषा च सृहुन्नित्यं सर्वेषा च हिते रतः।
कर्मणा मनसा वाचा स धर्म वेद जाजले।।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि चेतना और अचेतना ही सद् और असद्वृत्ति का मूल कारण है। असद्वृत्ति के नाश का अर्थ है अचेतना अर्थात अविद्या पर विजय प्राप्त कर लेना। इस अवस्था में एकमात्र चेतना विद्या की ही श्रेष्ठता रह जाती है और उसकी प्रधानता में साधक आत्मा के स्वच्छ एवं विशुद्ध स्वरूप का दर्शन करता है। यहां इस स्थल पर जैसे मणिपूरक चक्र में स्थूल देह से आत्मा का पृथक अनुभव किया था उसी प्रकार परमात्म सत्ता अर्थात परब्रह्म से आत्मा का पृथक

अनुभव वह करता है। परमात्म सत्ता के पृथक आत्मा सर्वथा विशुद्ध असंसर्ग रूप में भासित होती है।

जीवभाव, आत्मभाव और परमात्मभाव : यहां पर तंत्र दर्शन के द्वारा समस्त दर्शनों के सिद्धान्तों का खण्डन हो जाता है। कारण यह है कि तंत्र दर्शन जीवभाव, आत्मभाव और परमात्मभाव के आधार पर तीन मुख्य सत्ता बतलाता है। यह त्रिसूत्री भाव है। पंचतत्व से निर्मित स्थूल देह को सब कुछ समझना जीवभाव है। देह से आत्मा की सत्ता को पृथक समझना और उसे ही सर्वेसर्वा स्वीकार करना आत्मभाव है और परमात्म सत्ता को पृथक मानना परमात्म भाव है। इस त्रिसूत्रीभाव को तंत्र से अत्याधिक महत्व दिया है। दूसरे भाव का भी प्रणाश हो जाने पर ही तीसरे भाव का जन्म होता है। यह तभी संभव है जबकि सद्वृत्तियों का भी विसर्जन हो। आत्मा को परमात्मा का अंश मानकर साधक अपनी समस्त सद्वृत्तियों को पत्र-पुष्प समझकर अर्पित कर देता है। गीता का निम्न श्लोक-

पत्रं पुष्पं फलं तौयं यो मे भक्तत्या प्रयच्छति।

इसी तथ्य की ओर संकेत करता है। आत्मा रूपी अग्नि में असद्वृत्तियों की ये आहुतियाँ ''आत्मयज्ञ'' की परिभाषा स्पष्ट करती है। वस्तुतः यह ''आत्मयज्ञ'' है। साधना भूमि में दो यज्ञ मुख्य हैं। प्राण यज्ञ और आत्म यज्ञ। प्रथम में प्राण की दूसरे में सद्वृत्तियों की आहुति है। जब साधक अपनी असद्वृत्तियों को ''आत्मयज्ञ'' से विसर्जन कर देता है। तब उसे आत्मा के स्थान पर परमात्मा का ज्ञान होता है। वह फिर अंश-अंशी को पृथक अनुभव नहीं करता। अंश-अंशी भाव का नाश ही ''आत्मयज्ञ'' का उद्देश्य है। भगवान श्रीकृष्ण ने जो **''तत्कुरुष्व मदर्पणम्''** कहा है। वह इसी आत्मयज्ञ की पुष्टि करता है।

दोनों प्रकार की वृत्तियों के प्रणाश हो जाने पर लैंगिक भावना भी नष्ट हो जाती है। इस अवस्था में भौतिक जगत और मनःलोक के अन्तर्गत समस्त सूक्ष्म जगत दोनों मिथ्या प्रतीत होते हैं। उनके स्थान पर केवल शून्य एवं महाशून्य ही भासित होता है। शून्यता का भासित होना विज्ञानवान के अन्तर्गत लिया गया है, जिसका अर्थ है विज्ञानमय कोश में प्राणमय कोश का लय हो जाना। इसके लय हो जाने पर विज्ञानमय कोश में अविद्या और विद्या से निवृत्त साधक का शून्य भाव ग्रहण करना स्वाभाविक ही है। बौद्धतंत्र ने उसे शून्यवाद कहा है। इसको स्वीकार करने वाले माध्यमिक अथवा शून्यवादी मतक नाम से प्रसिद्ध हुए।

अनाहद चक्र और विज्ञान कोश में अन्तर है। चित्त के धर्म धातु, मन विज्ञप्ति

के लय में शून्यत्व की उत्पत्ति होती है। शून्य भी चित्त का धर्म धातु माना गया है-

चित मनश्च विज्ञानं संज्ञा वैकल्पवर्जिता।
विकल्पधर्मता प्राप्ताः श्रावका न जिनात्मजः।।

यदि साधक विज्ञानकोश को प्राप्त कर, केवल आत्म चिन्तन करके ही रह गया और उसके शून्यभाव को प्राप्त नहीं किया है, तो वह विज्ञानकोश उनके भावी जीवन का निर्माण करने लग जाता है। आत्मभाव को ही सब कुछ मान लेना, उसे ही अन्तिम समझ लेना ''आत्ममोह'' कहलाता है किन्तु जैसे माया से प्रभावित होकर देह को ही सब कुछ समझ लेना जीवन का स्वभाव है उसी प्रकार आत्मा को साक्षी मानकर उसे चरम प्राप्तव्य समझ लेना साधक का स्वभाव हो जाता है किन्तु माया से निवृत्ति ही आत्मज्ञान का कारण है क्योंकि प्राणमय कोश में मन और प्राण की पृथकता समझ में आती है उसी प्रकार विज्ञानमय कोश में आत्मा और परमात्मा के पृथकता का बोध होता है। इस बोध का न होना ही यानी जीवभाव का आत्मभाव में लीन हो जाने वाली अवस्था को निर्वाणादि कहते हैं। इसी प्रकार आत्मा का परमात्मा से लय हो जाने की अवस्था को ''कैवल्य पद'' कहते हैं। दोनों का कारण विज्ञानमय कोश को ही समझना चाहिए।

निर्वाणपद में भ्रांति और पुनः उससे संकल्प का जन्म होने की शंका संभव है। संकल्प का उदय होते ही उसकी पूर्ति के लिए साधक को कर्म करना आवश्यक हो जाता है। जो लोग भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होने देते और आत्मा के साक्षात्कार को ही चरम प्राप्तव्य मान नहीं बैठते वे ही निर्वाण पद के बाद कैवल्य पद को ग्रहण कर सकने में समर्थ होते हैं अन्यथा कर्म सम्पादन के लिए पुनः जीवभाव ग्रहण करना सम्भाव है इसीलिए विज्ञान कैवल्य पद को कारण माना गया है तो दूसरी ओर भावी जीवन का भी कारण समझा गया। भावी जीवन के निर्माण का कार्य और निर्वाण के बाद कैवल्य पद की ओर प्रेरित करने का कार्य ही विज्ञान करता है-

''चिन्तमालय विज्ञानं मनने यन्मन्यनात्मकम्।
ग्रहृणाति विषयान विज्ञानं हि तद्रूच्यते।।''

पाश्चात्य विद्वानों ने एक स्वर में मणिपूरक को Solar plexus यानी ''सौर जाल'' कहा है जिसमें तंत्रशास्त्र सर्वथा सहमत है। महान योगी क्लेवेट ने कहा है-मनुष्य के अन्दर तीन प्रधान केन्द्र हैं-नाभि, हृदय और मस्तक। तंत्र ने मूलाधार में कुण्डलिनी की सुप्तावस्था बतलाया है। इसी स्थान में वह जागृत भी होती है अतः जागृत होने पर उसके प्रभाव से साधक का जीवन क्रम-बलयुक्त, नवशक्ति सम्पन्न और नियत हो जाता है। इसी के आधार पर साधक मणिपूरक में प्रवेश कर सूक्ष्मतर लोकों में स्वच्छन्द विहार करता है।

इस चक्र में प्रदीप्ति के फलस्वरूप साधक की आत्मा की क्षमता अधिक मात्रा

में बढ़ जाती है। जिससे वह अनाहद चक्र में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है। जैसाकि प्रकरण के आरम्भ में संकेत किया गया है कि अनाहद चक्र ठीक हृदय के सामने है। इसकी स्थिति ऐसी जगह में है कि हृदय चक्र को उसका प्रवेश द्वार बन जाना पड़ता है। योगशास्त्र ने हृदय चक्र की कोई कल्पना अलग से नहीं की है किन्तु तंत्र के विरूद्ध उपासना पद्धति ने उसे सर्वथा भिन्न और अनाहद चक्र का प्रवेश द्वार बतलाया है। हृदय चक्र को "हृत्पदम्" कहते हैं। (भैरवी साधना नामक ग्रंथ में हृत्पदम् को **हृत्पदम्कोषे विलसत् तडित्यभंम्** कहा गया है) बाइबिल ने भारतीय तंत्रयोग के इस विचार को सादर ग्रहण कर "हृत्पदम्" को अपने प्रसंग में "Mystic rose" यानी गुप्त गुलाब कहा है।

वस्तुतः हृदय का आकार बन्द पंखुड़ियों वाले कमल अथवा गुलाब के पुष्प के समान है। साधक "स्थित प्रज्ञता" और "निर्वाणपद" की प्राप्ति के पश्चात जब आत्मा में परमात्मा का दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर अंश और अंशी को संभाल लेता है अर्थात् कैवल्यपद को प्राणी प्राप्त कर लेता है तो हृदयपदम् की बन्द पंखुडियाँ खुलने लग जाती हैं। बाइबिल ने इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- The pertals of which open only after the christs child has been born in the heart इसका तात्पर्य यही हुआ कि जब हृदय में ईसा रूपी बालक (आत्मा में परमात्मा) का दर्शन होता है तब जिसकी पंखुडियाँ खिलती हैं। हृत्पदम् का वर्ण आग पर तपे सुवर्ण के समान है जिसको पाश्चात्य विद्वानों ने चैनिक "आइचिन" कनक कमल कहा है। इसके खिलने पर अनाहद चक्र उद्भासित हो उठता है। फलस्वरूप बुद्धि के ऊपर जो बौधि है उसका उद्भव और विकास होता है। यही कारण बन जाता है और हृदय में जगत की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम् शक्तियाँ प्रवाहित होने लग जाती है। अस्तु हृदयपदम् के अन्दर पराग के स्थान को 'पुण्डरीक' कहते हैं। इसके ऊपर १६ दल का मन्दार कमल है। इसे "मन्दार पुष्प" भी कहते हैं। प्रत्येक दल पर एक देवी का निवास है। जिनके नाम हैं-१. रोहिणी २. प्रज्ञप्ति ३. वज्र श्रृंखला ४. कुलिशांकुशा ५ चक्रेश्वरी ६. नरदत्ता ७. काली ८. महाकाली ६. गौरी १०. गान्धारी ११. सर्वा महाज्वाला १२. मानवी १३. वैरोप्या १४. अच्युता १५. मानसी १६. महानासिक। सोलह दल की इस श्रृंखला को विद्यव्यूह कहते हैं जिनकी अधिष्ठात्री सरस्वती हैं।

मन्दार पुष्प के ऊपर स्वर्ण कान्तिवाला महा ज्योतिर्लिंग है। यह ज्योतिर्लिंग १६ भागों में विभक्त होकर १६ निवासिनी देवियों के साथ युक्त है। इस महा ज्योतिर्लिंग के मस्तक पर छिद्र है, जिसे ज्ञानकुण्ड अथवा "ज्ञानवापी" कहा गया है (द्रष्टव्यः महाभैरवी चामर तंत्र) ज्ञानवापी के बिल्कुल मध्य में "तारक चक्र" है। तंत्र में इसे पद्मकूट अथवा भवकूट कहते हैं। तंत्र के पूर्वाचार्यों के मत से तारक चक्र का अतिक्रमण करने पर ही साधक का आत्ममोह विसर्जित होता है।

वास्तविकता तो यह है कि जिस 'तारक चक्र' (भवकुट अथवा पद्यकूट) का उल्लेख हमने ऊपर किया है उसके विशुद्ध योगशास्त्र के पूर्वाचार्यों ने "विष्णुपद" कहा है, जिसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब मन सहित प्राणों का लय होता है। लय के इस भावार्थ को लेकर ही आत्मा मोह का विसर्जन अर्थ ग्रहण किया गया है।

अनाहद के मुख्यतः दस प्रकार हैं। वे प्रकार क्रमबद्ध हैं, जिनका आरम्भ अनाहद चक्र से होता है और विशुद्धाख्य चक्र की सीमा में जाकर समाप्त हो जाता है एवमेव अनाहद चक्र से लेकर आज्ञा चक्र की ध्वनियों का सीमित स्थान विशेष है। जिनका अतिक्रमण साधक क्रम से करता है। प्रथम स्थान में वह भूलोक एवं उसके आसपास के लोकों से आयी हुई ध्वनियों को सुनता है। दूसरे में भुवलोक तथा उसके आसपास के किन्नर प्रदेशों से आयी हुई ध्वनि को सुनता है। तीसरे में स्वलोक और उससे सम्बन्धित राजसी लोकों की ध्वनियों को और चौथे में "मह" लोक तथा उसके उपलोकों की ध्वनियों को तथा पांचवें में जनलोक तथा सूर्य मण्डल पर्यन्त तक की ध्वनियों को सुनता है, ये ध्वनियाँ आभ्यन्तर नाद कही जाती है। विशुद्धाख्य चक्र से लेकर आज्ञा चक्र तक 'तपलोक' है। इसके अनेक उपलोक हैं, उपलोकों के ऊपर तपलोक है जहाँ दिव्यतम् आत्माएं निवास करती हैं, उपलोकों में प्रजापति के लोक मुख्य हैं। इसका कार्य अपने से नीचे भूलोक तक की गतिविधि पर दृष्टि रखना है। प्रकृति के क्रम को बनाये रखना समयानुसार दिव्य आत्माओं को भू-भाग में भेजना और उनसे ईश्वर के महानतम् कार्य को सम्पादित करना उनका मुख्य उद्देश्य है।

चैतन्य महाप्रभु, विवेकानन्द, रामकृष्ण, स्वामी विद्यारण्य, महात्मा बुद्ध, महात्मा गांधी प्रकृति की आत्माएँ उसी स्थान से आयी हुई थी इसमें सन्देह नहीं।

आज्ञा चक्र अर्थात तपलोक में प्रवेश करने पर आभ्यन्तर नाद की समाधि हो जाती है, उसके स्थान पर अन्तर्नाद का जन्म होता है। अन्तर्नाद का अर्थ है आत्मा की ध्वनि प्रतिध्वनि। यही आत्मा की आवाज है, जिसे दर्शन ने आर्ष ज्ञान कहा है। जिन साधकों ने अन्तर्नाद के श्रवण सुख को प्राप्त कर लिया है वे त्रिलोकदर्शी तथा वाक्सिद्ध हुआ करते हैं। इन्हें ऋषि कहा गया है। इनकी वाणी को आर्षवाणी कहते हैं। वैदिक मंत्रों की रचना इसी प्रकार की आर्षवाणी से ही हुई है। धर्म का सत्य रूप आर्षवाणी से प्रत्यक्ष होता है। शब्दों में गूढ़ रहस्यमय अर्थों को रखना गागर के सागर भरने के समान आर्षवाणी का ही कार्य है।

●

में बढ़ जाती है। जिससे वह अनाहद चक्र में प्रवेश करने का अधिकारी हो जाता है। जैसाकि प्रकरण के आरम्भ में संकेत किया गया है कि अनाहद चक्र ठीक हृदय के सामने है। इसकी स्थिति ऐसी जगह में है कि हृदय चक्र को उसका प्रवेश द्वार बन जाना पड़ता है। योगशास्त्र ने हृदय चक्र की कोई कल्पना अलग से नहीं की है किन्तु तंत्र के विरूद्ध उपासना पद्धति ने उसे सर्वथा भिन्न और अनाहद चक्र का प्रवेश द्वार बतलाया है। हृदय चक्र को ''हृत्पदम्'' कहते हैं। (भैरवी साधना नामक ग्रंथ में हृत्पदम् को **हृत्पदम्कोषे विलसत् तडित्यभंम्** कहा गया है) बाइबिल ने भारतीय तंत्रयोग के इस विचार को सादर ग्रहण कर ''हृत्पदम्'' को अपने प्रसंग में "Mystic rose" यानी गुप्त गुलाब कहा है।

वस्तुतः हृदय का आकार बन्द पंखुड़ियों वाले कमल अथवा गुलाब के पुष्प के समान है। साधक ''स्थित प्रज्ञता'' और "निर्वाणपद'' की प्राप्ति के पश्चात जब आत्मा में परमात्मा का दुर्लभ दर्शन प्राप्त कर अंश और अंशी को संभाल लेता है अर्थात् कैवल्यपद को प्राणी प्राप्त कर लेता है तो हृदयपदम् की बन्द पंखुडियाँ खुलने लग जाती हैं। बाइबिल ने इस प्रसंग को स्पष्ट करते हुए कहा है कि- The pertals of which open only after the christs child has been born in the heart इसका तात्पर्य यही हुआ कि जब हृदय में ईसा रूपी बालक (आत्मा में परमात्मा) का दर्शन होता है तब जिसकी पंखुडियाँ खिलती हैं। हृत्पदम् का वर्ण आग पर तपे सुवर्ण के समान है जिसको पाश्चात्य विद्वानों ने चैनिक ''आइचिन'' कनक कमल कहा है। इसके खिलने पर अनाहद चक्र उद्भासित हो उठता है। फलस्वरूप बुद्धि के ऊपर जो बौधि है उसका उद्भव और विकास होता है। यही कारण बन जाता है और हृदय में जगत की सूक्ष्म से सूक्ष्मतम् शक्तियाँ प्रवाहित होने लग जाती है। अस्तु हृदयपदम् के अन्दर पराग के स्थान को 'पुण्डरीक' कहते हैं। इसके ऊपर १६ दल का मन्दार कमल है। इसे ''मन्दार पुष्प'' भी कहते हैं। प्रत्येक दल पर एक देवी का निवास है। जिनके नाम हैं-१. रोहिणी २. प्रज्ञप्ति ३. वज्र श्रृंखला ४. कुलिशांकुशा ५ चक्रेश्वरी ६. नरदत्ता ७. काली ८. महाकाली ९. गौरी १०. गान्धारी ११. सर्वा महाज्वाला १२. मानवी १३. वैरोप्या १४. अच्युता १५. मानसी १६. महानासिक। सोलह दल की इस श्रृंखला को विद्यव्यूह कहते हैं जिनकी अधिष्ठात्री सरस्वती हैं।

मन्दार पुष्प के ऊपर स्वर्ण कान्तिवाला महा ज्योतिर्लिंग है। यह ज्योतिर्लिंग १६ भागों में विभक्त होकर १६ निवासिनी देवियों के साथ युक्त है। इस महा ज्योतिर्लिंग के मस्तक पर छिद्र है, जिसे ज्ञानकुण्ड अथवा "ज्ञानवापी'' कहा गया है (द्रष्टव्यः महाभैरवी चामर तंत्र) ज्ञानवापी के बिल्कुल मध्य में "तारक चक्र'' है। तंत्र में इसे पद्मकूट अथवा भवकूट कहते हैं। तंत्र के पूर्वाचार्यों के मत से तारक चक्र का अतिक्रमण करने पर ही साधक का आत्ममोह विसर्जित होता है।

वास्तविकता तो यह है कि जिस 'तारक चक्र' (भवकुट अथवा पद्यकूट) का उल्लेख हमने ऊपर किया है उसके विशुद्ध योगशास्त्र के पूर्वाचार्यों ने "विष्णुपद" कहा है, जिसकी उपलब्धि तभी सम्भव है जब मन सहित प्राणों का लय होता है। लय के इस भावार्थ को लेकर ही आत्मा मोह का विसर्जन अर्थ ग्रहण किया गया है।

अनाहद के मुख्यतः दस प्रकार हैं। वे प्रकार क्रमबद्ध हैं, जिनका आरम्भ अनाहद चक्र से होता है और विशुद्धाख्य चक्र की सीमा में जाकर समाप्त हो जाता है एवमेव अनाहद चक्र से लेकर आज्ञा चक्र की ध्वनियों का सीमित स्थान विशेष है। जिनका अतिक्रमण साधक क्रम से करता है। प्रथम स्थान में वह भूलोक एवं उसके आसपास के लोकों से आयी हुई ध्वनियों को सुनता है। दूसरे में भुवलोक तथा उसके आसपास के किन्नर प्रदेशों से आयी हुई ध्वनि को सुनता है। तीसरे में स्वलोक और उससे सम्बन्धित राजसी लोकों की ध्वनियों को और चौथे में "मह" लोक तथा उसके उपलोकों की ध्वनियों को तथा पांचवें में जनलोक तथा सूर्य मण्डल पर्यन्त तक की ध्वनियों को सुनता है, ये ध्वनियाँ आभ्यन्तर नाद कही जाती है। विशुद्धाख्य चक्र से लेकर आज्ञा चक्र तक 'तपलोक' है। इसके अनेक उपलोक हैं, उपलोकों के ऊपर तपलोक है जहाँ दिव्यतम् आत्माएं निवास करती हैं, उपलोकों में प्रजापति के लोक मुख्य हैं। इसका कार्य अपने से नीचे भूलोक तक की गतिविधि पर दृष्टि रखना है। प्रकृति के क्रम को बनाये रखना समयानुसार दिव्य आत्माओं को भू-भाग में भेजना और उनसे ईश्वर के महानतम् कार्य को सम्पादित करना उनका मुख्य उद्देश्य है।

चैतन्य महाप्रभु, विवेकानन्द, रामकृष्ण, स्वामी विद्यारण्य, महात्मा बुद्ध, महात्मा गांधी प्रकृति की आत्माएँ उसी स्थान से आयी हुई थी इसमें सन्देह नहीं।

आज्ञा चक्र अर्थात तपलोक में प्रवेश करने पर आभ्यन्तर नाद की समाधि हो जाती है, उसके स्थान पर अन्तर्नाद का जन्म होता है। अन्तर्नाद का अर्थ है आत्मा की ध्वनि प्रतिध्वनि। यही आत्मा की आवाज है, जिसे दर्शन ने आर्ष ज्ञान कहा है। जिन साधकों ने अन्तर्नाद के श्रवण सुख को प्राप्त कर लिया है वे त्रिलोकदर्शी तथा वाक्सिद्ध हुआ करते हैं। इन्हें ऋषि कहा गया है। इनकी वाणी को आर्षवाणी कहते हैं। वैदिक मंत्रों की रचना इसी प्रकार की आर्षवाणी से ही हुई है। धर्म का सत्य रूप आर्षवाणी से प्रत्यक्ष होता है। शब्दों में गूढ़ रहस्यमय अर्थों को रखना गागर के सागर भरने के समान आर्षधाणी का ही कार्य है।

●

चतुर्थ प्रसंग

वैराग्य और स्थिति प्रज्ञ

योग तांत्रिक साधना प्रसंग के पूर्वपाद के अन्तर्गत हमने तंत्र शास्त्र के विभिन्न महत्वपूर्ण विषयों तथा संबंधित अंगों पर विशेष रूप से चर्चा की है। अब हम उसी प्रकार उत्तरपाद में विशेष रूप से 'योग' से संबंधित महत्वपूर्ण और विशिष्ट विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा करेंगे। योग के जितने भी साधनात्मक विषय हैं उनमें वैराग्य और 'स्थिति प्रज्ञ' का स्थान अति महत्वपूर्ण है।

प्रायः लोग वैराग्य से समझते हैं विराग। राग के विपरीत जो है वह विराग है। वस्तुओं को देखकर, सौन्दर्य को देखकर, रूप को देखकर और अनुकूल सुखद परिस्थिति अथवा वातावरण को देखकर उसे प्राप्त कर लेने और भोग लेने की आकांक्षा होना राग है। मन में उसे प्राप्त करने की इच्छा होना राग है। वस्तुओं और पदार्थों से आन्तरिक सम्बन्ध स्थापित करने का भाव राग है। भोगने योग्य किसी वस्तु के प्रति मन में कोई आकर्षण न हो वह विराग है।

भाषा की दृष्टि से आकर्षण राग है और विकर्षण है विराग। जिस ओर मन आकर्षित हो वह राग है और जिस ओर से मन हटता हो वह है विराग। विराग का मतलब है विपरीत राग। एक में मन आकर्षित होता है और दूसरे में मन होता है विकर्षित। राग और विराग दोनों से पूर्ण मुक्ति नहीं है। राग-विराग दोनों में एक दूसरे के कुछ न कुछ अंश विद्यमान रहते हैं। राग में भी कहीं विराग है विराग में भी कहीं राग छिपा हुआ रहता है। कोई धन पाने में सुख समझता है तो कोई धन का त्याग करने में सुख का अनुभव करता है। कोई पुरुष और स्त्री में सुख देखता है तो कोई स्त्री-पुरुष दोनों के त्याग में सुख का अनुभव करता है। इसी प्रकार कोई इस संसार को स्वर्ग समझता है तो कोई संसार को नरक मानता है लेकिन दोनों तरह के लोगों का ध्यान, धन, स्त्री-पुरुष और संसार पर केन्द्रित है।

भाषा की दृष्टि से मैं स्वीकार करता हूँ कि राग का उल्टा विराग है मगर आध्यात्मिक दृष्टि से नहीं। एक योगी के लिये विराग, राग का विपरीत रूप नहीं है। उसके लिये राग का पूर्ण अभाव ही वैराग्य है। भाषा और आध्यात्म दोनों की दृष्टि

में अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर है। इसे समझ लेना चाहिए।

आपके मन में स्त्री के प्रति आकर्षण है तो उसे राग कहा जायेगा। यदि आपके मन में स्त्री के प्रति विकर्षण है तो उसे विराग कहा जायेगा। भाषा शास्त्र की दृष्टि से यह है राग और विराग का अर्थ। मगर एक अनुभवी और समाधि को उपलब्ध योगी की दृष्टि में वह विराग भी एक प्रकार का राग है। उसके लिये विराग तो तब है जब कि स्त्री के प्रति न आकर्षण हो और न विकर्षण हो मन में। उसके लिये स्त्री का होना और न होना दोनों बराबर है। अमीरी, गरीबी, भाव, अभाव दोनों उसके लिये बराबर है उसका कोई चुनाव नहीं है उसका कोई आग्रह नहीं है किसी वस्तु या पदार्थ के प्रति। उसके लिये सब कुछ व्यर्थ है सब कुछ गौण है। उसकी दृष्टि में यही वैराग्य है। हमारी दृष्टि का 'पर' जाना हमेशा के लिये बन्द हो जाय। न अनुकूल, न प्रतिकूल, न आकर्षण में, न विकर्षण में-वैराग्य का यही अर्थ है। इसी का नाम वैराग्य है।

'पर' यानी दूसरे से दो प्रकार का बंधन है। मित्र और शत्रु दोनों से सुख और दुःख प्राप्त होता है। मित्र मिलता है तो सुख। मित्र चला जाता है तो दुःख। शत्रु मिलता है तो दुःख। शत्रु चला जाता है या नष्ट हो जाता है तो सुख। शत्रु भी सुख देते हैं और मित्र भी दुःख देते हैं। मित्र जब छूटता है तब दुःख देता है और शत्रु जब मिलता है तब दुःख देता है।

जितना मेरे मन में मित्र के प्रति लगाव है उतना ही लगाव मेरे मन में शत्रु के प्रति भी है। मेरा मन दोनों से जुड़ा है। जिन वस्तुओं से मेरा विरोध है उनसे भी मेरा संबंध है। वैराग्य का मतलब तो यह है कि अच्छे-बुरे दोनों के प्रति विरक्त, असंबंधित। दोनों से अप्रसंग हो जाना। भोगने योग्य पदार्थ के प्रति वासना जागृत न हो-वैराग्य की परम अवधि की यही परिभाषा है। भोगने योग्य पदार्थ का त्याग कर चले जाना-भाषा के अनुसार वैराग्य का यही अर्थ है। मगर अध्यात्म के अनुसार वैराग्य का मतलब है-भोगने लायक पदार्थ हो, उपस्थित हो, निकट हो, फिर भी भोगने की आकांक्षा मन में उत्पन्न न हो। सब कुछ रहते हुए भी उसका सुख, उसका आनन्द और उसका भोग प्राप्त करने की न अभिलाषा हो और न तो हो इच्छा मन में। जनक के महल में संसार के सभी सुख-वैभव थे। भोगने योग्य सभी वस्तुएं थीं लेकिन जनक के मन में उन सबको भोगने की भावना नहीं थी। आप सब कुछ छोड़कर जंगल में चले जाते हैं। जंगल में भोगने लायक कोई वस्तु नहीं है। मगर आपके भीतर भोगने की भावना तो है वह भावना वृत्तियाँ बनेंगी, सपना बनेंगी। आपका मन जहाँ-जहाँ जाता रहेगा। वहाँ-वहाँ भोगने के योग्य पदार्थ होंगे, वस्तुएं होंगी।

अनुकूल अथवा भोगने योग्य वस्तु या पदार्थ की उपस्थिति या अनुपस्थिति का

प्रश्न नहीं है। प्रश्न है वासना की उपस्थिति और अनुपस्थिति का। लेकिन आश्चर्य की बात तो यह है कि जहाँ जिस स्थान पर भोगने योग्य पदार्थ का अभाव होता है वहाँ वासना अति प्रखर मालूम होती है। जहाँ भोगने योग्य पदार्थ की प्रचुरता रहती है। वहाँ वासना उतनी प्रखर नहीं मालूम पड़ती। अभाव में वह और तीव्र हो जाती है।

उपनिषद के ऋषि कहते हैं कि जिसने सब कुछ का त्याग कर दिया है, सब कुछ छोड़कर जंगल में चला गया है वह वैराग्य की परम अवधि नहीं समझी जायेगी। वह वैराग्य का चरम रूप नहीं माना जायेगा। इसलिये कि सम्भव है राग भीतर रहा हो। यह भी संभव है कि सब कुछ छोड़कर चले जाना राग का ही एक अंग रहा हो। तो फिर वैराग्य की परम परिभाषा क्या होगी? सब भोगने योग्य पदार्थ और वस्तुएं उपस्थित हों, लेकिन भीतर भोगने की भावना या वासना लेशमात्र न हो। यह निर्णय कौन करेगा?

योगी को स्वयं इसका निर्णय करना होगा। दूसरे के निर्णय को महत्व नहीं देना होगा। योगी इस मामले में स्वयं अपना निर्णायक है। भोगने योग्य पदार्थ उपस्थित हों मगर भीतर वासना न जागती हो, भीतर वासना की लहर न दौड़ती हो, मन इधर-उधर न भागता हो, चित्त डावांडोल न होता हो, आप वैसे ही हों, जैसे बाहर कुछ भी न हो, आपके भीतर पदार्थ का प्रतिबिम्ब किसी भी प्रकार का रस या विरस न पैदा करता हो तो समझ लेना चाहिये कि वह वैराग्य की परम अवधि है।

उनके लिए यह कठिन मालूम होगा जिन्होंने विराग को राग से विपरीत रूप समझ रखा है। एक व्यक्ति है वह अपना घर-परिवार छोड़ कर जंगल में चला जाता है। आप कहते हैं कि वह विरागी है लेकिन उसका सब कुछ छोड़ कर भागना इस बात का संकेत करता है कि राग अभी जुड़ा हुआ है। कोई भागता है घर-परिवार के भय से नहीं भागता। भागता है अपने भीतर की वासना के डर से। घर-परिवार भला क्या भगायेगा किसी को। यदि घर-परिवार भगा सकता है तो समझ लेना होगा कि उसकी अपने आपमें स्थिति बनी नहीं है। जब किसी भी वस्तु की चुनौती व्यक्ति के ऊपर नहीं रह जाती, जब वह वस्तुओं या पदार्थो की चुनौती को ही स्वीकार नहीं करता तब वैराग्य का अर्थ होता है आत्म स्थिति यानी जो अपने आप में ठहर गया है। हम लोगों में से कोई भी अपने आपमें ठहरा हुआ नहीं है। एक योगी ही अपने आपमें ठहरा हुआ होता है। बचपन में मैंने एक कहानी सुनी थी अपनी माँ के मुख से। एक राजा था उसकी आत्मा एक तोते में बसती थी। राजा को मारो राजा नहीं मरेगा, जबतक कि तोते को न मारा जाय। जबतक तोता बचा है तबतक राजा भी बचा रहेगा। उसी तरह हम सबके भी प्राण और हम सबकी भी आत्मा कहीं न कहीं बन्द है। किसी का तिजोरी में, किसी का व्यापार में, किसी का मान-सम्मान यश-कीर्ति में। किसी का स्त्री-पुत्र में, तो किसी का बैंक-बैलेन्स में बन्द है। बन्द है यह

निश्चित है।

अपने चित्त को स्थिर कर विचार करें तो पता चलेगा कि हम सबकी आत्मा और हम सबके प्राण कहीं न कहीं और किसी न किसी तोते में बन्द हैं। जबतक हमारी आपकी आत्मा किसी तोते में बन्द है तबतक हममें से कोई भी आत्म स्थित कदापि नहीं हो सकता। आपका प्राण या आपकी आत्मा वहाँ नहीं है, जहाँ कि उसे होना चाहिये। वास्तव में उसे आपके भीतर होना चाहिये। मगर वह वहाँ नहीं है। कहीं और है और यह 'कहीं' और होना बहुत तरह का हो सकता है। आपने अपने प्राण को, अपनी आत्मा को कहाँ रखा है इसमें भेद हो सकता है। यह बात अलग है। मगर रखा है आपने कहीं अवश्य, यह निश्चित है। बाहर तो आप राग में जी रहे हैं राग में जीने का मतलब ही यही है कि आपकी आत्मा अपने स्थान पर नहीं और कहीं है। जिस वस्तु में राग है वहाँ है आपका प्राण और आपकी आत्मा।

जब राग-विराग दोनों से संबंध टूट जाता है दोनों का प्रतिबिम्ब पड़ना भीतर बन्द हो जाता है तब आत्मा अपने स्थान पर स्थित हो जाती है। हम अपने आपमें ठहरा हुआ अनुभव करते हैं कोई भी वस्तु हमें अपनी ओर नहीं आकर्षित करती तब। भीतर कोई भी वस्तु अपना तरंग पैदा नहीं करती, अपना प्रतिबिम्ब भी नहीं छोड़ती। वैराग्य की यही मौलिक परिभाषा है इसीलिये वैराग्य को आनन्द का हार कहा गया है क्योंकि जो अपने आपमें ठहर गया, अपने आपमें स्थिर हो गया, वह कभी भी दुःखी नहीं हो सकता। उसे दुःखी करने का कोई उपाय ही नहीं।

जो अपने आपमें स्थिर हो गया, जो अपने आपमें ठहर गया, जिसकी आत्मा, जिसके प्राण किसी तोते में यानी किसी विषय वासना में, किसी वस्तु में अथवा किसी पदार्थ में नहीं बसी है, उसे मारने का कोई भी उपाय नहीं। आत्मा कभी नहीं मरती। प्राण भी कहीं नष्ट नहीं होता। तोते मर जाते हैं। विषय वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं। पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। हम जहाँ-जहाँ अपनी आत्मा को, अपने प्राण को रखते हैं वहाँ-वहाँ वे वस्तुएं खिसक जाती हैं। वहाँ-वहाँ वे पदार्थ नष्ट हो जाते हैं। यही कारण है कि हमारे जीवन में कभी वे क्षण भी आते हैं जबकि हम जीते जी अपने को मरा हुआ अनुभव करते हैं। दो वस्तुयें हैं एक है अ-मृत और दूसरा है मृत। आत्मा अ-मृत है। वस्तुएं मृत हैं। हम बराबर अ-मृत का संबंध मृत से स्थापित करने का प्रयास करते हैं। मृत वस्तुएं आज हैं कल बिखर जायेंगी कल नष्ट हो जायेंगी। बिखरना और नष्ट होना उनका स्वभाव है। जब वे बिखरेंगी, नष्ट होंगी तब यह भ्रम पैदा होगा कि हम भी बिखर गये, नष्ट हो गये, हम भी मर गये। यह स्वयं का मर जाना एक भ्रम है जो पैदा होता है, मरणधर्मा वस्तुओं से स्वयं को जोड़ लेता है। वैराग्य का सीधा और सरल अर्थ यही

है कि जिसने सारे संबंध तोड़कर उसको जान लिया जो सदा संबंधित होता रहा था।

परमहंस दिव्यानन्द– लगभग चालीस वर्ष पूर्व गिरिनार की यात्रा पर गया था मैं। वहाँ मुझे एक महात्मा मिले। निश्चय ही उच्चकोटि के योगी थे वह। नाम था स्वामी दिव्यानन्द परमहंस। प्रायः नित्य सत्संग होता था मेरा उनके साथ। एक दिन इसी वैराग्य के विषय पर चर्चा होने लगी। परमहंसदेव ने कहा– सच्चा वैराग्य तो तभी है, जबकि अनुकूल और प्रतिकूल दोनों अवस्थाओं में वासना का जन्म न हो। तात्पर्य यह है कि भोगने योग्य पदार्थ के प्रति किसी भी अर्थ में मन में लगाव न हो।

परमहंसदेव ने आगे कहा कि यह सूत्र तुम्हारे लिए है। इससे तुम किसी दूसरे की परीक्षा लेने का प्रयास मत करना। मनुष्य काफी होशियार प्राणी है। यदि उसे परिभाषा मिल जाए तो वह अपनी नहीं, दूसरे की परीक्षा लेने लग जाता है। परिभाषा के अनुसार वह यह जानने समझने की कोशिश करने लगता है कि अमुक व्यक्ति वैरागी है या नहीं। तुम्हारा यह प्रयोजन कदापि नहीं होना चाहिए। इस विषय में तुम्हारा किसी से कोई लेना-देना नहीं। तुम स्वयं अपनी परीक्षा लो। इस सूत्र की परिभाषा के अनुसार जो राग में होगा वह कष्ट भोगेगा। जो विराग में होगा वह आनन्द भोगेगा। तुम्हारा उस दुःख और आनन्द से कोई मतलब नहीं।

मनुष्य स्वयं को धोखा देने में इतना कुशल है कि अगर उसे कोई परिभाषा मिल जाती है, कोई कसौटी मिल जाती है तो वह स्वयं को कसने के बजाय दूसरे को कसने लग जाता है कसौटी पर। तुम अपने को कसो उपनिषद की इस कसौटी पर। वैराग्य के संबंध में तुमने अपनी जिज्ञासा प्रकट की है इसलिये उपनिषद के इस सूत्र की व्याख्या तुम्हारे लिये है। किसी और पर चिन्तन करने के लिए नहीं है। कौन विरागी है और कौन विरागी नहीं है, इससे तुमको कुछ लेना-देना नहीं।

परमहंसदेव कुछ क्षण मौन साधे रहे। फिर कहने लगे– तुम किसी दूसरे के संबंध में यह मत सोचो कि वह ज्ञान को और वैराग्य को उपलब्ध हुआ है या नहीं। तुम अपने लिये चिन्तन करो कि तुम ज्ञान और वैराग्य को अभी प्राप्त हुए हो या नहीं। अपने अतिरिक्त दूसरे के लिए तुम्हारा सारा चिन्तन इस संबंध में व्यर्थ है।

चित्त सदैव दूसरों के चिन्तन में लगा है। चित्त अपना चिन्तन कर ही नहीं रहा है। साधक को निर्णय कर लेना चाहिये कि सब व्यर्थ की चिन्तायें हैं उसे समझना चाहिये कि मेरे अतिरिक्त सब बातें साधक के लिये व्यर्थ है। कौन, कैसा योगी है? कौन, कैसा साधक है? योगी है या नहीं? साधक है या और कुछ? ऐसी जिज्ञासाओं में और कौतूहल में साधक को उलझना नहीं चाहिए। उससे कुछ लेना-देना नहीं। उससे साधक के लिए कोई लाभ नहीं। उससे कुछ उसके जीवन में होगा भी नहीं।

बराबर ध्यान रखना होगा कि उपनिषद की यह परिभाषा एकमात्र साधक के

लिए है, जिसे उसको बराबर अपने भीतर तौलते रहना चाहिए। इसलिये उपनिषद ने यह मापदण्ड दिया है ताकि भीतर के अगम रास्तों पर साधक को कठिनाई का सामना न करना पड़े। अपने भीतर वह बराबर देखता रहे। जबतक भोग्य पदार्थो को देखकर, मनोनुकूल वस्तुओं को देखकर वासना जागती हो चित्त में तबतक समझना होगा कि वैराग्य उपलब्ध नहीं हुआ है। वैराग्य की अवधि की तरह ज्ञान की भी अवधि है। उपनिषद के ऋषियों ने इस संबंध में कहा है कि अहं भाव का उदय न हो तब ज्ञान की परम अवधि समझना। ऋषिगण यह नहीं कहते कि परमात्मा का दर्शन लाभ हो तब ज्ञान की अवधि समझना। परमात्मा तक के दर्शन की बात को उन्होंने ज्ञान की परम अवधि नहीं बतलाया। यह भी नहीं कहा कि कुण्डलिनी जग जाय। षटचक्र का भेदन हो जाय। सहस्त्रार में स्थिति हो जाए। योग और तंत्र की सारी यात्राएं पूरी हो जाए। साधना के उच्चतम् शिखर पर पहुँच जाय तब ज्ञान की परम अवधि समझना। ज्ञान की परम अवधि से इन तमाम बातों से कोई मतलब नहीं है। हम ज्ञान की परम अवधि को तभी उपलब्ध हो सकते हैं जबकि अहं भाव न हो। कसौटी की बात केवल एक ही है और वह है-अहं भाव का उदय न हो चित्त में।

योग भारती- काशी में प्रच्छन्न भाव निवास करने वाले योगी और साधकों का अभी भी अभाव नहीं है। गुप्त रूप से संचरण-विचरण करने वाले ऐसे महापुरुषों की खोज में सदैव रहा हूँ मैं। कुछ समय पूर्व एक ऐसी ही साधिका से मेरी भेंट हुई थी। नाम था योग भारती। अवस्था तो उनकी काफी थी लेकिन देखने में चालीस वर्ष से अधिक की प्रतीत नहीं होती थीं। स्वस्थ सुगठित देहयष्टि, आकर्षक व्यक्तित्व बड़ी-बड़ी चमकती हुई आँखें ,साधना के प्रखर आलोक से चमकता हुआ मुखमण्डल,पीठ पर बिखरी हुई घनी केशराशि, शरीर पर गैरिक वस्त्र, गले में रुद्राक्ष व स्फटिक की मालायें। यही थी वेश-भूषा योग भारती की। साधना का गहन अनुभव है उनके पास प्रथम साक्षात्कार में ही समझ गया मैं यह।

योग भारती का कहना था कि योग-तंत्र की जो भी साधनायें हैं उसमें अहं भाव का उदय होना अस्वाभाविक है। साधना तभी पुष्ट होती है, तभी फलवती भी होती है, जबकि अहं भाव का उदय किसी भी अवस्था में न हो। हमारी कुण्डलिनी का जागरण हो गया। आज्ञाचक्र जग गया। वहाँ ज्योति का दर्शन होने लगा। हृदय में नीलमणि प्रस्फुटित हो गयी। अब हम साधारण व्यक्ति नहीं है। हम मुक्त हो गये। संसार का कोई मूल्य नहीं रह गया अब हमारे लिए। इस बात का ध्यान रखना होगा कि जिस वस्तु से भी-भले ही वह साधना उपासना ही क्यों न हो-"मैं" का निर्माण होता हो वह अज्ञान का ही हिस्सा समझा जायेगा। जिस वस्तु, जिस पदार्थ और जिस कार्य के साथ "मैं" जुड़ा हुआ होगा वह अहंकार का द्योतक होगा। चाहे आप नाम कुछ भी दें

उसका। फर्क नहीं पड़ेगा।

कारण कोई भी हो उपनिषदकार कहते हैं कि ''अहं भाव'' जबतक है अर्थात जबतक ऐसा लगे कि ''मैं'' कुछ हो गया हूँ'' तबतक यही समझना चाहिए कि अभी ज्ञान का फल परिपक्व नहीं हुआ है। अभी ज्ञान का पुष्प खिला नहीं है। जब ''मैं'' का यानी ''अहं''·का पूर्ण अभाव हो जाता है तभी ज्ञान का सुगन्ध प्रस्फुटित होता है। उपनिषद में केवल एक ही सूत्र है इस सम्बन्ध में 'अहं भाव' पैदा न हो।

एक साधारण व्यक्ति है। साधक नहीं है। किसी भी साधना या उसका कोई परिचय नहीं है। वह कोई भी काम करता·है लेकिन उसमें किसी भी प्रकार का "अहं भाव" नहीं है। ''मैं'' मन को वह कहीं नहीं जोड़ता है। तो यह समझ लेना चाहिए कि वह व्यक्ति निस्सन्देह ज्ञान की परम अवस्था को उपलब्ध हो गया है।

एक योगी है। हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर बैठकर साधनारत है। यदि वह यह सोचता है कि उसने साधना की परम अवस्था को प्राप्त कर लिया है, जो कुछ उसे उपलब्ध हुआ है वह किसी दूसरे को उपलब्ध नहीं तो यह जान लेना होगा कि उस योगी में 'ज्ञान' का विस्फोट अभी नहीं हुआ है। योग भारती ने कहा- केवल एक ही परीक्षा है वह यह कि कोई भी वस्तु अहं को निर्मित न करती हो। कुछ भी हो, परमेश्वर भी सामने आकर खड़ा हो जाय तब भी नहीं। चित्त में यह भाव पैदा न हो कि 'हे प्रभु! मेरा अहोभाग्य कि आपका दर्शन मुझे मिला।'

''मैं'' की वृत्ति किसी भी अवस्था में और किसी भी समय में उत्पन्न नहीं होनी चाहिये। तभी ज्ञान की उपलब्धि समझनी होगी। लेकिन इसे भी अपने भीतर बराबर खोजते रहना चाहिये। वरना हर बात में, हर चीज में अकड़ पैदा होने लग जायेगी।

मन बड़ा ही विचित्र है, बड़ा ही कुशल है। वह हर चीज में से अहं भाव निकाल लिया करता है। हर चीज से 'मैं' का सम्बन्ध जोड़ लिया करता है। सज्जनता और विनम्रता तक में से वह अहं भाव निकाल लेता है। एक व्यक्ति कहने लगता है कि मैं बहुत सज्जन हूँ, बहुत विनम्र हूँ मुझसे अधिक कोई सज्जन और विनम्र नहीं है।

चाहे धन हो, चाहे यश,कीर्ति,प्रतिष्ठा हो, चाहे विद्या हो, चाहे पद हो या चाहे ज्ञान अथवा मुक्ति ही क्यों न हो मुझसे अधिक कोई नहीं। यह जो 'मैं' है वह बराबर हर वस्तु के साथ अपने आप निर्मित होता चला जाता है। अपने भीतर बराबर इस बात की जांच करते रहना चाहिए। वरना आध्यात्मिक और सांसारिक खोज बन जायेगी।

आध्यात्मिक और सांसारिक खोज में वस्तुओं या पदार्थों का भेद नहीं है। यदि भेद है तो मात्र केवल अंहकार का। एक किला बना लेता है। दूसरा व्यक्ति

धन–वैभव को त्यागकर उससे अहंकार को मजबूत कर लेता है। दोनों व्यक्तियों की मात्रा सांसारिक है। एक में संग्रह का 'अहं' है तो दूसरे में संग्रह के त्याग का 'अहं' है दोनों में है 'अहं'। आध्यात्मिक यात्रा तो तब शुरू होती है जब अहंकार का, 'मैं' का विसर्जन हो जाता है। यदि इस संसार में कोई वस्तु त्याग करने योग्य है तो वह है 'मैं'। 'मैं' का त्याग ही सर्वोच्च त्याग है।

योग भारती हँसकर आगे कहने लगी– एक सज्जन कल मेरे पास आये थे। कहने लगे– पिछले बीस साल से मैंने अन्न ग्रहण नहीं किया है। केवल नित्य एक पाव दूध का सेवन करता हूँ मैं। उस सज्जन की अकड़ देखने लायक थी। शायद आज भी आते होंगे। आप भी देख लेना। शायद अन्न ग्रहण करने से भी इतनी अकड़ पैदा न होती उनमें, जितनी कि अन्न न लेने से पैदा हो गयी थी। मेरी समझ में नहीं आया कि अन्न का त्याग कर उस महाशय ने किस पर कृपा की है लेकिन अपने इस त्याग का डंका वे हर जगह पीट रहे हैं। उनके लिए यही "अहंकार" बन रहा है, जिसके कारण उनके पैर जमीन पर नहीं पड़ते हैं। क्या अन्तर पैदा किया है उन्होंने? उनके अन्न त्याग से कौन सी बड़ी भारी क्रान्ति हो गयी है? लेकिन इसका कारण है। कारण यह कि वे कुछ विशेष कर रहे हैं, जो दूसरा कोई व्यक्ति नहीं कर रहा है। बस, इसी विशेष ने उनके भीतर अहंकार का किला खड़ा कर दिया है। जहाँ विशेष का ख्याल आया मन में कि अहंकार निर्मित होने लगता है अपने आप। अपने भीतर जहाँ "विशिष्टता" आयी कि अहंकार पैदा हुआ।

तो साधक का अर्थ क्या हुआ? – मैंने प्रश्न किया।

साधक का अर्थ यह हुआ कि वह अपने भीतर से विशेषता पैदा करना बन्द कर दें। अपने आपको इतना सामान्य कर ले कि वह कुछ भी नहीं है। मैं भी कुछ हूँ यह भाव अपने भीतर पैदा न होने दे, न कुछ हो जाय। जिस दिन साधक न कुछ हो जाता है तब ज्ञान की परम अवधि समझना चाहिये।

साधना में उच्च अवस्था की प्राप्ति ज्ञान के संग्रह से नहीं, अहंकार के विसर्जन से होती है। जानकारी के संग्रह से नहीं, "मैं" की मृत्यु से होती है।

इसी प्रकार लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों वह 'उपरति' की अवधि है। उपनिषद के ऋषिगण कहते हैं ऐसा स्थितप्रज्ञ यति सदा आनन्द को प्राप्त करता है। इसका मतलब यह कि लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों।

वृत्तियाँ बहुत बार लय हो जाती हैं और बहुत बार लय होने के बाद भी वापस लौट आती हैं, मन को ही लो, कभी मन शान्त लगता है तो कभी अशान्त। एक दिन

लगता है कि खूब आनन्द और सुख है तो दूसरे दिन फिर दुःख घिर जाता है। मन के अपने कुछ प्राकृतिक नियम हैं। एक नियम तो यही है कि वह सतत एक सा कभी नहीं रहता। परिवर्तन उसका स्वभाव है। जो शान्ति मिले और मिलकर नष्ट हो जाय तो यही समझना चाहिये कि वह शान्ति मन की शान्ति थी आध्यात्मिक शान्ति नहीं थी। जो आनन्द मिले और मिलकर खो जाय तो समझना होगा कि उस आनन्द का सम्बन्ध मन से था, अध्यात्म से नहीं।

जो बनता है और बनकर बिखर जाता है उसका संबंध मन से होता है। अध्यात्म का संबंध मन से नहीं आत्मा से है। जो शान्ति और जो आनन्द प्राप्त होने पर नष्ट नहीं होता। कोशिश करने पर भी नष्ट नहीं होता और उसका अस्तित्व हर अवस्था में बना रहता है तो समझना चाहिये कि वह शान्ति और वह आनन्द आध्यात्मिक है। मानसिक शान्ति और आनन्द में तथा आत्मिक शान्ति और आनन्द में यही अन्तर या भेद है। एक का नष्ट हो जाता है, दूसरे का नष्ट नहीं होता।

मन में प्रयास से भी शान्ति और आनन्द का सातत्य नहीं रह सकता और आत्मा में प्रयास से भी शान्ति और आनन्द का सातत्य नष्ट नहीं किया जा सकता।

योग भारती ने कहा- अगर भीतर वृत्तियों का उठना बन्द भी हो जाय तो शीघ्रता मत करो। यह मत सोच लो कि परम उपलब्धि हो गयी। इस बात की प्रतीक्षा करो कि वे वृत्तियाँ दुबारा तो नहीं उठती। अगर उठती है तो समझना चाहिए कि अभी मन के तल का ही क्रम चल रहा है और मन की शान्ति का क्या मूल्य है? कोई मूल्य नहीं। वह तो आयेगी और चली जायेगी। अशान्ति फिर पहले की तरह छा जायेगी जीवन में।

आपको मालूम होना चाहिएं कि मन प्रतिपल विपरीत की ओर ही भागता है। जब आप अशान्त होते हैं तो आपका मन शान्ति की ओर भागता है और जब शान्त होते हैं तो अशान्ति की ओर उसकी गति होती है। वास्तव में मन की स्थिति और गति द्वन्दात्मक है यानी मन द्वन्द है इसलिए वह हमेशा विपरीत ही रहेगा, विपरीत ही भागता रहेगा।

मैंने पूछा- फिर हम कैसे अनुभव करेंगे कि जो हो रहा है वह मन के तल पर हो रहा है?

इसकी भी एक बुनियादी कसौटी है और वह यह कि अगर मन ही शान्त हो और भीतर अन्तरात्मा के तल पर शान्ति न पहुँचती हो तो इस स्थिति में मन के शान्त होते ही वासना पैदा हो जायेगी।

कैसी वासना?

यही कि यह शान्ति जो है बराबर बनी रहे, समाप्त न हो जाय। अगर यह

वासना पैदा हो तो समझना होगा कि जो शान्ति मिली है वह मन के तल की है क्योंकि समाप्त होने या मिटने का भय मन में ही होता है। शान्ति प्राप्त हो और डर, भय इस बात का न हो कि समाप्त हो जायेगी या मिट जायेगी तो यह समझ न लें कि वह शान्ति मन की नहीं है आत्मा की है।

योग भारती ने आगे बतलाया कि मन की सबसे बड़ी आदत यह है कि वह हर चीज से ऊब जाता है। दुःख से ऊब जाता है तो सुख से भी ऊब जाता है। दोनों से ऊब जाता है यह मन का दूसरा नियम है। मन सभी स्थिर चीजों से ऊबता है। अगर आप दुःख में हैं तो वह दुःख से ऊब जायेगा। वह कहेगा कि सुख चाहिये। अगर आप सुख में है तो वह सुख से भी ऊब जायेगा एक न एक दिन। तब भीतरी दुःख की मांग करने लगेगा। मतलब यह कि मन के तल पर सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति जो कुछ रहेगा वह मन से ऊबेगा और विपरीत की मांग करने लगेगा। मन हमेशा नये की मांग करता रहता है।

मन के बाहर यानी आत्मिक तल पर नये की तो कोई मांग नहीं है। पुराने में किसी प्रकार की ऊब नहीं है। जो है उसमें इतनी लीनता है कि उसके अतिरिक्त किसी और की मांग नहीं है। परमज्ञान अवधि के बाद "उपरति" की अवधि है। उपनिषद के सूत्रकार कहते हैं कि लय को प्राप्त हुई वृत्तियाँ फिर से उत्पन्न न हों तो उसे उपरति की अवधि समझनी चाहिये। उपरति की अवस्था में विश्राम मिलता है। यदि वे बार-बार पैदा हो रही हैं तो समझ लेना कि सब मन का जाल है और कुछ नहीं।

मैंने प्रश्न किया- क्यों? इसे सोच रखने की क्यों आवश्यकता पड़ गयी?

योग भारती ने कहा- क्योंकि मन के साथ हमारा इतना गहरा संबंध है कि हम मन की ही शान्ति को अपनी शान्ति समझ लेते हैं। यही कष्ट का कारण है समझ गये न। क्योंकि वह खो जाती है क्या किया जाय फिर?

यहाँ साक्षी के सूत्र का प्रयोग करना उपयोगी समझता हूँ मैं। तभी मन के बाहर जाने का मार्ग बनता है और परम उपरति उपलब्ध होती है।

करते क्या हैं हम?

मेरा प्रश्न सुनकर योग भारती हँस पड़ी और फिर कहने लगी जब मन अशान्त होता है तो हम उससे हटना चाहते हैं और जब मन शान्त होता है तो हम उससे सम्बन्ध स्थापित करना चाहते हैं। शान्ति को बचाना और अशान्ति को हटाना चाहते हैं। जब मन दुःखी होता है तो हम मन को फेंक देने को तैयार हो जाते हैं और जब मन सुखी होता है तब हम उसका आलिंगन करने लग जाते हैं। अगर ऐसी ही आदत

पड़ी रही तो हम मन से कभी भी मुक्त नहीं हो सकते। क्योंकि मन की व्यवस्था ही यही है कि दुःख से छूटो और सुख को पकड़ो।

मन के बन्धन से छूटने का एकमात्र उपाय यही है कि जब मन सुख दे रहा हो या मन में सुख-शान्ति हो उस समय हम उसमें डूबें नहीं, उसे पकड़े नहीं हम उसके साक्षी बन जाये। मान लो, आप ध्यान कर रहे हैं और उस समय सहसा शान्ति का अनुभव होने लगे तो उस समय उसमें डूबें नहीं। उसका आलिंगन न करें। उसका आनन्द न लें। बस, दूर से खड़े होकर देखते रहें। उसके साक्षी बनें रहे।

सुख को, शान्ति को और आनन्द को पकड़ने के परिणाम स्वरूप ही हम अशान्ति और दुःख तथा क्लेश का बीजारोपण कर लेते हैं अपने आप में। दुःख का जन्म तब होता है जब हम सुख को पकड़ते हैं। अशान्ति का जन्म तब होता है जब हम शान्ति को पकड़ते हैं। क्लेश व पीड़ा का आविर्भाव तब होता है जब हम आनन्द का आलिंगन करते हैं। इस पकड़ का नाम ही "मन" है। कुछ भी न पकड़े। हमेशा खुले-खुले से रहें। देखेंगे कि आप मन के पार चले गये हैं और आत्मा के उस तल पर पहुँच गये हैं और आत्मा की उस स्थिति में प्रवेश कर गये हैं जहाँ से फिर वृत्तियों का जन्म नहीं होता, जहाँ वृत्तियों का परम लय हो जाता है। इसी परम लय का नाम है "उपरति" यानी पूर्ण विश्राम।

ऐसा "स्थितप्रज्ञ" यदि सदा आनन्द को प्राप्त करता है तो योग भारती ने कहा- "उपरति" के बाद भी स्थिति है तो स्थितप्रज्ञ की है। उपनिषद में "स्थितप्रज्ञ" शब्द बड़ा ही मधुर और कोमल है। जिसकी चेतना कहीं न जाकर अपने आपमें स्थित है। जिसकी चेतना किसी भी प्रकार की विषय वासना में नहीं रहती। अपने में ठहर गयी होती है। ऐसा यति "स्थित प्रज्ञ" अवस्था को प्राप्त होता है।

मन के तल पर ही सारे द्वन्द हैं। सुख-दुःख का द्वन्द, शान्ति-अशान्ति का द्वन्द, अच्छे-बुरे का द्वन्द, जन्म-मृत्यु का द्वन्द। इस प्रकार के तमाम द्वन्दों से पीछे मन के हटते ही निर्द्वन्द की स्थिति है। जहाँ निर्द्वन्द की स्थिति है- वहीं आनन्द है सभी के विपरीत शब्द है लेकिन आनन्द के विपरीत कोई शब्द नहीं है इसलिये कि वह सभी प्रकार के द्वन्द के बाहर है, निर्द्वन्द है। जो अति निर्द्वन्द है वह सदैव आनन्द को उपलब्ध है। मनुष्य की इस संबंध में सबसे बड़ी समस्या यह है कि वह भी आनन्द को उपलब्ध होना चाहता है और इस प्रकार की बातें सुनकर उसका लोभ भी जागता है। आनन्द के प्रति कि वह हमेशा मिले। कोई उपाय बता दे, मार्ग बता दे जिससे वह भी सदा आनन्द को पा ले। लेकिन इस बात का ध्यान रखना चाहियें कि जो यह परिभाषा है वह केवल स्थिति का सूचक है। अगर मनुष्य में इससे वासना का जन्म होता है तो वह इस स्थिति को कभी भी नहीं पा सकेगा। इसका फर्क समझ लेना होगा।

योग भारती ने बतलाया कि आज प्रातः मेरे पास एक सज्जन आये थे। बंगाली थे। बहुत सारी साधनायें की हैं उन्होंने, मगर सफलता नहीं मिली। मुझसे कहने लगे- आप ऐसा कोई मार्ग या उपाय बतलायें, जिससे तुरन्त ध्यान लग जाये। तुरन्त आत्ममुक्ति मिल जाय। समाधि भी लग जाय तत्काल।

मैंने कहा- आप जितनी जल्दी करियेगा उतनी ही देर हो जायेगी। क्योंकि जल्दी करने वाला मन शान्त नहीं हो सकता। शीघ्र का मतलब ही है कि चित्त अस्त-व्यस्त है। आप इस बात के लिए तैयार हो जाइए कि अनन्त काल में कभी भी समाधि उपलब्ध हो जायेगी। ध्यान लग जायेगा तो मैं आपकी सहायता के लिये तैयार हूँ।

तो वे महाशय बोले- अगर हम अनंत काल के लिये तैयारी करें तो शीघ्र हो जायेगा न?

यहाँ कठिनाई उत्पन्न होती है कि वे तैयार हैं, इसके लिये भी लेकिन शीघ्र के लिये ही यह भी उपयोग कर रहे हैं। अब उनको कैसे समझाया जाय? वे कहते हैं कि हम प्रतीक्षा करने को भी तैयार हैं लेकिन आप विश्वास दिलाते हैं कि इससे शीघ्र हो जायेगा। तब यह प्रतीक्षा असत्य हो जायेगी और शीघ्र का क्या अर्थ रहा? यदि आप अनंत प्रतीक्षा करेंगे तो शीघ्र परिणाम है। आप शीघ्र को वासना नहीं बना सकते। मैं इस फर्क को समझा नहीं। समझाइए- मैंने कहा।

यदि आप प्रतीक्षा करने को तैयार हैं तो शीघ्रता होगी। मगर वह प्रतीक्षा करने वाले चित्त का परिणाम है। मैंने उनसे कहा कि यदि आप कहते हैं कि इसीलिये हम प्रतीक्षा करेंगे कि शीघ्र हो जाए, तो आप प्रतीक्षा कर ही नहीं रहे हैं और शीघ्र कभी भी न होगा। जल्दी की वासना से प्रतीक्षा कैसे निकल सकती है?

आनन्द में आध्यात्मिक दृष्टि- योग भारती जरा गम्भीर होकर बोली- यही तकलीफ है। आनन्द हम सभी को चाहिए। सभी लोग आनन्द की कामना करते हैं। सभी यही सोचते हैं कि कैसे आनन्द उपलब्ध हो। उपनिषदकार कहते हैं कि यह भावना, यह विचार और यह इच्छा भी वासना है और जबतक वासना की सीमा है, क्षेत्र है, वहाँ तक "आनन्द" नहीं है। आनन्द तो वासना की सीमा के बाहर है। वासना जहाँ है वहाँ द्वन्द है। आनन्द तो द्वन्द के पार है। वास्तव में "आनन्द" परिणाम है। हम या आप उसे वासना न बनायें। वासना की सीमा में न लायें। कामना कोई हो, मोक्ष की हो, मुक्ति की हो, स्वर्ग की हो या आनन्द की हो कामना है।

आनन्द कामना नहीं बन सकता। आप साधना की यात्रा पर मौन साधे चुपचाप चल पड़े आनन्द तो अपने आप घटेगा। इसकी उपलब्धि अपने आप होगी। उसके लिए प्रयास नहीं करना पड़ेगा।

सबसे बड़ी कठिनाई तो यह है कि उपनिषद के इस सूत्र को पढ़कर लोग आनन्द के प्रति वासनाग्रस्त हो जाते हैं। आनन्द को वासना की परिधि में ले आते हैं। सदियों से यही परम्परा चली आ रही है। आनन्द की कामना करना ही वासना है। आनन्द के संबंध में उपनिषद की व्याख्यायें वासना मुक्ति के लिये है। मगर हम लोगों को कैसे मिले आनन्द? कैसे हो जाये स्थितप्रज्ञ, कैसे हो जाये उपरति, कैसे आ जाय वैराग्य? इस प्रकार कामना कर अपने भीतर वासना पैदा कर देते हैं और जब इन महान आध्यात्मिक उपलब्धियों के प्रति मन वासनाग्रस्त हो जाता है तब हम लोग जन्म-जन्मान्तर तक दौड़ते रहते हैं,खोजते रहते हैं, आशा लगाये रहते हैं। मगर किसी भी जन्म में आध्यात्मिक घटना नहीं घटती। आध्यात्मिक प्यास नहीं बुझती। न आनन्द उपलब्ध होता है और न तो उपलब्ध होती है स्थितप्रज्ञ की अवस्था। तब सन्देह होने लगता है कि कहीं अध्यात्म की ये सारी बातें असत्य या काल्पनिक तो नहीं है? क्योंकि कहा तो था कि आनन्द मिलेगा, मगर वह अभी तक नहीं मिला।

क्या यह आध्यात्मिक प्यास अथवा साधना के प्रतिरूचि कई जन्मों की होती है? प्रश्न किया मैंने।

हाँ ! कई जन्मों की होती है। वर्तमान जन्म में ही वह प्यास या वह रूचि पैदा हुई है अथवा उसके प्रति आकर्षण पैदा हुआ है, यह समझना भूल है। आध्यात्मिक रूचि एक ही जन्म की नहीं होती। पिछले सैकड़ों-हजारों जन्मों की होती है।

इस सन्दर्भ में तुम्हे एक बात बतला दूँ मैं- वह यह कि लोग अधार्मिक क्यों हो जाते हैं। साधना-उपासना आदि पर से लोगों की आस्था क्यों कम हो जाती है? इन सबका मूल कारण यही है कि लोग साधना-उपासना और अध्यात्म की कामना करते हैं। कामना का दूसरा रूप वासना है और जब वे वासना की सीमा में आ जाती है तो उनका साकार न होना स्वाभाविक है।

हम सभी लोगों ने अपने भीतर आनन्द की, मोक्ष की, परमात्मा की कई जन्मों की वासना पैदा कर ली है और आनन्द नहीं मिला, मोक्ष नहीं मिला। परमात्मा का भी दर्शन नहीं मिला। मगर जो परिणाम होना था वह हो गया। वह परिणाम यही हुआ कि अब हम सबको लगता है कि यह सब मिलने वाली चीज नहीं है। मिलने वाली यदि होती तो अवश्य मिल गयी होती अब तक। हमारी वासना निष्फल चली गयी अध्यात्म पर से विश्वास उठ गया। हम अधार्मिक हो गये। सारी निष्ठा समाप्त हो गयी।

योग भारती ने आगे बतलाया कि जब मैं लोगों को उनके आन्तरिक तल पर देखती हूँ तो मुझे ऐसा व्यक्ति अब तक न मिला और न दिखलायी दिया जिसने अपने किसी न किसी जन्म में साधना न की हो। योग या तंत्र पथ पर न चला हो। आध्यात्मिक

उपलब्धियों के भगीरथ प्रयास न किए हों लेकिन वासनाग्रस्त होकर समझे न और उसी वासना के कारण बार-बार उनकी साधना निष्फल हो गयी। बार-बार असफलता ही हाथ लगी उनको और बराबर उनकी चेतना में वह असफलता बैठती गयी और अन्त में वह एक प्रबल संस्कार भी बन गयी। हम लोग भी ऐसे ही असफलता का संस्कार लेकर पुनः यहाँ आये हैं और चाहते हैं कि साधना-उपासना में सिद्धि मिले और मिले सफलता। भला बताइए कैसे मिलेगी सफलता? कैसे मिलेगा मोक्ष? कैसे मिलेगा परमात्मा? जानते हैं यही कारण है कि संसार में अधर्म बढ़ता हुआ दिखलायी देता है क्योंकि धर्म अधिकांश लोगों के लिये असफलता हो गया है। हमें याद नहीं है, मगर हम सब लोग धर्म के तल पर असफल हो चुके हैं। हमारे भीतर धर्म की ज्योति प्रज्ज्वलित नहीं है। साधना और सिद्धि की कामना व वासना ने उसे बुझा दिया है। इसका कारण हम सब लोग स्वयं हैं क्योंकि हमने जिसकी वासना नहीं की जा सकती उसकी वासना करके भूल कर ली है। यह परिणाम है और जब भी, जब कभी भी-किसी जन्म में भी हम साधना मार्ग से गुजरेंगे तब ये परिणाम भी घटित होंगे।

हमारा यह संस्कार तभी नष्ट होगा जबकि हम साधना को वासना नहीं बनायेंगे। उपलब्धियों की कामना नहीं करेंगे। किसी बात की चिन्ता नहीं करेंगे, जल्दी नहीं करेंगे। क्योंकि जल्दी से ही सब विपरीत होता है। जैसाकि मैंने बतलाया- संसार में तबतक अधर्म बढ़ता जायेगा जबतक हम धर्म की वासना करते रहेंगे। हम आप कोई नए नहीं है। इस संसार में नया कोई नहीं है। हर वस्तु और हर प्राणी इतना प्राचीन है कि उसका लेखा-जोखा नहीं किया जा सकता। हम सब लोग हर काल में और हर वातावरण में और हर समय रहे हैं और भविष्य में भी रहेंगे संसार में। यही नहीं, हम सब लोग इतने-इतने रास्तों पर चल चुके हैं और इतने-इतने मार्गो पर चल कर इतने सारे अनुभव भी एकत्र कर चुके हैं कि उन सबका भी कोई हिसाब नहीं और उन सभी में असफलता और निराशा ही हाथ लगी है हमें, जो जन्म-जन्म से हमारे प्राणों की गहराई में बैठती चली गयी है। हमारे सामने सबसे बड़ी समस्या तो यही है कि प्राणों की गहराई में बैठी हुई उस हताशा व निराशा को कैसे तोड़ा जाय। अगर कोई तोड़ना चाहे तो एक ही उपाय है और वह यह कि हम सबकी वासना को कोई जोर से जगाये और कहे कि हमसे सारी आध्यात्मिक इच्छापूर्ण हो जायेगी। मगर वही, वासना का जागना ही सारे समस्या का मूल कारण है।

इतना कह कर योग भारती मौन हो गयी और खिड़की के बाहर शून्य में अपलक देखने लगी। थोड़ी देर बाद स्वयं कहने लगी वह जैसाकि मैंने बतलाया- आनन्द उपलब्ध हो सकता है लेकिन आप उसे लक्ष्य न बनाये। किसी बात की कामना

करना, किसी प्राप्य के लिये लक्ष्य बनाना ही वासना है। परम आनन्द, परम शान्ति लक्ष्य नहीं परिणाम है इसे ठीक से समझ लें। इस संसार में जो भी महत्वपूर्ण बातें हैं, महत्वपूर्ण घटनायें हैं वह मौन में घटती है। जो भी गहरा है, गम्भीर है, उसको लक्ष्य नहीं बनाया जा सकता। लक्ष्य बनाने से उसकी प्राप्ति का मार्ग बन्द हो जाता है। आनन्द अनायास घटने वाली घटना है। आकस्मिक रूप से उपलब्ध होता है आनन्द। सचेत होने पर तनाव पैदा होता है और तनाव के बीच महत्वपूर्ण बातें होती।

कैसे उपलब्ध हो जायें स्थितप्रज्ञ को? यह मालूम नहीं है कि खोजने पर या प्रयास करने पर नहीं, बल्कि लीन होकर, डूबकर पाया जाता है उन्हें। बुद्ध को ही लीजिए। पूरे छः साल तक प्रयास करते रहे शान्ति के लिए, आनन्द के लिये, मोक्ष के लिये और सत्य के लिये। मगर कुछ भी नहीं मिला। सारा प्रयास, प्रयत्न और परिश्रम व्यर्थ चला गया। उनका लक्ष्य प्रगाढ़ था। सारे प्रयास कर रहे थे मगर उनकी दृष्टि लक्ष्य पर थी कि कब मिले शान्ति, कब मिले आनन्द, कब मिले मोक्ष और कब दर्शन हो सत्य का? बस यही जो लक्ष्य था उपलब्धि की दिशा में बाधा बन रहा था। अन्त में कुछ थक गये। हताश हो गये। नैराश्य की भावना भर गयी भीतर। छः वर्ष के बाद सब कुछ छोड़ दिया उन्होंने। संसार, समाज, परिवार तो पहले ही छोड़ चुके थे। अन्त में असफल होकर संन्यास को भी छोड़ दिया उन्होंने। भोग तो पहले ही छूट चुका था। छः साल के प्रयास में असफल होने के बाद योग को भी छोड़ दिया। खोज के प्रति चरम सीमा पर श्रम और प्रयास पहुँच चुका था। इसलिये सब कुछ व्यर्थ समझ कर त्याग दिया उन्होंने।

एक रात उन्होंने निश्चित किया कि अब कुछ भी नहीं करना है। करने से कुछ भी मिलने वाला नहीं। उस रात वृक्ष के नीचे चुपचाप सो गये। न जाने कितने जन्मों के बाद वह रात मिली थी कि जब बुद्ध ऐसे सोये कि सवेरे कुछ करने के लिये शेष नहीं रह गया था। करने के लिये कुछ शेष था ही नहीं उनके लिये। संसार की सारी योजना छोड़ चुके थे। दूसरी जो योजना बनायी थी, पकड़ी थी वह भी व्यर्थ सिद्ध हो गयी थी। हाथ में कोई काम नहीं था। कोई संकल्प या लक्ष्य नहीं था। कोई भावना या विचार भी नहीं रह गया था। कल सवेरे उठे तो भी ठीक, न उठे तो भी ठीक। कोई अन्तर नहीं रह गया था। कल कुछ करने को बचा नहीं था। कल का कोई मूल्य ही नहीं रह गया था।

जानते हैं- जब कोई इस प्रकार रात को सो जाता है, बुद्ध की तरह तो स्वयं अपने आप समाधि घट जाती है जीवन में। उसके लिये 'सुषुप्ति' ही समाधि बन जाती है क्योंकि सवेरे के लिये कोई वासना नहीं रह गयी थी, कोई लक्ष्य नहीं रह गया था।

कुछ पाने या करने के लिये नहीं रह गया था, सवेरा होगा तो क्या करेंगे? यह भी प्रश्न नहीं रह गया था। अब तक करना था, करना था, करना था। अब करना ब्रिल्कुल नहीं था। बुद्ध ऐसे ही सोये थे पहली बार उस रात में। सवेरे के लिये शून्य था उत्तर। जब भविष्य नहीं होता, जब लक्ष्य नहीं होता, समय नहीं होता। योजनायें टूट जाती हैं जब। मन की सारी यात्रा बन्द हो जाती है जब क्योंकि मन की यात्रा के लिये योजना चाहिये, लक्ष्य चाहिये, कुछ पाने के लिये बिन्दु चाहिये, भविष्य चाहिये, समय चाहिये वह सब कुछ नष्ट हो गया, तब अपने आप समाधि घटित होती है।

बुद्ध ऐसे सो गए उस रात जैसे जीते-जी मर गये हों वह। जब सवेरे आँख खुली तो जानते हैं उन्होंने क्या कहा- मैंने आँखें नहीं खोली। क्या करेंगे आँखे खोलकर? मेरे लिये न कुछ देखने को बचा है और न तो सुनने को ही रह गया है अब कुछ। कुछ पाने के लिये भी नहीं है मेरे लिये अब। बुद्ध ने स्वयं आँखें नहीं खोली। अपने-आप खुल गयी। रात भर बन्द रहने के कारण थक गयी थीं वह। नींद पूरी हो गयी थी। विश्राम पूरा हो गया था इसीलिये पलक अपने आप खुल गयी। जब कोई भविष्य नहीं रह जाता तो भीतर का अन्तराल शून्य से एकबारगी भर जाता है। बुद्ध का भी अन्तराल भर गया था शून्य से और उस परमशून्य की अवस्था में उन्होंने उस रात के अन्तिम नक्षत्र को डूबते हुए देखा। आप जानते हैं उस अन्तिम डूबे हुए नक्षत्र को ही देखकर बुद्ध परमज्ञान को अपने आप उपलब्ध हो गए। उस डूबते हुए नक्षत्र के साथ-साथ उनका सारा अतीत डूब गया, सारी यात्रा डूब गयी और सारी खोज भी डूब गयी। बुद्ध निष्प्रयोजन डूबते हुए नक्षत्र को देखते रहे।

जीवन मुक्त अवस्था- योग की क्रमिक साधना के अन्तर्गत महत्वपूर्ण आठ अवस्थाएं है- जिनमें एक है जीवनमुक्त अवस्था। इस सम्बन्ध में उपनिषद का कहना है कि जब भीतर का आकाश और भीतर का शून्य बाहर के आकाश और शून्य में मिलकर एकाकार हो जाता है तब सब कुछ निष्क्रिय और निर्विकार हो जाता है। बिना विचार के किसी भी प्रकार के विकार का जन्म हो ही नहीं सकता। वास्तव में विचार ही विकार है। यह ध्यान रखना होगा कि विचार उठता ही इसलिए है कि कुछ करना है। प्रायः लोग कहते हैं कि विचारों से मुक्ति नहीं होगी। होगी ही नहीं। आपको कुछ करना होगा। यदि कुछ करना है तो विचारों से छुटकारा कैसे होगा? वह कुछ करना ही उसकी योजना विचार है। यदि आपको विचारों से छुटकारा पाना है तो भी छुटकारा न होगा। क्योंकि उसकी योजना में विचार लगा रहेगा। निर्विकार होने के लिये लोग प्रयास अवश्य करते हैं। वास्तव में निर्विकार होने की योजना विचार के लिये अवसर है। तो मन बराबर यही सोचता है कि कैसे निर्विकार हो जाय?... अभी तक निर्विकार

नहीं हुए।... कब होंगे?... होंगे कि नहीं होंगे?

इस बात का ध्यान रखिए कि वासना कैसी भी हो, कोई भी हो, वासना, वासना ही है, चाहे वह स्वर्ग की हो या मोक्ष की। चाहे वह ईश्वर प्राप्ति के लिए हो, चाहे निर्वाण के लिये हो। विचार तो बराबर चलता रहेगा। विचार का कोई दोष नहीं। विचार का तो केवल इतना ही मतलब होता है कि आप अपने भीतर जो वासना पैदा करते हैं- वह कैसे और किस प्रकार पूरा हो-मन इसका बराबर चिन्तन किया करता है। जबतक कुछ प्राप्त करना शेष है तबतक विचारधारा चलती रहेगी। लेकिन जिस दिन अथवा जिस क्षण इस बात के लिये अपने आपको तैयार कर लेंगे कि मुझे कुछ भी पाना नहीं है निर्विकार को भी नहीं पाना है तो उस अवस्था में आप पायेंगे कि सारे विचार विदा हो गये। उनकी कोई आवश्यकता ही नहीं रह गयी अब। भीतर सब कुछ शून्य हो जाता है कोई योजना नहीं रहती, कोई इच्छा नहीं रहती, कुछ पाने को नहीं होता, कहीं जाने को नहीं रहता, सब कुछ व्यर्थ लगने लगता है और चेतना एक स्थान पर स्थिर हो जाती है तो वह निर्विकार और निष्क्रिय अवस्था है। चित्त एक स्वच्छ दर्पण के समान हो जाता है। उस पर किसी भी वृत्ति का प्रतिबिम्ब नहीं रहता लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं कि ऐसा व्यक्ति शव की तरह पड़ा रहता है। क्रियायें तो बराबर होती रहती हैं लेकिन उन क्रियाओं की कोई योजना नहीं होती। उनकी योजना पहले से नहीं बनी रहती।

जैसे आप समझ ले कि मुझे उपनिषद पर कोई पुस्तक लिखनी है। यदि मैं इसको पहले से ही योजना करूँ और सोचूँ-विचारूँ कि मुझे क्या लिखना और क्या नहीं लिखना है- तो चित्त में विचार चलेगा और विचार चलेगा तो विकार का जन्म होना स्वाभाविक है। चित्त में क्रिया भी चलेगी। यदि उपनिषद के श्लोकों अथवा सूत्रों को देख लूँ और देखते ही बिना किसी पूर्व योजना या संकल्प के उन पर बोलने या लिखने लगूँ, जो भी मेरी वाणी से निकल जाए, कलम से निकल जाए उसके लिये बराबर तैयार रहूँ तो वह क्रिया, क्रिया न होगी।

यदि बोलने या लिखने के बाद मेरे मन में यह विचार उत्पन्न हो अथवा यह सोचने लग जाऊँ कि यह न बोलकर वह बोल देता, यह न लिख कर वह लिख देता, अच्छा होता कि वह छोड़ देता, उस विषय को इस तरह लिख देता तो यह 'विकार' कहा जायेगा। यदि बोलकर एकबारगी मौन साध लूँ, चुप हो जाऊँ, लिखने के बाद बिल्कुल स्थिर हो जाऊँ। चित्त में बोलने और लिखने के विषय में कुछ न रह जाए। उनका कोई संस्कार न रह जाए। कोई भाव भी न रह जाए। तो ऐसी स्थिति को निर्विकार कहना होगा। विकार और निर्विकार में बस यही अन्तर है। फ़िर से इस तथ्य

को समझ लेना चाहिये। व्याख्यान देना, अजणा लिखना क्रिया नहीं। क्रिया है उसकी योजना में और संकल्प करता है पहले से। चित्त लौट कर विचार करता है निर्णय करता है तो वह विकार समझा जायेगा। यदि क्रिया घटित होती है न पूर्व आयोजित, नियोजित होती है और न तो पश्चात चिन्तन होता है तो निष्क्रिय से जन्म लेती है क्रिया। क्रिया सदैव होती रहेगी। बुद्ध, बुद्ध हो गये। कृष्ण, कृष्ण हो गये। लेकिन दोनों महापुरुषों के जीवन में क्रिया जारी रही लेकिन उस क्रिया में अन्तर पड़ गया था। अन्तर यह था कि वह निष्क्रियता से उत्पन्न क्रिया थी। इस अर्थ से देखा जाए तो गीता अति मूल्यवान है इसलिये कि गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने जो भी कुछ कहा है वह बिल्कुल सहज और सरल ढंग से कहा है। युद्ध के मैदान में लोग लड़ने की तैयारी करके जाते हैं। कोई व्याख्यान, उपदेश या भाषण देने नहीं जाते।

भगवान श्रीकृष्ण ने कभी सोचा भी न रहा होगा और कभी कल्पना भी न की होगी कि महाभारत के युद्ध में उन्हें उपदेश देना होगा, व्याख्यान देना होगा। कोई पूर्व योजना नहीं थी। कोई पूर्व कल्पना भी नहीं थी इसकी। एकाएक, अचानक और अनायास एक घटना घटी जिसके फलस्वरूप अकस्मात् श्रीकृष्ण के मुख से गीता की निर्झरणी फूट पड़ी। वह भाषण नहीं था। वह व्याख्यान या उपदेश भी नहीं था। वह सब था अबोल से निकला हुआ बोल। वह क्रिया नहीं थी। यही मूल कारण है कि गीता का इतना बड़ा मूल्य है। उसका मूल्य 'आकस्मिक' में निहित है। संसार में बहुत सारे शास्त्र हैं लेकिन आकस्मिक परिस्थितियों का दर्शन किसी भी शास्त्र में नहीं होता। गीता की तरह आकस्मिक परिस्थिति ने किसी भी शास्त्र को जन्म नहीं दिया है।

सामने युद्ध का मैदान है। युद्ध के लिए शंख की ध्वनि हो चुकी है। मरने-मारने के लिए लोग तैयार हो चुके हैं और ऐसी अवस्था में वहाँ ब्रह्मज्ञान की चर्चा। इसकी कहीं कोई संगति नहीं बैठती। बैठ ही नहीं सकती। हाँ, संगति तभी समझ में आती जबकि गीता का उपदेश आश्रम में दिया गया होता। निष्क्रिय अवस्था से, बिना पूर्व योजना के आविर्भूत होने के कारण गीता इतनी सरल और सहज हो गयी कि वह धीरे-धीरे भारतीय जनमानस में गहरायी तक उतर गयी इसीलिए उसे भगवद् गीता कहा जाता है यानी भगवान का गीत। गीता में किसी व्यक्ति की योजना नहीं है। गीता में कृष्ण ने व्यक्ति जैसा भी व्यवहार नहीं किया है। वह तो गहरी भगवत्ता से निकला हुआ सन्देश है। जब जिस व्यक्ति की सारी क्रियायें भीतर की निष्क्रियता से जन्म लेती हैं और उसके विचारों का आविर्भाव भी निर्विचार से होता है। उसके शब्द भी मौन से आविर्भूत होते हैं तब वह बिल्कुल जीवनमुक्त कहलाता है।

उपनिषद के अनुसार दो प्रकार की मुक्ति की धारणा है। एक तो मुक्त वह है जिसे जीवनमुक्त कहते हैं यानी जो जीवनकाल में ही मुक्त हो गया है। दूसरा है वह

मुक्त जो मृत्यु के साथ मुक्त होता है।

जैसे एक व्यक्ति है। वह बुद्ध की तरह जीवन भर मुक्ति की खोज करता रहा है। अन्त में थक जाता है और उसे इस बात का अनुभव होता है कि सारा परिश्रम व्यर्थ गया, सारी खोज व्यर्थ गयी, सारा समय व्यर्थ नष्ट हो गया, कुछ पाया नहीं, कुछ मिला नहीं और तभी मृत्यु आ जाती है और अब तक शेष बची थी खोज-वृत्ति, वह भी शिथिल पड़ जाती है। तभी एक घटना घटित होती है जैसे बुद्ध के साथ घटी थी बोधिवृक्ष के नीचे।

यदि आपको इस बात का पूर्ण विश्वास और पूर्ण भरोसा हो चुका है कि सारा प्रयास, सारा प्रयत्न और सारी खोज बेकार चली गयी, कहीं कुछ नहीं मिला, कहीं कुछ पाया नहीं। न संसार में कुछ मिला और न साधना में ही कुछ मिला। यदि यह धारणा बिल्कुल साफ हो गयी है, मन में कोई मन नहीं रह गया है आगे के लिए अथवा भविष्य के लिए अगले जन्म में कुछ पाने के लिए चाहिए। कुछ पाने के लिए जीवन चाहिए। यह भी भाव न रह जाए कि अभी न मरूँ या कुछ दिन और रह जाऊँ तो और कुछ प्रयास कर लूँ। बस, मृत्यु उपस्थित हो और आप मरने के लिए तुरन्त तैयार हो जाए। अगर सब व्यर्थ हो गया तो मनुष्य मृत्यु के लिए तैयार हो जाता है। जैसे भगवान तथागत उस रात सो गये। सोते समय उनके मन में यह प्रश्न ही नहीं रहा कि प्रातःकाल क्या करेंगे? ऐसे ही कोई व्यक्ति मरने के समय मर जाए बिना यह सोचे कि अब मर गये कुछ काम अधूरे रह गए जो पूरे करने थे वह पूरे नहीं हुए दो-चार दिन और जीवित रह लेता तो कुछ पूरा कर लेता। ऐसा कोई भाव न हो, ऐसा कोई विचार न हो, मृत्यु सरल और सहज ढंग से घटित हो जाए उसी प्रकार जैसे रात होने पर व्यक्ति सो जाता है तो मृत्यु मुक्ति बन जाती है। ऐसे व्यक्ति को मुक्त कहा जाता है। लेकिन यह घटना जीवन काल में भी घट सकती है और व्यक्ति मुक्ति के बाद भी जीवित रह जाता है। बचे रहना अलग कारणों पर निर्भर है।

जब आप जन्म लेते हैं तो आपका शरीर जीवन काल लेकर जन्म लेता है। यदि आपको सत्तर या अस्सी साल का जीवन मिला है और यदि तीस साल की आयु में ही उपर्युक्त घटना घट गयी तो वे शेष चालीस साल के जीवन को शरीर पूरा करेगा और पूर्व निश्चित समय प्राणान्त होगा। आपकी आत्मा तो तीस साल की अवस्था में ही मुक्त हो गयी। आप तो मर गये तीस साल की आयु में ही मगर आपका जो शरीर है वह मरेगा पूरे अस्सी साल में। आपका अस्तित्व समाप्त हो गया संसार में लेकिन आपका शरीर चलेगा चालीस साल और उसी प्रकार जैसे आपके हाथ में घड़ी बंधी है और आप मर गये और आपके हाथ में बंधी वह घड़ी बराबर चलती रही। घड़ी में जितने दिनों की चाभी थी उतने दिनों वह चलेगी। आपके मरने के साथ वह बन्द

नहीं होगी। वह बराबर चलती रहेगी। बराबर टिक-टिक करती रहेगी।

आपका शरीर भी तो एक यंत्र है। यदि आप परम ज्ञान को प्राप्त हो गये, यदि आप मुक्त हो गये, तो फिर भी आपका शरीर घड़ी की तरह बराबर टिक-टिक करता रहेगा शेष चालीस साल तक। ऐसी अवस्था को 'जीवनमुक्त अवस्था' कहते हैं।

जीवनमुक्त अवस्था में शरीर रहता है मगर शरीर के भीतर की चेतना शरीर के भीतर रहती हुई भी शरीर से पृथक रहती है।

ब्रह्म और आत्मा में शोधा हुआ और दोनों के एकत्व में लीन हुई वृत्ति विकल्प रहित और मात्र चैतन्य रूप बनती है तब प्रज्ञा कहलाती है।

जब बुद्धि कुछ भी नहीं सोचती-विचारती, कहने का तात्पर्य यह कि जब वह असोच की अवस्था को प्राप्त हो जाती है, सारे विचार नष्ट हो जाते हैं। केवल विचारणा की शक्ति भीतर शेष रह जाती है और जब बुद्धि किसी भी प्रकार के विजय के साथ संबंध स्थापित नहीं करती, बिल्कुल शुद्ध उसी प्रकार जैसे किसी निर्जन स्थान में कोई दीपक जल रहा हो और उस दीपक से कोई भी वस्तु प्रकाशित न होती हो बस, शून्य में अकेला वह दीपक जल रहा हो जब वैसे ही चेतना हो जाती है तो उसके लिए उपनिषद के ऋषियों ने जिस शब्द का निर्माण किया है वह है प्रज्ञा। असोच अवस्था को प्राप्त बुद्धि का नाम है प्रज्ञा। तब समझना चाहिए कि आप परम ज्ञान को उपलब्ध हो गये और आपके भीतर परम ज्ञान की ज्योति प्रज्जवलित हो गयी है और जिस व्यक्ति में प्रज्ञा की ऐसी ज्योति सदैव जलती रहती है वह जीवनमुक्त है। देह तथा इन्द्रियों पर जिसका अहंभाव नहीं है और इनके अतिरिक्त अन्य पदार्थ पर 'यह मेरा है' ऐसा भाव भी नहीं है वह जीवनमुक्त है।

जब सभी भाव नष्ट हो जाते हैं। 'मैं' और 'मेरा' यह भाव भी नष्ट हो जाता है, चित्त सभी प्रकार के अहंकार से रहित हो जाता है तब प्रज्ञा का उदय होता है और ज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसी अवस्था में उसे कुछ 'मेरा कुछ' 'मैं' से जुड़ा हुआ ज्ञात नहीं होता। यहाँ तक कि इस प्रकार चैतन्य यह भी नहीं कहता है कि 'मैं आत्मा हूँ'। 'मैं' की कहीं भी वृत्ति नहीं जोड़ता। केवल 'होना' ही शेष रह जाता है।

हम कहते हैं 'मैं हूँ' लेकिन जीवनमुक्त व्यक्ति कहता है-'हूँ'। 'मैं' नष्ट हो जाता है। 'मैं' का भाव गिर जाता है। समाप्त हो जाता है बस, रह जाता है 'होना'। शुद्ध 'होना' केवल 'होना' की ही स्थिति रह जाती है।

इस 'हूँ' पन को, जीवनमुक्त अवस्था कहा गया है। 'मैं' तो मिट जाए और 'होना' रह जाए तो व्यक्ति जीवनकाल में ही मोक्ष को उपलब्ध हो जाता है।

प्रश्न यह है कि जीवनमुक्त है कौन?

वास्तव में जीवनमुक्त वह व्यक्ति है जिसने जीवित अवस्था में ही मृत्यु को जान लिया है। मृत्यु को तो सभी लोग जानते हैं लेकिन मरते समय ही जानते हैं किन्तु उसे भी 'जानना' नहीं कहा जा सकता क्योंकि ठीक मरते समय, ठीक शरीर छूटते समय और शरीर से प्राणों को निकलते समय व्यक्ति का चित्त बेहोश हो जाता है, जिसे आत्मा की मूर्च्छा भी कह सकते हैं।

इसीलिये हम कभी भी अपनी मृत्यु को न जानते हैं और न तो उसका अनुभव ही हम करते हैं हम सदा दूसरे की मृत्यु को जानते हैं सदा किसी दूसरे को मरते हुए देखते हैं आपने किसी दूसरे को मरते हुए देखा है? अपने को मरते हुए कभी नहीं। जैसे इस संसार में सभी प्रकार का ज्ञान उधार है उसी प्रकार मृत्यु का ज्ञान भी उधार ही है और जब हम किसी को मरते हुए देखते हैं तो हम क्या जानते हैं हम इतना ही जानते हैं कि वाणी खो गयी। सांस बन्द हो गयी। नाड़ी की गति बन्द हो गयी। हृदय की धड़कन बन्द हो गयी। शरीर के तंत्र ने अब काम करना बन्द कर दिया। बस, इतना ही जानते हैं। भीतर, शरीर के भीतर जो तंत्र छिपा था उस पर क्या बीती, क्या हुआ मरने वाले व्यक्ति की आन्तरिक स्थिति क्या थी, कैसी थी वह बचा या नहीं बचा, वह था भी वहाँ या कभी नहीं था इन सबके सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते, समझते।

मृत्यु की घटना भीतर घटती है। हम केवल उसके बाहरी परिलक्षण को ही देख पाते हैं दूसरे को मरते देखकर भला कैसे मृत्यु का पता चलेगा? मरे हम भी बहुत बार हैं। लेकिन अपने को मरते हुए कभी नहीं देख पाये। मरने के पहले हम हर बार बेहोश हो गये हैं। हमारा चित्त मूर्च्छित हो गया है इसलिए आप कितने ही लोगों को मरते हुए देखें लेकिन आपको इस बात का भरोसा नहीं आता कि आप भी एक न एक दिन मरेंगे। क्या आपको कभी यह भरोसा आया है कि मैं भी मरूँगा?

कितने ही लोग रोज मरें। मरघट पर जायें। कितनी ही जलती हुई चिताओं को देखें। युद्ध-भूमि में चारों ओर शव ही शव दिखलाई पड़े। फिर भी हमेशा ऐसा लगता है दूसरे ही मरेंगे। दूसरे ही मरते रहेंगे। ऐसा कभी भी भीतर से भाव नहीं आता कि मैं भी मरूँगा। आता भी है तो ऊपर ही ऊपर होता है। गहरे में प्रवेश नहीं कर पाता।

क्यों, क्योंकि मृत्यु तो कभी देखी नहीं। उसका कोई अनुभव नहीं है। उसकी कोई स्मृति नहीं है। कितना ही सोचे, पीछे लौट कर अतीत में झांक कर पता ही नहीं चलता कि कभी मरे हों। तो जो कभी नहीं हुआ वह आगे भी कैसे होगा?

वास्तविकता तो यह है कि मन का जितना सोच विचार है वह सब अतीत पर ही निर्भर है। मन यदि भविष्य के सम्बन्ध में भी सोचता-विचारता है तो अतीत के

शब्दों, अतीत के अनुभवों और अतीत के ही आधार पर सोचता-विचारता है। कल जो हुआ है व्रह आने वाले कल में हो सकता है। जो भूतकाल में हुआ है वह भविष्यकाल में भी हो सकता है। थोड़ा बहुत अन्तर हो सकता है लेकिन जो कभी नहीं हुआ है वह कल भी कैसे होगा? इसलिए हमारा मन कभी मृत्यु को स्वीकार कर नहीं पाता और जब अपनी मृत्यु होती है, तब मन बेहोश हो गया होता है। मानव जीवन में सबसे बड़ी दो घटनायें है और उन दोनों घटनाओं के अनुभव भी जीवन में सबसे बड़े हैं, वे दोनों घटनायें हैं एक जन्म की घटना और दूसरी घटना है मृत्यु की। ये दोनों घटनायें अनजाने में यानी बेहोशी की अवस्था में घटती हैं इसलिए उन दोनों घटनाओं से गुजरते समय के जो अनुभव हैं वे नहीं होते। जन्म और मृत्यु का न स्वयं का ज्ञान होता है और न तो होता है अनुभव ही। उन दोनों घटनाओं के बीच जो तीसरी घटना है वह है जीवन।

यह जो तीसरी घटना है वह भी एक प्रकार की मूर्च्छा में ही गुजर जाती है। एक प्रकार की बेहोशी में ही समाप्त हो जाती है। उसका भी हमें जैसा होना चाहिये अनुभव हो नहीं पाता वैसा। कैसे भला होगा? जब हम जीवन के शुरूआत को, प्रारम्भ को नहीं जान पाते और जीवन के अन्त को नहीं जान पातें, तो मध्य को हम कैसे जान-समझ पायेंगे? कैसे उसका अनुभव कर पायेंगे हम?

जन्म और मृत्यु के बीच की जो धारा है जो प्रवाह है वही है जीवन। न शुरू का हमें कोई पता है और न तो है अन्त का पता हमें। तो बीच भी हमारे लिए अपरिचित ही रह जायेगा। जीवन से हमारा सीधा संस्पर्श नहीं हो पाता। यही कारण है कि जीवन धुंधला-धुंधला सा लगता है। गुजरा हुआ जीवन सपना सा लगता है। अतीत की घटनायें और अतीत की तमाम स्मृतियाँ ऐसी लगती हैं मानों दूर-दूर बहुत दूर सुनी गयी कोई बात है। कोई देखा गया लम्बा सपना हो। जीवन की धारा की गति इतनी तीव्र है कि समझ में नहीं आता कि कब बचपन बीता, कब जवानी आयी, कब वृद्धावस्था आ गयी और कब आ गयी मृत्यु? जीवनमुक्त का अर्थ है कि जिसने जीवन में ही जागकर होशपूर्वक मृत्यु को जान लिया है। मृत्यु का ज्ञान सर्वोपरि ज्ञान है। इसे यदि हम परमज्ञान कहें तो साधुतर होगा। क्योंकि इस ज्ञान के उपलब्ध होने पर ही जीवन से मुक्त हुआ जा सकता है। होशपूर्वक मृत्यु का ज्ञान यह अपने आप में बड़ा ही गम्भीर और अद्भुत शब्द है।

उपनिषद में जीवनमुक्त के मुख्य रूप से दो अर्थ हैं-पहला अर्थ है जो जीवन में ही मुक्त हो गया। जो जीवन से मुक्त हो गया यह दूसरा अर्थ है। यह जो दूसरा अर्थ है वह पहले से ज्यादा गम्भीर है। वास्तव में पहला अर्थ दूसरे अर्थ के बाद ही

उपयोगी है। जो जीवन से मुक्त हो गया वही जीवन में मुक्त हो सकता है।

प्रश्न यह है कि जीवन से कौन मुक्त होगा?

जिस व्यक्ति ने यह भली-भाँति जान लिया है कि समस्त जीवन मृत्यु है वही जीवन से मुक्त हो सकता है। जिसको यह साफ दिखलायी पड़ा हो कि जिसे हम जीवन कह रहे हैं वह मृत्यु की ही लम्बी यात्रा है।

जन्म के बाद मरने के सिवाय और हम कुछ करते नहीं। कुछ भी करते रहें मरने की क्रिया बराबर जारी ही रहेगी। हर पल और हर क्षण जारी रहती है जीवन में मृत्यु की क्रिया। प्रातः से सायंकाल हो गया आप मर गये बारह घण्टे और सायंकाल से सवेरा हो गया आप मर गये, बारह घण्टे और चुकता जाता है। बूंद-बूंद करके समय रिक्त होता जाता है। जिसे जीवन कहा जाता है जिसे आप और हम जीवन समझते हैं वह वास्तव में मरने की ही एक लम्बी प्रक्रिया है। जन्म के बाद कोई कुछ भी करें, लेकिन सभी एक काम अवश्य करते हैं और वह है मरने का काम, जन्म लिया नहीं कि मरने का काम शुरू हो जाता है। शिशु ने जन्म लेते समय जो पहली सांस ली उसी के साथ अन्तिम सांस की भी व्यवस्था हो गयी। अब मृत्यु से बचने का कोई उपाय नहीं। जिसने जन्म लिया वह एक न एक दिन मरेगा अवश्य।

जो व्यक्ति जीवन को लम्बी प्रक्रिया की भाँति देख लेता है समझता नहीं है क्योंकि समझते तो हम सभी लोग हैं लेकिन केवल समझने मात्र से जीवनमुक्त अवस्था की प्राप्ति नहीं हो सकती। जो देख लेता है और उसका एकमात्र साक्षी हो जाता है और उसे इस बात का दर्शन हो जाता है कि प्रतिपल मर रहा हूँ मैं।

मृत्यु शैय्या पर पड़ा हुआ मरणासन्न व्यक्ति भी यह नहीं सोचता कि आज इसी समय मृत्यु घटित होने वाली है। वह भी कल पर टालता रहता है मृत्यु को। स्थगित करता रहता है मृत्यु के क्षण को। उसकी बराबर यही धारणा रहती है कि अभी वह नहीं मरेगा। अभी उसकी मृत्यु नहीं होगी। होगी मगर अभी नहीं होगी। उसके लिये जीवन है अभी और मृत्यु होती है कभी। लेकिन जिसे यह दिखाई पड़ जाता है स्पष्ट रूप से कि पूरा जीवन ही मृत्यु है उसे यह भी दिखाई दे जाता है कि मृत्यु कल नहीं भविष्य में नहीं अभी है इसी क्षण है। मैं इसी क्षण मर रहा हूँ।

यह जो मेरे मरने की घटना घट रही है इसी क्षण उसकी प्रतीति कैसे हो, कैसे देख पाये घटना को?

तो व्यक्ति फिर वासना के सागर में नहीं डूबता। वासना उसमें उत्पन्न नहीं होती। जिसमें जीवेषणा नहीं है। वह जीवनमुक्त है। जो जीवन की मांग नहीं करता जो जीवन की चाह नहीं रखता वह जीवनमुक्त है। जो जीवन को मृत्यु समझ कर जीवित

रहता है जो हर क्षण मृत्यु का अनुभव करता है वह जीवनमुक्त है। जीवन और मिले इसकी जिसमें चाह नहीं रहती जो और जीना नहीं चाहता, जिसकी अब जीने की लालसा अथवा कामना नहीं रह गयी है वह जीवनमुक्त है। मृत्यु आ जाय तो सहज रूप से जो उसको स्वीकार कर लेता है ना नहीं करता है मृत्यु से यह नहीं कहता कि अभी जरा रूको थोड़ा और काम कर लूँ जो मृत्यु को स्वीकार करने के लिए हर पल तैयार रहता है वह जीवनमुक्त है। भगवान बुद्ध भी यही बात कहते हैं कि जिसकी जीवन के प्रति कामना, लालसा, इच्छा यानी जीवेषणा समाप्त हो गयी है वह जीवनमुक्त है, जीवन से मुक्त है। कहने का तात्पर्य यह कि उसके जीने की कला और जीने का केन्द्र बदल जायेगा। वह साधारण अथवा संसारी व्यक्ति की ही तरह सारा व्यवहार, सारा कार्य और सारा व्यापार करते हुए भी साधारण व संसारी व्यक्ति की तरह कुछ भी नहीं करता है। उसके भीतर गहरा परिवर्तन हो जाता है संसार के प्रति। यह संसार हमको और आपको जैसा दिखलाई पड़ता है वैसा ही रहता है लेकिन जीवनमुक्त को संसार और भाँति और तरह से दिखलाई पड़ता है। इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। संसार के प्रति जीवनमुक्त की दृष्टि, विचार, भाव, भावना आदि सब बदल जाता है। सारा जगत रूपान्तरित हो जाता है उसके लिये।

लगभग बीस-बाईस वर्ष पूर्व ऐसे ही एक जीवनमुक्त अवस्था प्राप्त एक महापुरुष काशी में रहते थे। नाम था मुतुस्वामी। तैलंग ब्राह्मण थे वह। देखने में कोई यह नहीं कह सकता था कि वे एक उच्चकोटि के साधक हैं। वे हमेशा मौन और साधारण वेशभूषा में रहते थे। शास्त्रोक्त बातों का जब कोई प्रसंग उठता था उनके सामने तभी उनका मौन भंग होता था। योग भारती ने ही मेरा परिचय कराया था मुतुस्वामी से। जब मैं पहली बार उनसे मिला उस समय वे केदारघाट की सीढ़ियों पर बैठे अपलक शून्य में देख रहे थे। उनके मुख पर विलक्षण शान्ति व्याप्त थी।

स्वामीजी ने बतलाया कि जीवनमुक्त अवस्था को प्राप्त करने के लिए परम वैराग्य की उपलब्धि होती है असीम दुःख के अनुभव से गुजरने पर। असीम दुःख और असीम कष्ट का अनुभव जिस वैराग्य को जन्म देता है वही जीवनमुक्त अवस्था का मूल उद्गम है। हमारी तमाम वासनाओं की जड़ें गहरे अचेतन में हैं। जबकि सभी प्रकार की वासनाओं से मुक्ति होने पर ही वैराग्य संभव है। केवल बौद्धिक तल पर घटित वैराग्य अस्थायी है उसका कोई मूल्य नहीं। अचेतन की गहराई से वासनाओं की समस्त जड़ों को साफ करने पर ही परम वैराग्य उपलब्ध होता है और उसके फलस्वरूप जीवनमुक्त अवस्था घटित होती है।

वैराग्य का जागरण गहरी अचेतन जड़ों तक कैसे हो सकता है मैंने सहज भाव

से प्रश्न किया स्वामीजी से। अनुभव के अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है स्वामीजी पूर्ववत् शून्य में देखते हुए कहने लगे- भले ही अनुभव कितनी पीड़ा दे, कष्ट दे, यातना दे और दे दुःख, कष्ट। बिना अनुभव से गुजरे संभव नहीं। अचेतन की गहराई तक पहुँची हुई वासनाओं की जड़ों को नष्ट करने के लिए दुःख, कष्ट, पीड़ा इत्यादि के तमाम अनुभवों से गुजरना आवश्यक है। गुजरना ही चाहिए लेकिन हमारा विचार और हमारी आकांक्षाएँ ही ऐसी हैं जैसे सोना यह सोचे कि बिना आग में तपे, बिना आग में झुलसे, गले शुद्ध हो जाए, स्वच्छ हो जाए और हो जाए निर्मल। इसके लिए तो सोने को आग की लपटों और उन लपटों के दाहकत्व से गुजरना ही पड़ेगा। तभी होगा वह स्वच्छ और निर्मल। इसी प्रकार आत्मा पर पड़े वासना के मैल को साफ करने के लिये अनुभव की आग में तपना ही पड़ेगा। अनुभव से गुजरना ही पड़ेगा। इस मामले में किसी दूसरे के अनुभव आपको काम में नहीं आयेंगे, यह ध्यान रखें। अनुभव किसी का, लाभ उससे उठाये और कोई इस मार्ग में संभव नहीं। आपका अनुभव ही आपकी सहायता करेगा।

भगवान बुद्ध कहते हैं कि संसार दुःख है, दुःख के सिवाय और कुछ नहीं है। यह बुद्ध का अनुभव है, आपका या मेरा नहीं है। आप इसे पढ़ लें, समझ लें और सुन भी लें इससे कुछ लाभ नहीं। उल्टे आप पाखण्डी अवश्य हो जायेंगे। इस दृष्टि से कि आपको जिसका अनुभव नहीं है उसका आरोपण अपने पर करने के प्रयास में जुट जायेंगे।

यह अनुभव आपका स्वयं का होना चाहिए कि संसार दुःख है इसीलिए इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं कि वैराग्य कैसे गहरा हो। सच तो यह है कि वैराग्य को गहरा करने का प्रश्न नहीं है। प्रश्न है जीवन के अनुभव को पूरा-पूरा भोगने का लेकिन हम सबका मन यह होता है कि अनुभव के मार्ग से गुजरे वैराग्य उपलब्ध हो जाए।

सांझ की स्याह कालिमा के साथ-साथ कुहरे की धुएँ जैसी हल्की-हल्की लकीरें चारों तरफ फैलने लगी थी। घाट अब सुनसान हो गया था। दो-एक बंगाली वृद्ध सज्जन सीढ़ियों पर बैठे गोमुखी के भीतर माला फेर रहे थे। पूरब का स्याह आकाश अब धीरे-धीरे सफेद होने लगा था। अपलक, मौन साधे मुतुस्वामी उसी ओर निहारने लगे। देखा उस समय उनके तेजोमय मुख पर एक विलक्षण भाव था। क्या वह जीवनमुक्त का भाव तो नहीं था? सम्भव है, वही भाव रहा हो, जिसे समझ नहीं पा रहा था मैं। अचानक स्वामीजी उठे और चल पड़े श्मशान घाट की ओर। उस समय एक साथ कई चितायें जल रही थी वहाँ। कुछ देर तक खड़े चिताओं की ओर देखते रहे स्वामीजी और फिर वहीं बैठ गये लालीघाट की धूलभरी सीढ़ियों पर। मैं भी बैठ

गया वहीं एक ओर।

थोड़ी देर बाद स्वयं अपने आप कहने लगे स्वामीजी– योग से मुक्ति और वैराग्य की उपलब्धि, तभी जीवनमुक्त हुआ जा सकता है। भगवान बुद्ध को ही लो। दुःख को उसकी गहराई तक भोगने के बाद वैराग्य को उपलब्ध हुए और फिर आनन्द प्राप्त किया। हम बुद्ध तो होना चाहते हैं मगर उनकी तरह दुःख भोगना नहीं चाहते। दुःख व कष्ट के अनुभवों से गुजरना नहीं चाहते। उससे बराबर बचना चाहते हैं। बुद्ध को जैसा वैराग्य हुआ वैसा ही वैराग्य भी हम चाहते हैं और वैसा ही आनन्द भी। जैसाकि वैराग्य के बाद उन्हें हुआ।

भला बताइए! कैसे सम्भव है?

हम चाहते हैं कि कुछ करना–वरना न पड़े और बुद्ध की तरह वैराग्य, आनन्द और परम निर्वाण उपलब्ध हो जाए। ऐसा कभी भी होने वाला नहीं है। मगर हम ऐसी कोशिश बराबर करते रहते हैं। अगर हम इसके लिए इतने दिनों से या यों कहिये, इतने जन्मों से भटक रहे हैं तो इसी कारण से। वरना कभी का उपलब्ध हो गया होता सब कुछ।

कितने जन्म बीत गये इसी आशा में कि सब कुछ प्राप्त हो जायेगा। सब कुछ उपलब्ध हो जायेगा। मगर हुआ कुछ भी नहीं। इसलिए कि हमारी आशा यही थी कि बिना दुःख के अनुभव से गुजरे, बिना अनुभव को प्राप्त किये वैराग्य का दीप प्रज्ज्वलित हो जाय भीतर और फिर मोक्ष प्राप्त हो और परम आनन्द की उपलब्धि हो। हम यह सोचने–समझने का प्रयास नहीं करते कि पहली सीढ़ी पर ही हम फिसल गये।

बुद्ध जैसे दुःख के अनुभव से गुजरने पर ही बुद्ध जैसा वैराग्य उत्पन्न होगा। ऐसी बात नहीं कि आपके पास और हमारे पास दुःखों व कष्टों की कमी है। दुःख और कष्ट काफी है। हर पग पर है, हर क्षण है लेकिन हम उनसे बचने का बराबर प्रयास करते हैं। उनके निवारण का उपाय करते हैं। उनसे गुजरते नहीं। उनके अनुभवों को स्वीकार नहीं करते। उनकी गहराई में डूबने की कोशिश भी नहीं करते। दुःख से और कष्ट से कैसे बचें? बराबर इसी की चिन्ता में रहते हैं। दुःख, कष्ट न हो हमेशा, इसीलिए हम उपाय सोचते रहते हैं। सच तो यह है कि यह हमारी पलायनवादिता है। जो दुःख से बचेगा उसे वैराग्य कभी भी उपलब्ध न होगा। क्योंकि दुःख की गहनता ही वैराग्य का जन्म है। आपका कोई प्रियजन मर जाता है। तो आप बचने की खोज में, तलाश में लग जाते हैं। आप मृत्यु के दुःख को भोगना नहीं चाहते। उससे दूर भागना चाहते हैं। आप मृत्यु के कष्ट और दुःख को भुलाने के लिए आत्मा अमर है की बात सोचने लगते हैं। आपके सामने आपके किसी प्रियजन की मृत्यु हो रही है

आप मृत्यु को सामने खड़ा देख रहे हैं लेकिन आप उसके भय से, कष्ट से, वेदना से और दुःख से बचने के लिए, उसे झुठलाने के लिए आत्मा अमर है की बात सोचने लगते हैं। आप यह भी सोचने लगते हैं उस समय कि कोई साधु-संन्यासी या पण्डित-पुरोहित आकर यह कह दे कि भरोसा रखो, रोने-धोने की आवश्यकता नहीं, दुःखी होने की भी जरूरत नहीं, आत्मा अमर है। आपके प्रियजन का तो केवल शरीर ही छूटा है। शरीर तो वस्त्र की तरह है। पुराना होने पर जैसे वस्त्र बदल दिया जाता है उसी प्रकार शरीर वृद्ध होने पर या रोगग्रस्त होने पर आत्मा भी उसे बदल दिया करती है। इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। आपका प्रियजन कहीं न कहीं जिन्दा है। उसका अस्तित्व कहीं न कहीं अवश्य है। कभी न कभी उससे आपका मिलन अवश्य होगा। चाहे इस जन्म में या अगले जन्म में।

संसार के प्रायः सभी धर्मवाले यही कहते हैं कि मरने के बाद फिर भेंट हो जाती है अपने सगे-सम्बन्धियों से। चिन्ता किस बात की? थोड़े दिन का ही वियोग है कष्ट है बस झेल लो, कोई मिटा नहीं है, कोई मरा नहीं है, कोई कहीं गया नहीं है।

साँझ की स्याह कालिमा अब रात्रि के अन्धकार में बदल गयी थी। श्मशान के मरियल कुत्ते समवेत स्वर में रोने लगे थे। धूं-धूं कर सभी चिताएँ एक साथ जल रही थी जिनकी लाल-पीली लपटों की परछाइयाँ गंगा के मटमैले पानी में पड़ रही थी। दो-तीन लाशें और आ गयी थी वहाँ। लाश के साथ आने वाले लोग एक ओर बैठ कर चिलम और बीड़ियाँ पी रहे थे। इसके अलावा वातावरण में एक अजीब सी खिन्नता भरी उदासी छायी हुई थी। पूरब के स्याह आकाश में चाँद थोड़ा ऊपर आ गया था, जिसकी हल्की रूपहली चाँदनी गंगा की लहरों पर थिरक रही थी।

थोड़ा रूक कर जलती हुई लाशों की ओर अपलक देखते हुए स्वामीजी ने फिर कहना शुरू किया सामने मृत्यु खड़ी है उसके दुःख को भोगो। जिस पत्नी के साथ युवावस्था में सुख भोगा, आनन्द उठाया, हर प्रकार का सपना साकार किया, जिस माता-पिता के स्नेह, प्रेम की छाँव में पले और बढ़े हुए जीवन का निर्माण किया अब उनके अभाव के दुःख को भी भोगो, अभाव के नरक से भी गुजरो। उनके अभाव के कष्ट को, दुःख को और उनके बिछोह की व्यथा को, वेदना को, शराब न पीकर भुलाओ, न शास्त्रीय सिद्धान्तों को पीकर भुलाओ, न आत्मा अमर है, यह समझ कर भुलाओ, न गीता पढ़कर, न रामायण पढ़कर भुलाओ और न तो भुलाओ भजन-कीर्तन करके ही। मृत्यु परम सत्य है और उस सत्य के अनुभव से गुजर कर अपनी आत्मा को सोने की तरह निर्मल और स्वच्छ कर लो। तभी आत्मा के भीतर वैराग्य का, परम वैराग्य का जन्म होगा।

हर पग पर दुःख आपके सामने खड़ा है। उसको सीधा भोगो। दुःख ही एकमात्र

आपका ध्यान बन जाना चाहिए। तभी आप उस मृत्यु की आग में तप कर निखरेंगे और परम वैराग्य को तदनन्तर परम आनन्द को उपलब्ध होंगे। तब आपको हमको किसी से यह नहीं पूछना पड़ेगा कि वैराग्य कैसे प्राप्त हो? वह फिर अपने आप उपलब्ध हो जायेगा।

रात गहरा गयी थी। वातावरण भी पहले से अधिक शान्त और नीरव हो गया था। श्मशान में जलती हुई चितायें अब धीरे-धीरे बुझ रही थी। दो-एक लाशें वहाँ और आ गयी थीं, जिनके पास साथ में आये हुए लोग आपस में बातें कर रहे थे। चाँद काफी ऊपर आ गया था। मुतुस्वामी अब चुप हो गये थे और चिताओं की ओर से नजरें हटा कर एकटक अब चाँद की ओर देखने लगे थे। थोड़ी देर में वे उठे और लाली घाट की सीढ़ियाँ चढ़कर ऊपर आ गये। मुड़ते हुए धीरे से बोले- अच्छा, अब कल बाकी बातें होंगी।

संकल्प : संसार के मोक्ष का- लगभग एक सप्ताह तक मुतुस्वामी से भेंट नहीं हुई। मैं व्यग्र था उनसे मिलने के लिये। वाराणसी में कहाँ रहते हैं वह, यह मुझे मालूम नहीं था। तरह-तरह की जिज्ञासायें और तरह-तरह के प्रश्न उठ रहे थे मन में, जिनका समाधान मुतुस्वामी ही कर सकते थे एकमात्र।

एक दिन सायंकाल टहलते हुए अस्सी घाट की ओर जा रहा था तभी मेरी नजर पड़ गयी मुतुस्वामी पर। आनन्दमयी घाट के ऊपर स्थिर भाव से बैठे हुए घाट की मढ़िया के ऊपर वह। मुझे देखते ही किञ्चित मुस्कुराकर बोले-"आओ भाई, आओ। कहो, कैसे हो? उनके निकट बैठते हुए मैंने कहा- मैं तो आपके पुनः दर्शनों के लिए व्यग्र था। आपके निवास का पता यदि मालूम होता तो कब का पहुँच गया होता दर्शन के निमित्त।

मेरा निवास स्थान कहाँ? मुतुस्वामी किञ्चित गम्भीर स्वर में बोले- मेरा निवास तो एकमात्र यह शरीर है, यही मेरा गृह है, इसके अलावा और भला कहाँ रह सकता हूँ?

समझते देर न लगी मुझे, स्वामीजी किसी गम्भीर विषय की भूमिका आयोजित कर रहे थे। थोड़ा रूक कर आगे बोले- तुम्हे ज्ञात होना चाहिए कि संसार में जितनी भी वस्तुएं हैं वे सब परप्रकाशी हैं हम और आप भी। इस संसार में, इस जगत में जितनी वस्तुएँ, जितने पदार्थ और जितने प्राणी हैं उन्हें दिन का प्रकाश चाहिये, रात में भी बिजली या अन्य किसी साधन से प्रकाश चाहिए तभी उन्हें देखा जा सकता है। दिन में सूर्य का प्रकाश है इसलिए हम लोग एक दूसरे को देख रहे हैं। सारी वस्तुएं दिखलायी दे रही हैं। रात में भी हम लोग एक दूसरे को देख रहे हैं लेकिन दीपक

बुझ जाए या बिजली बुझ जाए तो आप मुझे नहीं देख सकेंगे और हम आपको नहीं देख सकेंगे। कोई न कोई प्रकाश चाहिए तभी हम लोग प्रकाशित होंगे। दिन में दिखलायी देता है। रात में दिखलाई नहीं देता। आँखे तो होती है वस्तुएं भी होती है लेकिन सूर्य नहीं होता। सभी वस्तुएं परप्रकाश चाहती हैं तभी उनका अस्तित्व प्रकट होता है। दिन में सूर्य और रात में दीपक लेकिन कृष्ण कहते हैं कि मेरा परमधाम वहाँ है जहाँ सूर्य आदि के प्रकाश की कोई आवश्यकता नहीं। मेरा परमधाम स्वप्रकाशित है। इस बात को गहराई से समझ लेना चाहिए क्योंकि समस्त साधना का मौलिक आधार है यह और इसकी खोज ही साधक का एकमात्र लक्ष्य है। ऐसी कौन सी घटना है और ऐसा कौन सा अनुभव है, जो स्वप्रकाशित है? मैंने प्रश्न किया।

स्वामीजी बोले- आप आँखें बन्द कर लें। मैं आपको दिखलाई नहीं पडूँगा मगर आप तो अपने को दिखाई पड़ते ही होंगे। आपको अपना शरीर भले ही न दिखलाई पड़े मगर स्वयं का होना तो प्रतीत होता ही रहेगा। अपने अस्तित्व की प्रतीति होती ही रहेगी। दिन में सूरज न रहे, रात में दीपक भी न रहे, घना अंधेरा हो, मैं आपको दिखलायी नहीं पडूँगा लेकिन आप अपने को तो अनुभव करते ही रहेंगे कि "मैं हूँ।"

मतलब यह कि आपके होने के लिए तो किसी और यानी परप्रकाश की आवश्यकता नहीं है क्योंकि आपके अस्तित्व के होने में आपके अपने के होने की प्रतीति में एक तत्व है जिसको चेतन कहते हैं जो स्वयं प्रकाशित है। आप आँखें बन्द कर लेते हैं भीतर अन्धकार दिखलायी पड़ता है। आप उस अन्धकार को किन आँखों से देखते हैं? उस अन्धकार का साक्षी वही चेतन है। चेतन के स्वप्रकाश में वह अन्धकार दिखलायी देता है। आप स्वप्न किस प्रकाश में देखते हैं और किन आँखों से देखते हैं? कभी विचार किया है आपने? वह भी चेतन के प्रकाश में और चेतन की आँखों से देखते हैं। आपके भीतर चेतन का दीप झिलमिला रहा है।

मृत्यु के बाद सिवाय अन्धकार के और कुछ नहीं है। उसी को नरक कहते हैं यानी न नहीं अर्क जहाँ सूर्य नहीं है वही नरक है। घोर अन्धकार के अस्तित्व में स्वप्रकाशी चेतन अपने लिए प्रकाश का काम करता है। उस चेतनरूपी दीपक का तेल है पुण्य, साधना, तप आदि। जितनी इन सबकी मात्रा होगी चेतन उतना ही प्रकाशमय और ज्योतिर्मय होगा। तप अथवा आत्म साधना आदि चरमसीमा पर जब पहुँचती है तब उस अवस्था में चेतन भी पूर्ण प्रकाशित तथा पूर्ण ज्योतिर्मय हो जाता है। भगवान कहते हैं कि वही पूर्ण प्रकाशित, पूर्ण ज्योतिर्मय चेतन परमपद है और परमपद मेरा परमधाम है। व्यक्ति जितना ही चेतन होता जाता है उसकी चेतना जितनी प्रकाशमयी और ज्योतिर्मयी होती जाती है उतना ही वह परमधाम की ओर अग्रसर होता है।

पूर्ण स्वप्रकाशमय और पूर्ण स्वज्योतिर्मय चेतन का नाम परमचेतन है यानी

परमचैतन्य और जिस क्षण वह परमचैतन्य प्रकट होता है उस समय उसे प्रकाशित करने के लिये किसी भी प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह स्वयं प्रकाशित है।

इस जगत में एक ही वस्तु स्वप्रकाशित है और वह है स्वयं का होने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। उसको अप्रमाणित और असिद्ध करने का भी कोई उपाय नहीं है। यदि आप यह भी कहें कि "मैं नहीं हूँ" तो भी कोई अन्तर नहीं पड़ता। आपके "नहीं हूँ" कहने से केवल आपका होना ही सिद्ध करता है। आँखें बन्द कर लेने पर या अंधेरे में भी आप अपने को अनुभव करते हैं। आपके सभी अंग और आपकी सारी इन्द्रियाँ भी काट दी जाएं, तब भी आप अपना अनुभव कर सकते हैं। तब भी आप होंगे। आपको अपनी प्रतीति में जरा सा भी अन्तर न होगा क्योंकि आँखों से दूसरे देखे जाते है स्वयं नहीं। स्वयं की आँखें स्वयं को नहीं देख सकती, कानों से दूसरे सुने जाते हैं स्वयं नहीं। सारी इन्द्रियों की शक्तियाँ नष्ट हो जाए फिर भी भीतर के होने में जरा सा भी अन्तर नहीं पड़ता।

वह जो भीतर का होना है वहाँ कोई प्रकाश नहीं है फिर भी जानते हैं कि आप हैं। आप कभी अपने भीतर नहीं गए हैं। आपको शायद यह नहीं मालूम कि आपकी आँखे भीतर की ओर भी देखती हैं। मगर आपकी आदत नहीं है भीतर की ओर देखने की। अगर आप भीतर जायें-भीतर जाने का साधन है आपकी आँखें ही, तो आपको वहाँ भी प्रकाश का अनुभव होगा, प्रकाश मिलेगा।

वह कैसे? प्रश्न किया मैंने।

स्वामीजी ने कहा- ध्यान से।

यही कारण है कि ध्यान की क्रिया सभी धर्मो और सभी सम्प्रदायों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। ध्यान की गति जितनी बढ़ती जाती है, ध्यान की प्रगति जितनी होती जाती है उसी मात्रा में भीतर प्रकाश बढ़ता जाता है। ध्यान में जो लोग परिपक्व हैं उन सभी का अनुभव, प्रकाश का अनुभव है। वे लोग भीतर के प्रकाश को जानते हैं। सभी धर्मो और सभी सम्प्रदायों के साधकों, फकीरों और सिद्ध योगियों का अनुभव है कि जब भीतर ध्यान गहरा होता है तो परम प्रकाश का अनुभव होता है। वह प्रकाश चैतन्य का स्वप्रकाश है। वास्तव में आप स्वयं वह प्रकाश हैं। आपका होना ही वह प्रकाश है। कृष्ण का कहना है कि वह मेरा परमधाम है, जो उस स्थिति को उपलब्ध हो जाता है वह फिर संसार में नहीं आता क्योंकि वही मूलस्रोत है, मूल उद्‌गम है।

आप आँखें बन्द कर लें फिर भी आप अपने विचारों को देख लेते हैं। कौन देखता है भीतर?

भीतर क्रोध उठता है। कामवासना जागृत होती है। आप उसे भी देख सकते हैं। कौन देखता है भीतर?

वह जो देखने वाला है उसे आप नहीं देख सकते। जिसको-जिसको देखते हैं, देख सकते हैं। वह आप नहीं है इसे आप अच्छी तरह समझ लें और जो सबको देखता है लेकिन स्वयं को नहीं देखता यानि जो स्वयं को नहीं देख सकता वह आप हैं। वही आपका मूल है और उस मूल के पीछे जाने का कोई उपाय नहीं है'। नहीं तो उसे भी देख लेते। आप सब कुछ देख सकते हैं पर उसे नहीं देख सकते। संसार देखा जा सकता है। शरीर देखा जा सकता है। मन देखा जा सकता है। मन के भाव, विचार देखे जा सकते हैं। हृदय की भावनायें देखी जा सकती हैं। कहने का मतलब कि सब कुछ देखा जा सकता है। मगर वह आपका स्वभाव है। यानी स्व-अपना-भाव। वह जो द्रष्टा है, वह आप हैं। आप द्रष्टा को दृश्य नहीं बना सकते। उसको आप विषय भी नहीं बना सकते। वह हमेशा विषयी है। जब सारे विषय समाप्त हो जाते हैं केवल विषयी रह जाता है केवल जानने वाला रह जाता है, तब परम प्रकाश का उदय होता है। संसार ही नहीं समस्त विश्व ब्रह्माण्ड का प्रकाश समाप्त हो जाए मगर वह परम प्रकाश जगमगाता रहेगा, चेतना की वह परम ज्योति प्रज्ज्वलित रहेगी। वह कभी नहीं बुझेगी। उस परम प्रकाश, परम ज्योति अथवा परम चेतना का अंश आपके भीतर है। परम चेतना का वही अंश आपकी पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करता है और संभालता भी है।

स्वामीजी ने आगे कहा- इस संबंध में बड़ी भ्रान्ति है। ठीक से इसे समझ लेना चाहिए। प्रायः लोग यही सोचते समझते हैं कि इन्द्रियों को पकड़े हुए हैं, बांधे हुए हैं। इन्द्रियाँ आपको क्या बांधेगी? क्या पकड़ेंगी? वे तो जड़ हैं। आप स्वयं अपने आपको इन्द्रियों से बांधे हुए हैं और यह आपका ही संकल्प और आपका ही निर्णय है। इस संकल्प की और इस निर्णय की बड़ी प्रक्रिया है।

प्रायः लोगों की यही धारणा है कि इन्द्रियों ने ही उन्हें बांध रखा है लेकिन कृष्ण कहते हैं कि नहीं। आपने ही इन्द्रियों को चाहा है और उनका उपयोग किया है आपने ही उन्हें आकर्षित किया है इसीलिए उनका अस्तित्व है और एक दिन आपकी चाह की वासना नष्ट हो जाएगी।

कृष्ण यह भी कहते हैं कि इन्द्रियों को दोष मत दीजिए। वास्तव में दोष किसी का भी नहीं आपका संकल्प है। संकल्प ही सब कुछ है। आपकी चेतना ने आपकी आत्मा ने शरीर में रहना चाहा है इसीलिए शरीर में है। जिस दिन वह नहीं रहना चाहेगी उसी दिन आपका शरीर आपसे छूट जायेगा। चेतना अथवा आत्मा अपनी इच्छा से शरीर ग्रहण करती है और अपनी ही इच्छा से उसका त्याग करती है यदि यह बात आपकी समझ में आ जाए तो इन्द्रियों से जो आपका सतत संघर्ष है, सतत शत्रुता है वह समाप्त हो जायेगी अपने आप। समझ लें इसका परिणाम बड़ा ही भयानक है इसीलिये कि बराबर संघर्ष के फलस्वरूप हर पल आपकी शक्ति नष्ट होती है बेकार में। उस शक्ति

का कुछ और उपयोग कर सकते हैं आप। इन्द्रियों से संघर्ष अर्थहीन है। संघर्ष और कहीं होने चाहिए, जिससे इन्द्रियों को पकड़ने की दिशा में शिथिलता हो।

राग और विराग- भगवान कहते हैं कि जीवात्मा ही मन सहित पाँचों इन्द्रियों को आकर्षित करती है। जिस प्रकार वायु गन्ध के स्थान से गन्ध को ग्रहण करके ले जाती है वैसे ही जीवात्मा कभी जिस शरीर का त्याग करती है उससे मन सहित इन्द्रियों को ग्रहण करके फिर जिस अगले शरीर को प्राप्त करती है उसमें चली जाती है। इस विषय पर स्वामीजी ने समझाते हुए कहा- यह नहीं कहा जा सकता है कि आपकी आत्मा ने कितने शरीरों को छोड़ा होगा और कितनी बार शरीरों को ग्रहण किया होगा। बार-बार शरीर ग्रहण करने और बार-बार शरीर को छोड़ने के कारण आत्मा में शरीर के प्रति आकर्षण अथवा मोह का उत्पन्न होना स्वाभाविक है। शरीर के प्रति आपकी यह जो वासना है वही बार-बार जन्म-मृत्यु का कारण है।

जब आप मरते हैं उस समय आप अपनी सूक्ष्म इन्द्रियों को अपने साथ ले जाते हैं उसी प्रकार जैसे हवा फूलों की गन्ध को अपने साथ ले जाती है। हवा फूलों को तो अपने साथ ले नहीं जा सकती। फूल स्थूल वस्तु है लेकिन उसकी गन्ध सूक्ष्म है, अगोचर है, वायु भी अगोचर है इसलिए गन्ध को बिना किसी विघ्न के अपने साथ ले जाता है। फूल पीछे रह जाता है। डाली पर खिला रह जाता है लेकिन हवा उसकी गन्ध को ले जाती है। उसी प्रकार आपकी आत्मा अगोचर है, सूक्ष्म है इसलिए अगोचर सूक्ष्म इन्द्रियों को अपने साथ ले जाती है। जैसे वायु फूल को नहीं ले जा सकता उसी प्रकार आत्मा, आपके शरीर को भी अपने साथ नहीं ले जा सकती। मगर शरीर को पकड़ने की जो वासना है उसको गन्ध की तरह अपने साथ ले जाती है। उसी वासना को भारतीय मनीषियों ने सूक्ष्म इन्द्रियाँ कहा है। आँख, नाक, कान आदि स्थूल इन्द्रियाँ हैं लेकिन देखने की, सूँघने की, सुनने आदि की जो वासनाएँ हैं, वह सूक्ष्म इन्द्रियाँ हैं। जीभ स्थूल इन्द्रिय है। स्वाद की आकांक्षा सूक्ष्म इन्द्रिय है। काम की भी आकांक्षा सूक्ष्म इन्द्रिय है। फूल पड़ा रह जाता है गन्ध चली जाती है वायु के साथ। शरीर पड़ा रह जाता है मृत होकर वासनारूपी सूक्ष्म इन्द्रियाँ आत्मा के साथ चली जाती है।

शायद आपने इस बात पर ख्याल नहीं किया होगा। सुन कर आश्चर्यचकित होंगे कि हिन्दू लोग जब मरे हुए व्यक्ति का शव, श्मशान पर चिता में जल जाता है तो उसकी अस्थियों के बचे हुए टुकड़ों को चिता की राख से इकट्ठा कर ले आते हैं तीर्थों में विसर्जित करने के लिये। उन अस्थियों को फूल कहते हैं। अमुक व्यक्ति का फूल बड़ा ही सुन्दर शब्द है। फूल पड़ा ही रह जाता है मगर गंध आपके साथ चली जाती है और वह गंध जो आपके साथ चली जाती वह शरीर छूटते ही नये शरीर की खोज में, नये जन्म की खोज में, नये गर्भ की तलाश में निकल पड़ती है। आपकी वासना जैसी होगी वैसा

गर्भ, वैसे माता-पिता, वैसा वातावरण और वैसी सारी परिस्थितियाँ आपको मिल जाती है। प्रकृति का अति सूक्ष्म विज्ञान है यह। इसके रहस्य को योगीगण ही समझते हैं।

जो प्रकृति विज्ञान के रहस्यों से जितना परिचित होगा, उतना बड़ा होगा, वह योगी। मुतुस्वामी ने बताया कि मृत्यु के समय स्थूल इन्द्रियों से धीरे-धीरे सूक्ष्म इन्द्रियों का सम्बन्ध टूटने लगता है। पहले कर्मेन्द्रियों की वासनाएँ और बाद में ज्ञानेन्द्रियों की वासनाएँ एक के बाद एक मन में लीन होने लगती है। जब पूरी तरह लीन हो जाती है तब मन आत्मा में लीन हो जाता है। तत्पश्चात आत्मा वासना के अनुसार नयी देह की खोज में निकल पड़ती है और गर्भ में स्थित नई देह में प्रवेश करते ही मन में लीन वासनाएं तत्काल स्थूल इन्द्रियों के द्वारा प्रकट हो जाती है। आत्मा और मन भी अपने-अपने काम करने लग जाते हैं। आप जो होने के लिए कामना करते हैं विचार करते हैं और जो भावना एकत्र करते हैं वही संगृहीभूत हो जाती है और उसी के आधार पर आपका नया जन्म होता है और नयी देह भी प्राप्त होती है।

यह सब कुछ तबतक चलता रहेगा जबतक हवा गन्ध को अपने साथ ले जाती रहेगी। तबतक होता रहेगा जबतक आत्मा अपने साथ वासनाओं को ले जाती रहेगी। प्रकृति की यह परम्परा और यह नियम तभी समाप्त होगा जबकि हवा फूलों को ही नहीं छोड़ेगी, उसकी गन्ध को भी छोड़ देगी। फूलों के साथ उसकी गन्ध को भी छोड़कर बिल्कुल खाली पड़ जाएगी। प्रकृति का यह परम्परा और नियम तभी समाप्त होगा, जबकि आत्मा, शरीर की तरह सूक्ष्म इन्द्रियों अथवा तमाम वासना को भी छोड़कर चली जायेगी। इसी को कहते हैं देह मुक्ति।

देह मुक्ति अवस्था को प्राप्त योगीगण इसी प्रकार बिना गन्ध की हवा की तरह शून्य में संचरण-विचरण करते हैं। उनकी आत्मा वासनाओं की गन्ध से रहित निर्मल और स्वच्छ होती है। ऐसी ही आत्मा को विशुद्ध आत्मा कहा जाता है। ऐसे योगीगण संसार में अपने शरीर को भी छोड़ जाते हैं और सूक्ष्म इन्द्रियों यानी वासनाओं को भी छोड़ जाते हैं। उनकी आत्मा में किसी भी वासना की चाह नहीं होती। फलस्वरूप उन्हें कोई गर्भ उपलब्ध नहीं होता। कोई शरीर भी प्राप्त नहीं होता। फिर किसी देह में प्रवेश करने का उपाय ही नहीं रहता। गर्भ में प्रवेश करने का, नए शरीर को पाने का उपाय आपको अपने साथ लेकर चलना पड़ता है। फिर वही जीवन की यात्रा शुरू हो जाती है। फिर वही जीवन का भोग शुरू हो जाता है। फिर वही कर्म शुरू हो जाता है।

निन्यानवे प्रतिशत लोगों का प्रयत्न इन्द्रियों को छोड़ने का होता है। इन्द्रियों से सम्बन्धित वासनाओं की ओर कोई ध्यान ही नहीं देता। गीता में भगवान कहते हैं कि इन्द्रियों को छोड़ना नहीं है वासनाओं को छोड़ देना है। इन्द्रियाँ अपने आप छूट जायेंगी

आपसे। मगर वासना को छोड़ने के बजाय इन्द्रियों को छोड़ना लोगों को सरल मालूम पड़ता है। कोई नमक छोड़ देता है, कोई घी छोड़ देता है, कोई भोजन छोड़ देता है कोई स्त्री के स्पर्श से डर जाता है कोई कीमती वस्त्र छोड़कर लंगोट लगा लेता है, कोई सब कुछ छोड़ कर चल देता है।

यह सब क्या है? इन्द्रियों को ही छोड़ना है। मगर भीतर जरा झांक कर देखिये वहाँ आपको भोजन की, वस्त्र की, काम भोग की वासना पहले जैसी ही मिलेगी। जरा सा अन्तर नहीं मिलेगा उसकी मात्रा में।

यह सब कुछ वैसे ही है जैसे कोई व्यक्ति जीवन से ऊब कर घबरा कर आत्महत्या कर ले। परन्तु आत्महत्या से जीवन तो समाप्त नहीं होता। वर्तमान शरीर अवश्य समाप्त हो जाता है। जीवन की धारा तो बराबर बहती ही रहती है। शरीर बदल जाता है जीवन नहीं। इधर मरे नहीं कि उधर नया शरीर मिला। इधर मृत्यु और उधर जन्म। आत्मा बिना शरीर के रह ही नहीं सकती। पर आत्महत्या करने वाले को तो और भी विकृत और अपंग शरीर मिलने की सम्भावना है।

इसका कारण क्या है- मैंने प्रश्न किया?

कारण स्पष्ट है। जो अपने को नष्ट करना चाहा उसका चित्त विकृत अवस्था में है। चित्त जब विकृतावस्था की चरम सीमा पर पहुँचता है तभी मनुष्य आत्महत्या करता है। किसी ने अपने को आग लगा कर जला लिया। पूरे शरीर से आग की लपटें उठने लगीं। एक ही क्षण में वह मर तो जायेगा नहीं। जलने के पहले सोचेगा, विचारेगा, आत्महत्या के लिए मन को मजबूत करेगा तब आग लगायेगा। आग लगाते समय ये सारी विकृतियाँ उसके भीतर एकत्र होंगी। आग लगने पर वह तड़पेगा, छटपटायेगा। फिर शरीर में लगी हुई आग से वह अपने को बचाने की भी कोशिश करेगा। मगर बच न सकेगा। पुकारेगा, चीखेगा, चिल्लायेगा। भूल हो गयी। गलती हो गयी यह भी सोचेगा। बड़ा विषाद होगा। बड़ा सन्ताप होगा। बड़ा कष्ट होगा। बड़ी पीड़ा होगी ऐसी शारीरिक व मानसिक स्थिति में मरेगा वह। इन तमाम बातों की छाप, इन तमाम कुण्ठित वासनाओं और आग की लपटों का दाह, सबकी गन्ध, मरने के बाद उसके साथ चली जायेगी ही। वासनाओं की गन्ध तो जायेगी साथ-साथ विषाद, संताप, कष्ट, पीड़ा, पश्चाताप आदि की दुर्गन्ध भी जायेगी उसके साथ और साथ जायेगी उत्तप्तता भी।

इसी सबके आधार पर उसकी आत्मा जो गर्भ स्वीकार करेगी वह भी विकृत और उत्तप्त होगी। परिणामस्वरूप वह अपंग, अपाहित, लूला, लंगड़ा, अन्धा पैदा हो सकता है। टूटा-फूटा और विकृत स्वरूप वाला भी पैदा हो सकता है। उसका पूरा जीवन

खंडहर जैसा हो जायेगा। क्योंकि स्वयं उसने अपने को खंडहर करने की कोशिश की और उसका संस्कार अपने साथ ले आया। यह प्राकृतिक नियम तो हमारी समझ में आ जाता है कि यह कर्म बुरा है और उसका दुष्परिणाम होगा। जो लोग इन्द्रियों का दमन करके नित्य छोटी-मोटी आत्महत्या करते हैं वह हमारी समझ में नहीं आता है। इन्द्रियों को कष्ट देना, उनका दमन करना आत्महत्या नहीं है तो और क्या है? हरिद्वार में एक महात्मा मुझे मिले थे, अन्धे थे। पता चला कि उन्होंने स्वयं अपनी आँखें फोड़ ली थी। पूछने पर महात्मा ने बतलाया कि सुन्दर स्त्री और सुन्दर वस्तु मन को आकर्षित न करें इसलिए आँखें फोड़ ली मैंने। न आँख रहेगी और न तो देखूँगा।

यह सुनकर महात्मा पर मुझे तरस भी आया और क्रोध भी। यह भयानक मानसिक विकृति है। किसी सुन्दर स्त्री को देखकर जो मन में वासना उठती है वह सुन्दर स्त्री से नहीं उठ रही है वह आपके भीतर से उठ रही है। वह आपकी आँखों से भी नहीं उठ रही है। वह आपके भीतर से आँखों में आ रही है आँखों से गुजर रही है।

आँखों का भला क्या दोष है? आँखें तो वहीं गयीं, जहाँ आप उसे ले जाना चाहते थे। आँखो ने वही देखा जो आप देखना चाहते थे। आँखों ने वही चाहा जो आपकी चाह थी। आँखे आपकी चाह का अनुसरण करती हैं। इसी तरह सभी इन्द्रियाँ आपकी चाह का अनुसरण करती है और लोग हैं कि आँखें फोड़ लेते हैं। यह आत्महत्या का ही एक अंश नहीं है तो और क्या है और ऐसी आत्महत्या करने वाले व्यक्ति को हम साधु और महात्मा कहते हैं। मगर यह विकृति है और इस विकृति को उपलब्ध होकर अपनी इन्द्रियों की हत्या करने वाले लोगों की भी अगले जन्म में भयानक दुर्गति होती है। ये जिस इन्द्रिय को नष्ट करते हैं अगले जन्म में वही इन्द्रिय उन्हें धोखा देती है। वही इन्द्रिय विकृत होती है इसमें सन्देह नहीं।

प्रश्न इन्द्रियों को न नष्ट करने का है और न तो दमन करने का है। प्रश्न है इन्द्रियों से मुक्त होने का। इन्द्रियों के अधिकार में आप नहीं बल्कि इन्द्रियों पर आपका अधिकार है। आपने उन्हें बांध रखा है इसलिए उनका कोई दोष नहीं। वैसे आपका भी दोष नहीं। यदि आप यही चाहते हैं तो कोई दोष नहीं। मगर इसे आप होशपूर्वक होने दें। फिर इसमें प्रसन्न हों। ऐसी स्थिति में आप फिर वैराग्य की कामना न करें।

राग और वैराग्य दोनों एक साथ नहीं होना चाहिए। भीतर राग की कामना है बाहर वैराग्य का है प्रश्न। आप इस स्थिति में दुविधा में पड़ जायेंगे। राग की तृप्ति होती रहेगी इसमें सन्देह नहीं मगर वैराग्य को उपलब्ध किञ्चितमात्र भी आप न होंगे। आप लोग राग और वैराग्य की दुविधा में, द्वन्द में पड़े रहते हैं। राग तो उनके जीवन का सुख है, आनन्द है, रस है। कहीं उन्होंने वैराग्य की बातें सुन ली हैं। वैराग्य के

सम्बन्ध में कहीं किसी पुस्तक में पढ़ रखा है। बस, राग की तरह वैराग्य भी उनके मस्तिष्क में चक्कर काटने लगा है लेकिन अवस्था उनकी राग की है। एक साथ दो नाव की यात्रा चल रही है उनकी। उनके भीतर दो प्रकार का व्यक्तित्व है। एक राग की तरफ और दूसरा वैराग्य की तरफ आकर्षित होता है। ऐसी अवस्था में आत्म उपलब्धि असंभव है।

राग और वैराग्य दोनों साथ-साथ संभव नहीं। जबतक राग है तबतक वैराग्य का दीप आपके भीतर कदापि नहीं जल सकता। आप केवल वैराग्य के संबंध में मन में सोच-विचार कर सकते हैं। शब्दों में जानने- समझने और सोचने-विचारने का कोई अर्थ नहीं। वह निष्प्राण है।

आप राग को ठीक से समझ लें। यह भी समझ लें कि सब कुछ आपका ही संकल्प है। यह आपने ही निश्चय किया है। भले ही आपने हजारों-लाखों जन्म पहले निश्चित किया। यह आपका ही निर्णय है कि आप शरीर द्वारा यात्रा पर जाते हैं। इस भवसागर में उतरते हैं। संसार के चक्र में फँसते हैं। जीवन-मरण के चक्कर में पड़ते हैं। यह सब आपका निर्णय है। संकल्प है, आप स्वयं नियंता हैं। जिस क्षण आप निर्णय बदल देंगे, विचार बदल देंगे, संकल्प बदल देंगे उसी क्षण आपकी धारा बदल जाएगी।

आपको शरीर की यात्रा पर या जन्म-मरण की यात्रा पर कोई ले नहीं जाता। आपको भवसागर में उतरने के लिये बाध्य नहीं करता। आपको संसार के चक्र में कोई फँसाता भी नहीं। इन सबके स्वयं आप मालिक हैं, जिम्मेदार हैं। आपका ही निर्णय संकल्प और चुनाव है। जिस क्षण चाहे आप सारे बंधनों को तोड़ कर अपने को मुक्त कर सकते हैं। यदि आपको यह ध्यान आ जाय तो तत्काल आपकी दिशा बदल जायेगी। तत्काल समाधि में चले जायेंगे आप। बुद्ध होने के लिये अनेक जन्मों की आवश्यकता नहीं। एक क्षण में आपके भीतर बुद्धत्व का आविर्भाव हो सकता है।

समभाव और आत्मज्ञान- जीवन मुक्त के सन्दर्भ समत्व का भी अपना महत्व है। समत्व भाव रखने वाला ही जीवन मुक्त है लेकिन समत्व का भाव जीवन में और व्यवहार में लाना अति कठिन कार्य है। भारतीय मनीषा का कहना है कि 'समत्व' सधने पर ही अद्वैत लाभ सम्भव है।

उदाहरण के रूप में एक व्यक्ति आपका अपमान करता है। दूसरा व्यक्ति सम्मान करता है। एक गाली देता है, दूसरा श्रद्धा से झुक कर आपके चरणों का स्पर्श करता है। तो यहां समभाव का क्या अर्थ होगा? क्या आप अपने को संयमित रखकर इस भाव को अपने भीतर जन्म दे कि जो अपमान कर गया, उस पर क्रोध नहीं करना है? जो सम्मान दे गया, उस पर प्रसन्न नहीं होना है। यदि आपकी यह चेष्टा होगी

तो इसे समभाव नहीं कहा जायेगा। हम इसे आयोजित संयम कहेंगे। अनुशासन की व्यवस्था कहेंगे। समभाव का अर्थ है कि मान-अपमान दोनों में से किसी एक से आपके भीतर किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया पैदा न हो। किसी भी प्रकार का भाव पैदा न हो। भीतर खाली का खाली रहे। मान-सम्मान भी बाहर रह जाए और अपमान भी। दोनों का प्रवेश आपके भीतर न हो।

यह कैसे सम्भव है? यह कब और कैसे हो सकता? यह तभी सम्भव है। यह तभी हो सकता है, जब आपके भीतर साक्षी हो। साक्षी भाव से ही समभाव का जन्म होता है। मन से हम प्रसन्न होते हैं अपमान से होते हैं दुःखी। एक से सुख और दूसरे से दुःख। इसका तात्पर्य यही है कि दोनों से 'मैं' अपना तादात्म्य बनाये हुए होता है। इसी कारण वैषम्य पैदा होता है और हमारा सन्तुलन बिगड़ जाता है।

जिस व्यक्ति का आचरण नैतिक है- वह ही समभाव रखने की चेष्टा करता है लेकिन उसका समभाव एक प्रकार से आरोपित होता है। नैतिक व्यक्ति भी अपने आंपको समझता है कि किसी ने अपमान किया तो उसकी इच्छा। उसके लिये दोनों में समभाव है लेकिन उसका समभाव बाहरी है भीतरी नहीं। क्योंकि नैतिक चरित्र वाले ऐसे व्यक्ति को साक्षी का कोई पता नहीं होता क्योंकि उसका समभाव चरित्रगत होता है। उसमें कभी-कभी वैषम्य प्रकट हो सकता है।

उपनिषद की दृष्टि में चरित्रगत हो ऐसी समता का कोई मूल्य नहीं है। समत्व दो प्रकार का है- चरित्रगत समत्व और आत्मगत समत्व। भारतीय मनीषा आत्मगत समत्व को महत्व प्रदान करता है। पहले वाली समता नैतिक व चरित्रवान व्यक्ति की ही है और दूसरे प्रकार की समता सन्तों की है, योगियों की है। संत या योगी आत्मगत समता वाले होते हैं।

आत्मगत समता का क्या अर्थ है? इससे क्या तात्पर्य है? आत्मगत समता का अर्थ है कि बाहर कुछ भी हो। कोई भी घटना हो। मान हो, अपमान हो, हमसे उससे कोई मतलब नहीं। हम केवल उन सबके साक्षी मात्र हैं। साक्षी के अतिरिक्त और कुछ नहीं। यह संत स्वभाव है।

साधक हरिपद पगला– काशी के हरिश्चन्द्र घाट पर एक इसी प्रकार के संत विचरण किया करते थे कभी। बंगाली थे नाम था हरिपद पगला। लोग उन्हें पागल समझते थे। मगर वे पागल नहीं थे। परम संत अवस्था को प्राप्त एक उच्चकोटि के योगी थे। एक बार की घटना है। किसी बात पर कुछ लोगों ने पगला महाशय को खूब मारा पीटा। वे चुपचाप गाली सुनते रहे। बीच-बीच में कभीकदा

सिर उठाकर अपमान करने वालों को देख भर लिया करते थे। फिर गाली सुनने और लात खाने लग जाते थे।

जब सब लोग चले गये तो हरिपद पगला महाशय अपने स्थान से उठे और हँसते हुए मेरे करीब आकर खड़े हो गए। ऐसा लगा मानों कुछ हुआ ही नहीं। कहने लगे– 'देखा, आज पगला बड़ी मुश्किल में पड़ गया। बहुत से लोगों ने उसे गाली दी, मारा-पीटा, अपमान कियो। पगला की काफी दुर्दशा हुई। यह देखकर बड़ा मजा आया।

मैंने पूछा– "आप किसके संबंध में बातें कर रहे हैं? कौन पगला?" ...तो पगला ने कहा– "यह पगला, हरिपद पगला। बुरी तरह यह फँस गया और मैं खड़ा इसे देखता रहा। मैंने उनको भी देखा– जो इसे मारपीट रहे थे, गाली दे रहे थे और उन महाशय को भी देखा जो गाली खा रहे थे, मार खा रहे थे, समझ गये न आप। इस प्रसंग में तीन बिन्दु है– पहला बिन्दु है गाली खाने वाला और दूसरा बिन्दु मार खाने वाला और तीसरा बिन्दु आपको मिल जाए तो समझिये समता। तीसरे बिन्दु में आप प्रतिष्ठित हो जायें समझिए वही समत्व है।

सज्जन और संत में अन्तर है। समत्व की दृष्टि में सज्जन सान्त्वना में जीता। अपमान होने पर वह अपने को ही सान्त्वना देता है। किसी ने गाली दी। वह सोचेगा कि ठीक है। उसका कर्म है, अपने कर्म का फल वह पायेगा। नरक में जायेगा, भगवान न्याय करेगा। इस प्रकार वह अपने को भगवान पर छोड़ दे रहा है। यह एक प्रकार व्यापार है। वह जो स्वयं नहीं करना चाहता। उसे वह भगवान से करवाना चाहता है। इसे समझना नहीं कहा जाएगा। चरित्रगत समता भले ही हों आत्मगत समता वाले नहीं।

आत्मगत समता तो तभी सम्भव है जबकि दो बिन्दुओं के पार तीसरा बिन्दु दिखलाई पड़ना शुरू हो जाता है। जब आपको यह लगने लगे कि यह रहा अपमान करने वाला। यह रहा मेरा रूप, मेरा मान अपमान सहने वाला और यह रहा तीसरा मैं देखने वाला। गाली देने वाला और गाली खाने वाला दोनों की दूरी बराबर होनी चाहिए, तभी समता सधेगी, वर्ना विषमता पैदा हो जायेगी। यह जो साक्षी का भाव है– वही है समता, जीवनमुक्त व्यक्ति समता में जीवित रहता है क्योंकि जीवनमुक्ति आविर्भूत ही होती है साक्षीत्व से।

इस बात को ध्यान में रखना होगा कि सज्जन का जन्म होगा हमेशा सान्त्वना से। सन्त हमेशा जन्म लेगा साक्षी से। सन्त और सज्जन में यही अन्तर है। सज्जन का ऊपरी आवरण सन्त का होगा। भीतर उसके संत का भाव न होगा। भीतर वह कहीं न कहीं दुर्जन अवश्य होगा। एक अर्थ में तो सन्त और दुर्जन में एक समानता

है। दुर्जन भीतर और बाहर दोनों से दुर्जन होता है। मगर सज्जन बाहर सज्जन होता है और भीतर होता है दुर्जन। सन्त बाहर भी सज्जन होता है और भीतर भी। एक अर्थ में दुर्जन से समानता है। वह समानता यह कि दुर्जन भी बाहर-भीतर एक रूप होता है और संत भी होता है एक रूप। बाहर-भीतर रूप भले ही अलग-अलग है मगर बाकी एकरूपता है, दोनों में। जिसे हम सज्जन कहते हैं वह इन दोनों के बीच झूलता है। अटका हुआ है इसीलिए सज्जनों के कष्टों की कोई सीमा नहीं क्योंकि सज्जन का मन तो होता है दुर्जनों जैसा और आचरण होता है सन्तों जैसा।

सन्त जीवनमुक्त है क्योंकि वह तीसरे बिन्दु पर स्थिर है। वह दोनों बिन्दुओं का बस साक्षी मात्र है।

भारतीय मनीषा का कहना है कि जिसने ब्रह्म तत्व को जान लिया, उसकी दृष्टि में संसार पहले जैसा नहीं रहता। यदि वह पहले ही की तरह संसार को देखता है तो समझना होगा कि अभी उसने ब्रह्म ज्ञान को जाना ही नहीं। अभी उसकी अवस्था बहिर्मुखी है।

इस संबंध में योग भारती का कहना था कि संसार में कोई परिवर्तन नहीं होता। संसार वैसा ही रहेगा, जैसाकि है। आपके परिवर्तन से संसार नहीं परिवर्तित होगा। लेकिन आपके परिवर्तन से, आपमें परिवर्तन होने से आपका संसार अवश्य परिवर्तित हो जाएगा। उसमें अवश्य परिवर्तन हो जायेगा।

आपमें जब परिवर्तन होगा। तब जगत जैसा है, वैसा आपके लिए न होगा। आपका सारा ममत्व क्षीण हो जायेगा। सारी संग्रह की हुई धारणायें क्षीण हो जायेंगी। जगत के साथ जो-जो प्रक्षेपक थे अपने। वे भी नष्ट हो जायेंगे। जगत में जो-जो अपेक्षायें थीं वे भी नष्ट हो जायेंगी। संसार से, समाज से, परिवर्तन से, जो-जो मांगे थी, जो-जो इच्छायें थीं वे भी समाप्त हो जायेंगी। संसार व समाज से जो सुख मिलने की आशा थी, विचार था, ख्याल था, वह भी नष्ट हो जाएगा। जगत से दुःख प्राप्त होता है यह भ्रान्ति भी नष्ट हो जाएगी।

जो लोग समाज, परिवार, धन सम्पत्ति, पुत्र पत्नी आदि को छोड़कर संसार से भागने की बात करते हैं। उनसे हमारा यही कहना है कि भागो मत। यात्रा पर आखिर जाओगे कहाँ ? संसार तो सर्वत्र है। अगर तुम्हारे भीतर परिवर्तन नहीं हुआ है, तो कोई दूसरी तुम्हारी पत्नी बन जायेगी। कोई दूसरा घर बन जायेगा, कोई दूसरा व्यापार हो जायेगा। धार्मिक व्यापार भी है। घर नहीं बनेगा तो मठ ही बन जाएगा। पत्नी न होगी तो शिष्याओं की ही भीड़ एकत्र हो जाएगी तुम्हारे पास। तुम्हारे भीतर जो आत्मा बैठी है यदि उसमें परिवर्तन न हुआ तो वह वही करेगी जो पहले कर चुकी है।

इसलिए मेरा कहना है कि भागो मत। जहां हो, जिस स्थान पर हो, जिस अवस्था

और स्थिति में हो उसी में डूबते चले जाओ। खोजते चले जाओ। उस दिन तुम्हारी खोज पूरी होगी। उस दिन तुम अपनी खोज को पूरी समझ लेना।

मेरे कहने का मतलब है कि बराबर खोज करते रहना चाहिए कि कहीं वैसा ही तो नहीं सब कुछ जैसाकि पहले था। नाम बदल जाता है तो वस्तुएँ भी बदल जाती हैं लेकिन भीतर का ढंग यदि वही चल रहा है और सब कुछ वैसा ही दिखलायी दे रहा है जैसाकि पहले दिखलाई दे रहा था तो समझ लेना होगा कि जीवनमुक्ति बहुत दूर है। सत्य काफी दूर है।

सत्य की झलक का अर्थ क्या है?

सत्य की झलक का एकमात्र अर्थ ही यही है कि तुम्हारे और तुम्हारे संसार के बीच जो सम्बन्ध है वह बदल जाए। संसार वही रहेगा। उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन न होगा लेकिन संबंध भी तभी बदलेगा जबकि तुम बदल जाओ। जहाँ तक सुख-दुःख और उसकी प्राप्ति, उनके अनुभवों का प्रश्न है वह प्रारब्ध कर्म है क्योंकि प्रत्येक फल का उदय क्रियापूर्वक होता है। बिना क्रिया के किसी भी स्थान पर, किसी भी प्रकार के फल का उदय नहीं हो सकता।

भारतीय मनीषा कहता है कि जिस प्रकार जाग जाने पर स्वप्न की क्रिया नष्ट हो जाती है वैसे ही 'मैं ब्रह्म हूँ' यह ज्ञान प्राप्त होने पर सभी प्रकार के संचित कर्म स्वयं नष्ट हो जाते हैं।

प्रारब्ध कर्म और जीवनमुक्त- कर्मों के कारण ही सारे सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। यहाँ ऐसा नहीं समझ लेना चाहिए कि जो जीवनमुक्त हो गया है उसे सुख-दुःख, कष्ट-यातना, तकलीफ आदि का होना बन्द हो जाएगा। प्रारब्ध कर्म का फल योग जीवनमुक्त को भी करना पड़ता है।

महर्षि रमण को कैंसर हो गया था। भयंकर पीड़ा व यातना से सारा शरीर जर्जर हो रहा था। मगर आँखों में उसकी कोई झलक न थी। डॉक्टर ने पूछा- आपको तो भयंकर कष्ट हो रहा होगा। रमण ने उत्तर दिया- पीड़ा तो हो रही है, मगर मुझे नहीं हो रही है। मुझे केवल पीड़ा का पता है। मैं शरीर को पीड़ा में डूबा हुआ सिर्फ देख रहा हूँ।

आप प्रश्न करेंगे कि महर्षि रमण जैसे महात्मा, सन्त और जीवनमुक्त व्यक्ति जो पूर्ण ज्ञान को उपलब्ध हैं उनको कैंसर कैसे हो गया? यह तो असम्भव है।

इस प्रश्न के उत्तर में भारतीय मनीषा का कहना है कि जीवनमुक्त उसके पिछले संस्कारों और अच्छे-बुरे कर्मों से है। आत्म जागृति से पूर्व उसने जैसा और जो कुछ लिया है, उसका फल तो भोग के रूप में आएगा अवश्य। मगर उस फल का वह केवल साक्षी मात्र रहेगा, जैसे रमण। वह कर्मफल को और उस कर्मफल को भोगते हुए पार्थिव शरीर को अलग से तीसरा बिन्दु बनकर देखता है। वह यही समझेगा कि वह सब

दुःख-सुख पिछले हजारों जन्मों के कर्मों की श्रृंखला है। मेरा इसमें कुछ भी लेना-देना नहीं। केवल देखता भर रहेगा।

जीवन मुक्त सन्त श्री ब्रह्मचारीजी- काशी के दण्डीघाट के ऊपर बहुत पहले राधाकृष्ण का अति प्राचीन मन्दिर था। उसमें एक जीवन मुक्त सन्त रहा करते थे। लोग उन्हें ब्रह्मचारी कहते थे। मैं उनके सान्निध्य में बहुत दिनों तक रहा।

ब्रह्मचारीजी के चरणों पर कोई फूल चढ़ा जाता या गले में माला डालकर उनके चरणों में झुक जाता। मगर ब्रह्मचारीजी में इसकी कोई प्रतिक्रिया न होती। वे अपलक देखते रहते। वे यही सोचते-समझते थे कि किसी पिछले कर्म की श्रृंखला की यह कोई कड़ी होगी कि यह व्यक्ति मुझे सुख देने आया है। मगर वे सुख को ग्रहण नहीं करते, स्वीकार नहीं करते, वह आदमी देता है, मगर वे लेते नहीं। यदि वे स्वीकार कर लेते हैं तो फिर नये कर्मों की श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है। इसे वे रोकते भी नहीं कि तू मत दे सुख। मत चढ़ा फूल माला। मत छू मेरा चरण। क्योंकि यह रोकना भी कर्म है। फिर कर्म की नई श्रृंखला शुरू हो जाती है।

ब्रह्मचारीजी जैसे अवस्था रमण की भी थी। ऐसी स्थिति में उनका यही भाव होता था कि इस व्यक्ति से अवश्य पिछला कुछ लेना-देना होगा। कोई प्रारब्ध कर्म होगा। उसी को पूरा कर रहा होगा, यह व्यक्ति अब इस लेन-देन के बाद आगे के लिए सिलसिले बन्द कर देना है। जो कुछ था पिछला वह अब यहां समाप्त हो गया। रमण भी निर्विकार बैठे रहते थे। न मना करना और न स्वीकार करना। क्योंकि मना करने का मतलब है कर्म की श्रृंखला आगे के लिये तैयार करना और स्वीकार करने का अर्थ है, नये कर्म को जन्म देना। कोई फूल चढ़ाता है, चरण स्पर्श करता है, उसे वे देखते रहेंगे। कैंसर आ जाय तो उसे भी देखते रहेंगे। दोनों के रहेंगे मात्र साक्षी।

रामकृष्ण भी कैंसर से मरे। बड़ी ही मर्मस्पर्शी कथा है। गले का कैंसर था रामकृष्ण को। पानी पीना कठिन हो गया था। पानी गले के नीचे जाता ही न था। विवेकानन्द से रामकृष्ण का कष्ट देखा नहीं जाता था। एक दिन विगलित स्वर में रामकृष्ण से बोले। आप काली माँ से कह दें, क्षण भर की बात है गला ठीक हो जायेगा।

रामकृष्ण यह सुनकर हँसे। फिर कहने लगे- तू समझता नहीं जो किया है उसका निपटारा कर लेना जरूरी है। नहीं तो, उसके लिये फिर संसार में आना होगा। जो हो रहा है उसे हो जाना जरूरी है उचित है। उसमें किसी प्रकार की भी बाधा डालना पुनर्जन्म के लिए तैयारी करना है।

विवेकानन्द बोले- आपका कहना ठीक है लेकिन माँ से केवल इतना ही बोल दें कि गला इस योग्य थोड़ा हो जाए, जिससे भीतर पानी जा सके, भोजन जा सके। आपकी स्थिति देखकर मुझे असह्य कष्ट है।

ठीक है रामकृष्ण ने कहा- आज माँ से बोलूँगा और जब वे प्रातःकाल उठे तो बहुत हँसने लगे। बोले- बड़ी मजाक की बात कही। मैंने माँ से जब गले की बात कही तो जानते हो, माँ ने क्या कहा- कहा कि इसी गले से क्या पानी पीने का ठेका है? दूसरों के गले से पानी, भोजन करने में तुझे क्या तकलीफ है।

रामकृष्ण कहने लगे- तेरी बात में आकर मुझे बुद्धू बनना पड़ा। नाहक तू मेरे पीछे पड़ा था। यह बात सच है कि इसी गले का क्या ठेका है? तो आज से तू जब भोजन करे, पानी पीये समझना कि मैं तेरे गले से भोजन कर रहा हूँ। पानी पी रहा हूँ।

उस दिन रामकृष्ण पूरे दिन हँसते रहे। डॉक्टरों को आश्चर्य हुआ कि इतनी भयानक यंत्रणादायिनी पीड़ा में भी वह व्यक्ति मुक्त भाव से हँस कैसे रहा है?

रामकृष्ण कहने लगे- न जाने मेरी बुद्धि को क्या हो गया था कि खुद ख्याल नहीं आया कि सभी गले अपने हैं? सभी गले से अब मैं भोजन करूँगा। अब इसी गले की क्या जिद करनी ?

भारतीय मनीषा कहता है कि व्यक्ति कैसी ही परम स्थिति को उपलब्ध हो जाए। शरीर के साथ अतीत बंधा हुआ है। वह पूरा होगा। तभी उससे मुक्ति होगी। सुख-दुःख आते-जाते रहेंगे लेकिन जीवनमुक्त जानता है कि वह प्रारब्ध है और प्रारब्ध समझ कर उनसे भी दूर खड़ा रहेगा और उसके साक्षीजन में, उनसे कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। उसका साक्षीभाव स्थिर है और भारतीय मनीषा फिर कहता है कि जिस प्रकार नींद से जग जाने पर स्वप्न की क्रियायें अपने आप नष्ट हो जाती हैं। वैसे ही अज्ञान की नींद से जागने पर अर्थात ज्ञान लाभ होने पर पिछले करोड़ों जन्मों के संचित अथवा प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं।

जैसे जागने पर सपना गायब हो जाता है वैसे ही अज्ञान की गहरी नींद से जागने पर "मैं ब्रह्म हूँ" यह ज्ञान होने पर, जो भी मैंने किया, वह मैंने कभी किया ही नहीं था खो जाता है लेकिन मेरे यह जान लेने पर भी मेरे शरीर को कोई ज्ञान नहीं होता है। मेरा शरीर तो अपनी यंत्रवत प्रक्रिया में घूमता है। अपनी निर्यात को पूरा करता है। शरीर तो एक यंत्र व्यवस्था है। उसमें जो हो गया, वह जब तक पूरा न हो जाय। तब तक वह विनाश को उपलब्ध न होगा।

इसलिए शरीर कष्ट को झेलेगा ही। ज्ञान को उपलब्ध आत्मा होती है, शरीर तो नहीं इसलिए शरीर को प्रारब्ध कर्मों को, संचित कर्मों को भोगना ही पड़ेगा।

इससे स्पष्ट है कि कर्म का शुभाशुभ फल भोग शरीर को उपलब्ध होता है। आत्मा से उसका सम्बन्ध नहीं। यदि आत्मा अपने आपको शरीर से जोड़ी हुई है तो इस अवस्था में शरीर के साथ-साथ वह भी फल भोग को उपलब्ध होगी। बुद्ध को भी

लीजिए। उनकी भी मृत्यु विषाक्त भोजन के कारण हुई। महावीर की भी मृत्यु भयानक पेचिस के कारण हुई। तो इस प्रकार का विचार उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि ऐसी शुद्धतम्, उच्च और महान आत्माओं को भी ऐसी जघन्य भयंकर बीमारियाँ पकड़ लेती हैं। हमको पकड़े, पापी लोगों को पकड़े, अज्ञानियों को पकड़े समझ में आता है कि कर्म फल का भोग है। रमण को, रामकृष्ण को, बुद्ध को और महावीर को- ऐसा हो तो चिन्ता की बात पैदा होती है मन में कि क्या बात है ?

इसका समुचित उत्तर यह है कि जो व्यक्ति जीवनमुक्त हो जाता है। उसके जीवन की तो यात्रा समाप्त हो गई। उसके लिये अब अगला कोई जन्म नहीं। यही आखिरी जन्म है। आपकी तो आगे की काफी लम्बी यात्रा है। न जाने कितने जन्म लेने हैं आपको। बहुत समय है आपके पास। आप धीरे-धीरे कर अपने कर्म फलों को भोग लेंगे। रमण, रामकृष्ण, बुद्ध, महावीर आदि महान पुरुषों के पास तो समय बिल्कुल नहीं है जो भी समय है वह वर्तमान जन्म का ही है बीस-पच्चीस, चालीस-पचास वर्ष बस इससे ज्यादा नहीं। बिल्कुल नहीं। आपके पास अगले जन्मों-जन्मों का है।

वर्तमान जन्म के थोड़े से समय में सारे कर्म, सारे संस्कार जो संचित हैं, प्रारब्ध कर्म हैं, जो एकत्र हैं, जो इकट्ठे हैं, उन्हें भोगना है सुख के रूप में और दुःख के रूप में भी इसलिये ऐसे जीवनमुक्त महापुरुषों के जीवन में एक साथ दोहरी घटनायें घटती हैं असीम सुख की भी और असीम दुःख, कष्ट की भी। एक ओर परम सुख-शान्ति तो दूसरी ओर परम दुःख और अशान्ति। महावीर को ही लो। जन्म-जन्मान्तर के सारे सुखों के अनुभव के रूप में तीर्थंकर का सम्मान मिला और साथ ही जन्म-जन्मातर के सारे दुःखों के अनुभव के रूप में उन्हें मिला पेचिस का भयानक कष्ट। सुख-दुःख दोनों का इकट्ठा अनुभव, इकट्ठा संघात।

योगी राधाबल्लभ पाल्थी- गुरुवर डॉ० गोपीनाथजी कविराज की कृपा से उन गुप्त योगी और साधकों में से जिनका परिचय मुझसे हुआ था, उनमें एक थे योगी राधाबल्लभ पाल्थी। राधाबल्लभ पाल्थी महाशय नारद घाट की ओर जाने वाली एक पतली सी गली में अकेले रहते थे। मकान छोटा-सा था, काफी पुराना था और जर-जर हो गया था। उस टूटे-फूटे पुराने मकान में केवल दो ही कमरे थे। एक कमरे में पाल्थी महाशय रहते थे और बगल वाला दूसरा कमरा उनका साधना कक्ष था।

योगी राधाबल्लभ पाल्थी की अवस्था साठ-पैंसठ के लगभग थी। पश्चिम बंगाल से चलकर वाराणसी आये थे गुरु की खोज में। उसी समय डॉ. गोपीनाथजी कविराज से उनकी भेंट हुई और उन्हीं के माध्यम से काशी के किसी उच्चकोटि के योगी से योग

दीक्षा ली। वे परम साधक थे। राधाबल्लभ पाल्थी महाशय के यहाँ प्रायः नित्य ही जाना होता था मेरा।

योग के संबंध में चर्चा– वर्तमान युग में योग को लेकर बड़ी भ्रान्त धारणाएँ फैली हुई हैं। कुछ लोग आसनों को ही योग समझते हैं कुछ लोग प्राणायाम को, तो कुछ लोग ध्यान को ही एकमात्र योग मानते हैं।

आसनों का संबंध केवल शरीर से है। इनसे केवल शरीर के सूक्ष्म अवयव पुष्ट होते हैं। प्राणायाम का संबंध प्राणों से हैं। प्राणायाम के फलस्वरूप शरीर का शुद्ध और विकार रहित होना संभव है किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि आसन और प्राणायाम का संबंध सगे भाई के समान है। किस आसन से किस प्राणायाम का संबंध है इसे बिना समझे-दोनों से कोई भी यौगिक लाभ उठाया नहीं जा सकता। प्रत्येक आसन का एक प्राणायाम है। इसे अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

तीसरी वस्तु है ध्यान। ध्यान का संबंध एकमात्र मन से है लेकिन ध्यान के विषय में आज के लोगों को जितना ज्ञान है वह भी भ्रममय है। ध्यान की वास्तविक क्रिया-प्रक्रिया और ध्यान का वास्तविक स्वरूप आज कहीं भी नहीं रह गया। सच्चे अर्थों में उनका किसी को ज्ञान नहीं। ज्ञात होना चाहिए कि ध्यान की चरम स्थिति ही योग का प्रवेश मार्ग है। वहीं से योग प्रारम्भ होता है। अब प्रश्न यह है कि योग क्या है?

इस विश्व ब्रह्माण्ड में जितने भी प्राणी हैं, उनकी जीवदेह की अपेक्षा मानवदेह को अधिक उत्कृष्ट और मूल्यवान माना गया है। मनुष्यत्व, मुमुक्षुत्व और महापुरुष संश्रय, इन तीनों को अत्यन्त दुर्लभ पदार्थ के रूप में वर्णन किया गया है। इन तीनों में भी मनुष्यत्व ही प्रधान है क्योंकि मनुष्य देह की प्राप्ति हुए बिना मुक्ति की इच्छा तथा महापुरुष का आश्रय प्राप्त करना संभव नहीं है।

मानव जीवन का चरमलक्ष्य– मनुष्य जीवन का चरमलक्ष्य है आत्म साक्षात्कार और यही मनुष्यत्व है किन्तु आत्मा के संबंध में भी काफी भ्रम है। कोई मौत के शरीर को आत्मा समझते हैं, कोई इन्द्रिय मन, प्राण, बुद्धि तत्व को आत्मा कहते हैं, कोई तो प्रकृति को ही आत्मा समझते हैं और कोई निर्गुण पुरुष को ही आत्मा की संज्ञा देते हैं लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। यह खण्ड दृष्टि है। यथार्थ यह है कि आत्मा विश्वात्मक होते हुए भी विश्वातीत है और विश्वातीत होते हुए भी विश्वात्मक है। परमात्मा परमतत्व है और आत्मा पूर्णतत्व है। विश्वातीत रूप परमतत्व परमात्मा है और विश्वात्मक रूप पूर्णतत्व आत्मा है। आत्मा के साक्षात्कार के लिए जो मार्ग है उसका अनुसरण करना साधना है। जो इसे स्वीकार करते हैं वे ही एकमात्र साधक हैं।

साधना का लक्ष्य है इच्छा का प्रणाश और इच्छा शक्ति का पूर्ण विकास। यही पूर्ण विकास ही योग है किन्तु ज्ञान के बिना यह संभव नहीं।

पूर्णतत्व और परमतत्व दोनों क्रमशः पराशक्ति और परमाशक्ति है। एक विश्वात्मक है तथा दूसरा विश्वातीत है एक खण्ड है और दूसरा अखण्ड है।

इस शक्ति के साथ नित्य संबंध अथवा नित्य तादात्म्य का ही नाम योग है। विश्वात्मक खण्ड पराशक्ति से तादात्म्य का नाम योग है। विश्वातीत अखण्ड परम शक्ति से नित्य संबंध अथवा तादात्म्य का नाम महायोग अर्थात अखण्ड महायोग है। अखण्ड महायोग के संबंध में हम आगे विस्तार से चर्चा करेंगे।

इसी प्रकार एक योगी है और दूसरा मंहायोगी अथवा परम योगी। जिसका पराशक्ति के साथ नित्य योग है वह योगी है और जिसका परमशक्ति के साथ नित्य योग है, यह परमयोगी है।

योगी और परमयोगी तथा योगेश्वर्य- उदाहरण के रूप में अग्नि को ही लीजिए। अग्नि में लोहे का टुकड़ा डाल दीजिए। वह टुकड़ा अग्नि के साथ युक्त होने के कारण अग्नि की लालिमा और उसकी दाहक क्रिया धारण कर लेता है। अग्नि के साथ गुण उस टुकड़े में आ जाते हैं। इसी को आप योगी का दृष्टान्त समझ सकते हैं।

लोहा, लोहा ही है पर अग्नि के संयोग से वह अग्नि-भावापन्न और आदाहशक्ति सम्पन्न हो जाता है। उसी प्रकार साधनापथ पर चलकर मनुष्य के महाशक्ति के साथ युक्त होने पर उसमें अनन्त शक्तियों के द्वार खुल जाते हैं। वह 'योगी' होता है। यह शक्ति का विकास जीव का अथवा मनुष्य का धर्म नहीं है। वह तो महाशक्ति के अनुग्रह और संयोग से प्राप्त सतत् है। योग के द्वारा वह सतत मनुष्य में प्रकाशित होती है। इसी को योगेश्वर्य कहते हैं।

परमगति अथवा परमपद- मैंने प्रश्न किया- अग्नि से बाहर आ जाने पर लोहे में अग्नि के सभी गुण नहीं रहते। वह भाग पूर्ववत् लोहा ही हो जाता है। महाशक्ति से अलग होने पर तब तो मनुष्य भी फिर योगी नहीं रह जायेगा। दूसरी बात यह भी है कि अधिक समय तक अग्नि में लोहा रहे तो गल भी सकता है।

इसके उत्तर में पाल्थी महाशय ने बतलाया कि यह ठीक है। यदि वह संबंध नित्य अच्छेय और अभिन्न है तो उसे 'योग' कहा जाता है, वर्ना नहीं। अग्नि और लोहे का संबंध नित्य और सार्वकालिक हो तो लोहा में अग्नि का गुण व धर्म सर्वत्र विद्यमान रहता है। अग्नि की प्रबलता से लोहा यदि भस्म हो जाता है, तो लोहे की अपनी सत्ता कहाँ रही? मध्य अवस्था ही योग है। यदि योग को समझना हो तो दोनों अवस्थाओं का त्याग कर मध्य की स्थिति पकड़नी चाहिए यानि अग्नि का सान्निध्य। वह अग्नि में लीन हो जाता है। दूसरे पक्ष में लोहे की अग्नि के सान्निध्य

के विषय में व्यवधान इतना अधिक हो सकता है कि अग्नि का कोई धर्म ही मानों संचरित नहीं हो लोहा, लोहा ही रहता हो।

ये दो प्रान्त भाव हैं। योग के उत्कर्ष से अभेद होता है। अपकर्ष से भेद होता है। मध्य अवस्था ही वास्तविक योग है। वैसे तो महाशक्ति के साथ योग तो सदा सभी के साथ रहता है। उससे तो किसी को योगी नहीं का जा सकता। मैंने पुनः प्रश्न किया- ऐसा भी तो हो सकता है कि लोहा अग्नि हो जाने पर भी लोहा रहे। उसका स्वरूप लुप्त नहीं होता और वह अग्नि के साथ अभिन्न हो जाता है। वह अग्नि होकर भी अग्नि नहीं है और न होकर भी अग्नि है।

पाल्थी महाशय ने कहा- यही वास्तविक योगी की अवस्था है। जागतिक योगी का यही आदर्श है। वास्तविक योग अभेद को प्राप्त होकर भी भेद की रक्षा करता है फिर भेद में रह कर भी अभेद के गौरव से महानतम् है। इस तथ्य के भीतर बहुत सी गुह्य बातें है। बिना कर्म मार्ग पर चले उन्हें जाना नहीं जा सकता।

मेरा प्रश्न था- ऐसे योगी कौन हैं?

वह योगी एकमात्र ईश्वर हैं। वे महायोगी, योगेश्वर हैं। परम योगी हैं वे ही आदर्श और उपास्य हैं।

क्या ईश्वर और परमाशक्ति अभिन्न नहीं है, दोनों को एक ही महासत्ता के दो नाम नहीं कहा जा सकता?

कह सकते हैं लेकिन यह काफी गहन विषय है। यहाँ केवल इतना ही समझ लेना पर्याप्त होगा कि ईश्वर या परमेश्वर उपासक हैं और परमाशक्ति अथवा परमेश्वरी उपास्य है। ईश्वर होकर ही महाशक्ति की उपासना करनी चाहिए इसलिए योगी का पथ ईश्वर का पथ है। योगी का प्रयास ईश्वर होना है इसलिए महायोगी ईश्वर ही योगपथ का परम आदर्श है। योगी के ईश्वरत्व पाने पर भी उनका निजस्वरूप लुप्त नहीं होता। वैसे ही ईश्वर भी नित्य योगी होने से निरन्तर महाशक्ति की उपासना कर रहे हैं उसी के फलस्वरूप उनके साथ एकात्मता लाभ कर रहे हैं। फिर भी ईश्वर रूप में उनका अपना स्वरूप लुप्त नहीं हो रहा है।

योग के मूल में 'माँ' है यानी परमाशक्ति। मनुष्य उन्हें पहचानता नहीं। ईश्वर उनको पहचानते हैं इसीलिए ईश्वर पथ का अनुसरण करने वालों को ईश्वर, मनुष्य से उनका परिचय करा देते हैं अतः ईश्वर ही सद्गुरु या विश्वगुरु हैं। ईश्वर के सिवाय माँ को भला कौन समझ सकता है? कौन पहचान सकता है? माँ कौन हैं ?

माँ, आत्मा स्वंयं हैं। हमारी आत्मा, विश्व की आत्मा, ईश्वर की आत्मा, एक अद्वितीय परम आत्मा माँ ही सबकी शक्ति हैं। ईश्वर की भी शक्ति है। मूल में वही सब कुछ है। जहाँ जो शक्ति तुम देखते हो, सभी का मूल उन्हीं में है, सभी शक्तियाँ

उन्हीं का आभास मात्र हैं। जिस आधार में जितना प्रकट होता है उतने ही का आभास दिखलायी पड़ता है।

वेद और तंत्र, ज्ञान और कर्म : परम तत्व, परमाशक्ति, विश्वातीत अखण्ड यह परम ज्ञान है यही परम ज्ञान चार अवस्थाओं में विभक्त होकर चारों वेद के रूप में प्रकाशित है।

इसी प्रकार पूर्णतत्व, पराशक्ति, विश्वात्मक, खण्ड यह कर्म है यह भी चार अवस्थाओं में विभक्त होकर तंत्र के रूप में प्रकट है।

वेद, परमेश्वर वाचक है और तन्त्र है परमेश्वरी वाचक। वेद ज्ञान प्रधान है जबकि तन्त्र है कर्म प्रधान।

ज्ञान, योग का मूल वेद और कर्मयोगी का मूल तंत्र समझा जाता है। सभी प्रकार के योगों में केवल ये ही दो योग प्रधान हैं, महत्वपूर्ण हैं।

कर्म को ज्ञान में और ज्ञान को कर्म में आयत्त करने का ही नाम साधना है। **योगः कर्मसु कौशलम्** का मूल अभिप्राय भी यही है। मगर ज्ञान और कर्म को आयत्त करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। ज्ञान के रहने पर कर्म नहीं रहता और कर्म के रहने पर ज्ञान भी नहीं रहता। एक साथ दोनों की सत्ता अत्यन्त दुर्लभ है। यह मानों बाघ और बकरी की मैत्री है अतः दोनों के आयत्तकरण के प्रकृष्ट विज्ञान का जन्म होता है। यही प्रकृष्ट विज्ञान योग विज्ञान और तंत्र विज्ञान के नाम से अभिहित है।

योग विज्ञान के मूल में इच्छाशक्ति काम करती है जबकि तंत्र विज्ञान के मूल में प्राणशक्ति और मनःशक्ति काम करती है, यही पार्थक्य है।

मैंने प्रश्न किया- चित्तवृत्ति निरोध भी योग है, इसके संबंध में आपका क्या विचार है?

यह ठीक है लेकिन इसके वास्तविक रूप से बहुत ही कम लोग परिचित हैं। चित्तवृत्ति का निरोध ऐसा होना चाहिए कि उस अवस्था में द्रष्टा पुरुष अप्रने स्वरूप में अवस्थित रहे। बुद्धि की तरंगों में अपने को खो न डाले यानी वृत्ति के स्वरूप से मुक्त अथवा पृथक हो यह चित्त की वृत्तिहीन अवस्था है किन्तु जड़त्व नहीं है, क्योंकि साक्षी जागरूक रहता है।

परम ज्ञान और गुह्य ज्ञान- पाल्थी महाशय की दृष्टि में ज्ञान के दो प्रकार हैं- पहला है परमज्ञान जिसे वेद का पर्याय समझा जाता है और दूसरा है गुह्य ज्ञान जिसे तंत्र पर्याय माना गया है। इन दोनों प्रकार के ज्ञान का जो सारभूत तत्व है वही उपनिषद के नाम से प्रसिद्ध है।

ज्ञान के मूल में जो शाश्वत शक्ति काम करती है उसे विद्या कहा जाता है। इसका विद्या जितनी सूक्ष्म होगी उतनी बुद्धि की पकड़ के बाहर हो जाएगी। इसका

कारण है हमारे अन्तःकरण की अशुद्धि और अपवित्रता। सत्य जितना सूक्ष्मतम् होगा उतना ही हमारे व्यवहार में आने के योग्य नहीं रह जायेगा।

हमारा अन्तःकरण शुद्ध होना चाहिए। व्रत, उपवास धार्मिक विचार, तप, स्वाध्याय आदि क्रियायोग इसी के शुद्धीकरण के लिए है। अन्तःकरण जैसे-जैसे शुद्ध होता जाएगा वैसे ही वैसे विद्या के सूक्ष्मतम् रूप को और सत्य के शुद्धतम् को हमारी आत्मा ग्रहण करती चली जाएगी।

पाल्थी महाशय का कहना है- हमारे देश में जीवन के लिए जिस परमज्ञान को ऋषियों ने उपलब्ध किया है केवल उसकी चर्चा, परिचर्चा करने में ही हम अपना समय व्यतीत कर देते हैं और इसी में एक दिन जीवन समाप्त हो जाता है। उस परमज्ञान को जीवन में अपनाने और जीवन में उतारने का हम विचार ही नहीं करते। यदि चाहें भी तो कोई मार्ग दिखलायी नहीं पड़ता।

परमज्ञान को जानने का केवल इतना ही अर्थ अथवा मतलब होता है कि हम कुछ शब्द समझ जाते हैं, कुछ अर्थ समझ जाते हैं, कुछ सिद्धान्त जान जाते हैं तथा कुछ शास्त्र रट लेते हैं। इन सबसे कोई लाभ नहीं। इन सबसे बुद्धि का पात्र भरता जाता है लेकिन हृदय कलश खाली का खाली, रिक्त का रिक्त रह जाता है। यह सबसे अधिक खतरनाक और भयंकर स्थिति है इसलिए भयंकर है कि भरी हुई बुद्धि से हमें प्रतीत होता है कि जो ज्ञान और विद्या प्राप्त करनी थी उसे हमने प्राप्त कर लिया जबकि हृदय के भीतर सब खाली, सब रिक्त, वहाँ कुछ भी नहीं रहता भिखारी के पात्र की तरह।

आत्मा भिखारिन की तरह रह जाती है लेकिन बुद्धि को राजा बन जाने का भ्रम हो जाता है। ऐसी भरी हुई बुद्धि से अज्ञान भला है। जितने इस प्रकार के बुद्धिमान लोग भ्रम में पड़ते हैं उतने अज्ञानी लोग नहीं। बुद्धिमान समझते हैं कि हमने सब जान लिया, जबकि वे वास्तव में कुछ भी ज्ञान के बारे में नहीं ज़ानते। बुद्धि हमें आन्तरिक रूप से नहीं बदल सकती। ज्ञान हमें भीतर और बाहर दोनों प्रकार से बदल देता है किन्तु उसके लिए हमें स्वयं बदलाव का प्रयास करना चाहिए।

जिसे हम ज्ञान कहते और समझते हैं और उसको अपनाकर अपने को ज्ञानी समझते हैं वास्तव में उस ज्ञान से हमें आन्तरिक रूप से अथ़वा आत्मा की दृष्टि से कोई लाभ नहीं। उससे हमारे भीतर कोई परिवर्तन नहीं हो पाता। हम यहाँ उस ज्ञान की चर्चा कर रहे हैं जो आत्मा का धर्म है, जो आत्मा को तुष्ट करता है, हृदय कलश को भरता है। उसे प्राप्त करने के पूर्व रूपान्तरण चाहिए। यदि हम रूपान्तरण नहीं करते तो उसे हम समझ ही नहीं सकेंगे। पहली प्रतिक्रिया है रूपान्तरण या परिवर्तन

अन्तःकरण से नहीं होता है तो बुद्धि के संग्रह की उपयोगिता की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह आत्मवचना समझी जाएगी।

हम तो यही कहेंगे कि इससे अच्छा है कि मनुष्य अज्ञानी ही बना रहे बजाय ज्ञान की वचना में पड़ने के। हम इस प्रकार के ज्ञानी से अज्ञानी को ही श्रेष्ठ समझते हैं क्योंकि अज्ञानी फिर भी विनम्र और सहिष्णु होता है जबकि इस प्रकार के ज्ञानीगण को अहंकार और दम्भ उनको ले डूबता है।

अज्ञानी भीतर ही भीतर रोते हैं पीड़ित और व्यथित होते रहते हैं जबकि ज्ञानी दम्भ और अभिमान से अकड़े रहते हैं और वे समझते हैं कि उनके ज्ञान की प्यास अब बुझ चुकी है। उन्हें सब कुछ प्राप्त हो गया। ऐसे ज्ञानीगण यह नहीं समझते कि सपने में लगी प्यास को सपने में ही पानी पीकर प्यास को बुझाने के समान है यह ज्ञान।

सपने में आपको प्यास लगती है, भूख लगती है, कामवासना भी जागृत होती है। सपने में ही आप शीतल जल पीकर प्यास बुझा लेते हैं। उत्तम भोजन कर भूख भी मिटा लेते हैं। सुन्दरियों के साथ रमण कर कामेच्छा को भी तृप्त कर लेते हैं। इस प्रकार आपकी स्वप्न स्थिति में आवश्यकता और पूर्ति दोनों हो जाती है। आपकी नींद टूटने से बच जाती। लेकिन क्या जागने पर आपको तृप्ति का अनुभव होता है। अगर प्यास लगी है तो जागते ही पानी पीएंगे। भूख लगी है तो जागते ही भोजन करेंगे।

जिस प्रकार सपने में आपकी आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है उसी प्रकार जागरण अवस्था में भी हो जाती है सारी पूर्ति लेकिन इस जागरण को भी स्वप्न ही समझना चाहिए। जागरण भी एक लम्बे सपने के अलावा और कुछ भी नहीं है। जागरण में भी ज्ञान की झूठी स्मृति, ज्ञान के झूठे बोध से आप अपने अज्ञान को छिपा लेते हैं।

समझ गये आप? संसार का अस्तित्व वैसे ही समाप्त हो जाता है जैसे रात नींद में चली जाती है। चेतना ही मुख्य है। एक अवस्था और एक ही समय में चेतना आपकी एक ही आयाम में काम करती है। उसके आगे-पीछे का ज्ञान बोध उसे उस अवस्था में नहीं रहता। चेतना का यह प्राकृतिक धर्म है। यदि चेतना अपने इस धर्म का पालन न करे तो मनुष्य का जीवन, जीवन ही नहीं रह जाएगा। एक महान क्रान्ति घटित हो जाएगी फिर।

वह क्रान्ति क्या है? उसी क्रान्ति का नाम है 'संन्यास', उसी क्रान्ति का नाम है मुक्ति और उसी क्रान्ति का नाम है परमनिर्वाण।

नींद की अवस्था में चेतना, स्वप्न में काम करती है। नींद टूटने पर जागृत अवस्था में काम करती है लेकिन जागृत अवस्था भी स्वप्न ही है। संन्यास का अर्थ केवल इतना ही है कि अब आप संसार में निद्रा की भांति चलने को तैयार नहीं हैं। अब

आप जागकर जीना चाहते हैं। बस, इतना ही है संन्यास का मतलब।

मृत्यु के बाद भी हमारी चेतना इस आयाम से दूसरे आयाम में चली जाती है और तब यह संसार सपना सा लगता है और फिर धीरे-धीरे विस्मृत हो जाती है। जो व्यक्ति किसी भी आयाम में नहीं रहता उसे ही मुक्ति कहते हैं और जो व्यक्ति सभी आयामों से परे हो जाता है उसे ही निर्वाण कहते हैं। हम नहीं चाहते हैं कि लोग हमारा साहित्य पढ़कर अपने ज्ञान को थोड़ा बढ़ा ले। हम तो यह चाहते हैं कि लोग थोड़े से बदल जाए। लोगों की दृष्टि बदल जाए। स्मृति नहीं, लोगों की प्रज्ञा बदल जाए, जानकारी नहीं।

सत्य बड़ा कठिन है। सत्य से टकराना और जूझना मामूली बात नहीं क्योंकि सत्य आपको वहां नहीं छोड़ेगा जहाँ आप हैं। सत्य आपको बदल देगा, मिटा देगा, तोड़ देगा, नया कर देगा, नया जन्म दे देगा। अभी तो आप सोये हैं। नया जन्म आपको वास्तव में जगा देगा। जिसे आप जीवन कहते हैं वह एक क्षमता है, जीवन नहीं है। वह एक ऐसी क्षमता है जिससे जीवन का निर्माण किया जा सकता है और क्षमता का नाम अध्यात्म ज्ञान।

अध्यात्म ज्ञान और गुरु-शिष्य संबंध- पाठशालाओं, कॉलेजों आदि में जो ज्ञान हमें अपने गुरु से प्राप्त होता है वह ज्ञान प्रकार की संगृहीत राशि है। फर्क केवल यही है कि ज्ञान को गुरु जानता है और शिष्य नहीं। गुरु अपने शिष्य को वह ज्ञान प्रदान करता है, हस्तान्तरित करता है। एक दाता है एक ग्राहक है। ऐसा ज्ञान धन, सम्पत्ति, जमीन-जायदाद की भांति है जो एक दूसरे को देता है। गुरु के पास ज्ञान की सम्पत्ति है, उसे वह अपने शिष्य को देता है। लेकिन आपको मालूम होना चाहिए कि एक ऐसा भी ज्ञान है जिसे हस्तान्तरित नहीं किया जा सकता। गुरु प्रदान नहीं कर सकता। जिसे प्रदान करने का कोई मार्ग नहीं है। उस ज्ञान की प्राप्ति तभी संभव है जबकि गुरु और शिष्य दोनों एक साथ मिल कर, एक साथ रह कर साथ-साथ पुरुषार्थ करें। उपनिषद का यह सूत्र इसी तथ्य की ओर संकेत करता है-

सहवीर्य करताव हैं। जेतस्वि नावधीतमस्तु।।

इस तथ्य को भलीभांति समझ लेना होगा। एक ज्ञान जिसे हम आप जानते हैं और जिसका लेन-देन होता है। ऐसा ज्ञान शब्द का मात्र ज्ञान है। शब्द के द्वारा उसका आदान-प्रदान होता है इसलिए वह शब्द ज्ञान है। वह सतही होगा, ऊपरी नहीं। शब्द से अधिक वह हो ही नहीं सकता। उसका वजन उतना ही होगा, जितना शब्द का होगा। उसका मूल्य कभी भी होगा उतना ही, जितना कि शब्द का होगा। ऐसे शब्द ज्ञान को आपने

किसी से पाया होगा और जिस तरह पायां होगा, उसी तरह से आप किसी को देंगे भी। शब्द ज्ञान, ज्ञान नहीं है अज्ञान है और अज्ञानियों द्वारा ही उसका लेन-देन अथवा आदान-प्रदान होता है। लोग समझते हैं कि ज्ञान की वृद्धि हो रही है। समाज ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति कर रहा है, जबकि बात बिल्कुल विपरीत ही होती है। वह ज्ञान है ही नहीं। हमारे वेदों और उपनिषदों में जिस ज्ञान की चर्चा की गयी है, वह ज्ञान ऐसा नहीं है जो इस प्रकार लिया-दिया जा सके। उसका आदान-प्रदान किया जा सके।

योगी शशिनाथ कैवल्य– योगी राधाबल्लभ पाल्थी महाशय के पश्चात जिस परम साधक से मेरी भेंट हुई, वह थे योगी शशिनाथ कैवल्य। गृहस्थ साधक थे शशिनाथ कैवल्य। गुरुवर डॉ० गोपीनाथजी कविराज के स्थान पर प्रायः सत्संग के उद्देश्य से आया करते थे वह। वहीं उनसे परिचय हुआ मेरा सन् १९५३ में। जब यह ज्ञान हुआ कि उनका मकान मेरे निवास स्थान के समीप है तो काफी सुविधा हुई मुझे। जब भी अवसर उपलब्ध होता उनके यहाँ चला जाता और घण्टो अध्यात्म के विविध प्रसंगों पर चर्चा करता। शशिनाथ कैवल्य निःसन्देह योगी थे इसका अनुभव कई बार हुआ था मुझे। कहने की आवश्यकता नहीं उनसे योग के विषय में जो कुछ उपलब्ध हुआ उसे प्रस्तुत कर रहा हूँ मैं यहाँ।

सत्संग : सद्गुरु अपने शिष्य से कहता है वास्तविक ज्ञान प्राप्त करने के लिए हम दोनों को एक साथ मिल कर पुरुषार्थ करना चाहिए। हम दोनों साथ-साथ रहेंगे। साथ-साथ ध्यान करेंगे, प्रार्थना करेंगे। अभ्यास करेंगे। मौन में, विचार में, शब्द में, सब में, सब में साथ-साथ रहेंगे। हम दो शरीर एक प्राण, एक मन और एक आत्मा की तरह रहेंगे।

योगीगण इसी अवस्था को सत्संग कहते हैं। यही सत्संग है। इसी के फलस्वरूप जो नहीं दिया जा सकता है वह प्राप्त हो जाता है। परोक्ष में उपलब्ध हो जाता है गुरु से शिष्य को। जो शब्द में व्यक्त नहीं हो सकला वह मौन से प्राप्त होता है। उसका उत्तर मौन में मिल जाता है। यह घटना सत्संग से घटित। सत्संग का ही यहाँ दूसरा नाम पुरुषार्थ है। गुरु से सीखना नहीं पड़ता। गुरु के साथ शिष्य का होना ही पर्याप्त है। सीखना सरल और सहज है। साथ रहना ठीक है। दूर से भी रहकर सीखा जा सकता है। उसके लिए निकटता की आवश्यकता नहीं लेकिन साथ होने के लिए निकटता तो परम आवश्यक है और निकटता के लिए भी आन्तरिकता की परम आवश्यकता है।

परम ज्ञान अथवा आध्यात्मिक ज्ञान की आन्तरिकता के लिए परम श्रद्धा, गहरा प्रेम और गहरी व्याकुलता चाहिए। गुरु-शिष्य दोनों को अधिक से अधिक निकट की

क्षमता भी चाहिए। इसीलिए प्राचीन काल में गुरुकुल की व्यवस्था थी। शिष्य गुरु के परिवार यानी कुल में जाकर पारिवारिक सदस्य की भांति सम्मिलित हो जाता था। एक हो जाता था। निकटता दोहरी होती है। दोनों ओर से होती है इसीलिए उपनिषद कहता है गुरु-शिष्य दोनों पुरुषार्थ करें, पराक्रम करें, साधना करें।

कुछ लोगों ने हमसे प्रश्न किया है कि सद्गुरु कौन है? उससे आपका क्या तात्पर्य है? गुरु दो प्रकार के हैं। पहले को तो हम गुरु की संज्ञा देंगे। मगर दूसरा सद्गुरु कहलाएगा। गुरु की भी अपनी बड़ी साधना है। ज्ञान के सभी ज्ञाता गुरु नहीं हो सकते। ज्ञान के क्षेत्र में जाग जाना एक बात है और दूसरे को भी जगाना बिल्कुल अलग बात है। गुरु का मतलब जो स्वयं जगा है लेकिन दूसरे को जगा नहीं सकता।

जो स्वयं जगा हुआ है और दूसरे को भी जगा सकने में समर्थ है- वह सद्गुरु है। गुरु की साधना है- सत्य को जानने की। सद्गुरु की साधना है- सत्य को संक्रमित करने की। उपनिषद में एक स्थान पर ऋषि कहते हैं- माँ विद्विभाव। जिसका मतलब है- हम किसी से द्वेष न करें। संसार में रहने के लिए लौकिक अभ्युदय और उन्नति के लिए यहाँ तक की सत्य की खोज तथा ज्ञान की आकांक्षा के लिए, ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा आदि आवश्यक है। इसके अभाव में हम आगे नहीं बढ़ सकते। संसार में जितनी भी प्रकार की उन्नतियाँ है उनके आधार ये ही हैं। संसार में किसी भी यात्रा के लिए प्रतिस्पर्धा और ईर्ष्या आवश्यक है। इनके बिना, आप संसार की यात्रा कर ही नहीं सकते। जितनी गहरी प्रतिस्पर्धा होगी, उतने आप सफल होंगे जीवन में।

जितनी गहरी ईर्ष्या होगी उतना ही आप अपने पैरों पर खड़े हो सकेंगे लेकिन परमात्मा की दिशा में नहीं। अध्यात्म की दिशा में नहीं। योग के मार्ग में नहीं। वहां इन सारी बातों का त्याग करना होगा। राग-द्वेष, ईर्ष्या-प्रतिस्पर्धा आदि से अपने को अलग कर देना होगा। इन सबसे मुक्त हो जाना होगा।

योगमार्ग की ओर- योगमार्ग की ओर, अध्यात्म की ओर अथवा योगमार्ग की ओर पग उठाने के लिए आपके भीतर आनन्द चाहिए, उल्लास चाहिए, प्रेम चाहिए, सरलता चाहिए, भीतर प्यास होनी चाहिए।

तब आप उस स्थान पर पहुँच सकेंगे जहाँ यह कह सके ॐ शान्ति, ॐ शान्ति, ॐ शान्ति अर्थात् सब शान्ति, सब शान्त, सब विराम, सब आनन्द। आसन और प्राणायाम की अवस्था है क्रमशः बारह और सोलह वर्ष की आयु। यदि आप पच्चीस वर्ष की अवस्था को पार कर गये तो आपको इन दोनों की कोई आवश्यकता नहीं।

तो फिर.....

आपके लिए योगमार्ग पर चलने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता इस बात की

है कि आपको इस तरह जीवन में रहना है जिसमें जीवन ऊर्जा कम से कम खर्च हो। इसे आप अच्छी तरह समझ लें कि वास्तविक योग साधना में जीवनी शक्ति और जीवन ऊर्जा ही सब कुछ है। ये जितनी अधिक मात्रा में होगी, उतना आप आगे बढ़ सकेंगे।

आप ऊर्जा को अधिक एकत्र करें। शक्ति को भी अधिक से अधिक मात्रा से संचित करें। यहां इस बात को समझ लें कि जीवनी शक्ति और शक्ति ऊर्जा में थोड़ा अन्तर है। जीवनी शक्ति, आपके चलने-फिरने, बोलने चालने और सोचने-विचारने में खर्च होती है। देखने-सुनने में भी खर्च होती है लेकिन जीवन ऊर्जा के व्यय का मार्ग एक ही है और वह है सम्भोग। सम्भोग में जो वीर्य का व्यय होता है उसी में निहित है जीवन ऊर्जा। आप यह भी समझ लीजिए कि जीवनी शक्ति और जीवन ऊर्जा दोनों का मूलस्रोत एकमात्र आत्मा है। आत्मा की शक्ति ही इन दो रूपों में विभक्त होकर मन के द्वारा प्रकट होती है इन्द्रियों द्वारा व्यय होती है।

जिस समय आपको मेरी यह रचना पढ़ने को मिले और आप पढ़े, उसी समय से आप शक्ति और ऊर्जा को संगृहीत करने का अभ्यास शुरू कर दें। आपका यह अभ्यास योग का प्रथम चरण होगा।

१. आपकी इन्द्रियाँ, आपकी शक्ति को खर्च करने के साधन हैं, व्यवस्थाएँ हैं। आप अपने दैनिक जीवन में अपनी इन्द्रियों का उपयोग कम से कम करें। अपने नेत्रों को अधिक से अधिक बन्द रखें। अति आवश्यकता पड़ने पर ही उनका उपयोग करें। अग़र यह संभव नहीं है तो २४ घण्टे में कम से कम १ घण्टे नेत्र बन्द रखने का अभ्यास करें। इस अवस्था में नेत्र पर पट्‌टी बांध लें। अच्छा होगा।

२. इसी प्रकार कुछ घण्टे निकाल कर कानों से सुनने का काम बन्द रखे रूई डालकर कानों को बन्द कर दें। किसी भी प्रकार की ध्वनि भीतर प्रवेश न करने पाये। ध्यान अवस्था में एकान्त व शान्त स्थान पर रहें तो अति उत्तम होगा। आपका यह अभ्यास भी कम-से कम एक घण्टे का होना चाहिए।

आँख और कान का जितना भी उपयोग आप करते हैं उतनी अधिक शक्ति आपकी खर्च होती है। यह शक्ति खर्च भौतिक है लेकिन जब आप इन क्रियाओं द्वारा शक्ति का भौतिक खर्च कम कर देंगे तो उतने समय के लिए वह शक्ति भीतर की ओर प्रवाहित होने लगेगी लेकिन वह खर्च न होगी। दोनों क्रियाओं में आप पहले आँख बन्द करने का काम करें, क्योंकि आँख से अधिक शक्ति व्यय होती है इसीलिए यह काम सबसे अधिक आवश्यक है। क्योंकि आन्तरजगत की जिस वस्तु को हम देखना चाहते हैं, उसके लिए हमें भीतरी आँख का उपयोग करना है और उस भीतरी आँख का ही नाम है तीसरा नेत्र जो भौंहों के मध्य में स्थित है।

शक्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता। शक्ति वही है जो बाहर भी आँख के काम आती है और भीतर भी आँख के काम में आती है।

जब आप नेत्र बन्द करें तो उस स्थिति में आप अपने मन को धीरे-धीरे दोनों भौंहों के बिल्कुल बीच में एकाग्र करने का प्रयत्न करें। इससे प्रथम लाभ तो यह होगा कि नेत्र की शक्ति जो भी प्रवाहित हो रही होती है वह शनैः-शनैः उस स्थान पर एकत्रित होने लग जाएगी। पहले चींटी के रेंगने जैसा अनुभव होगा बाद में नहीं। काफी अभ्यास के बाद ही शक्ति और नेत्र की शक्ति आपस में मिलकर एकाकार हो जायेंगी।

दोनों भौंहो के बीच के स्थान पर जिसे तीसरा नेत्र कहा जाता है चने की दाल के बराबर एक शुभ्र ज्योतिर्मय बिन्दु का आविर्भाव होगा। वह बिन्दु वैसा ही है जैसा कैमरे का शक्तिशाली लेन्स होता है। उस लेन्स से आपको सामने का दृश्य बिल्कुल स्पष्ट दिखलायी पड़ता है उसी प्रकार उस बिन्दु के भीतर छोटे, किन्तु दृश्य दिखलायी देंगे। इसलिए ऋषियों को 'द्रष्टा' यानी आन्तरजगत को देखने वाला कहा गया है। इसी प्रकार कहा गया है- उस द्रष्टा की अनुभूति का दर्शन। द्रष्टा की अनुभूति का नाम है दर्शन। वह अनुभूति छह प्रकार से होती है इसलिए दर्शन की भी संख्या है- छः यानी षड्दर्शन।

बाहरी ध्वनि रहित अवस्था- कान को बन्द रखने की क्रिया रात्रि में यह काम करें तो और अच्छा होगा। जिस प्रकार भीतर के दृश्य देखने और उनकी अनुभूति करने की व्यवस्था नेत्र बन्द करना है। उसी प्रकार कानों को बन्द कर आन्तर ध्वनि को सुनने की व्यवस्था है। बाहर की ध्वनि में और भीतर की ध्वनि में काफी अन्तर है। भीतर की ध्वनि अति सूक्ष्मतम् है, जबकि बाहर की ध्वनि में कोलाहल, हलचल और तमाम दुनिया भर के उपद्रव भरे पड़े हैं। कानों को इस प्रकार बन्द कर रखें कि जिससे बाहर की आवाज जरा सी भी भीतर न जाए। इस स्थिति में मन को भी बिल्कुल शान्त रखें और अपने हृदय के ऊपर उसे केन्द्रित करने का बराबर प्रयास करें और जिस अवस्था में आपका मन। बिल्कुल केन्द्रित हो जाएगा उसी अवस्था से आपको आन्तरजगत की ध्वनियाँ सुनायी पड़ने लग जायेंगी। जबतक आपका मन पूर्ण रूप से केन्द्रित नहीं जो जायेगा तबतक कान की शक्तियाँ भीतर केवल प्रवाहित ही होती रहेंगी। एकाग्र अथवा केन्द्रित होते ही दृश्य, अनुभूति और ध्वनि-श्रवण एक हो जाएगा। ऐसी स्थिति में आपको जो आन्तरजगत के दृश्य दिखलायी देंगे, उनसे संबंध रखने वाली ध्वनियाँ भी आपको साथ ही साथ सुनायी देगी और बराबर उनका आन्तर अनुभव भी आपको होता रहेगा। वैसे ही सब कुछ होगा जैसे आप फिल्म देखते हैं और अनुभव करते है।

३. आँख और कान के बाद है आपकी वाणी। आपके बोलने से भी शक्ति का

व्यय होता है। शक्ति क्षय का यह तीसरा साधन है। आप कम से कम बोले। न बोलना, अति उत्तम है। चौबीस घण्टे में कम से कम एक घण्टे का मौन धारण आवश्यक है। आपके इस मौन धारण से वाणी द्वारा जो शक्ति खर्च होती है वह भीतर की ओर प्रवाहित होने लग जाएगी। मौन धारण की अवस्था में आप अपने मन को कण्ठ पर केन्द्रित करने का प्रयास करें।

मौन धारण की इस साधना की सफलता का परिणाम है- वाणी सिद्धि। आपके शब्दों में मंत्र जैसी शक्ति पैदा हो जायेगी। आपके भीतर बन्द शक्ति की एक ऐसी ध ारा प्रवाहित होने लग जायेगी। जो आन्तर में उत्पन्न होने वाली ध्वनि को शब्द रूप में सुन सकेगी और वह शब्द होगा आन्तर लोकों का अथवा सूक्ष्म लोकों का। उसी को कहते हैं दिव्य वाणी, दिव्य शब्द। इन तीनों प्रकार की साधनाओं के लिए एकान्त और शान्त स्थान होना आवश्यक है।

यह भोग का नहीं, योग का जीवन है और योग के जीवन का प्रारम्भ इन्हीं तीनों क्रियाओं से प्रारम्भ होता है। योग मार्ग का यह प्रथम सोपान है। आप जब से जन्म लेते हैं तब से बोलते ही रहते हैं, सुनते ही रहते हैं और देखते ही रहते हैं मगर जिन्दगी में देखने, सुनने और बोलने से क्या मिला आपको? क्या पा लिया आपने? जरा सोचिए, विचार करिए।

वास्तविक जीवन वही है- जिसमें इन्द्रियों की शक्ति का उपयोग भीतर होता है, आन्तरिक जीवन में होता है। जो ऐसा जीवन व्यतीत करते हैं वे ही योगी हैं और हैं साधक। शारीरिक श्रम भी आपको कम करना है। श्रम कम से कम करें, क्योंकि इससे भी शक्ति का व्यय काफी मात्रा में होता है। व्यर्थ का भ्रमण न करें। प्रातःकाल किसी वृक्ष के नीचे बैठे या लेट कर नेत्र बन्द कर लें और चुपचाप अपने शरीर पर मन को केन्द्रित रखें। घर पर रहें तो उस समय भी आप अपने हाथ-पैर को कम से कम हिलाये डुलायें। उनका कम से कम उपयोग करें। आवश्यकतानुसार ही करें अधिक से अधिक विश्राम और अधिक से अधिक इन्द्रिय निरोध यह साधना का प्रथम लक्ष्य है।

४. साधना के इस प्रथम सोपान में चौथी बात है भोजन से सम्बन्धित। भोजन कम से कम करना चाहिए। जो भोजन करें वह सात्विक हो, हल्का हो। गरिष्ठ न हो। गरिष्ठ अथवा तामसिक भोजन को पचाने में बहुत सारी शक्तियाँ खर्च होती है। जितनी शक्ति आपको भोजन से नहीं मिलती उतनी तो इसे पचाने के काम में खर्च हो जाती है जो सिवाय तरह-तरह की बीमारी के और कुछ नहीं पैदा करती है। भोजन कम करें। पेट को हल्का रखें। इसके फलस्वरूप शक्ति ऊपर की ओर जाएगी। ऊपर की ओर प्रवाहित होगी। अधिक भोजन करने पर तथा पेट के भारी रहने पर शक्ति नीचे

की ओर प्रवाहित होती है क्योंकि भोजन को पचाने के लिए उसे पेट में जाना पड़ता है। यही कारण है कि भोजन के बाद आपको आलस्य का अनुभव होता है। नींद आने लगती है, क्योंकि मस्तिष्क को अपनी शक्ति पेट को देनी पड़ती है, फलस्वरूप मस्तिष्क शिथिल और सुस्त हो जाता हैं। आपको मालूम होना चाहिए कि यही कारण है कि भूखे व्यक्ति को अथवा उपवासी व्यक्ति को नींद नहीं आती। इसका मूल रहस्य केवल इतना ही है कि भूख अथवा उपवास के समय शक्ति की धारा मस्तिष्क की ओर बहने लगती है। मस्तिष्क के तन्तु जागृत रहते हैं। शक्ति से भरे होते हैं।

यह हुई शक्ति को अन्तर्मुखी करने तथा उसे केन्द्रित करने की बात। अब ऊर्जा के संबंध में भी समझ लेना चाहिए। शक्ति के व्यय होने के आँख, कान, और वाणी तथा इनके अलावा शारीरिक श्रम मुख्य साधन है। मगर ऊर्जा के व्यय होने का मात्र एक ही साधन है और वह है सम्भोग। जैसाकि हम पहले बतला चुके है। ऊर्जा से संबंधित साधना अथवा क्रिया रात्रिकालीन है। हम आपसे इस विषय में दो बात कहेंगे। पहली बात यह है कि आपको ऊर्जा की रक्षा करनी है। उसका बाहरी उपयोग नहीं करना है। कम से कम करना है, दूसरी बात यह है कि ऊर्जा को भीतर कैसे पैदा करना है, कैसे एकत्र करना है और कैसे प्रवाहित करना है। आप यह समझ लें कि आपके पास जितनी भी ऊर्जा है उसका व्यय आप नित्य, दैनिक, साधारण अथवा असाधारण कार्यों में करते हैं। शोक, भय, लज्जा, संकोच, क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, प्यार; विचार, मनन, चिन्तन आदि में ऊर्जा का अधिक से अधिक व्यय आप करते हैं और अन्त में जो ऊर्जा बच जाती है, वह 'कामवासना' में केन्द्रित हो जाती है। वही शेष बची हुई ऊर्जा, आप में कामवासना को पैदा करती है।

बाहरी दृष्टि से ऊर्जा के क्षय को रोकने का एकमात्र साधन है ब्रह्मचर्य। ब्रह्मचर्य के लिए कम से कम भोजन करना, सात्विक भोजन करना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य की साधना इससे काफी सरल हो जाएगी। मगर इसे आप ब्रह्मचर्य न समझ लें। केवल यह ब्रह्मचर्य को सरल करने का एक उपाय है। यदि आप एक महीना भोजन न करें तो आपका रस तत्व-स्त्री रस तत्व में बदल जायेगा। यदि आप स्त्री हैं, तो आपका रस तत्व पुरुष के रस तत्व में बदल जायेगा। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आपके अथवा आपके व्यक्तित्व में परिवर्तन हो गया। वह इसलिए बदल गया है कि जो ऊर्जा रस के लिए कार्य करती थी वह अब उत्पन्न ही नहीं हो रही है।

कामकेन्द्र, ऊर्जा का आन्तर प्रवाह और कुण्डलिनी निर्माण- पुरुष के अण्डकोष का ही नाम कामकेन्द्र है। अतिरिक्त ऊर्जा इसी कामकेन्द्र में एकत्र होती है। साथ ही साथ आप यह भी समझ लें कि कामकेन्द्र ऊर्जा उत्पन्न करने का भी केन्द्र

है। एक ही कामकेन्द्र, ऊर्जा को एकत्र भी करता है। ऊर्जा को पैदा भी करता है और ऊर्जा को खर्च भी करता है। केन्द्र एक ही है लेकिन ऊर्जा का पैदा होना, एकत्र होना और खर्च होना तीनों काम वहाँ होता है।

यदि आप चाहें तो ऊर्जा पैदा कर सकते हैं और ऊर्जा को एकत्र भी कर सकते हैं लेकिन नहीं, अधिकतर आप ऊर्जा को खर्च करते हैं। सम्भोग द्वारा बाहर निकाल देते हैं उसे। जितना आप उसे पैदा नहीं कर पाते, एकत्र नहीं कर पाते उससे अधिक आप उसका व्यय कर डालते हैं। आपके शरीर का सबसे महत्वपूर्ण यंत्र है कामकेन्द्र लेकिन उस यंत्र का सदुपयोग और दुरुपयोग करना आप पर निर्भर है।

सदुपयोग तो योगी ही एकमात्र करना जानता है। वह ऊर्जा को उत्पन्न करना, एकत्र करना और उसका सदुपयोग करना-तीनों जानता है। वह अपने इच्छानुसार जितनी ऊर्जा चाहे उत्पन्न कर सकता और एकत्र कर सकता है। संसारी लोगों की ऊर्जा नीचे की ओर प्रवाहित है इसी का नाम भोग अथवा काम है। योगी लोग ऊर्जा को ऊपर की ओर प्रवाहित करते हैं। ऊपर की ओर प्रवाहित ऊर्जा ही एकत्र होकर कुण्डलिनी शक्ति के रूप में परिवर्तित हो जाती है। ऊर्जा की साधना-रात की साधना है और साधना का प्रयोग कुण्डलिनी का प्रयोग है। यदि आप इस साधनात्मक प्रयोग को करें तो आपका व्यक्तित्व अभूतपूर्व हो जाएगा। आपका आन्तर जीवन बदल जायेगा लेकिन इसके पूर्व आपको आंख, कान और वाणी की साधनाएँ कर लेनी होंगी। तभी इस प्रयोग में आपको सफलता मिलेगी।

आपके सोने का स्थान एकान्त में होना चाहिए। कोलाहल या किसी भी प्रकार की आवाज वहां न हो। आपका बिस्तर मुलायम हो। खाट नहीं तख्त हो। आप जब सोने जायें तो यह सोच-समझ लें कि आप अपने सारे कामों को पूरा कर चुके हैं। कोई काम शेष नहीं है आपका। निवृत्त और निश्चिन्त हैं। अब आप नींद की स्थिति में जाने के लिए तैयार हैं। पीठ के बल लेटने में आपको सुविधा है तो वह ठीक। सारे शरीर को ढीला बिल्कुल ढीला छोड़ दें। नेत्र को बन्द कर लें और अपने मन को कामकेन्द्र पर ले जायें और इस बात का अनुभव करें कि कामकेन्द्र आपका शनैः-शनैः सक्रिय हो रहा है और उसके भीतर शक्ति परिभ्रमण कर रही है, गोलाकार रूप में चक्कर काट रही है। जबतक आपके भीतर कम्पन न शुरू हो जाय तबतक आपका मन वैसी स्थिति में रहे।

कम्पन वैसा ही होगा, रोमांच भी वैसा ही होगा, जैसा कि सम्भोग की अवस्था में होता है। शरीर को पूरा-पूरा कम्पित और रोमांचित होने दें। धीरे-धीरे आपका पूरा शरीर गर्म होने लगेगा, होने दें। शरीर को बराबर ढीला रखें। मन को कामकेन्द्र पर

ही रखें और फिर उसके पश्चात मन में यह भावना करें जैसे आग की लपट ऊपर की ओर उठती है उसी प्रकार कामकेन्द्र से ऊर्जा ऊपर की तरफ उठ रही है और उस ऊर्जा को उसी केन्द्र पर ले जाना है दोनों आँखों के बीच यानी भ्रू-मध्य में। आप भावना करें कि वह ऊर्जा वहां एकत्र हो गयी है और वहां चक्र की तरह घूमना शुरू कर दिया है। इस भावना के समय आप कामकेन्द्र को बिल्कुल ही भूल जायें और भ्रूमध्य पर मन को स्थिर किये हुए सो जायें। प्रातःकाल जब आपकी नींद खुले तो तुरन्त पहले ख्याल करें भ्रूमध्य केन्द्र का। आपको वहाँ स्पष्ट गति की, तीव्र गति की अनुभूति होगी।

योग साधना मार्ग में इस अनुभूति का भारी महत्व है। यही वह अनुभूति है- जो साधना मार्ग को प्रशस्त करती है। यही वह अनुभूति है- जिस पर ध्यान योग के द्वारा मन को केन्द्रित करने पर आपका अस्तित्व आन्तरजगत में प्रवेश कर जाता है अर्थात आप अपने पार्थिव शरीर को पार्थिव जगत में छोड़कर अपने सूक्ष्म शरीर द्वारा सूक्ष्म जगत में चले जाते हैं। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि यह सारी क्रियाएँ और साधनाएँ दो दिन में सफल नहीं होती, इनका बराबर अभ्यास करते रहना चाहिए। हमने चार प्रयोग बतलाये हैं- आँख का, कान का, वाणी का और कामकेन्द्र का। ये चारों प्रयोग अलग-अलग हैं, लेकिन लक्ष्य एक ही है और वह लक्ष्य है, आन्तरजगत में प्रवेश। जबतक हम आन्तरजगत में प्रवेश नहीं कर जाते हैं तबतक योग अथवा तंत्र की साधना आगे कदापि नहीं बढ़ सकती। इसलिए योग तांत्रिक साधना, सूक्ष्म शरीर, सूक्ष्म जगत से सम्बन्ध रखती है-

नेत्र साधना का परिणाम है- दृश्यावलोकन।
कर्ण साधना का परिणाम है- ध्वनि शक्ति
वाणी साधना का परिणाम है- शब्द शक्ति
कामकेन्द्र साधना का परिणाम है- आन्तरजगत में प्रवेश।

जैसाकि हमने बतलाया है प्रथम तीन साधना शक्ति प्रधान साधना है। अन्तिम एवं चौथी साधना ऊर्जा प्रधान है। चारो प्रयोग क्रम से करना चाहिए। जब एक में सफलता मिल जाय, तभी दूसरा प्रयोग शुरू करना चाहिए। अन्तिम कामकेन्द्र की साधना है। यहीं सबसे महत्वपूर्ण साधना है योग के प्रथम चरण की। जो अतिरिक्त ऊर्जा वासना की पूर्ति के लिए व्यय की जाती है और जिसका परिणाम क्षणिक सुख या आनन्द के सिवाय और कुछ नहीं था, वही अतिरिक्त ऊर्जा उपर्युक्त प्रयोग द्वारा ऊपर उठ कर आपके तीसरे नेत्र को मिल जाती है और उस तीसरे नेत्र के मार्ग द्वारा आपके अस्तित्व को आन्तरजगत में ले जाती है। जहां आपके लिए सत्य के दर्शन की सम्भावना है।

इस प्रसंग के अन्त में कैवल्यजी ने बतलाया कि योग और तंत्र की जितनी भी आन्तरिक साधनाएं हैं वे सब सूक्ष्म शरीर और आन्तरजगत से संबंध रखती हैं और आन्तरजगत में प्रवेश करने के लिए एकमात्र साधना योग मार्ग के प्रथम चरण की अन्तिम साधना कामकेन्द्र की साधना है।

योग अथवा तंत्र की वास्तविक साधना सूक्ष्म शरीर से प्रारम्भ होती है। इसे ही प्राण शरीर कहते हैं। इसके संबंध में हम आगे विस्तार से बतलाएंगे। योग में काम केन्द्र की साधना का नाम रस साधना है योग पर तंत्र साधना में इसी को बिन्दु के नाम से सम्बोधित किया गया है। तंत्र के अनेक सम्प्रदाय हैं और प्रत्येक सम्प्रदाय के आन्तर की साधना की कई दिशायें है किन्तु सभी साधनाओं का प्रथम मुख्य लक्ष्य है बिन्दु सिद्धि।

इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि विशुद्ध योग मार्ग में बिन्दु का लक्ष्य है भ्रूमध्य स्थित तीसरे नेत्र से ऊर्जा का सम्पर्क करना और ध्यान योग की विशेष क्रियाओं द्वारा आन्तरजगत में प्रवेश कर सूक्ष्म शरीर, मनोमय शरीर आदि शरीर द्वारा साधना करना। इस बात को भी ध्यान रखना चाहिए कि शरीरों के अनुसार ऊर्जा में भी परिवर्तन होता जाता है और अन्त में आत्मशरीर में लीन हो जाता है लेकिन तंत्र मार्ग की साधना में ऐसी बात नहीं। उसके सिद्ध सिद्धान्त के अनुसार अन्नमय कोश का सारांश वीर्य या शुक्र धातु है और प्राणमय कोश का सारांश ओजस है। योगमार्ग में जहाँ शुक्र अर्थात केवल ऊर्जा को महत्व दिया गया है वहीं तंत्र मार्ग में ऊर्जा के साथ ओजस का भी मूल्य समझा गया है। शुक्र वीर्य का तत्व है और ओजस उस तत्व का सारांश है। मन की शक्ति के सहयोग से तंत्र मार्ग ऊर्जा और ओज का समन्वय कर साधना करता है। तात्पर्य यह है कि तंत्र मार्ग की साधना में दो की प्रधानता और महत्व है।

तंत्र योग का कहना है कि संसारी लोगों का शुक्र, प्राण और मन तीनों अशुद्ध और वासनामय व चंचल रहता है। जबतक इनका शुद्धिकरण नहीं हो जाता तबतक साधना में उन्मेष कदापि सम्भव नहीं। साधना की भिन्नता के अनुसार कोई मन पर, कोई प्राण पर, तो कोई बिन्दु पर प्राधान्य आरोपित करता है। तांत्रिक क्रिया के प्रभाव से सर्वप्रथम बिन्दु की निर्मलता और स्थिरता की सिद्धि होती है।

बिन्दु साधना का मूलस्रोत रस साधना है। वैदिक काल में रस साधना में बिन्दु साधना का ही स्थान सर्वोपरि माना जाता था। साधना की दृष्टि से ब्रह्मचर्याश्रम और गृहस्थाश्रम का अपना महत्व था। पहले आश्रम का लक्ष्य था बिन्दु शोधन। शोधन का मतलब था वीर्य की अशुद्धि का निवारण अर्थात शुद्धीकरण। मलिनता का निवारण।

उस समय सभी प्रकार से बिन्दु क्षोभ यानी वीर्यपात निषिद्ध था। कायिक, मानसिक, वाचिक- तीनों प्रकार से क्योंकि अशुद्ध बिन्दु क्षुब्ध होने पर अर्थात चंचल होने पर प्रकृति के नियम के अनुसार अधोगति पतन की ओर उन्मुख होता है। इसी का नाम जो च्युत न हो वह अच्युत है। भगवान श्रीकृष्ण को अच्युत कहा गया है। च्युत का परिणाम है मृत्यु। इस बिन्दु को धारण कर योगीकरण उसे उर्ध्वगामी करते हैं और उसके फलस्वरूप अमरत्व लाभ करते हैं।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात यह सिद्धान्त सर्वसम्पन्न है। बिन्दु शोधन और बिन्दु प्रतिष्ठा दोनों ब्रह्मचर्याश्रम में ही साधित होता है। प्रतिष्ठा का तात्पर्य है अच्युत की अवस्था। गृहस्थाश्रम के शुद्ध और प्रतिष्ठित बिन्दु के ऊर्ध्वगमन की साधना चलती थी।

वेदोपनिषद में बिन्दु को रत कहा गया है। ऊर्ध्व बिन्दु अथवा ऊर्ध्वरेता की अवस्था में साधक का अन्तःस्राव सदैव ऊर्ध्वगामी है। यही साधक की दिव्य अवस्था है। वैदिक काल और उपनिषदकाल में गृहस्थाश्रम में नवपरिणीता पत्नी के साथ यह साधना चलती थी। स्त्री को धर्ममाचरेत का यही तात्पर्य है। कालान्तर में तांत्रिक युग में प्रस्थान भेद और आम्नाय भेद के अनुसार नवयौवना कुमारी कन्या को तंत्र की गुह्य दीक्षा प्रदान कर उसके साथ इस साधना की परम्परा शुरू हुई। शैव सम्प्रदाय में यह साधना स्वकीया नायिका के साथ चलती थी किन्तु कौल सम्प्रदाय, शाक्त सम्प्रदाय आदि गूढ़ तांत्रिक सम्प्रदायों में परकीया नायिका जिसे भैरवी और महाभैरवी की संज्ञा दी जाती थी के साथ साधना चलती थी। आज भी यह परम्परा पूर्ववत् जीवित है।

बौद्ध सम्प्रदाय में बिन्दु बोधिचित्त के नाम से प्रसिद्ध है। बौद्धों की महासुख साधना इसी गुप्त रस साधना का ही एक प्रकार से भेद मात्र है। उपनिषद में बिन्दु साधना पंचाग्नि विद्या के नाम से सम्बोधित की जाती है। वास्तव में तंत्र का यह अति गम्भीर, गोपनीय और रहस्यमयी साधना है। अब तक परम्परागत रूप में यह साधना गुप्त ही है।

साधक हरिपद बन्दोपाध्याय- डॉ० गोपीनाथजी कविराजजी के सम्पर्क वाले प्रच्छन्न साधकों में एक थे साधक हरिपद बन्दोपाध्याय भी। पहले कभी ढाका विश्वविद्यालय में किसी विषय में प्राध्यापक थे। मन में वैराग्य उत्पन्न होने पर नवद्वीप चले गये और वहां संन्यास लेकर साधना करने लगे। कुछ ही समय में उनकी समाधि लगने लगी। कभी-कभी दो-दो, तीन-तीन दिन समाधि की अवस्था में ही रहने लगे और उसी अवस्था में उनका सम्पर्क उच्चकोटि के योगियों की आत्माओं से जुड़ने लगा। सम्भवतः ये सब उनके पूर्व जन्मों के संस्कारों का ही प्रतिफल था। लगभग ३-४

वर्ष नवद्वीप में रहने के पश्चात साधक हरिपद बन्दोपाध्याय महाशय जगन्नाथपुरी चले गये और वहां कुछ काल व्यतीत कर वाराणसी आ गये। आहार और निद्रा इन दोनों पर विजय प्राप्त थी उनकी। पूरे चार वर्ष उनके सम्पर्क में रहा मैं और उस अवधि में जो कुछ आध्यात्मिक उपलब्धि हुई मुझको, उसी का सारांश यहां प्रस्तुत है।

आत्मा, मन और प्राण– जीव सृष्टि विज्ञान में आत्मा, मन, प्राण ये तीनों महत्वपूर्ण तत्व हैं। इन तीनों के समन्वय से एक नये तत्व का आविर्भाव होता है। जिसे हम चेतना तत्व कहते हैं। तीनों तत्व अपने-अपने स्थान पर स्वतंत्र हैं जबकि चेतन तत्व का अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। जब वह आत्मा से युक्त होता है तो आत्म चेतना कहलाता है। जब मन के साथ युक्त होता है तो मन चेतना और जब प्राण के साथ युक्त होता है तो प्राण चेतना कहलाता है।

आत्म और प्राण के बीच में मन काम करता है और मन का अस्तित्व केवल मनुष्य में है इसलिए वह मनुष्य है, मानव है। जिसमें मन की प्रधानता हो वह मानव है। आत्मा और मन ये दोनों एक ही तत्व दो रूप हैं। मात्र दोनों में भेद इतना ही है कि मन क्रियाशील है जबकि उसकी क्रियाशीलता का साक्षी आत्मा है। मन जब आत्मा के निकट अधिक होता है तब उस स्थिति में वह मनन, चिन्तन, विचार आदि करता है। जब-जब वह प्राण के सन्निकट होता है तो चंचल हो उठता है तब उसे चित्त कहते हैं।

आत्मा एक स्वतंत्र तत्व है। वह कभी भी और किसी भी अवस्था में परतंत्र नहीं हो सकता इसीलिए वैदिक सृष्टि विज्ञान ने आत्मतत्व को अलग रखा। उससे सम्बन्धित चिन्तन, मनन और अन्वेषण को भी अलग रखा। यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि वैदिक सृष्टि विज्ञान का आधार एकमात्र प्राण है जिसे आज के वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार किया है। मन, प्राण, वाक् जो क्रमशः सत, रज और तमोगुण प्रधान है वैदिक सृष्टि विज्ञान के अनुसार विश्व रचना का आधार है। सृष्टि की वैदिक कल्पना इसी त्रिक पर आधारित है। भौतिक सृष्टि के लिए मन, प्राण के साथ एक तीसरा तत्व भी सम्मिलित होता है जिसको वाक् कहते हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पंचभूतों का ही नाम वाक् है। आगे के गूढ़ विषयों को समझने के लिए इतनी ही तात्विक समीक्षा पर्याप्त है।

वैदिक विज्ञान और वैदिक विद्या– जहाँ तक वैदिक विज्ञान का प्रश्न है यह सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड का विज्ञान है लेकिन वैदिक विद्या का संबंध केवल सृष्टि से समझना होगा। वैदिक विद्या का ही दूसरा नाम सृष्टि विद्या है। सृष्टि की तमाम रहस्यमयी प्रक्रियाओं की तात्विक व्याख्याएं नाना प्रकार की वैदिक विद्याओं के रूप में उपलब्ध है। उन विद्याओं का विस्तार असीम है।

विश्व के तमाम रहस्यों की व्याख्या ऋषि और वैज्ञानिक दोनों अपनी-अपनी दृष्टि से करते हैं मगर एक की व्याख्या के मूल में ध्रुव विश्वास होता है और दूसरे की व्याख्या के मूल में रहता है तर्क, जिज्ञासा, भ्रान्तिजन्य विश्वास।

वेद के सम्बन्ध में पूर्व और पश्चिम के विचार- वेदों के विषय में पूर्व और पश्चिम के चिन्तकों के अपने-अपने पृथक दृष्टिकोण हैं। पश्चिम के मनीषियों ने वेद को मानवीय मस्तिष्क की प्रारम्भिक चेतना की अटपटी उक्तियाँ माना है। उनका कहना है कि वेदों में न परम्परा संगति है और न तो सुलझे हुए अर्थो की स्थापना ही। उनके विचार में वेद, धार्मिक विश्वासों के विजड़ित पौधे मात्र हैं। जिनके बहुत सारे अंश बुद्धि की परिधि के परे हैं। बुद्धिगम्य नहीं है। बालक जिस आश्चर्य और कौतूहल से विश्व को देखता है उसी की छाया मंत्रों में स्पष्ट दिखलायी पड़ती है। उनमें किसी समन्वित या सुप्रतिष्ठित दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक विचार की कल्पना नहीं की जा सकती है किन्तु भारतीय मनीषियों की परम्परागत दृष्टि वेदों को परिपूर्ण ज्ञान के रूप में स्वीकार करती है। जिसे दिव्य समष्टि ज्ञान कहा जाता है वेद की शब्दमयी अभिव्यक्ति है। इस अवस्था से वैदिक अर्थों के प्रति नयी श्रद्धा का जन्म होता है किन्तु खेद का विषय यह है कि आज हमारे देश में कई वेदानुसंधान सस्थाएं हैं और वेद पर अनेक दृष्टि से शोध कार्य भी हो रहे हैं, मगर वे संस्थाएं और शोध प्राचीन संकीर्णता की सीमा के भीतर ही हैं। आज का युग विज्ञान का युग है। वेदों के सूक्तों मंत्रों और शब्दों की भी वैज्ञानिक दृष्टि से व्याख्या होनी चाहिए तभी वैदिक विज्ञान और वैदिक विद्याएं अन्धकार से निकल कर प्रकाश में आ सकेंगी।

वैदिक ज्ञान दिव्य समष्टि ज्ञान अर्थात अपौरुषेय ज्ञान है। हम उसे विश्वास ज्ञान भी कहते हैं। मानव मन में अब तक जितना जो कुछ आ सका है और समा चुका है और जो भविष्य में उसके मन में प्रतिभासित होगा उन सबका स्रोत वही विश्वात्मक ज्ञान है।

वाक् तत्व- वाक् के दो रूप हैं- एक परा और दूसरा अपरा। अपरा स्थूल शब्दमयी वाक् है। यह बुद्धि का स्पर्श करती है अथवा बुद्धि के द्वारा प्रकाशित होती है। मगर परावाक् मूल अक्षर तत्व है जो हृदय का स्पर्श करती है और उसमें प्रवेश कर अपनी शक्ति से जीवन का निर्माण करती है।

जीवन तत्व- वैदिक सृष्टि विज्ञान में जीवन तत्व की व्याख्या अत्यन्त विस्तृत है। वैदिक सृष्टि में प्रजापति विद्या का प्रमुख स्थान है। प्रजापति विद्या के दो प्रधान रूप हैं अग्नि विद्या और संवत्सर विद्या। पहली शक्ति तत्व और दूसरी काल तत्व प्रधान है। दोनों के सम्मिलित रूप का नाम यज्ञ विद्या है।

ज्ञान और कर्म की जितनी भी शक्ति है- उन सबका प्रतीक अग्नि है। जितने देवता हैं वे सब अग्नि के ही रूप हैं। जितनी भी शक्तियाँ हैं- उनके मूल और तूल दोनों रूपों में अग्नि ही है। अग्नि का मतलब है- **"एक एवाग्निर्बहुधा समृद्धिः"**। जिसका समिन्धनक होता है यानी जो दहकती है उसको अग्नि कहते हैं। हम अग्नि को प्रत्यक्षतः नहीं देख सकते है, जबतक वह भूत के माध्यम से प्रकट न हो। वेद में भूत को क्षर कहा गया है और उस क्षर में भीतर निवास करने वाले अक्षर को देव कहा गया है।

क्षरः सर्वाण भूतानि कुटस्थोक्षर उच्चते। अक्षर से ही क्षर का जन्म होता है। मतलब यह है कि अक्षर ही देव तत्व या शक्ति तत्व है अतः शक्ति तत्व की अभिव्यक्ति के तीन रूप हैं। अभिव्यंक्ति का पहला रूप है- वृक्ष, वनस्पति। दूसरा रूप है- पशु, पक्षी और तीसरा रूप है- मनुष्य। इन तीनों अभिव्यक्तियों में जो शक्ति तत्व काम करता है उसे प्राणाग्नि कहा जाता है। प्राण या जीवन चैतन्य का ही रूप है। यह विश्व ब्रह्माण्ड का सबसे बड़ा रहस्य है।

प्रजापति विद्या का सबसे उत्कृष्ट और रहस्यात्मक रूप प्राण या जीवन है। प्राण का ही नाम आयु है, जीवन है। प्राण विद्या ही समस्त विद्याओं में श्रेष्ठ और मूर्धन्य है इसलिए विश्वविद्या है। प्रकृति के द्वारा पंचभूत प्राण और मन इन तीनों का समन्वय होकर जीवन का निर्माण होता है। जीवन तत्व के क्या नियम हैं और उसका क्या रहस्य है? इसी की छानबीन वेद विद्या का मुख्य लक्ष्य है। जहाँ भी जीवन है उस स्थान को यह कहा जाता है और उसका आरम्भ प्राण के स्पन्दन से होता है। प्राणशक्ति का रूप है और शक्ति सदा दो सहकारी रूपों में प्रकट होती है। जिन्हें ऋण और धन, रूप कहते हैं। मूलभूत प्राण के ही प्राण (धन) और अपान (ऋण) दो भेद हैं।

प्राण का स्वरूप स्पन्दन है। सिकुड़ना और फैलना यही स्पन्दन का रूप है। **"प्राणों वै सम नं व्रसारणं"** प्राण के इसी सिकुड़ने और फैलने को वैदिक भाषा में **"एति च प्रेति च"** कहते हैं। यही जीवन का रूप है। परिचयात्मक रूप से प्राण को शक्ति या ऊर्जा कह सकते हैं। प्राण शक्ति अत्यन्त सूक्ष्म है। इन्द्रियों से उसे ग्रहण करना असम्भव है। जब वही प्राण शक्ति स्थूल रूप में विकसित होती है तब उसे मैटर कहते हैं। दृश्यमान जगत के मूल में इसी तत्व को माना गया है।

वैश्वानर अग्नि- विश्व में जितनी गति है सब स्पन्दन का ही रूप है। वही प्राण है। पंचतत्व या भूतों से बना शरीर एक प्रकार का निर्जीव यंत्र मात्र है किन्तु वह प्राण द्वारा ही संचरित होता है। प्राण प्रत्येक पुरुष में चेतनात्मक क्षेत्र प्रजापति के रूप में उसे जीवित रखता है। **"प्राणोऽस्मि प्रात्मा"** के अनुसार प्राण के साथ प्रज्ञा सहयुक्त है। मन, प्राण, वाक् के सम्मिलन में जो नयी शक्ति पैदा होती है उसे वैश्वानर कहते हैं। मन, प्राण, वाक् (माइण्ड, लाइफ, मैटर) इन तीनों के मिलन से ही जीवन की

अभिव्यक्ति होती है। जैसाकि बतलाया जा चुका है इसी अभिव्यक्ति के तीन क्षेत्र हैं १. वृक्ष-वनस्पति, २. पशु-पक्षी और ३. मनुष्य। पहले में पंचभूत की, दूसरे में प्राण या क्रियाशक्ति की और तीसरे में इन्द्रिय शक्ति या मनस्तत्व अथवा प्राणात्मक प्रज्ञा तत्व की प्रधानता है। किन्तु तीनों में एक-एक की प्रधानता होते हुए भी तीनों में रहते हैं लेकिन मन की प्रज्ञायुक्त प्रधानता होने के कारण मनुष्य में ही मात्र आत्मतत्व का आविर्भाव होता है। वृक्ष-वनस्पतियों में पंचभूत की प्रधानता है, लेकिन प्राण की भी मात्रा उनमें रहने के कारण उनका विकास और वर्द्धन होता है। अगर प्राण की मात्रा न हो तो ये दोनों क्रिया शक्ति के रूप में अभिव्यक्त होते किन्तु उनमें भी मन की मात्रा सम्मिलित रहती है। परन्तु "मनोमय कोश" नहीं रहता। मनोमय कोश केवल मनुष्य में है। इसी कारण मनुष्य अपने भावों को, आनन्द को हँसकर अथवा मुस्कुरा कर व्यक्त कर सकने में समर्थ है। पशु-पक्षी मनोमय कोश के अभाव में हँस नहीं सकते, मुस्कुरा नहीं सकते। अल्पमात्रा में केवल मनस्तत्व के कारण केवल विशेष क्रियाओं द्वारा थोड़ा बहुत भावों को व्यक्त कर सकते हैं। जीवन विज्ञान के अनुसार वृक्ष-वनस्पतियों में ७५ प्रतिशत पंचभूत और २५ प्रतिशत प्राण रहता है। पशु-पक्षियों में ७५ प्रतिशत प्राण और २५ प्रतिशत मनस्तत्व रहता हैं। यहाँ यह समझ लेना चाहिए कि मनस्तत्व और मनोमय कोश में अन्तर है। इन्द्र को मनस्वान कहा गया है- **"यो जात एव प्रथमों मनस्वान देवो देवान"** जहाँ एक या एक से अधिक इन्द्रियों का विकास है वहाँ मनस्तत्व उपलब्ध है। जहाँ पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्द्रियाँ हैं वहाँ मन का पूर्ण विकास यानी मनोमय कोश है और पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और पंच कर्मेन्दियाँ केवल मनुष्य में है अन्य किसी भी प्राणी में नहीं। उसमें मनस्तत्व की अभिव्यक्ति "प्रज्ञा" के रूप में है। अन्नमय कोश, प्राणमय कोश ये दो कोश पशु-पक्षियों में होता है जबकि मनुष्य में इन दोनों के अलावा मनोमय कोश, आनन्दमय कोश और विज्ञानमय कोश ये तीन और कोश होते हैं। जहाँ ये पाँचों कोश हैं वहीं आत्मा प्रकाशित होती है अर्थात आत्मतत्व का आविर्भाव होता है। एवमेव वैदिक परिप्रेक्ष्य में हमने तीन तत्वों की मनस्तत्व, प्राणतत्व और वाक्तत्व की समीक्षा की है। मन, प्राण, वाक् ये तीनों जहाँ एक ओर आध्यात्मिक ज्ञान के मूलाधार हैं वहीं योग विज्ञान के भी आधार है। योग की आन्तरिक साधना मन, प्राण, वाक् को ही केन्द्र बिन्दु मानकर चलती है। योग साधना अध्यात्म विद्या की सर्वोच्च साधना है किन्तु जबतक योग विज्ञान से संबंध रखने वाले मूलभूत तथ्यों से उनके सिद्धान्तों से हम पूर्णरूप से परिचित नहीं हो जाते तबतक हम साधना की न गंम्भीरता को समझ सकते हैं और न तो साधना की गहराई में ही प्रवेश कर सकते हैं।

हमारे सामने बन्धन, मोक्ष, विद्या, अविद्या, जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, तृरीय, अन्नमय,

प्राणमय, मनोमय, आनन्दमय कोश और जीवन, जीवात्मा, परमात्मा, माया आदि बहुत से ऐसे शब्द हैं जिनसे संबद्ध विषयों से हमारे तमाम शास्त्र भरे पड़े हैं। इनके और इन जैसे शब्द की लम्बी-लम्बी समीक्षाएँ और व्याख्याएँ भरी पड़ी हैं हमारे शास्त्रों में लेकिन सैकड़ों हजारों वर्षों से हमारे पल्ले कुछ भी नहीं पड़ा। अन्धकार ज्यों का त्यों है। पशुता ज्यों की त्यों है। हम जहाँ थे, वहीं के वहीं हैं हम आज भी।

भगवान बुद्ध ने चार आर्य सत्य कहे हैं- १. मनुष्य दुःख में है। आर्य सत्य है दुःख। २. मनुष्य का दुःख अकारण है नहीं। ३. अकारण दुःख में हों तो छुटकारे का कोई उपाय नहीं हो सकता। ४. कारण भी हो, मनुष्य दुःख में भी हो, लेकिन कोई मार्ग विधि न हो तो दुःख के बाहर नहीं हो सकता।

पहला सत्य है दुःख।
दूसरा सत्य है दुःख का कारण।
तीसरा सत्य है दुःख से मुक्त होने का उपाय।
चौथा सत्य है, दुःख-मुक्ति की अवस्था।

अपनी हिमालय और तिब्बत यात्रा में हमें एक महात्मा मिले थे। उच्चकोटि के योगी और जीवनमुक्त पुरुष थे वह। हमने उनसे प्रश्न किया-जीवन का सर्वश्रेष्ठ सत्य क्या है? सबसे महान सत्य कौन सा है? हमारा प्रश्न सुनकर महात्मा पहले तो हँसे, फिर बोले- अब उस महान और सर्वश्रेष्ठ सत्य को जानने का उपाय नहीं है। उसे छोड़ो दूसरे महान और सर्वश्रेष्ठ सत्य के संबंध में अब प्रश्न करो।

हम मैदान हार गये। आश्चर्य भरे स्वर में हमने कहा- फिर भी प्रश्न का कोई समाधान तो होना ही चाहिए। महात्मा बोले- अब तो तुम पैदा हो ही गये हो। श्रेष्ठतम् सत्य और महान सत्य यही है कि संसार में पैदा न होना। जन्म का न होना। पहला यही सत्य है। अब मैं दूसरा महान और श्रेष्ठ सत्य बतलाता हूँ और वह यह कि पैदा होकर मर जाना। मतलब यह है कि इस संसार में जन्म न लेना ही परम और श्रेष्ठतम् सत्य है और दूसरा परम और श्रेष्ठतम् सत्य है- पैदा होकर मर जाना।

हमारे सामने पहला शब्द बन्धन है। हमारा अस्तित्व ही बन्धन है। हम बंधे हुए ही पैदा हुए हैं। इस संसार में इसलिए समझ नहीं पाते। हम सदा से बंधे हुए हैं। बंधे हुए जन्म लेते हैं और बंधे हुए ही मर भी जाते हैं इसलिए हमें इस बात का पता नहीं होता है कि बन्धन क्या है? बन्धन को समझने और पहचानने के लिए भी स्वतंत्र होने का कोई अनुभव हमें चाहिए। जब से हम हैं, जब से हमारा अस्तित्व है और जब से हमने जाना हैं कि हम हैं तब से हमारा बन्धन हमारे साथ है। यह संसार एक जेल, एक कारागार के सिवाय और कुछ नहीं है। हम इस कारावास

में पड़े हैं। हमारा अस्तित्व ही बन्धन है। हमारा जीवन ही कारागार है। हम परतंत्र थे, परतंत्र हैं और हमेशा-हमेशा परतंत्र रहेंगे। इसलिए केवल शास्त्रों को पढ़कर स्वतंत्रता को न समझ सकते हैं और न स्वतंत्रता को प्राप्त ही कर सकते हैं।

बन्धन और मोक्ष, विद्या और अविद्या– हम बन्धन के साथ कारागार में जन्म लेते हैं। यही कारण है कि हम न बन्धन को समझ पाते हैं और न कारागार को। इसीलिए तो हम अपने शरीर को भी अपने से अलग नहीं समझते, अलग नहीं जान पाते। क्योंकि हम उसी को लेकर जन्म लेते हैं और बड़े होते हैं और उसी को लेकर मर भी जाते है। यही कारण है कि हम मन के साथ भी अपने को अलग नहीं कर पाते है क्योंकि हमारा उससे जन्म से ही तादात्म्य होता है।

अतः हमारे शास्त्र में सबसे पहला प्रश्न है- **"कथं बन्धः कथं मोक्षः"** बन्धन क्या है? मोक्ष क्या है? सबसे बड़ा आश्चर्य यह है कि हम परतंत्रता को बन्धन और कारागार को स्वतंत्रता, मुक्ति और महल मानकर जीते हैं। यदि किसी ने कभी इस दिशा में क्रान्ति की बन्धन को समझाने का, उससे मुक्त कराने का उपाय बतलाया तो हम उसे जीसस की तरह सूली पर चढ़ा देते हैं। सुकरात की तरह जहर पिला देते हैं क्योंकि हम यह नहीं चाहते हैं कि जो हमारी स्वतंत्रता है उसे कोई परतंत्रता कहे। जो हमारा महल है, उसे कोई बन्धन कहे। सुख को कोई दुःख कहे। निश्चय ही जबतक हम बन्धन को नहीं समझ लेते, तबतक मोक्ष को समझने का कोई भी उपाय नहीं।

महान दार्शनिक और विचारक डायोजिनिस का कहना है कि जीवन और दुःख एक ही है। बिना मिटे दुःख रहेगा ही। होना ही दुःख है। इसके बाहर जाने का उपाय नहीं क्योंकि अस्तित्व ही कारागार है। अस्तित्व का होना ही बन्धन है। इसके बाहर कोई स्थान है ही नहीं। न कोई मार्ग है, न कोई उपाय है। निरुपाय तो हम नहीं हैं। अन्यथा उचित है कि हम सोये रहें। अपने को भुलाये रखें। परतंत्रता को स्वतंत्रता समझें। बन्धन को आभूषण समझें। कारागार को महल समझें। बस यही बुद्धिमानी है। कहने की आवश्यकता नहीं, हम सभी लोग इसी प्रकार के बुद्धिमान हैं और इसी प्रकार की बुद्धिमानी में जीते हैं। अपने को भुलाये रखते हैं इसलिए कि बन्धन का, दुःख का, परतंत्रता का और कारागार का अनुभव न हो। इसलिए कि बाहर जाने का कोई मार्ग है ही नहीं।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि यही अविद्या है। इसी का नाम अविद्या है। यही प्रश्न होता है- **"का विद्या, काऽविद्येति"** विद्या क्या है? अविद्या क्या है? लोग अविद्या का मतलब अज्ञान समझते हैं। यह भारी भ्रम है। अविद्या का अर्थ अज्ञान नहीं

सैकड़ों-हजारों साल से हम ''अविद्या'' को अज्ञान के अर्थ में ले रहे हैं। सोचने की बात है कि विद्या का मतलब विधि है, मार्ग है तो अविद्या का फिर मतलब क्या होगा?''अविद्या'' का अर्थ है, जो विधि नहीं है, मार्ग नहीं है, लेकिन फिर भी विधि मालूम पड़ती है। मार्ग मालूम पड़ता है। सत्य नहीं है मगर सत्य प्रतीत होता है और ऐसे ही भ्रम में और ऐसी ही प्रतीति में हम जीवन को और अपने आपको वास्तविक समझ कर और सत्य मानकर चलते जा रहे हैं और ऐसी प्रतीति और ऐसे भ्रम के बीच हमें जो कुछ प्राप्त होता है और उपलब्ध होता है अध्यात्म की दिशा में, धर्म की दिशा में, उसे हम वास्तविक समझने लग जाते हैं। स्पष्टतः यही कारण है जिन्हें हम शास्त्र कहते हैं, धर्म समझते हैं, अध्यात्म समझते हैं वे सबके सब ९९ प्रतिशत ''अविद्या'' हैं। विस्मृति के और भ्रान्ति के मार्ग हैं। अपने आपको भुलाने के उपाय हैं।

हम शास्त्र पढ़ते हैं धर्म करते हैं, अध्यात्म के मार्ग पर चलते हैं, समझते हैं कि हम शास्त्रज्ञ हो गये। धार्मिक हो गये। साधक हो गये। आध्यात्मिक जीव हो गये। बस, यही समझना अविद्या है। सोचते हैं कि हम बन्धन से, संसार से मुक्त हो गये। यही अविद्या है। यह सब उसी प्रकार है जैसे किसी हथकड़ी पहने जेल की कोठरी में पड़े कैदी को शराब पिला दी जाय तो वह आकाश में उड़ने लगता है। सपने देखने लगता है। वह समझने लगता है कि हम मुक्त हैं, आजाद हैं। शराब सपने देखने की क्षमता पैदा कर देती है। सत्य का जो बोध है वह समाप्त हो जाता है। शराब पीकर मनुष्य परमात्मा का भी दर्शन कर लेता है जिसे अपनी ही आत्मा का पता नहीं वह परमात्मा को पा लेता है। जिसे अपना ही दर्शन नहीं हुआ है वह परमेश्वर का दर्शन कर लेता है।

कितना भारी धोखा है यह। हमारा अस्तित्व एक शराबी की तरह नहीं है। बन्धन में जकड़े हैं। कारागार में पड़े हैं मगर आकाश में उड़ रहे हैं। मोक्ष के सपने देख रहे हैं। स्वर्ग की कल्पना व आनन्द में डूब रहे हैं यही अविद्या है।

हमारे देश में जितना नुकसान अज्ञानियों से नहीं हुआ है उतना ज्ञानियों से हुआ है और आज भी हो रहा है। ज्ञानी लोगों को आध्यात्मिक मार्ग बतलाने में, आध्यात्मिक और धार्मिक उपदेश देने में सुख का अनुभव होता है और हमें उपदेश सुनने में आनन्द मिलता है। हमारा सबसे बड़ा रोग है आलस्य। सबसे बड़ी व्याधि है प्रसाद। हम बिना परिश्रम किये सब कुछ पा लेना चाहते हैं। लौकिक सुख भी और पारलौकिक सुख भी। हमें बिना कोई प्रयास किये, बिना श्रम किये ज्ञानियों से ज्ञान मिल जाता है और समझते हैं कि हमें सारा आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हो गया। हमें मोक्ष का मार्ग मिल गया। यह अहंकार की तुष्टि है। गुरु को ज्ञान देकर अहंकार की तुष्टि होती है। अपने-अपने स्थान पर दोनों के अहंकारों की तृप्ति हो जाती है। एक ज्ञान को बेचने को तैयार है

तो दूसरा ज्ञान को खरीदने को तैयार है और यह व्यवसाय सैकड़ों-हजारों साल से हमारे देश में चल रहा है अतः हम इस प्रसंग के अन्त में इतना ही कहेंगे कि अविद्या का मतलब है- वे सब सारी विधियाँ जिनसे वास्तविक ज्ञान का द्वार खुलता नहीं, लेकिन खुल जाने का भ्रम अवश्य पैदा हो जाता है। चेतना के संबंध में हम थोड़ी सी चर्चा करेंगे। चेतना क्या है, उससे स्पष्ट हो जाता है। चेतना की चार अवस्थाएँ है- जाग्रत अवस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्ति अवस्था और तुरीय अवस्था। आपको ज्ञात होना चाहिए कि भारत ही पहला देश है जिसने चेतना की इन चार अवस्थाओं की सर्वप्रथम खोज की। भारत ने ही सर्वप्रथम खोज की और उसके आधार पर योग विज्ञान के भव्य महल का निर्माण किया।

पचास वर्ष पूर्व तक पश्चिम का मनःशास्त्र पहली अवस्था यानी जाग्रत अवस्था को ही सब कुछ मानता था। उसका सारा मनोविज्ञान जागृत अवस्था का ही मात्र मनोविज्ञान था। पश्चिम के मनः शास्त्री के लिए स्वप्न की अवस्था मात्र कल्पना और मूर्खता की बात थी। उनका कहना था कि स्वप्न माने स्वप्न, बस और कुछ नहीं। लेकिन बाद में जैसे-जैसे पश्चिम के मनःशास्त्री मानव मन की गहराइयों को समझने के लिए प्रयास करने लगे वैसे ही वैसे उनकी समझ में आने लगा कि जागृत अवस्था के बाद एक और अवस्था है स्वप्न की अवस्था जो पहली अवस्था से कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है।

स्वप्नावस्था, मानव जीवन की सत्यता- मानव जीवन की सत्यता कहीं है तो वह है स्वप्न की अवस्था में। स्वप्न में मानव बिल्कुल नंगा को जाता है। फ्रायड, जुंग और एडलर के प्रयासों ने अब पश्चिम के मनोवैज्ञानिकों को इस स्थिति में ला दिया है कि वे स्वप्नों के सिवाय और कोई बात ही नहीं करते हैं। अब तो वे यह कहते हैं कि जागृत से स्वप्न की अवस्था में जो घटना घटित होती है उसकी सत्यता की गहराई का पता स्वप्न में ही चल सकंता है। जागृत अवस्था में मनुष्य अपने को धोखा दे सकता है मगर स्वप्न में नहीं। आप दिन में ब्रह्मचर्य की बात करते हैं। व्रत, उपवास की चर्चा करते हैं। तरह-तरह की नैतिकताओं की बात करते हैं। मगर आपका ब्रह्मचर्य कितना गहरा है और आपकी तपश्चर्या और नैतिकता में कितना सत्य है? कितना वास्तविक है? इनका निर्णय स्वप्न में अपने आप हो जाता है। स्वप्न आपकी सत्यता को और आपकी वास्तविकता को प्रकट कर देता है लेकिन स्वप्न के संसार में चोर-चोर होता है, साधु-साधु होता है और योगी-योगी तथा भोगी-भोगी ही होता है। भौतिक विज्ञान के मानस शास्त्रियों ने भी अब इस बात को स्वीकार कर लिया है कि मानव जीवन चार भागों में बंटा हुआ है जिसे योगीगण आत्मा की चार अवस्थाओं के रूप में स्वीकार करते हैं।

पहला भाग या पहली अवस्था जागरण काल की है। इस जागरण काल में हम और आप जो कार्य करते हैं उसका उतना महत्व नहीं है, वह उतना गहरा भी नहीं है जितना महत्वपूर्ण और गहरा है.स्वप्न। स्वप्न, दूसरा भाग अथवा दूसरी अवस्था है। स्वप्न में किये गये कार्य आपकी सच्चाई को प्रकट करते हैं। आपकी सच्ची भावनाओं को प्रकट करते हैं। वास्तव में स्वप्न का जीवन आपके अन्तः की स्थिति को सामने ला देता है। स्वप्न जागृत से भी अधिक सत्य और वास्तविक है।

आत्मा क्या है? आत्मा का गुण व विषय क्या है? आत्मा का स्वरूप क्या है? आत्मा की अनुभूति और आत्म साक्षात्कार कैसे संभव है? आदि-आदि प्रश्न सदैव मस्तिष्क में उठते रहते हैं लेकिन इन तमाम प्रश्नों का पूर्णरूप से और सही रूप में उत्तर तभी प्राप्त हो सकता है, जबकि हमें आत्मा की चारों अवस्थाओं के विषय में पूरी जानकारी मिल जाएगी, क्योंकि चारों अवस्थाओं को बिना समझे भीतर प्रवेश करना असंभव है।

निद्रा की अवस्था और स्वप्न- आपको मालूम होना चाहिए कि अमेरिका में नौ, दस ऐसी प्रयोगशालाएँ है- जिनमें केवल नींद और स्वप्न पर ही खोजे हो रही हैं। सन् १६५० के बाद से मनोवैज्ञानिकों का एक विशिष्ट दल इस बात पर एकमत हुआ कि नींद केवल नींद ही नहीं है। यह बिल्कुल स्पष्ट हो गया है कि जबतक हम मनुष्य की नींद को गहराई से नहीं समझ लेते हैं तबतक मनुष्य को समझना कठिन है। फ्रायड का तो पूरा जीवन ही लोगों की नींद और लोगों के सपनों का अध्ययन करने में बीता। उनका कहना है कि एक व्यक्ति अस्सी साल जीता है तो २६ साल सोता है। निश्चय ही इसके भीतर कोई गहरा रहस्य भरा है।

२० वर्ष के जीवन के लिए तक़ तिहाई नींद आवश्यक है, अनिवार्य है जीवन के लिए। हम एक-दो महीने बिना भोजन के रह सकते हैं। मगर नींद के बिना नहीं। नींद के बिना हम एक हफ्ता भी नहीं रह सकते। जैसे नींद आवश्यक है उसी प्रकार नींद में स्वप्न भी आवश्यक है। जागृत की तरह स्वप्न में भी हमारा मस्तिष्क काम करता है और हमारी आँख की पुतलियाँ भी घूमती हैं। ठीक वैसे ही जैसे देखने के समय घुमती हैं, क्योंकि स्वप्न को भी हम देखते ही हैं।

अपनी वासनाओं का प्रतिबिम्ब स्वप्न के रूप में हम जैसा देखते हैं उसी के अनुसार हमारी पुतलियाँ भी चलती हैं। जब हम सपने में अपनी कामवासना का तृप्त करते होते हैं उस समय पुतलियों की गति काफी तेज होती है। क्रोध, घृणा, युद्ध आदि के सपनों के समय पुतलियाँ ऊपर-नीचे चक्कर लगाती है। जब हम सपने में किसी सुन्दर रमणीक स्थान को देखते हैं अथवा किसी सुन्दर और आकर्षक दृश्य को देखते हैं- उस समय हमारी पुतलियों की गति मन्द रहती है।

जब हम पेट के बल सोते हैं तब हम प्रायः वासनात्मक और तामसिक सपने देखते हैं और जब हम पीठ के बल चित्त सोते हैं उस समय सात्विक और आह्लादकारी सपने देखते हैं। हमारे मतिष्क में लगभग तीन करोड़ कोशिकाएँ हैं, जिनका संबंध सूक्ष्म तन्तुओं द्वारा हमारे नेत्रों से जुड़ा हुआ है। नींद में आप कैसा स्वप्न देख रहे हैं, इसका पता आपके पास बैठा हुआ व्यक्ति जान सकता है। इसका उपाय है और उस उपाय को वैज्ञानिकों ने खोज निकाला है। आप नींद में लगभग ८ या १० सपने देखते हैं। प्रत्येक सपना एक दूसरे से भिन्न होता है। एक सपना देखने के बाद आप कुछ समय के लिए गहरी नींद में चले जाते हैं और उसके बाद फिर सपने देखते हैं। आपके लिए सपना आवश्यक है। यदि आप सपना न देखें तो पागल हो जायेंगे। वास्तव में सपना आपके पागलपन को दूर करता है। आपकी दूषित मनोवृत्तियों का निवारण करता है।

हमारी जो वासनाएँ जागरण काल में पूरी नहीं हो सकती वे सपने में पूरी हो जाती हैं क्योंकि उनका पूरा होना आवश्यक है। जागरण काल में हमारा मुख्य मस्तिष्क काम करता है लेकिन जब हम सपना देखते हैं तो हमारा अधो-मस्तिष्क सक्रिय होता है। अगर हमें सपने न दिखलायी पड़े तो हमारा मस्तिष्क विकृत हो सकता है। उसकी कोशिकाएँ हमेशा के लिए निर्जीव हो सकती है इसलिए सपना आवश्यक है। सपने में यदि हमारी कामना और वासना पूरी न हो तो वे दिन में हमें परेशान करने लगेंगी। जो कुछ रात को भीतर रह गया वह दिन में बाहर निकलने लगेगा। तब हमारा जीवन ही कठिनाई में पड़ जाएगा। पग-पग पर अड़चनें आने लगेगी हमारे सामने। अगर सपने में हमारी कामवासना पूरी न हो तो जागरण काल में हम अत्यधिक कामुक होकर व्यभिचार के मार्ग पर चल पड़ेंगे। इसी प्रकार जो क्रोध, घृणा और आक्रोश को हम किसी की सपने में हत्या करके निकाल देते हैं अगर वे एक महीने न निकले तो निःसन्देह हम किसी न किसी की हत्या अवश्य कर बैठेंगे। इसलिए सपना अनिवार्य है, आवश्यक है और तबतक अनिवार्य और आवश्यक है जबतक कि हम तुरीय की स्थिति में नहीं पहुँच जाते हैं। तुरीय अवस्था में पहुँचे हुए व्यक्ति के लिए न जागृत की, न स्वप्न की और न तो सुषुप्ति की ही आवश्यकता रह जाती है। वह अवश्य तीनों अवस्थाओं में रहता है लेकिन वह तीनों अवस्थाओं में चैतन्य और जागृत रहता है। वह सपने में भी जगा रहता है और नींद में भी। जिसके फलस्वरूप वह तीनों अवस्थाओं के तुरीय में रह कर द्रष्टा और साक्षी बना रहता है। इसी को कहते है- संयमी पुरुष अथवा योगी।

योगी कृष्णकाली मुखोपाध्याय- सन् १९५४ से १९५८ के अन्तर्गत काशी के जिन प्रच्छन्न योगी और तंत्र साधकों का दर्शन और सत्संग लाभ हुआ मुझे उनमें एक थे योगी कृष्णकाली मुखोपाध्याय भी। अपने समय के योग तंत्र के उद्भट और

प्रकाण्ड विद्वान और परम साधक म.म. डॉ. गोपीनाथजी कविराज ने एक बार प्रसंगवश चर्चा की थी योगी कृष्णकाली मुखोपाध्याय की। कविराजजी ने कहा अत्यन्त गुप्त साधक हैं मुखोपाध्याय महाशय। उनको पहचानना और उनको समझना सबके वश की बात नहीं। उनकी साधना के रहस्य से स्वयं मैं भलीभांति परिचित नहीं हूँ। इतना बोल कर गम्भीर हो गये थे कविराजजी। काशी के मानसरोवर मुहल्ले में रानी रासमणि का एक शिवजी का काफी बड़ा मन्दिर है उसी मन्दिर के एक कमरे में रहते थे मुखोपाध्याय महाशय। मझोला कद, गौरांग गर्ण, सुगठित देह यष्टि, साधना के प्रखर तेज से दप्-दप् करता मुखमण्डल, शरीर पर धवल धोती और शुभ्र ताड़केश्वरी चादर और आयु यही साठ-पैंसठ के लगभग।

बहिर्जीवन में एक साधारण अध्यापक थे कृष्णकाली मुखोपाध्याय। तीन चार घरों में जाकर प्राइमरी के बच्चों को अंग्रेजी, बंगला और गणित पढ़ाया करते थे महाशय। वही उनके जीवकोपार्जन का साधन था एकमात्र। उस साधन से जो पत्रं पुष्पम प्राप्त हो जाता था उसी में संतोष कर लेते थे वह। विनम्र, मृदुभाषी, संसारी लोगों से कम से कम सम्पर्क था और बोलते कम थे। पढ़ाने के लिए बाहर निकलने थे। वैसे कभीकदा गंगा तट पर चले जाते थे टहलने के विचार से। कविराजजी के संकेत पर एक दिन कृष्णकाली मुखोपाध्याय से मिलने गया मैं।

सायंकाल का समय। सकरी गली, अंगीठी से निकल रहे धुएं से भरी। चारो तरफ पसरा हुआ अजीब सा सन्नाटा। कमरा खुला। भीतर लालटेन जल रही थी। जिसका पीला मद्धिम प्रकाश बिखरा था चारो ओर कमरे में। झांक कर देखा, पद्मासन की मुद्रा में बैठे हुए थे ध्यानस्थ कृष्णकाली मुखोपाध्याय महाशय। आँखे मुंदी हुई थी। शान्ति की गहरी छाया थी मुख पर। उस समय मेरी उपस्थिति का शायद आभास लग गया उन्हें। सिर घुमा कर एक बार मेरी ओर देखा, फिर मृदु स्वर में बोले- आओ कविराज के शिष्य हो न...। संकोच करने की आवश्यकता नहीं। एक साथ इतना सब बोल गये महाशय।

आश्चर्य हुआ मुझे। कैसे जान गये कि कविराजजी का शिष्य हूँ मैं? चरण स्पर्श कर बैठ गया मैं जमीन पर बिछी मैली-कुचैली दरी पर। पहले ही जैसे मुदु स्वर में बोले मुखोपाध्याय महाशय-ध्यान की स्थिति कैसी है ? प्राण पर अधिक से अधिक अधिकार रखना होगा, तभी समाधि का अभ्यास संभव होगा।

यह सुनकर फिर आश्चर्य हुआ मुझे। कैसे जान गये महाशय कि साधना मार्ग का पथिक हूँ मैं। इधर-उधर ताक कर, दबे स्वर में उत्तर दिया मैंने- ध्यान की स्थिति तो ठीक है लेकिन प्राण पर जैसा अधिकार होना चाहिए वैसा है नहीं अभी....। प्राण और श्वास का अपना विज्ञान है। जिस पर सम्पूर्ण योग शास्त्र आधारित है, सच पूछा

जाय तो जैसे भौतिक विज्ञान के मूल में विद्युत शक्ति है, उसी प्रकार योग विज्ञान के मूल में है प्राण शक्ति। प्राण का विषय अत्यंत रहस्यमय है। उस रहस्य को उद्घटित करना और उसे हृदयंगम करना सबके वश की बात नहीं मुखोपाध्याय महाशय इतना कह कर जलती हुई लालटेन की ओर देखने लगे।

प्रथम साक्षात्कार में बस इतनी ही बातें हुई मेरी, कृष्णकाली मुखोपाध्याय महाशय से। कविराजजी को सब कुछ बताया मैंने। सुनने के बाद बोले वह- प्राण तत्व पर पूर्ण अधिकार है मुखोपाध्यायजी का। तुम्हारी जो जिज्ञासायें हैं श्वास-प्रश्वास के संबंध में उनका समाधान हो जायेगा उनसे लेकिन तर्क-वितर्क मत करना नहीं तो बुरा मान जायेंगे महोदय। तीन-चार दिनों के पश्चात गया था। सांझ नहीं हुई थी थोड़ा उजाला था। पहले दिन की ही तरह कमरे के भीतर बैठे हुए थे मुखोपाध्याय महाशय। एक बारह-चौदह साल की लड़की स्टोप पर दूध गरम कर रही थी। लड़की का रंग सांवला था लेकिन मुख पर विशेष लावण्य और आकर्षण था। उसकी आँखे बहुत सुन्दर थी, झील जैसी गहरी और भावनाओं में डूबी हुई एक बार सिर घुमा कर मेरी ओर देखा उसने, फिर हवा भरने लगी स्टोव में, थोड़ी रहस्यमयी लगी मुझे वह लड़की।

इसका नाम गौरी है। केदारघाट में रहती है। पढ़ाता हूँ मैं इसे बड़ी मेधावी और जिज्ञासु है यह। रोज आती है। दूध गरम करती है और बिना मुझे पिलाये जाती नहीं। बहुत मना करता हूँ, लेकिन मानती ही नहीं। मुझे भी थोड़ा मोह हो गया इससे- इतना कहकर हो-हो कर हँसने लगे मुखोपाध्याय महाशय।

प्राण शक्ति- थोड़ी देर बाद दूध पिलाकर जब गौरी चली गयी तो मैंने साधना से संबंधित अपनी जिज्ञासा प्रकट की- आपका कहना है कि योग विज्ञान के मूल में एकमात्र प्राण शक्ति है। वैदिक विज्ञान के अनुसार गहरा श्वास लेने पर शरीर के अन्दर ऑक्सीजन और कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा में परिवर्तन हो जाता है। उसके अनुपात में परिवर्तन हो जाता है। मात्रा अथवा अनुपात के इस परिवर्तन का साधना में क्या प्रभाव पड़ता है? इस संबंध में आपके विचार से अवगत होना चाहता हूँ।

मेरी बात सुनकर कुछ क्षण मौन रहे मुखोपाध्याय महाशय फिर बोले- ऑक्सीजन और कार्बनडाइऑक्साइड ये मूल तत्व हैं प्रकृति के और इन्हीं दोनों तत्वों के बीच जीवन और मृत्यु का खेल चलता है। एक का परिणाम जीवन है तो दूसरे का परिणाम है मृत्यु। पहले की संभावना जीवन है तो दूसरे की संभावना है मृत्यु। जब शरीर के भीतर ऑक्सीजन की मात्रा धीरे-धीरे कम हो जाती तो अन्त में शेष रह जाता है कार्बन डाइऑक्साइड। जिसका अर्थ है मृत्यु। एक शव में कार्बन डाईऑक्साइड के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। उदाहरण के रूप में एक जलती हुई लकड़ी को लो। जबतक

ऑक्सीजन प्राप्त होता रहता है तबतक लकड़ी भी जलती रहती है। लकड़ी का जलना जीवन है। उसका ताप जीवन का ताप है। ऑक्सीजन के समाप्त होते ही आग बुझ जाती है। उसका ताप समाप्त हो जाता है यानी जीवन समाप्त हो जाता है। अन्त में शेष रह जाता है कोयला। कोयला कार्बन है। मृत शरीर बुझे हुए कोयले के अतिरिक्त और कुछ नहीं है और उसी बुझे हुए कोयले को फिर हम चिता पर जलाते हैं। जिसका परिणाम है मुट्ठी भर राख। हमारे शरीर के भीतर ऑक्सीजन और कार्बनडाइ ऑक्साइड दोनों समान रूप से अपना-अपना काम कर रहे हैं। ये दोनों भौतिक विज्ञान के शब्द हैं। योग की भाषा में इन दोनों को श्वास और प्रश्वास कहते हैं।

वैदिक विज्ञान के अनुसार प्राण परमात्मा की शक्ति है। यदि हम यह कहें कि परमात्मा ही प्राण है तो अतिशयोक्ति न होगी। वास्तव में परमात्मा कोई व्यक्ति विशेष नहीं है। वह एक स्वयंम्भू शक्ति है जो अविनाशी है। वह एक प्रवाह है। नदी के प्रवाह की तरह एक प्रवाह जो अपने आपमें अनन्त है। जैसे नदी के प्रवाह का न तो यह प्रयोजन है कि अपने तट के वृक्षों के नष्ट कर दे और न तो यही प्रयोज़न कि उन वृक्षों के जड़ को और मजबूत कर दे। सच तो यह है कि नदी का प्रवाह एक शक्ति है न कि एक व्यक्ति। लेकिन हम हैं कि परमात्मा के विषय में वैसे ही सोचते-विचारते हैं और उसके आधार पर अपनी धारणा निश्चित करते हैं। इसी कारण हम परमात्मा को दयालु, कृपालु, सदैव कल्याण करने वाला और समस्त इच्छाओं और आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाला समझते हैं। ये सब भारी भ्रम है परमात्मा के प्रति इसमें सन्देह नहीं। इसी भ्रम के कारण इच्छा, आकांक्षा, मनोकामना और अभिलाषा आदि को पूर्ण न होने पर हम परमात्मा को दोष देते हैं। यह तुम समझ लो कि किसी भी शक्ति के साथ जब व्यक्ति जैसा व्यवहार होता है तो हानि के अतिरिक्त और कुछ उपलब्ध नहीं होता। यदि शक्ति को शक्ति स्वीकार कर व्यवहार किया जाए तो उसका परिणाम कुछ और ही होगा।

प्राण शक्ति ही नहीं, परमात्मा की कोई भी शक्ति हमारे साथ पूर्व नियोजित ढंग से अथवा सोच विचार कर व्यवहार नहीं करती। परमात्मा स्वयं एक शक्ति है। उसका अपना नियम है जो पूर्ण शाश्वत है और तुमको ज्ञात होना चाहिए कि उस शाश्वत नियम का ही दूसरा नाम धर्म है। धर्म की एकमात्र परिभाषा- जब हम परमात्म शक्ति के नियम के अनुसार चलते हैं तो वह शक्ति हमारे लिए सहयोगिनी सिद्ध हो जाएगी। उसकी कृपा के पात्र बन जायेंगे । यदि हम उस नियम के विरुद्ध जाते हैं तो वही शक्ति हमारे विनाश का कारण बन जायेगी।

जैसाकि मैंने कहा- प्राण भी एक शक्ति है। उसके भी यही नियम हैं। योग उसी नियम का पालन है। यदि हम योग के अनुसार प्राण शक्ति का उपयोग करते हैं तो

हमारे लौकिक और पारलौकिक दोनों जीवन में परम चेतना का विकास होगा और हमारी आत्म शक्ति विकसित और प्रखर होगी। जिसके परिणामस्वरूप हम मन, प्राण वाक् इन तीनों पर विजय प्राप्त कर लेंगे। जिसका अर्थ है प्रकृति पर विजय और इस विजय को प्राप्त करना ही योग का है एकमात्र लक्ष्य।

प्राण अथवा जीवन– प्रायः जीवन का एकमात्र स्रोत वेद है। उसकी दृष्टि में दो मूल तत्व है। पहला है देव तत्व और दूसरा है भूत तत्व। पहले को वैदिक भाषा में अक्षर और दूसरे को क्षर कहते हैं। भूत तत्व का निर्माण देव तत्व से हुआ है। देव तत्व की अभिव्यक्ति सृष्टि के प्रागंण में तीन रूपों में हुई है- वृक्ष, वनस्पति, दूसरे पशु-पक्षी और तीसरे मानव। इन तीनों रूप में जो शक्ति चैतन्य और क्रियाशील है उसे वैदिक भाषा में प्राणग्नि कहते हैं। दूसरे शब्दों में वही प्राण शक्ति है।

प्राण का दूसरा नाम जीवन है। प्राण और जीवन एक दूसरे के पर्याय हैं। जहाँ प्राण है वहां जीवन की अभिव्यक्ति हैं। प्राण अथवा जीवन चैतन्य का रूप हैं इसलिए प्राण को चेतना भी कहते हैं और उस चेतना का केन्द्र हृदय है। विद्या के अन्तर्गत सोलह विद्याएं है। तंत्र में उन्हीं सोलह विद्याओं को षोडशी विद्या कहते हैं। उन्हीं विद्याओं में एक विद्या है प्रजापति विद्या। उसी प्रजापति विद्या का सबसे उत्कृष्ट और रहस्यात्मक रूप प्राण या जीवन है।

प्राण का स्वरूप– मानव जाति के जीवन में जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण वस्तु है वह है प्राण। क्योंकि प्राण ही आयु है। प्राण ही मानव शरीर में स्थित तीनों अग्नियाँ हैं जठराग्नि, वाड़वाग्नि और दावाग्नि। शरीर का ताप, दावग्नि का परिणाम है। भूख, प्यास, जठराग्नि का परिणाम है। इसी प्रकार शरीर में रक्त की गति, हृदय की धड़कन और वायु का संचालन वाड़वाग्नि का है परिणाम।

मुखोपाध्याय महाशय ने कहा- विश्व ब्रह्माण्ड के मूल में एक प्राण ही है, इसीलिए प्राण विद्या को विश्व विद्या बतलाया गया है। पंचतत्व यानी पंचभूत प्राण और मन इन तीनों का समन्वय जीवन तत्व है। वेद जीवन तत्व क्या है? उसके नियम क्या हैं और उसके सिद्धान्त क्या हैं? इन तीनों प्रश्नों का उत्तर वेद विद्या है। जहां प्राण है वहां जीवन है और जहां जीवन है उस स्थान को यज्ञ की संज्ञा दी गयी है। उस यज्ञ का प्रारम्भ प्राण के दो रूपों-श्वास, प्रश्वास के स्पन्दन से होता है। जैसाकि बतला चुका हूँ, प्राण एक सर्वोच्च शक्ति है। अन्य शक्तियों की तरह इसके भी ऋण से धन और धन से ऋण की ओर आना जाना सभी प्रकार की शक्तियों का स्वभाव है। प्राण शक्ति का भी यही स्वभाव है और दूसरे स्वभाव का नाम स्पन्दन है। बौद्धिक भाषा में प्राण शक्ति का ऋण से धन की ओर जाने की क्रिया को 'ऐति च' और धन से ऋण की ओर

जाने की क्रिया को 'प्रेति च' कहते हैं।

प्राण के स्पन्दन का प्रारम्भ जीवन का प्रारम्भ है स्पन्दन की समाप्ति जीवन की समाप्ति है। जिस दिन मनुष्य पहला श्वास लेता है उसी दिन उसका अन्तिम श्वास भी निश्चित हो जाता है यहां यह बतला देना आवश्यक है कि मनुष्य की मृत्यु श्वास में नहीं प्रश्वास में होती है। श्वास तो जीवन है।

रात थोड़ी गहरा गयी थी। वह लड़की अभी तक बैठी थी कोने में चुपचाप। शायद हम दोनों की बातें सुन रही थी मनोयोग से और सहसा अपने स्थान से उठी और कमरे के बाहर निकल गयी वह। उसका इस प्रकार बाहर निकल जाना थोड़ा आश्चर्यजनक लगा मुझे। लगभग १०-१५ मिनट बाद वापस लौटी तो उसके हाथ में एक बड़ी सी थाली थी जो पूड़ी कचौड़ी और कई प्रकार की मिठाईयों से भरी हुई थी। यह देखकर दंग रह गया मैं एकबारगी। इतनी जल्दी और इतना सब खाद्य पदार्थ कहां से ले आयी वह लड़की? समझ में नहीं आया। रहस्यमय लगा मुझे सब कुछ। स्वादिष्ट भोजनों से भरी थाली रख दी हम दोनों के सामने उस लड़की ने। एक बार मेरी ओर देखकर मुस्कुराये मुखोपाध्याय महाशय फिर बोले- खाओ तुम भी खाओ। मुझे तो भूख लगी है- यह कह कर जल्दी-जल्दी खाने लगे वह। मैं भी खाने लगा। सचमुच बड़ा ही स्वादिष्ट भोजन था वह। रात के दस बजने वाले थे। भोजन के बाद चला आया मैं। फिर कुछ ऐसा आवश्यक कार्य आ गया कि पूरे एक सप्ताह जाना न हो सका मेरा मुखोपाध्याय महाशय के यहाँ। कविराजजी से नहीं मिल सका उस बीच। उस दिन, झिर-झिर कर बरस रहा था आसमान। सांझ की स्याह कालिमा फैल चुकी थी। याद नहीं क्या कर रहा था मैं उस समय? सहसा मेरे कमरे का दरवाजा खुला देखा पलट कर सामने वही लड़की खड़ी मुस्कुरा रही थी मन्द-मन्द। आश्चर्य हुआ मुझे। कैसे आ गयी यहाँ? क्यों आयी है वह? उसके हाथ में एक झोला था। धीरे-धीरे चलकर मुस्कुराती हुई मेरे समीप आयी वह लड़की और झोले को टेबल पर रखते हुए बोली- तुम आम खाना चाहते थे न? आम लेकर आयी हूँ मैं। खा लो- यह कह झोले में से आम निकालने लगी वह। घोर आश्चर्य हुआ मुझे। आम खाने की दो दिनों से इच्छा थी मेरी। मगर यह लड़की कैसी जान गयी मेरी इच्छा को? मुझे आम खिलाने के बाद चली गयी वह मुस्कुराती हुई और जब वह चली गयी तो सहसा यही विचार आया कि दिसम्बर के महीने में बनारसी लंगड़ा आम कहां मिला उस लड़की को? यह कैसा चमत्कार......। लड़की का व्यक्तित्व और रहस्यमय हो उठा मेरे लिए।

दो-तीन दिन बाद मिलने गया मैं कृष्णकाली मुखोपाध्याय महाशय से। कुण्डी लगी थी। ताला बन्द था। पता लगा कि ट्यूशन पढ़ाने गये हुए हैं। इन्तजार करने लगा।

लगभग बीस-पच्चीस मिनट बाद आये महाशय। उस रहस्यमयी लड़की के सम्बन्ध में जानना समझना चाहा, लेकिन न जाने क्यों पूछ न सका मैं कुछ।

मुझे देखते ही बोले- कृष्णकाली मुखोपाध्याय महाशय। उस दिन अति गम्भीर विषय पर चर्चा हुई थी। बड़ा अच्छा विषय है। जी हाँ! मैंने कहा- उसी विषय के संबंध में और कुछ विशेष जानना समझना चाहता हूँ मैं आपसे? हाँ, हाँ, क्यों नहीं मुखोपाध्याय महाशय बोले- ऑक्सीजन और कार्बन डाईऑक्साइड के संबंध में चर्चा हुई थी न?

हाँ! मैंने कहा- अधिक मात्रा में जब कार्बन डाईऑक्साइड शरीर में एकत्र हो जाता है तो हम आलस्य से घिर जाते हैं। सुस्ती छा जाती है हम पर। यही एकमात्र कारण है कि दिन में निद्रा कठिन होती है और रात्रि में होती है सरल। क्योंकि दिन में ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ी हुई होती है और रात्रि में कार्बन की बढ़ी हुई होती है मात्रा। ऑक्सीजन का मूलस्रोत है सूर्य। सूर्य से निःसृत ऑक्सीजन यानी प्राण तत्व सम्पूर्ण विश्व को अणु प्राणित करता है। प्राण तत्व अति सूक्ष्म तत्व है उसी का स्थूल रूप है प्राणवायु। भौतिक विज्ञान उसी प्राण तत्व को ईथर कहता है।

कार्बन की मात्रा बढ़ जाने के कारण ही रात्रि में नींद आती है हमें सरलता से। ऑक्सीजन के अभाव के कारण ही पेड़, पौधे, लता, गुल्म, पुष्प आदि भी रात्रि में कुम्हला जाते हैं, सारी प्रकृति रात्रि के प्रगाढ़ अन्धकार में लीन हो जाती है और एक विचित्र प्रकार की निस्तब्धता फैल जाती है वातावरण में। लेकिन एक बात तुमको बतला दूँ- मुखोपाध्याय महाशय थोड़ा रूक कर आगे कहने लगे- ऑक्सीजन का अनुपात एक समान नहीं रहता। इसी के आधार पर हमारे शास्त्रकारों ने और हमारे तत्व वेत्ताओं ने रात्रि को महामाया के रूप में परिकल्पित किया और उसी परिकल्पना का आश्रय लेकर रात्रि को विभक्त किया चार रूपों में। जिनके नाम हैं- मोहरात्रि, दारूणरात्रि, महारात्रि और कालरात्रि। ये चार रूप हैं रात्रि के। श्रीकृष्ण जन्माष्टमी की रात्रि मोहरात्रि है। होलिकादहन की रात्रि दारूणरात्रि है। शिवरात्रि महारात्रि है और दीपावली की रात्रि कालरात्रि है। तुमको ज्ञात होना चाहिए कि महामाया ही भगवान की योगमाया है, जिसका आश्रय लेकर भगवान अपनी लीला किया करते हैं तभी तो सम्पूर्ण चराचर जगत योगमाया ग्रस्त होकर निद्रा में डूब जाता है रात्रि की गोद में। विश्व में यदि सबसे बड़ी कोई रहस्यमय वस्तु है तो वह है भगवान। उसके पश्चात् कोई रहस्यमयी वस्तु है तो वह है निद्रा। निद्रा अपने आपमें परम रहस्यमयी है। निद्रा एक प्रकार की अस्थायी मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। निद्रा तीन प्रकार की होती है, शरीर की निद्रा, मन की निद्रा और आत्मा की निद्रा। मृत्यु आत्मा की निद्रा

है इसलिए उसे चिरनिद्रा कहते हैं। (इस विषय पर विशेष अध्ययन के लिए पढ़े- 'मरणोत्तर जीवन का रहस्य')। शरीर की निद्रा में स्वप्न दिखायी पड़ते हैं, लेकिन मन की निद्रा में नहीं, इसीलिए मन की निद्रा को सुषुप्ति कहते हैं। सुषुप्ति अवस्था स्वप्न रहित अवस्था है (पढ़े- 'तीसरा नेत्र') अब हम मूल विषय पर चर्चा करेंगे। संकोच और विस्तार से दो क्रिया प्राण की है। यही जीवन का रूप है। इस संबंध में शतपथ ब्राह्मण (८/६/४/१०) में एक सूत्र है **'प्राणो वै समञ्चन प्रसारयं'**। यही स्पन्दन का स्वरूप है। योग की प्रथम साधना इसी स्पन्दन की साधना है। स्पन्दन की साधना से श्वास और प्रश्वास दोनों समान हो जाते हैं तो शरीर के भीतर प्राण तत्व यानी ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ने लगती है और जैसे-जैसे वह बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे हमारे शरीर के भीतर जो प्रसुप्त शक्तियाँ हैं वे जागृत होने लग जाती हैं। उन प्रसुप्त शक्तियों के केन्द्र को ही योग की भाषा में चक्र कहते हैं।

हमें जीवित रहने के लिए जितने ऑक्सीजन की आवश्यकता है, उसकी अपनी एक निश्चित मात्रा है। चक्रों की कुल संख्या सात है। वे सातों चक्र एक समान नहीं है और न तो उनमें प्रसुप्त शक्तियों का अनुपात ही समान है कि चक्र में कौन सी शक्ति प्रसुप्तावस्था में है और उसका अनुपात क्या है? इतना ही नहीं, उसके जागृत होने पर हमें कौन सा पारलौकिक और आध्यात्मिक लाभ होता है? यह सब योग का रहस्यमय विषय है। जिनका भेदन तंत्र के द्वारा होता है इसीलिए कहा गया है योग और तंत्र एक दूसरे के पूरक हैं। बिना योग के तंत्र नहीं और बिना तंत्र के योग नहीं। प्राण तत्व यानी ऑक्सीजन की मात्रा अधिक से अधिक बढ़े और चक्रों में खोयी हुई शक्तियाँ जागृत हों इसके लिए योग में कौन सी साधना है? मैंने प्रश्न किया।

मेरे प्रश्न का उत्तर देते हुए मुखोपाध्याय महाशय ने कहा- प्राणायाम और भस्त्रिका, इन दोनों के द्वारा प्राण की साधना होती है। प्राणायाम एक साधन है जबकि भस्त्रिका एक विशिष्ट क्रिया है। इन दोनों के सतत अभ्यास से श्वास और प्रश्वास में जो अन्तर है वह अन्तर समाप्त होकर दोनों में समानता का होना आवश्यक है। समानता से आपका क्या तात्पर्य है?

श्वास और प्रश्वास के बीच तंत्र के अनुसार चार से छः अंगुल का अन्तर है। जबकि योग के अनुसार अन्तर है पूरा आठ अंगुल। इसी अन्तर के कारण हम हर क्षण मर रहे हैं और हर क्षण हमारी आयु का क्षय हो रहा है। सच पूछा जाय तो यह अन्तर ऑक्सीजन और कार्बन की मात्रा का अन्तर है। श्वास में ऑक्सीजन की मात्रा कम होती है जबकि प्रश्वास में ऑक्सीजन के अनुपात में कार्बन की मात्रा अधिक होती है। प्राणायाम और गुरुप्रदत्त उसकी विशेष पद्धति द्वारा धीरे-धीरे दोनों की असमानता,

समानता में परिवर्तित हो जाती है। इस अवस्था में जितना ऑक्सीजन हमारे शरीर के भीतर जाता है उतना ही कार्बन बाहर भी निकलता है। साधना के दूसरे चरण में श्वास की मात्रा और उस मात्रा के अनुसार श्वास की गति बढ़ाई जाती है जिसके फलस्वरूप उसी अनुपात में कार्बन की भी मात्रा और गति कम होने लग जाती है अपने आप और अन्त में एक ऐसी स्थिति आती है जबकि कार्बन की मात्रा अत्यन्त अल्प और ऑक्सीजन की मात्रा अत्यधिक हो जाती है। जबतक एकमात्र आहार हो जाता है प्राण? आठ प्रकार के आहार के प्राणाहार सर्वोपरि है। योगीगण इसी प्राणाहार से अपना जीवनयापन करते हुए सैकड़ों वर्ष तक जीवित रहते हैं। ऑक्सीजन की मात्रा की अधिकता के परिणामस्वरूप केन्द्र धीरे-धीरे सक्रिय होने लग जाते हैं और उनमें उचित शक्तियाँ भी जागृत होने लग जाती है।

केन्द्र सक्रिय हो गये हैं और शक्ति का जागरण भी होने लगा है इसका क्या लक्ष्य है? जीवन के लिए दो वस्तु अनिवार्य है भोजन और निद्रा। इन दोनों वस्तुओं की अनिवार्यता समाप्त हो जाती है सर्वप्रथम। यह पहला लक्ष्य है। बौद्ध योग की जो प्रथम साधना है उसका एक भाग लक्ष्य है भोजन और निद्रा पर विजय प्राप्त करना और उस प्रथम साधना का नाम है अनापान सती साधना। इस साधना के प्रारम्भ में गहरा श्वास लेने का अभ्यास किया जाता है और फिर श्वास पर मन को एकाग्र किया जाता है।

बौद्ध योग हो या कोई भी योग हो सभी का सर्वप्रथम एकमात्र लक्ष्य है जीवन पर विजय प्राप्त करना और यह तभी संभव है जब हम भूख और निद्रा पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। क्या इससे स्वास्थ्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता? शरीर स्वस्थ रहे, इसके लिए आहार चाहिए और वह आहार प्राण से उपलब्ध हो रहा है योगी को। अन्नाहार, फलाहार, दुग्धाहार, मांसाहार आदि जितने आहार हैं, उन सभी के तत्व प्राणाहार में विद्यमान रहते हैं इसलिए अस्वस्थ होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। थोड़ा रूक कर मुखोपाध्याय महाशय आगे कहने लगे जीवन तत्व पर विजय प्राप्त करते ही शरीर में प्रसुप्त शक्तियाँ जागृत होने लगती है जिसका परिणाम है योगेश्वर्य की उपलब्धि।

साधना के लिए प्रकृति का सामीप्य आवश्यक- योग साधना के लिए एकान्त वातावरण और प्रकृति की समीपता अत्यन्त आवश्यक है। सच्चा साधक और योगी भीड़-भाड़ में नहीं रहते। इसका कारण है और वह यह कि जहाँ मनुष्य अधिक होंगे। वहां ऑक्सीजन की मात्रा कम और कार्बन की मात्रा अधिक होती है इसीलिए हम भीड़ में घबड़ाते हैं, बेचैन होने लगते हैं और एक प्रकार की मूर्च्छा छाने

लगती है हम पर। उबने लगते हैं। पसीना छूटने लगता है। जम्हाई आने लगती हैं। जल्दी-जल्दी भीड़-भाड़ से बाहर निकलने का प्रयत्न करने लगते है। ये सब इसीलिए होता है कि कार्बन की अधिकता के कारण हमारे भीतर की शक्तियाँ मूर्च्छित होने लगती है। जिसके फलस्वरूप जितना जीवन तत्व हमें चाहिए उतना नहीं मिल जाता।

हम प्रातः उठते ही अपने आपमें एक विशेष प्रकार की स्फूर्ति का अनुभव करते हैं। इसलिए कि कार्बन की मात्रा कम और ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ जाती है सूर्योदय होने पर। समुद्र अथवा नदी के तट पर प्रकृति के सुरम्य वातावरण में, बाग बागीचे में पहाड़ और जंगल में हम अपने आपमें प्रफुल्लता का और स्फूर्ति का अधिक से अधिक अनुभव करते हैं इसलिए कि वहां ऑक्सीजन की मात्रा सर्वाधिक होती है और यही मूल कारण है कि योगी, तपस्वी, साधक और महात्मा संसार और समाज से दूर होकर एकान्त में और शान्त प्राकृतिक वातावरण में चले जाते हैं और चले जाते हैं पहाड़ों और जंगलों में।

शरीर के भीतर शक्ति जागरण का अनुभव– अपने भीतर ऑक्सीजन की मात्रा बढ़ाने का एकमात्र उद्देश्य यह है कि प्रसुप्त शक्तियाँ जागृत हों। शक्ति जागृत हो रही है अथवा हुई– इसका ज्ञान और इसका अनुभव हमें तभी होगा, उसी स्थिति में होगा, जब हम अधिक से अधिक तीव्रता से मन को स्थिर कर श्वास- प्रश्वास लेंगे। तभी हमें अपने भीतर परिवर्तन का अनुभव होगा और ऐसा प्रतीत होगा कि कोई सोयी हुई शक्ति अचानक जागृत हो गयी है। श्वास-प्रश्वास के तीव्र संक्रमण से हमें अपने भीतर की स्थितियों में अन्तर स्पष्ट ज्ञात होने लगेगा। हम यह समझने लग जायेंगे कि हमारी चेतना, हमारा व्यक्तित्व और हमारी आत्मा प्रबुद्ध और विकसित हो रही है। मन, प्राण और हमारी आत्मा जो अबतक एक सीमा में बंधी हुई थी वह उस सीमा को तोड़ कर ऊँचाई पर उठ रही है। इसी के साथ-साथ अपने भौतिक जीवन से भी निरपेक्ष पृथक और उदासी होते जायेंगे हम। हमारे जीवन में ऑक्सीजन यानि प्राण का सर्वाधिक महत्व है इसलिए कि जबतक हम शरीर और संसार से जुड़े हुए हैं। हम जितनी तीव्रता से और जितनी गति से श्वास-प्रश्वास लेंगे उतनी ही तीव्रता और उतनी ही गति से आत्मा के समीप पहुँचेंगे और उसका अनुभव भी करेंगे।

तुमको ज्ञात होना चाहिए कि शरीर और आत्मा में अत्यधिक अन्तर है। हमारे व्यक्तित्व का एक प्रकार से मृत भाग है हमारा शरीर समझे न और तभी वह दृष्टिगोचर हो रहा है कि वह ठोस है तरल नहीं और इसके विपरीत हमारे व्यक्तित्व का जो भाग तरल है, ठोस नहीं है, वह है आत्मा। बस, शरीर और आत्मा में इतना ही अन्तर है और इस सूक्ष्म अन्तर को हम तभी समझ पायेंगे जब हम अधिक से अधिक ऑक्सीजन ले सकेंगे, अधिक से अधिक प्राण ऊर्जा का संग्रह अपने भीतर

कर सकेंगे और उनके अनुसार अपने आपमें जीवन का और जागरण का अनुभव कर सकेंगे अधिक से अधिक। शरीर का बोध धीरे-धीरे कम होता जाए और आत्मा का बोध धीरे-धीरे बढ़ता जाए। योग के जितने लक्ष्य हैं, उनमें एक यह भी है। योग विज्ञान के इस सिद्धान्त को आज के वैज्ञानिकों ने भी स्वीकार कर लिया है कि जीवन प्राण ऊर्जा के जलने के नाम है। जबतक प्राण ऊर्जा अग्नि की तरह जल रही है तब तक जीवन है। जहाँ भी जीवन है वहां प्राण ऊर्जा का प्रज्ज्वलन है चाहे वह जीवन पशु-पक्षी का हो और चाहे पेड़-पौधे का हो। जितनी मात्रा में प्राण ऊर्जा को जलायेंगे उतना ही हमारा जीवन गतिमान होगा और हम स्वस्थ निरोग और स्फूर्तिमय जीवन व्यतीत करेंगे।

ध्यान मार्ग से आत्मा की यात्रा- एक वर्ष में हम जितना श्वास लेते हैं, उतना श्वास एक मास में लेने लगेंगे अथवा उससे भी कम समय में लेने लगेंगे तो हमारी यात्रा आत्मा की ओर होने लगेगी। शरीर का बोध कम होने लगेगा और आत्मा का बोध अधिक से अधिक होने लगेगा। श्वास-प्रश्वास पर हमारा ध्यान जितना प्रगाढ़ होगा उतनी शीघ्र हमें इस दिशा में सफलता उपलब्ध होगी। सबसे पहले ऑक्सीजन की आवश्यकता कम होती जायेगी। हम श्वास-प्रश्वास कम लेने लगेंगे। अन्त में एक अवस्था ऐसी आ जायेगी कि शरीर का बोध बिल्कुल समाप्त हो जाएगा। आत्मा के अस्तित्व का पूर्णरूप से अनुभव होने लगेगा और श्वास लेने की आवश्यकता भी समाप्त हो जायेगी। जानते हो, इसी अवस्था का नाम है समाधि। वास्तव में ऑक्सीजन की आवश्यकता हमारे शरीर को है हमारी आत्मा को नहीं। जहाँ श्वास-प्रश्वास की आवश्यकता समाप्त हुई उसी क्षण हम आत्म बोध को पूर्णतया उपलब्ध हो जायेंगे।

जैसाकि आपने कहा- श्वास-प्रश्वास शरीर की आवश्यकता है। क्या उसकी आवश्यकता समाप्त होने पर शरीर मृत नहीं हो जायेगा? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में मुखोपाध्याय महाशय बोले- उस अवस्था के अन्त में श्वास-प्रश्वास क्रियाशील रहता है, जिसके फलस्वरूप जीवन तत्व सक्रिय रहता है। मस्तिष्क भी रहता है सक्रिय।

समाधि में क्या अनुभव होता है?

अस्तित्व का बोध। जबतक जीवन का बोध है तबतक अस्तित्व का बोध संभव नहीं। अस्तित्व का अर्थ है आत्मा। जीवन की सीमा जहाँ समाप्त हो जाती है वहाँ आत्मा का अस्तित्व है। जो वस्तु जीवन के पश्चात् होगी, वह मृत्यु के भी पश्चात् होगी। जब हम समाधि में जीवन की सीमा को पार कर लेते हैं तभी अपने अस्तित्व का बोध होता है और प्राप्त होता है हमें इन तीन प्रश्नों का उत्तर मैं कौन हूँ? मैं कहाँ से आया हूँ और कहाँ जाऊँगा?

पञ्चम प्रसंग

श्रवण मनन निदिध्यासन और समाधि

योग मार्ग के अनुशरण काल में जिन सिद्ध योगी साधकों के चरणों में मुझे आश्रय प्राप्त हुआ, उनमें एक दिव्य पुरुष थे हरिहर वियोगी जी महाराज। काशीराज विभूति नारायण सिंह के जनरल सेक्रेट्री श्री रमेश चन्द्र डे के माध्यम से वियोगी जी से मेरा परिचय सन् १९७१ में हुआ था। हँसमुख स्वभाव, विनम्रता से सदा झुकी रहने वाली आँखे, मधुर वाणी और अन्तर्मुखी व्यक्तित्व। काशी के केदार मंदिर के बगल वाले पुराने मकान के सबसे ऊपर एक छोटे से कमरे में रहते थे अकेले वियोगी जी। तीन तल्ले की टूटी फूटी सीढ़ियाँ चढ़कर जब वियोगी जी की छोटी सी जीर्णशीर्ण कोठरी में पहुँचा तो उस समय ध्यानस्थ बैठे थे जमीन पर चटाई बिछाकर महाशय। मुखमण्डल साधना के तेज से चमक रहा था। निर्विकार भाव स्पष्ट झलक रहा था वहां। ध्यान में विघ्न न हो इसलिए चुपचाप कमरे के एक कोने में बैठ गया मैं। फिर सिर घुमाकर देखने लगा चारो ओर। गंगा की ओर एक खिड़की खुलती थी। ताजी हवा आ रही थी उधर से। सामने की दीवार पर खूंटी के सहारे एक मैली कुचैली धोती झूल रही थी। एक मैला और फटा गमछा भी था। खिड़की के नीचे एक पानी से भरा पीतल का घड़ा था और एक लोटा भी। दो चार बर्तन थे नित्य के उपयोग में आने वाले। एक सिद्ध योगी का प्रच्छन्न रूप और रहन-सहन देखकर स्तम्भित हो जाना पड़ा मुझे। ध्यान भंग हुआ। धीरे-धीरे आँखे खोली योगी ने। हे भगवान! एक युवा साधक की मसाल सी जलती हुई आँखों में क्या था? करुणा का अथाह सागर लहरा रहा था वहाँ। उसके अलावा भी बहुत कुछ था उन जलती आँखों में।

मेरी ओर स्थिर दृष्टि से देखते हुए मुस्कुराकर वियोगी जी बोले- आपके चेहरे पर आश्चर्य का भाव क्यों है? इस छोटी सी टूटी कोठरी और आपका रहन-सहन देखकर स्वाभाविक है आश्चर्य का होना। यह सुनकर हँस पड़े महाशय। बोले- योगी केवल शरीर को महत्व देता है और उसके द्वारा प्राप्त समय यानी जीवन को। इसके अलावा और किसी वस्तु को नहीं। इसलिए कि शरीर से ही साधना है। शरीर है और उससे उपलब्ध जीवन है तो साधना है। शरीर और समय के मूल्य और महत्व को एक योगी ही समझ सकता है भोगी नहीं। भोगी तो बस जीवन चाहता है, जानना

समझना नहीं चाहता। बस जीना है, लेकिन कैसे जीना चाहिए, यह वह मृत्युपर्यन्त नहीं जान पाता।

अविद्या और माया– आगे कुछ लिखने के पहले यह बतला देना चाहता हूँ कि वियोगी जी बंगदेशीय ब्राह्मण थे। उस समय उनकी अवस्था चालीस के आसपास थी। पाश्चात्य दर्शन से एम.ए. किया था उन्होने ढाका विश्वविद्यालय से। वे शिक्षक बनना चाहते थे लेकिन माँ भवतारिणी की इच्छा कुछ और ही थी। नित्य की भांति प्रातः गंगा स्नान कर रहे थे महाशय। उसी समय गंगाजल के भीतर से एक महात्मा प्रकट हुए और वियोगी जी के सिर पर हाथ रखते हुए गंभीर स्वर में बोले– तू यहां क्या कर रहा है। चल, मेरे साथ यह कहकर महात्मा उनका हाथ पकड़ कर लगभग खींचते हुए अपने साथ किसी अज्ञात स्थान पर ले गये और जब वियोगी जी की चेतना लौटी तो उन्होने आंख खोल कर देखा तो आश्चर्य चकित रह गये एकबारगी। हिमालय की कोई गुफा थी वह। महात्मा और कोई नहीं उनके सद्‌गुरु थे। एकाएक पिछले जन्मों की स्मृति जागृत हो उठी वियोगी जी की। स्तब्ध रह गये वह। पूरे तीस वर्ष रहकर उस गुफा में और सद्‌गुरु के सान्निध्य में रहकर अपनी अधूरी साधना पूरी की उन्होने और अन्त में सद्‌गुरु की आज्ञा से तीर्थाटन और देव दर्शन के लिए निकल पड़े। उनका अन्तिम पड़ाव था काशी। इसलिए कि काशी से ही अपनी अन्तिम यात्रा प्रारम्भ करना चाहते थे वह महाप्रयाण।

........लेकिन आपकी बातों से पता चलता है कि आपकी आयु अत्यधिक होनी चाहिए। उत्तर में वियोगी जी जरा हँसकर बोले– हाँ! इस समय एक सौ पन्द्रह वर्ष है।

लेकिन शरीर से तो आप प्रौढ़ प्रतीत होते हैं। इसका क्या रहस्य है। रहस्य कुछ नहीं है। योग का प्रभाव समझे इसे। यह सुनकर मौन रह जाना पड़ा मुझे। भला क्या बोलता और क्या कहता। सांझ घिर आयी थी। उस समय लौटना पड़ा। उस दिन से प्रातः नित्य ही भेंट होने लगी उस महान योगी से। कभी गंगाघाट पर तो कभी रास्ते में तो कभी किसी मन्दिर में तो कभी स्वयं मैं ही चला जाता था उनके निवास पर। थोड़े ही समय में प्रगाढ़ संबंध स्थापित हो गया एक संसारी और एक योगी के बीच।

आवश्यक कार्य के फलस्वरूप चार पांच दिनों से भेंट नहीं हुई थी। मन थोड़ा उद्विग्न था। मैं चला गया। दोपहर का समय। बरसात का मौसम। काले भूरे बादल घिरे थे आकाश में। देखा कोठरी के सामने छत पर बैठे थे वियोगी जी मौन साधे चिन्तन मनन में डूबे हुए। अचानक सिर उठा कर मेरी ओर देखते हुए बोले योगीराज– उपनिषद तो पढ़े ही होंगे। हाँ! पढ़ा तो है लेकिन अधिक नहीं।

उपनिषद का कहना है कि सम्पूर्ण जगत में कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसकी छाया

न हो। जो अस्तित्व में है उसकी अपनी छाया भी है। बिना छाया के कोई भी वस्तु नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म है तो उसकी भी छाया होगी। वेद कहता है, उपनिषद कहता है और सभी शास्त्र कहते हैं उस छाया को माया। माया यानी संसार। ब्रह्म की छाया है संसार। यदि इस तथ्य पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाय तो उसका आयाम ही बदल जायेगा। जुंग अपने समय का बहुत बड़ा मनोवैज्ञानिक था। आपने भी उसका नाम सुना होगा। उसने इस पर काफी खोज की बहुत ही किया चिन्तन मनन। अन्त में उस वैज्ञानिक ने कहा- प्रत्येक व्यक्ति का एक छाया अस्तित्व होता है। उसका कहना पूर्ण उचित है। आपको भी समझ लेना चाहिए। आपके पास भी छाया अस्तित्व है। आप अच्छे भले चरित्रवान व्यक्ति हैं। क्रोध नहीं करते धैर्यवान हैं आप। शान्ति चाहते हैं। शान्ति प्रिय हैं आप। लेकिन ऐसा नहीं है कि आपको जीवन में क्रोध आया ही न हो। भले ही वह क्षणिक ही रहा हो। आया तो होगा ही, इसमें सन्देह नहीं। इस संसार में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं, जो क्रोध न किया हो, भगवान श्रीकृष्ण और पुरुषोत्तम राम भी क्रोध से बच न सके तो साधारण लोगों की बात क्या?

......और किसी दिन किसी एक छोटी-सी बात पर आपको क्रोध आ जाता है और आपकी समझ के बाहर हो जाता है कि क्या हो गया? क्यों क्रोध आ गया। इसीलिए लोग कहते हैं कि भाई मैं तो क्रोध करना नहीं चाहता था लेकिन न जाने क्यों आ गया क्रोध। क्रोध कैसे आ गया आपको। आप तो चाहते नहीं थे। फिर कैसे क्रोधित हो उठे आप? कभी-कभी ऐसी बात होती है जिसे गुप्त रखना आवश्यक होता है लेकिन वह गुप्त बात आपके मुंह से निकल जाती है। आप फिर पछताते हैं सोचने लगते हैं कि निश्चित कर लिया था, कभी भी मुंह से नहीं निकालूँगा उस गुप्त बात को लेकिन फिर भी निकल ही गयी वह।

क्यों? क्या कारण है?

मनोविज्ञान का कहना है कि आपका दो व्यक्तित्व है- भौतिक व्यक्तित्व और छाया व्यक्तित्व। आप जिन-जिन चीजों को अस्वीकार कर देते हैं। आप जिन-जिन बातों की उपेक्षा कर देते हैं, अस्वीकार कर देते हैं और महत्व नहीं देते हैं और जिन बातों को आप किसी कारणवश छिपा लिया करते हैं। इसी प्रकार जिन-जिन वस्तुओं को गुप्त रखना चाहते हैं। वे चीजें, वे वस्तुएं छाया व्यक्तित्व में एकत्र होती जाती है। उनका भार; उनका वजन और उनका बोझ आपको कभी-कभी आन्तरिक रूप से विचलित कर देता है। व्यग्र कर देता है और कर देता है कभी-कभी अशान्त भी।

मनोविज्ञान का यह बहुत बड़ा सत्य है। आपके भीतर दो व्यक्ति है। आपको आश्चर्य होगा यह पढ़कर। स्वाभाविक भी है। लेकिन है सत्य और यही एकमात्र कारण

है कि आप कहते हैं कुछ और करते हैं कुछ। जो सोचते हैं वह बोलते नहीं और जो बोलते हैं उस पर कभी सोचते नहीं। कोई तालमेल नहीं। कभी कुछ तो कभी कुछ। जमीन और आसमान का अन्तर। सुबह कुछ होते हैं आप और सांझ को होते हैं और कुछ। कोई पक्का भरोसा या पक्का विश्वास नहीं किया जा सकता आपकी बात का और इसके होने का। आप स्वयं भयग्रस्त रहते हैं कि मैं क्या कर रहा हूँ? क्या बोल रहा हूँ। क्या कह रहा हूँ? कोई सामञ्जस्य नहीं। लगता है भीतर दो व्यक्ति है एक 'हाँ' कहता है और एक 'ना' कहता है। कभी आप बड़ा शान्त रहते हैं तो कभी आप रहते हैं बड़ा ही अशान्त। कभी मौन तो कभी मुखर। इसी से समझें कि आपका व्यक्तित्व है एक बाहरी भौतिक और दूसरा आन्तरिक। जिसे छाया व्यक्तित्व कहते हैं। सचमुच आप शुरू से ही दो भागों में विभक्त हैं। कभी आपका किसी पागल से पाला पड़ा है। कभी किसी झगड़ालू व्यक्ति से या बात-बात में क्रोधित होने वाले व्यक्तित्व से या गाली-गलौज करने वाले महापुरुषों से पाला पड़ा है। भगवान न करे पाला पड़े या उनका आपसे सामना हो। आपको ज्ञात होना चाहिए कि ऐसे महापुरुषों का भौतिक व्यक्तित्व कहीं खो गया होता है। छाया व्यक्तित्व हो गया होता है सक्रिय। ऐसे लोग अपने आपको भूल गये होते हैं। योगी और साधकगण अथवा बुद्धिजीवी पुरुष इस प्रकार के लोगों से सदैव दूर रहने का प्रयास करते हैं और ऐसे लोगों से अलग रहने का प्रयास करते हैं जो कृतघ्न हैं, दुष्ट प्रवृत्ति के हैं, असत्यवादी हैं, जिनको अपने व्यवहार, विचार और वाणी पर अधिकार नहीं है। इसलिए कि ऐसे लोगों का छाया व्यक्तित्व ही सदैव सक्रिय रहता है। भौतिक व्यक्तित्व क्या है, वे यह जानते ही नहीं। ऐसे महापुरुषों को दूर से ही प्रणाम करना चाहिए। जो कि आवश्यक है और इसलिए कि उनका छाया व्यक्तित्व आपके छाया व्यक्तित्व को प्रभावित करने लगेगा और आप भी उनके जैसा ही होने लग जायेंगे। मनोविज्ञान तो यहां तक कहता है कि आलिंगन चुम्बन, सम्भोग, स्पर्श से दो छाया व्यक्तित्व एक दूसरे के प्रति अतिशीघ्रता से प्रभावित होते हैं। यदि एक छाया व्यक्तित्व नकारात्मक है और दूसरा सकारात्मक है तो सकारात्मक को नकारात्मक होने में देर न लगेगी। क्योंकि सकारात्मक से नकारात्मक सदैव प्रबल रहता है। देवता बनने में समय लगता है लेकिन राक्षस बनने में समय नहीं लगता। योग इसी को संसर्ग दोष कहता है।

अब हम इस प्रसंग के दूसरे पक्ष पर विचार करेंगे। अचानक कोई अप्रत्याशित घटना घटती है अचानक कोई भयंकर दुर्घटना घटती है। एकाएक कोई भयंकर चोट लगती है सिर पर। एकाएक कोई मानसिक आघात लगता है और व्यक्ति बेहोश हो जाता है और जब होश में आता है तो उसकी सारी स्मृति लुप्त हो जाती है। वह अपना

नाम भूल जाता है। माता-पिता और पत्नी तक को नहीं पहचान पाता है। उसके चेहरे के भावों से और नेत्रों की भाषा से ऐसा लगता है कि उसका अपने परिवार से, अपने घर से और लोगों से उसका कभी का कोई नाता रिश्ता नहीं रहा है। वह कुछ और ही हो गया है।

क्या हो गया है?.........हो क्या गया है? उसका जो प्रमुख व्यक्तित्व यानी भौतिक व्यक्तित्व पर गहरा आघात लग चुका होता है और उसका जो छाया व्यक्तित्व हो गया होता है सक्रिय। बस, इससे अधिक और कुछ नहीं और इसी कारण सब कुछ अपरिचित हो जाता है उसके लिए। इस स्थिति को ठीक भी किया जा सकता है। इसके लिए कई उपचार है जिनमें बिजली का झटका भी है। अब हम इस विषय को आध्यात्म की ओर मोड़ते हैं। उपनिषद कहता है कि मनुष्य का जो छाया व्यक्तित्व है वह 'अविद्या' है। अविद्या ही छाया व्यक्तित्व है। इस प्रकार ब्रह्म की जो छाया है वह है 'माया'। माया यानी संसार। संसार माया है। ब्रह्म का छाया व्यक्तित्व संसार इस बात का प्रमाण है कि ब्रह्म का अस्तित्व है। इस तथ्य को समझना अत्यन्त कठिन है। इसे जानने समझने के लिए मनोवैज्ञानिक और परामनोवैज्ञानिकों को बड़ी गहरायी में उतरना पड़ा। उन्होंने इस 'तथ्य' को वैज्ञानिक नाम दिया 'एन्टिमैटर'। इसका अर्थ है, विपरीत पदार्थ। यानि प्रति पदार्थ। ज़गत ब्रह्म का छाया व्यक्तित्व यानी माया है। इसी प्रकार जगत का भी छाया व्यक्तित्व है मतलब प्रति जगत। प्रति जगत क्या है? प्रति जगत है सूक्ष्म जगत। इस संसार में प्रत्येक वस्तु का और प्रत्येक पदार्थ का प्रतिरूप है। प्रतिरूप के बिना इस जगत में कोई भी वस्तु और कोई भी पदार्थ हो ही नहीं सकता।

वियोगी जी बोले- विषय जटिल है इसलिए मैं उसे समझाने की दृष्टि से थोड़ा सांसारिक भाषा का प्रयोग करूँगा।

अन्धकार और प्रकाश, जीवन और मृत्यु दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं। अन्धकार है तो प्रकाश भी है। जीवन है तो मृत्यु भी है। गर्मी है तो जाड़ा भी है। स्त्री है तो पुरुष भी है। सभी एक दूसरे के विपरीत हैं। सम्पूर्ण जगत में दोहरी व्यवस्था है। यह व्यवस्था प्राकृतिक है। यदि ऐसी व्यवस्था न हो तो जगत का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। प्रकृति में विकृति उत्पन्न हो जायेगी, सृष्टि का क्रम ही भंग हो जायेगा। उपनिषद उसी व्यवस्था को कहता है उपाधि। आप कभी ऐसी कल्पना कर सकते हैं कि कोई ऐसा जगत है जहाँ बस पुरुष ही पुरुष हैं। स्त्री है ही नहीं या फिर कोई ऐसा जगत हैं जहाँ स्त्रियाँ ही हैं, पुरुष है ही नहीं। यह असम्भव है। पूर्णरूपेण असम्भव। यदि ऐसा सम्भव हो जाय तो तालमेल कैसे बैठेगा? सृष्टि का अस्तित्व ही खतरे में पड़

जायेगा। सामञ्जस्य बहुत गहरा है और इतना गहरा है कि जब बच्चे जन्म लेते हैं तो लड़के एक सौ पन्द्रह की संख्या में जन्म लेते हैं और लड़कियों की जन्म संख्या होती है सौ। लेकिन पन्द्रह वर्ष की आयु तक पन्द्रह लड़कों का अस्तित्व समाप्त हो जाता है। परिणामस्वरूप सौ, सौ का अनुपात बराबर हो जाता है। यहाँ एक बात समझना आवश्यक है और वह यह कि लड़के-लड़कियों से कमजोर होते हैं। कुछ अर्थो में जीव विज्ञान का कहना है कि पुरुष से अधिक शक्तिशाली स्त्री है। पुरुष-स्त्री से कई अर्थो में कमजोर है। पुरुष की शक्ति सीमित है। वह भारी से भारी काम कर सकता है। भारी से भारी बोझ उठा सकता है लेकिन भारी से भारी कष्ट या दुःख झेल नहीं सकता स्त्री की जो शक्ति है वह है उसकी सहनशीलता। इसी कारण स्त्री बड़ा से बड़ा कष्ट और दुःख सह लेती है। भयानक से भयानक रोगों को भी झेल लेती है। पुत्र और पति का वियोगजन्य कष्ट को भी पी जाती है विष की तरह। सबसे बड़ी बीमारी क्या है स्त्री के लिए। वह है प्रसव। सबसे बड़ा कष्ट है प्रसव। सबसे बड़ी वेदना क्या है प्रसव वेदना। उसे भी सह लेती है और झेल लेती है।

यदि पुरुष को बच्चा पैदा करना हो तो वह बिना कुछ सोचे समझे तुरन्त आत्म हत्या कर लेगा। नौ महीने बच्चे को पेट में ढोना तो दूर की बात है। नौ महीने बच्चे को कन्धे पर नहीं बिठा सकता। गोद में नहीं ले सकता। प्यार-दुलार भी नहीं कर सकता। नौ महीने की बात छोड़े नौ मिनट भी नहीं। प्रसव की पीड़ा संसार की सबसे बड़ी और भयानक पीड़ा है। प्रकृति ने उस पीड़ा को सहने के लिए और झेलने के लिए स्त्री का निर्माण किया है इसलिए कि उसकी शक्ति की क्षमता अलग है। उसके आयाम अलग हैं और यही एकमात्र कारण है कि समस्त तंत्र साधना स्त्री शक्ति पर आधारित है। 'तंत्र' साधना की मूल अधिष्ठात्री एकमात्र स्त्री है। दया, कृपा, क्षमा, सहनशीलता वात्सल्य, धर्म, कर्म में रत और प्रसन्न चित्त ये गुण जिसमें है वह स्त्री है।

योगी विश्वेश्वर गिरि– काशी में गुप्त रूप से निवास करने वाले योगियों में एक थे योगी विश्वेश्वर गिरि। इनसे मेरा साक्षात्कार सन् १६६५ ई० में हुआ था। योगियों की सही-सही आयु का पता लगाना कठिन कार्य होता है। गिरि महाशय की कदकाठी को देख कर कोई नहीं कह सकता था कि उनकी आयु चालीस से अधिक की न होगी। श्री कविराजजी का कहना था कि गिरि महाशय नब्बे वर्ष से कम के नहीं हैं।

बंगाली टोला मुहल्ले की एक सकरी सी गली में लाई चूड़ा की एक दुकान थी। वह दुकान तो वैसे गिरि महाशय की छोटी बहन नर्मदा की थी। नर्मदा विधवा थी। वही दुकान पर बैठती थी। लेकिन दोपहर से चार पाँच बजे तक गिरि महाशय दुकान में पद्मासन की मुद्रा में बैठकर दुकानदारी किया करते थे सिर पर टोपी लगा कर और

कन्धे पर बनारसी गमछा रखकर। उस समय भला कौन कह सकता था कि लाई चूड़ा को बेचने वाला वह व्यक्ति एक सिद्ध योगी भी है।

जाड़े के दिन थे। सांझ का समय। न जाने किस प्रेरणा के वशीभूत होकर उस लाई चूड़ा की दुकान पर खड़ा हो गया मैं लाई लेने के लिए। एकबार गिरि महाशय ने नजर उठाकर मेरी ओर देखा और फिर लोहे की कढ़ाई में गर्म हो रहे बालू में धान डालकर झाड़ू की सीख से भूजने लगे लाई। मैं चुपचाप खड़ा गिरि महाशय की गति-विधि की देख रहा था ध्यान से चोंगा में लाई भर मुझे थमाते हुए गिरि महाशय मुस्कुराकर बोले- एक अध्यात्म प्राण जिज्ञासु को अपनी जिज्ञासा का समाधान चाहिए। लाई चूड़ा से कहीं समाधान होता है। यह सुनकर दंग रह गया मैं। फिर क्या परिचय का आदान-प्रदान हुआ और फिर चल पड़ा सत्संग का सिलसिला।

गिरि महाशय का भी कमरा बिल्कुल गंगा तट पर ही था- बिल्कुल शान्ति का वातावरण था। सामने काफी लम्बा चौड़ा छत था। छत पर तुलसी, दोना का पौधा, जवा, बेला, जूही चमेली आदि के पौधे गमले में लगा रखा था। उन्हीं के बीच हम दोनों बैठकर शास्त्र चर्चा करते थे। उस दिन उपनिषद पर प्रसंग छिड़ा हुआ था। अब तक की बातों से यह मैं अच्छी तरह समझ गया था कि गिरि महाशय योग के विद्वान तो हैं ही, इसके अतिरिक्त पूर्ण अनुभवी भी हैं योग के।

गिरि महाशय ने कहा- उपनिषद ने चार शब्दों का प्रयोग किया है। वे अपने आप में महत्वपूर्ण हैं और वे चार शब्द है- **श्रवण, मनन, निदिध्यासन और समाधि।** इन चार शब्दों में संसार का सम्पूर्ण सत्य समाहित है। वास्तव में चार चरण हैं सत्य के। जो इनको आत्मसात कर लेता है, उसे फिर और कुछ करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन चारों शब्दों के आसपास की योग ही समस्त साधनाएँ विकसित हुई है इसलिए प्रत्येक शब्द को गहरायी से और सूक्ष्मता से समझना होगा। पहला शब्द है **श्रवण** का अर्थ केवल सुनना नहीं है। सुनते तो सभी हैं। हम भी सुनते हैं और आप भी सुनते हैं। सुनना एक यांत्रिक घटना है। ध्वनि हुई कान के पर्दे पर ध्वनि टकरायी और आपने उसे सुन लिया। योग कहता है कि श्रवण का इतना ही अर्थ नहीं है। श्रवण का अर्थ है केवल कान से ही न सुना गया हो। भीतर जो चैतन्य है उस तक ध्वनि की गूंज हो। क्य: आप इसको कोई उदाहरण देकर समझायेंगे? मैंने कहा। आपके घर में कोई अनहोनी हो गयी है और आप रास्ते में तेजी से जा रहे हैं घर पहुँचने के लिए उसी समय किसी ने आपको नमस्कार किया। उस नमस्कार को आपका कान तो सुन लेगा, लेकिन आप न सुन सकेंगे। आप बतला भी न सकेंगे कि आप को किसी ने नमस्कार भी किया था रास्ते में। आपका मन कहीं है और आपके

कान में आवाज पड़ी। लेकिन सुन न सके आप। पता भी न चलेगा आपको उस आवाज का। इससे स्पष्ट है कि कान का सुनना आपका सुनना नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि कान सुने तो आप भी सुने। कान का सुनना आपका सुनना नहीं है। कान सुनने के लिए अवश्य हैं लेकिन काफी नहीं है। आवश्यक है, पर्याप्त नहीं है।

श्रवण का अर्थ है जहां कान हो वहां आप भी हों। कान के साथ होना साधना का एक अंग है। ध्वनि से आपकी चेतना का संबंध अति गहन है। आपके शरीर में चेतना सर्वत्र है लेकिन जिस समय, जिस इन्द्रिय का उपयोग मन करता है चेतना वहां केन्द्रित हो जाती है। जब आप सुनते हो उस समय चेतना वहां होनी चाहिए। यदि आपके भीतर कोई विचार चल रहा होता है तो उस समय चेतना आपके विचार के साथ रहती है। आपका ध्यान विचार पर रहता है इसलिए कान आवाज को तो सुन लेता है लेकिन आप नहीं। क्योंकि आप वहाँ होते नहीं। ध्यान का अपना विज्ञान है। आप प्रवचन सुन रहे हैं। ध्यान सुनने में लगा है अचानक आपका ध्यान और कहीं चला जाता है कुछ क्षण के लिए। फिर सुनने में लग जाता है। बीच में कुछ क्षण के लिए अन्तराल पड़ गया। उस अन्तराल में प्रवचन का बहुत कुछ छूट जाता है। फिर उसे जोड़कर आप सोच लेते हैं। वह आपका है प्रवचन का नहीं। आपके उस सोच में प्रवचन का बहुत सा अर्थ निकल नहीं पाता। जो अर्थ निकालते हैं। वह अर्थ आपका होता है प्रवचन का नहीं। यही कारण है कि प्रवचन सुनने वाले प्रवचन के विषय के प्रति प्रायः भ्रमित होते हैं।

क्या इसे आप और स्पष्ट करेंगे? मैंने कहा- सुनते-सुनते आपका ध्यान हट जाता है। स्थान खाली हो जाता है। वह खाली स्थान कौन भरेगा? आपका मन, आपकी स्मृति, आपका ज्ञान और आपका अनुभव भरेगा उस खाली स्थान को। फिर उसका रूप बनेगा। उसका निर्माता आप होंगे। जिसने कहा था वह उसका जिम्मेदार न होगा। आप होंगे। श्रवण का अर्थ है- सुनते समय कान के पास चेतना रहे। कार्य विचार, कोई तर्क और कोई चिन्तन आपके भीतर चलता न हो।

आपका मन एक समय दो काम नहीं कर सकता, करेगा तो एक ही काम करेगा। सुनिए या फिर सोचिए। आप सोचेंगे तो सुन नही सकेंगे। श्रवण के समय सोचने या झपकी लेने की आदत है। बोलने वाला बोल रहा है लेकिन आपके भीतर कोई सोच-विचार चल रहा होता है उस समय या झपकी ले रहे होते हैं। सुनना आवश्यक है। सोचना तो बाद में भी हो सकता है। पहले सुन लिया जाय और फिर सोचा जाय यह न्याय संगत है। क्योंकि सोचेंगे किस पर आप। अगर ठीक ढंग से और सही रूप में आपने सुना ही नहीं या जो सुना है, उसमें अपना कुछ विचार

जोड़ दिया है या जो सुना है उसमें बीच-बीच में अन्तराल रह गये हैं तो क्या सोचेंगे आप? जो सोचेंगे उसका कोई मूल्य और महत्व ही नहीं रह जायेगा तब। सम्यक् रूप से सुना न गया हो तो सोचना व्यर्थ हो जाता है इसलिए उपनिषद कहता है पहला सोपान है श्रवण।

आप प्रवचन सुने, उपदेश सुने, कथा सुने या कोई अन्य सुनने योग्य कोई बात हो। उसे मन को एकाग्र कर सुने। ध्यान से सुने। मन को भटकने न दें। तभी श्रवण का फल मिलेगा, अन्यथा नहीं। उस समय झपकी न लें, सोच-विचार न करें। बस सुनिए। आपका मन पूर्णरूप से रूक जाना चाहिए कान के पास। श्रवण को एक-एक शब्द को पकड़ते चलिए सावधानी पूर्वक। जरा सा भी मन इधर-उधर न भटके। तब श्रवण पूर्णरूप से घटित होगा। जितनी महत्वपूर्ण बात हो उतना ही श्रवण प्रगाढ़ हो-तभी समझा जा सकेगा। उपनिषद का सूत्र कहता है। **इत्थं वाक्यैस्त दर्थानु संधानं श्रवणं भवेत्।** श्रवण के समय आपका मन पूर्णरूप से स्थिर और एकाग्र हो जाना चाहिए। श्रवण का एक-एक शब्द चेतन तक पहुँच जाना चाहिए और तभी **तत्त्वमसि** वाक्य द्वारा जीव ब्रह्म का एकात्म रूप अर्थ समझ में आयेगा। उस अर्थ का अनुसंधान करना श्रवण है।

तत् त्वमसि परमात्मा यानि ब्रह्म के प्रति यह परम महावाक्य है। यह सम्पूर्ण वेद है। 'तत्' शब्द का प्रयोग परमात्मा के लिए है। तत् यानी वह। 'वह' परमात्मा के लिए है। इसी प्रकार 'तत् त्वमसि' का अर्थ है- 'वह' जो परमात्मा है दूर नहीं है पूर्णरूप से जीवात्मा के निकट है। जो साधक, 'तत् त्वमसि' का पूरा अनुसंधान कर ले वह जीवन की परम स्थित को हो जाता है उपलब्ध। इसीलिए उसे महावाक्य कहते हैं। फिर किसी शास्त्र, पुराण, वेद, उपनिषद आदि की आवश्यकता नहीं। तत् त्वमसि ही पर्याप्त और पूर्ण वेद है। इस एक महावाक्य का यदि साधक ठीक-ठीक श्रवण कर ले, मनन कर ले, निदिध्यासन कर ले, समाधि कर ले तो फिर किसी वेद शास्त्र पुराण की आवश्यकता नहीं। वह परमात्मा के निकट हो जाता है। इस वाक्य में तीन बातें कही गयी हैं- 'तत्' 'वह, त्वम् 'तू'। दोनों एक सी बातें हैं। 'वह' और 'तू' एक है। बस इतना ही है यह सूत्र। आपकी इस परम महासूत्र में वेदों का सार वेदान्त और समस्त ऋषियों का आध्यात्मिक अनुभव समाया हुआ है। 'वह' अस्तित्व है परमात्मा का और 'तू' है चेतना, जो भीतर छिपी है। चेतना ही आत्मा है, परमात्मा और आत्मा यानी 'तत् और त्वमसि' दोनों एक हैं। इसका बोध हो जाना ही परमात्म तत्व और आत्म तत्व की भिन्नता समझ में आ जाती है इसीलिए ऋषियों ने इसे 'महावाक्य' कहा है। इस एक से जीवन के सारे क्लेश, सारे दुःख, सारे कष्ट, सारी समस्याएं, सारी

अनुभूति, सारी चिन्ता आदि सब कुछ समाप्त हो जाता है। केवल इस वाक्य में सम्पूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान और उस ज्ञान का समस्त अनुभव समाया हुआ है।

इसलिए भारत के प्राचीन तत्ववेत्ताओं का, ऋषि महर्षियों का बराबर यही अनुरोध और आग्रह रहा है कि जो परमज्ञान है उसे लिखा नहीं जाना चाहिए। उनका अनुरोध और आग्रह अति महत्वपूर्ण और मूल्यवान था लेकिन उसे पूरा करना भविष्य में असम्भव हो गया। लिखना ही पड़ा। हजारों साल तक यह आग्रह था कि लिखा न जाय। जितने परम ज्ञान हों वे सब मुख विद्या रहे उसे लिखा न जाये। बहुत सारे लोग विशेषकर भाषा शास्त्री सोचते हैं कि उस समय लिपि न रही होगी। लिखने का साधन भी न रहा होगा। इसीलिए वेद, शास्त्र, उपनिषद आदि लिखे नहीं गये उस समय। यह भारी भ्रम है। क्योंकि जो 'तत् त्वमसि' जैसा अनुभव उपलब्ध कर सकते हैं। जो इस महावाक्य को अपने अनुभव में ला सकते थे। वे लिखने की कला को नहीं सीख सकते थे। यह असम्भव सा लगता है। जिनकी प्रतिभा ऐसी ऊँचाई के शिखर को छू लेती थी। वे लिखने जैसी साधारण बात भी न खोज पाते। यह उचित नहीं जान पड़ता। न लिखने का एकमात्र कारण यह था कि उपनिषद के सूत्र अध्यात्म तत्व के सूक्ष्मतम् तत्व हैं। उपनिषद स्वयं सूक्ष्मतम् अध्यात्म है। उसके एक वाक्य में ब्रह्म आत्मा परमात्मा जीव और जगत से संबंधित विशाल रहस्य भरे हुए हैं। यदि उसके एक सूत्र अथवा एक वाक्य की व्याख्या की जाय तो एक वृहद् ग्रन्थ तैयार हो सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि सूत्र या वाक्य की व्याख्या करते समय व्याख्याकार के अपने विचार और अपने भाव भी प्रवेश कर सकते हैं मुख्य विषय में। परिणामस्वरूप अर्थ का अनर्थ हो सकता। मौलिकता को नष्ट होने की भी सम्भावना अधिक थी। लेकिन कालान्तर में ऐसा ही हुआ। उपनिषद काल के बाद उपनिषदों के साथ अहंकारी और आध्यात्म ज्ञान से शून्य ब्राह्मणों ने अपने-अपने विचारों,धारणाओं और भावों का आश्रय लेकर उनके महावाक्यों और परम सूत्रों की मनमानी व्याख्या करने लगे। अर्थ का अनर्थ होना स्वाभाविक था और वह हो गया। वर्तमान समय में उपनिषदों के संबंध में जो भी साहित्य उपलब्ध है। वह मौलिकता से दूर है। भौतिक तथ्यों का अभाव है। आत्मा का स्पर्श करना दूर की बात है। श्रवण का अभ्यास होना चाहिए। यदि आपसे सौ बात कही जाय तो आपका मन केवल पाँच बातों को ग्रहण करेगा और वह भी कठिनाई से क्योंकि आपकी मान्यताएं, आपकी धारणाएं और आपकी भावनाएं सुनते समय बीच-बीच में आ जाती है। आप जरा अपने 'मन' पर विचार करिए। क्या आप पूरे समय 'हां' 'ना' कहते रहते हैं। कभी सोचा है आपने? कौन कह रहा है आपके भीतर 'हां' और 'ना'। आप नहीं कह रहे हैं। कह रहा है आपका मन।

जो आपने एकत्र किया है।

समझ लें। आपका मन अनुकूल को ग्रहण कर लेता है प्रतिकूल को अस्वीकार कर देता है। वह प्रतिकूल कैसे मानसपटल पर से मिटेगा? आपका मन आपका शत्रु है और वही आपका मन मित्र है और आपका नियन्ता भी है। जो मन आपका शत्रु है। उसे कैसे समाप्त कर सकेंगे आप? कर सकेंगे? नहीं। क्योंकि मन की सहायता से ही शत्रुता को समाप्त करना है लेकिन शीघ्र यह सम्भव नहीं है। अभ्यास की आवश्यकता है और वह अभ्यास है मन न स्वीकार करे और न तो अस्वीकार ही करे। हम अपने भीतर चल रहे 'हां' 'ना' के संघर्ष में पड़े हैं। बराबर अपनी सुरक्षा में लगे हैं।

ऐसी स्थिति में श्रवण नहीं हो सकता। श्रवण का संबंध न स्वीकार से है और न तो है अस्वीकार से। श्रवण का संबंध केवल इस बात से है कि आप ठीक-ठीक सुन लें ताकि सुना हुआ चेतना तक पहुँच जाये।

मनन श्रवण के बाद मनन है। श्रवणकाल में जो सुना गया है, उसका मनन करना ही मनन है। ध्यान देने योग्य बात तो यह है कि आपने जो कुछ भी सुना, उसमें अपने मतलब की बात को स्वीकार कर लिया और उस पर मनन किया। उसे मनन नहीं कहा जायेगा। वह धोखा है। बिना 'हां' और 'ना' किए सुन लिया- निन्दा, प्रशंसा स्वीकार, अस्वीकार कुछ भी नहीं, कोई मूल्य नहीं, कोई निर्णय नहीं, पक्ष और न तो विपक्ष। क्या कहा गया है? उसे तटस्थ और मौन भाव से कर लिया स्वीकार। उसे प्रवेश कर जाने दिया हृदय तक। ताकि उसमें आप परिचित हो सके। जिससे परिचय हो। उसी का तो मनन हो सकता है। चिन्तन और मनन से भारी अन्तर है। चिन्तन हम उसका करते हैं, जिसका हमको ठीक-ठीक ज्ञान न हो और परिचित भी न हो। अति सूक्ष्म बात है यह ठीक से समझ लेना है। चिन्तन है- अपरिचित के साथ बुद्धि की प्रक्रिया का व्यायाम। मनन है- परिचित के साथ आत्मसात कर लेना। अपनी-अपनी आत्मा में प्रविष्ट हो जाने दिया पूर्णरूप से। चेतन तक पहुँचा दिया आपने उसे। उस पर विचार करिये। ख्याल रखिए, चिन्तन में कलह है, उपद्रव है। मनन में है सहानुभूति। चिन्तन में द्वन्द है और मनन में है विमर्ष। कितना अन्तर है। चिन्तन का अर्थ है- किसी से लड़ना। यदि आपकी विजय हो गयी तो आप मान लेंगे लेकिन उस मानने में एक प्रकार की पीड़ा होती है।

उस दिन अधिक समय हो गया था। प्रणाम कर लौटना पड़ा। बाद में प्रायः नित्य ही जाने लगा मैं। गिरि महाशय की दुकानदारी दोपहर से सांझ तक थी। उसके बाद सत्संग करते थे। समय का होश न रहता उन्हें।

मनन पर ही प्रसंग चल पड़ा एक दिन। मैंने ही प्रसंग उठाया था। बाबा 'मनन' पर अपना स्वविचार व्यक्त करिये। अधूरा ही रह गया था। हां! ठीक कहा अधूरा रहा विषय गिरि महाशय बोले- मान लो आपसे किसी महत्वपूर्ण विषय पर किसी का वाद विवाद हो रहा है। आप तर्क नहीं कर पाते और फिर भी आपको स्वीकार करना पड़ता है। उस समय आपकी स्वीकारोक्ति आपके भीतर एक पीड़ा होती है। आप बराबर उस पीड़ा को पकड़े सोचते हैं कि कभी न कभी अस्वीकार कर ही लूँगा आज नहीं तो कल और यही एकमात्र कारण है कि किसी भी व्यक्ति को 'तर्क' द्वारा रूपान्तरित नहीं किया जा सकता। सम्भव नहीं। क्योंकि 'तर्क' का तात्पर्य है पराजय। समझ लें तर्क से पराजित व्यक्ति को आप रूपान्तरित नहीं कर सकते। आप तर्क से किसी को चुप भले ही करा दें लेकिन उसके विचार और भाव को जो विषय के प्रति है बदल नहीं सकते। तर्क से रूपान्तरित होना भी नहीं चाहिए। जो तर्क में पराजित हो जाता है तो इसका मतलब यह नहीं कि वह व्यक्ति गलत है। इसी प्रकार जो तर्क में विजयी हो जाता है तो इसका अर्थ यह नहीं कि वह अपने स्थान पर सही है।

तर्क से अहंकार को चोट पहुँचती है। आघात लगता हैं और अहंकार है कि वह बदला लेना चाहता है। वास्तव में तर्क एक संघर्ष है। चिन्तन का प्रारम्भ होता है तर्क से और श्रवण से शुरू होता है मनन। इसी प्रकार चिन्तन शुरू होता है तर्क से। चिन्तन और मनन में यही अन्तर है। चिन्तन शुरू होता है कलह से इसलिए कि तर्क उसका आधार है। सहानुभूति वहां नहीं है। सहानुभूति का क्या अर्थ है। सहानुभूति का अर्थ है- अपनी स्व-अनुभूति के साथ विचारणा जो हम सोच रहे हैं अथवा जिस विषय के संबंध में हम सोच रहे हैं अत्यधिक सहानुभूति और प्रेम से सोच रहे हैं।

चिन्तन मनन में गुणात्मक अन्तर क्या है? जब आप किसी विषय के संबंध में सहानुभूतिपूर्वक सोचते हैं। उस समय आपकी पूरी आन्तरिक आकांक्षा यही होती है कि हमने जो सुना है, वह सत्य हो सकता है। यदि सत्य हो तो हमारे लाभ का हो सकता है और यही कारण है कि सर्वप्रथम आप उस बिन्दु की खोज करते हैं जो सही है और जब आप चिन्तन करते हैं तो आप यह मान कर चलते हैं कि जो कुछ भी सुना है, वह गलत है। आप पहले खोजते हैं उस बिन्दु को जो गलत हो। एक उदाहरण लें। एक हिन्दू को आप क़ुरान पढ़ने के लिए दे दें। उसे क़ुरान की महत्वपूर्ण बातें दिखलायी नहीं देंगी। जो-जो गलत है उसकी दृष्टि से वही उसे दिखलाया देगा और चिन्तन में वही उसे दिखलायी देगा और अन्त में यही कहेगा कि देखें, क्या लिखा है? क्या यह कोई धर्म शास्त्र भी हो सकता है?

आप एक मुसलमान को गीता थमा दें। गीता में क्या-क्या गलत है और

क्या-क्या असत्य है वह तुरन्त उसकी सूची बना लेगा और थमा देगा आपको। गलत निकालने की अपनी एक कला है और इस कला का सर्वाधिक मर्मज्ञ एक समाज है मनन सही की खोज है और चिन्तन है गलत की। खोज मनन, सहानुभूति की यात्रा है। मनन करने वाला व्यक्ति गलत पर पहले ध्यान नहीं देगा। सत्य को पहले वह आत्मसात करेगा और सत्य जब पूरी तरह आत्मसात हो जाता है तब वह व्यक्ति गलत पर सोचता है। यदि उसमें कुछ अच्छाई नजर आयी तो उसे भी आत्मसात कर लेगा शेष व्यर्थ।

निदिध्यासन अब थोड़ा निदिध्यासन पर चर्चा करेंगे। 'तत् त्वमसि' यह एक महावाक्य जीव ब्रह्म यानी जीवात्मा परमात्मा की एकता का प्रतीक है। यह महावाक्य श्रवण और मनन द्वारा अन्तःकरण में पूर्णरूप से प्रविष्ट हो जाता है और उन दोनों से एकता स्थापित हो जाती है तो उस अवस्था को निदिध्यासन कहते हैं। जब निदिध्यासन पूर्णरूप से फलित हो जाता है तो साधक के लिए जीव और ब्रह्म एक लगने लगते हैं। अद्वैत भाव नष्ट हो जाता है। द्वैत बुद्धि उत्पन्न होते ही तत्काल साधक समझ जाता है कि माया है क्या? अविद्या है क्या और अज्ञानता है क्या? जिसके कारण जीवात्मा जीवन और मरण के चक्र में पड़ कर नाना प्रकार के सांसारिक कष्टों, दुःखों और पीड़ाओं को झेलता है। जीवन मरण के चक्र में फंसा मनुष्य इन सब से तभी मुक्त हो सकता है, जब वह तत् त्वमसि को समझ कर द्वन्द भाव से मुक्त होता है और अद्वैतलाभ को उपलब्ध।

समाधि चौथा चरण है। परम समाधि मानव जीवन की परम घटना है। समाधि चौथा शब्द है उसके पार शब्द का जगत नहीं है। जो कुछ भी कहा जा सकता है अध्यात्म के संबंध में वह समाधि तक ही कहा जा सकता है। उसके आगे कुछ नहीं। समाधि वह परम अवस्था है। जिसमें प्रवेश करने पर योगी उस परम तत्व को देख लेता है, जो दिखलायी नहीं पड़ता। उसे जान लेता है। जिसको जानना असम्भव है। परम तत्व परमात्मा है। आत्मा से उसका मिलन हो जाता है और मिलने के पूर्व संसार का जो सारा प्रपंच था, सारा दुःख कष्ट क्लेश था सारी पीड़ा थी और सारा सन्ताप था वह सब आत्म परमात्म के मिलन होते ही समाप्त हो जाता है। जो अज्ञेय था, वह सब ज्ञेय हो जाता है। विश्व ब्रह्माण्ड का जो रहस्य है, वह भी अनावृत्त हो जाता है। परम सत्य में लीन हो जाती है आत्मा।

ध्याता, ध्यान दोनों का अस्तित्व समाप्त हो जाय। केवल ध्येय का अस्तित्व समाप्त हो जाय। यह समाधि है। तीन शब्द है- ध्याता, ध्यान और ध्येय। उदाहरण के लिए तत् तत्वमसि को लें। 'तू' वही है यह ध्येय है। इसी महावाक्य को हम समझ

रहे हैं- यह ध्येय है। तू प्राप्त करने जैसा है- यह लक्ष्य है। यही आत्मा का गन्तव्य है। फिर मैं हूँ। जो ध्याता है। जो इस ध्येय को प्राप्त करना चाहता है। उसके लिए व्याकुल है और है आतुर। इस आर्ष विषय को इस प्रकार समझा जा सकता है। यह 'मैं' हूँ- यह है ध्याता। चेतना की धारा प्रवाहित हो रही है ध्येय की ओर और जब चेतना की धारा ध्याता से ध्येय की ओर प्रवाहित होने लगती है तब उस अवस्था में अबतक चेतना की धारा इधर-उधर प्रवाहित होती थी। वह बन्द हो जाती है। सभी ओर से मुड़कर बस चेतना की धारा समग्र भाव से ध्येय की ओर प्रवाहित होने लगती है। बस समझ लीजिए उसी ध्येय का नाम है ध्यान।

समाधि के संबंध में उपनिषद का कहना है कि जब 'ध्यान' पूर्णरूप से प्राणों से अलग होकर ध्येय में पूर्णरूप से लीन हो जाय और ध्याता की वह जो ध्यान कर रहा था- ध्याता की सारी ऊर्जा और सारी चेतना इस ध्यान की विधि में यात्रा करके इस ध्येय के साथ एकाकार हो जाय और अन्त में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय कि ध्याता को बिल्कुल पता ही न चले कि 'मैं' हूँ। ध्याता को इस बात का भी पता न चलना चाहिए कि 'ध्यान' है। केवल 'तत् तत्वमसि' वह जो ध्येय है। वही एकमात्र रह जाय। इसी को कहते हैं समाधि। इसे महासमाधि कहते हैं इसलिए कि इस समाधि की अवस्था में तत् त्वमसि का बोध होता है। जीवभाव नष्ट होकर परमात्मा के साथ एक्य भाव यानी अद्वैत भाव का होता है बोध। तात्पर्य यह कि एक रह जाय। बस एक। तीन न रहे। ध्याता, ध्यान, ध्येय का अस्तित्व रहे ही न। रहे तो बस एक ही रहे।

इसलिए परम समाधि में कहा गया है कि उस अवस्था में सम्पूर्ण जगत आत्मा में लीन हो जाता है। केवल रहती है आत्मा और उसका अनुभव। वैसे सोलह प्रकार की समाधि है, महा समाधि मात्र परम समाधि है। केवल यही एक महासमाधि है जिससे योगी को आत्म साक्षात्कार और आत्मानुभूति होती है।

गहन सुषुप्ति अवस्था और समाधि- मैंने पिछले प्रकरण में मन की तीन अवस्थाओं के विषय में लिखा था। जिनमें एक सुषुप्ति अवस्था भी थी। मनुष्य में जो कुछ भी है वह 'मन' है। मनुष्य में मन ही प्रधान है। इन्द्रियां हैं लेकिन वे मन के द्वारा ही संचालित होती है। तात्पर्य यह कि 'मन' से ही मनुष्य है। मन की अन्तिम अवस्था सुषुप्ति है। स्वप्न रहित प्रगाढ़ निद्रा को सुषुप्ति कहते हैं। इस अवस्था में मन नगण्य होकर शून्य हो जाता है लेकिन चेतना जागृत रहती है। सुषुप्ति में किसी भी प्रकार का भेद नहीं रहता। भेद तो मन में रहता है और मन हो जाता है शून्य। जागृत अवस्था में मन भेद करता है- अच्छे-बुरे का भेद, ज्ञान-अज्ञान का भेद, दुःख-सुख का भेद

आदि-आदि....। सारे भेद मन निर्मित करता है। यह नहीं कि मन में भेद नही रहता, रहता है लेकिन भेद की रेखा यानी सीमा नहीं रहती। वह ठोस नहीं होती। तरल रहती है। इसलिए उसे सीमा नहीं कहा जा सकता। सपने में आप राजा हैं, फिर एकाएक गरीब हो जाते हैं। सपने में मित्र हैं अचानक शत्रु सामने आ जाता है। यह कैसे हो जाता है। इस संबंध में आपको सन्देह भी नहीं होता। इसलिए भेद करने वाले मन की अवस्था तरल रहती है। डावांडोल रहता है मन। जागृत अवस्था में मन की अवस्था ठोस रहती है इसी कारण सर्वत्र भेद ही भेद दिखलायी देता है। सपना इसके लिंएं विपरीत है। मन कम्पित और तरल रहता है इसी कारण भेद सीमा आदि सब कुछ खो जाता है उसी में। सपना तर्क को स्वीकार नहीं करता। सपने में तर्क उत्पन्न होगा ही नहीं। क्योंकि तर्क तो मन में होता है और मन रहता है तरल कम्पित। सपनों के नियम भी नहीं होते। जहां सपने समाप्त होते हैं वहीं मन भी हो जाता है समाप्त। जहाँ विचार नहीं,भेद नहीं, तर्क नही, वहां मन भी नहीं। आयुर्वेद मन को पदार्थ मानता है। पदार्थ के तीन रूप हैं- ठोस, द्रव्य यानी तरल और ऊर्जा। जागृत अवस्था में मन ठोस अवस्था में रहता है। स्वप्नावस्था में रहता है तरल और इसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में रहता है ऊर्जा के रूप में। विज्ञान ने भी पदार्थ को तीन रूप में विभक्त किया है- सॉलिड, लिक्विड और गैसीय। संसार में जितनी भी वस्तुएं हैं और जितने भी पदार्थ हैं उनके अलग-अलग तीन रूप हैं। ठोस, द्रव्य और ऊर्जा। मन के विषय में भी यही सिद्धांत काम करता है। प्रगाढ़ सुषुप्ति अवस्था में मन वाष्पीभूत हो जाता है। ऊर्जा के रूप में हो जाता है परिवर्तित। लेकिन समझ लीजिए मन की ऊर्जा में असीम शक्ति होती है। मनुष्य को मानवेतर शक्ति सम्पन्न बनाने में सबसे बड़ा योगदान मन की ऊर्जा का ही है।

सुषुप्ति में मन वाष्पीभूत हो जाता है। मन का रूप ऊर्जा के रूप में हो जाता है परिवर्तित और यही कारण है कि उस अवस्था में बोध करने वाला कोई नहीं रह जाता है बोध होता है मन का और मन रहता है वाष्वीभूत अवस्था में। सम्पूर्ण जगत् के साथ अपना अस्तित्व भी समा जाता है मन की उस अवस्था में।

प्रगाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में आप उसी स्थान पर पहुँच जाते हैं जहां समाधि की अवस्था में ज्ञानी पहुँचता है। अन्तर मात्र इतना ही होता है कि आपको उस अवस्था में ज्ञान नहीं रहता और योगी को ज्ञान रहता है। सुषुप्ति अवस्था प्रगाढ़ अन्धकार की अवस्था है। सुषुप्ति का एक भाग विशेष प्रकाशमय है। उसी भाग को तुरीयावस्था कहते हैं। वह तुरीय है यानी आत्मा की चौथी अवस्था। इस अवस्था में योगी का ज्ञान बना रहता है और वह ज्ञान अपने अस्तित्व का, अपने बोध का और अपने आपके होने का 'ज्ञान' होता

है जबकि संसारी व्यक्ति के लिए सुषुप्ति अवस्था में यह सब सम्भव नहीं।

स्वप्न रहित प्रगाढ़ निद्रा को सुषुप्ति कहते हैं। यह घोर अज्ञान की अवस्था है, ज्ञान शून्य अवस्था भी बड़ी सुखद है। तभी तो आप कहते हैं कि आज की निद्रा बड़ी सुखद रही। बड़ा आनन्द आया सोने में। जब सपने ही सपने देखते रहेंगे तो जागने पर आप कहेंगे कि बड़ी बेचैनी रही। ठीक से नींद नहीं आयी। सो न सका। लेकिन जब सुखद निद्रा आती है तब आपको उसका पता नहीं चलता कि सुखद निद्रा आ रही है इसलिए पता नहीं चलता है कि आप अज्ञान के घोर अन्धकार में होते हैं उस समय। जरा सोचिए सुखद निद्रा का किसने अनुभव किया था। बिना किसी के अनुभव किए आप प्रातः उठकर कैसे कह सकते हैं कि आप की नींद बड़ी सुखद रही। बड़ा आनन्द आया बड़ी स्फूर्ति है। बहुत तरोताजा अनुभव कर रहा हूँ अपने आपमें? जरा सोचें। किसने अनुभव किया? आपको मालूम होना चाहिए। सुखद और आनन्ददायक स्फूर्तिदायक और तरोताजा करने वाली उस सुखद निद्रा का अनुभव करने वाली थी आपकी स्वयं की आत्मा। समझ लें चरम अज्ञान की अवस्था में भी अथवा इसी प्रकार की अन्य किसी अवस्था में भी साक्षी रूप से आत्मा का बना रहता है अस्तित्व।

वहां दुःख तो होता ही नहीं। इसलिए योगीगण उस सुख को आनन्द कहते हैं। क्योंकि सुख के विपरीत दुःख और दुःख के विपरीत सुख है। आनन्द के विपरीत कुछ भी नहीं होता। वहां एक ही भाव रह जाता है और वहां भाव है इसलिए सुषुप्ति आनन्द है। वह 'आनन्द' जिसका कोई भेद नहीं है। साधारण व्यक्ति सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त आनन्द का अनुभव जैसे जागने पर करता है। उससे कहीं अधिक आनन्द का अनुभव करता है अज्ञान अवस्था में और जब समाधि से जागता है तो वह भी अत्यन्त शारीरिक, मानसिक स्फूर्ति का अनुभव करता है लेकिन साधारण व्यक्ति से बहुत अधिक।

परम समाधि के बाद यह दूसरी समाधि है जिसे तुरीय समाधि कहते हैं। इस समाधि को उपलब्ध योगी सदैव तरोताजा, स्फूर्तिवान, चैतन्य और सक्रिय रहता है और उसके मुंह पर सदैव एक विशेष आकर्षण रहता है और रहती है एक विशेष प्रकार की आभा भी। सदैव आनन्दमग्न रहता है वह।

योग साधिका गंगा माँ– काशी में गुप्त रूप से अथवा अप्रच्छन्न भाव से निवास करने वाले साधक साधिकाओं का आज भी अभाव नहीं है। वे हमारे बीच हैं लेकिन हम हैं कि उनको पहचानते भी नहीं।

सन् १९७० में काशी में गुप्त रूप से निवास करने वाली गंगा माँ से मेरी भेंट हुई थी। गंगा माँ बंगदेशीय थी। उस समय अस्सी के आसपास थी आयु। लेकिन

योगकाया होने के कारण पचास से अधिक की प्रतीत नहीं होती थी। कभी वह सुन्दर और आकर्षक रही होगी। अभी भी उनका व्यक्तित्व आकर्षक था और चेहरे पर था अपूर्व तेज। ढाका विश्वविद्यालय से बी.एस.सी. थी। अंग्रेजी हिन्दी और बंगला पर अधिकार था। शिष्यों और शिष्याओं की संख्या सीमित थी। मकान अपना था, किरायेदार थे। किराये से काम चल जाता था। वैसे भी उनका जीवन सादगी पूर्ण था। मुझसे न जाने क्यों अत्यधिक प्रभावित थी। उनका सहृदय व्यवहार बातचीत में अपनत्व और पुत्रवत् भाव उनको 'माँ' कहने के लिए विवश कर दिया था मुझे।

एक साधिका की व्यथा कथा– उस समय गंगा माँ की आयु सोलह से अधिक नहीं थी। गौरांग शरीर, सुगठित देहयष्टि, लम्बी घनी केशराशि, बड़ी-बड़ी आँखे सुन्दर कमनीय और लावण्यमयी। विवाह नहीं हुआ था अभी। षोडशवर्षीया उस युवती में न जाने कौन सा अतुलनीय आकर्षण था कि जब कोई उनकी ओर देखता तो देखता ही रह जाता था मुग्ध भाव से।

उस दिन बंगाल का कोई महत्वपूर्ण पर्व था। सूर्योदय का समय। परिवार के साथ गंगा माँ भी गंगा स्नान करने ढाकेश्वरीघाट गयी थी। स्नान ध्यान करने के बाद घाट की सीढ़ियाँ धीरे-धीरे चढ़कर ऊपर आ रही थी गंगा माँ। सद्यस्नाता उस नवयौवना के गौरांग शरीर पर लाल पाढ़ की ताड़केश्वरी साड़ी लता की तरह लिपटी हुई थी। खुले हुए बाल पीठ पर बिखरे हुए थे। उदीयमान भगवान भास्कर की किरणे जैसे फिसल रही थी उस गौरांगी की सुन्दर काया पर उस समय। बायें हाथ से सामने झूल रही गीली साड़ी को ऊपर उठाये जैसे ही ऊपर आयी गंगा माँ, तभी उनकी दृष्टि पड़ी कुछ दूर पर खड़े एक युवा संन्यासी पर। सुदर्शन था वह युवा संन्यासी, लम्बी चौड़ी कद काठी का गौरांग शरीर। चौड़ा ललाट और उस ललाट पर भस्म का त्रिपुण्ड। कन्धे तक झूलते घने काले घुंघराले बाल। कानों में रत्नकुण्डल। गले में रूद्राक्ष और स्फटिक की मालाएँ। गौरांग शरीर पर रेशमी कषाय वस्त्र। पैरों में खड़ाऊं और हाथ में कमण्डल। बड़ी-बड़ी आँखे कुछ कहती सी और कुछ सुनती सी। अपूर्व तेज था संन्यासी के चेहरे पर उस समय। तीक्ष्ण दृष्टि और उसी तीक्ष्ण दृष्टि से देख रहा था वह युवा सुदर्शन संन्यासी गंगा माँ की ओर। गंगा माँ ने भी दो तीन बार पलकें झपका कर देखा उस संन्यासी को और फिर एक ओर जाने लगी गंगा माँ और तभी उनके कानों में एक गम्भीर स्वर गूंज उठा– ठहरो...ठहरो विशालाक्षी.....संन्यासी का था वह स्वर लेकिन गंगा माँ को विशालाक्षी नाम से क्यों पुकार रहा था वह रहस्यमय संन्यासी? गंगा माँ थोड़ी ठिठकी, सिर घुमा कर देखा और आगे बढ़ गयी। अबतक लगभग दौड़ते हुए वह युवा संन्यासी गंगा माँ के बिल्कुल निकट पहुंच चुका था और पहुंच कर

गंगा माँ के सामने दोनों हाथ सीने पर बांधकर खड़ा हो गया पाषाणवत्। उस समय उसके तेजोमय मुखमण्डल पर आश्चर्यजनक कौतूहल मिश्रित गम्भीर भाव था। वह अपलक गंगा माँ को इस प्रकार देख रहा था, जैसे चिर परिचित हो उनसे। सिर उठाकर धीरे से देखा गंगा माँ ने संन्यासी के गम्भीर हो आये चेहरे की ओर देखा और फिर धीरे से बोला- आप कौन हैं? मैं तो आपको नहीं जानती। थोड़ी मुस्कुराकर संन्यासी ने कहा- शरीर परिवर्तन होते ही भूल गयी सब कुछ तुम। यहां तक कि अपना नाम भी।

यह सुनकर एकबारगी सकपका सी गयी गंगा माँ। उनसे कुछ बोला ही न गया उस समय। बस देख रही थी मूकवत् संन्यासी को और तभी संन्यासी ने कमण्डल से जल लेकर छिड़का गंगा माँ के शरीर पर। हे भगवान्! क्या हो गया अचानक गंगा मां को। जल छिड़कते ही सारा शरीर कांपने लगा गंगा माँ का। चेहरा खून की तरह लाल हो उठा। आँखे फैल गयीं। चेहरा एक अद्भुत तेज से दप्-दप् करने लगा। एकाएक गंगा माँ के मुख से निकल पड़ा गुरुदेव और दूसरे क्षण भूमि पर लेट कर दोनों हाथों से संन्यासी के चरणों को थाम लिया और रोने लगी। स्नानार्थियों का आकर्षण केन्द्र बन गया वह अप्रत्याशित अद्भुत दृश्य। वास्तव में बड़ा ही विचित्र और रहस्यमय दृश्य था वह, इसमें सन्देह नहीं। लगा जैसे पूर्व जन्म की सारी स्मृतियाँ जागृत हो उठी हो एकबारगी गंगा माँ की उस रहस्यमय संन्यासी को देख कर।

..........हाँ! ऐसा ही हुआ था। वे संन्यासी महाशय और कोई नहीं मेरे सद्गुरु थे। नाम था प्रणवानन्द सरस्वती। वे मुझे पिछले पचास वर्षों से खोज रहे थे। मैं उनकी पट्ट शिष्या थी। थोड़ा रूककर आकाश की ओर शून्य में देखती हुई गंगा माँ आगे बोली- मेरे जीवन की अत्यन्त रहस्यमयी आध्यात्मिक कथा पर भला कौन विश्वास करेगा। दो सौ वर्ष पूर्व तीर्थाटन के सिलसिले में प्रणवानन्द सरस्वती काशी आये हुए थे। उनका मन रम गया काशी में। कुछ समय व्यतीत करना चाहते थे वे काशी में। इसलिये उन्होंने एक बंगाली सज्जन का मकान केवल पचास रूपये में खरीद लिया और उसे आश्रम का रूप देकर शिष्यों के साथ रहने लगे। वह मकान यही है, जिसमें तुम बैठे हो। आश्चर्य हुआ। थोड़ा आगे घिसक कर सुनने लगा गंगा माँ की रहस्यमयी कथा। एक दिन सायंकाल के समय गंगातट पर प्रणवानन्द सरस्वती भ्रमण कर रहे थे। एकाएक उनकी दृष्टि घाट की सीढ़ी पर बैठी हुई एक कन्या पर पड़ गयी। वह पैर लटकाए सामने शून्य में अपलक निहार रही थी। उसकी आँखें सूझी हुई थी। जिससे पता चलता था कि कुछ देर पहले वह खूब रोई हुई होगी। कन्या की आयु पांच छः वर्ष से अधिक नहीं रही होगी। गोरा रंग था। मैला, कुचैला कपड़ा पहने थी वह। शरीर

गन्दा था, बाल भी मैले और उलझे हुए थे। वैसे देखने में अच्छी लगती थी, लेकिन थी किसी गरीब परिवार की। काफी देर अपलक देखने के बाद उस कन्या के समीप आकर खड़े हो गये प्रणवानन्द सरस्वती। सिर उठा कर सजल आँखो से देखा उस अबोध कन्या ने संन्यासी की ओर। हृदय द्रवित हो उठा एक बैरागी का। माता-पिता को नहीं जानती। कहां की रहने वाली हूँ? कहाँ से बनारस आयी हूँ। यह भी मैं नहीं जानती। घाटों पर घूम-घूम कर भीख मांगती हूँ। जो मिल जाता है। उसी में सन्तोष कर लेती हूँ। उधर देखिए, सामने जो तख्त है न पूरी रात उसी पर गुजर जाती है मेरी। कभी-कभी सोचती हूँ कि क्या होगा मेरा। कौन देगा मुझे आश्रय? कौन है मेरा इस दुनिया में.......इतना बोलकर फफक-फफक कर रोने लगी वह बालिका।

संन्यासी भी विचलित हो उठा। आँसू छलछला आये उसकी आँखों में भी। न जाने क्या देखा उस महान संन्यासी ने उस अबोध बालिका में। रहा न गया उनसे। अपने साथ उसे ले आये। एक छुद्र कुल में उत्पन्न निरीह और अबोध कन्या में धीरे-धीरे भारी परिवर्तन हो गया कुछ ही समय में। एक महान योगी के संसर्ग में रह कर। व्यक्तित्व में गम्भीरता, व्यवहार में नम्रता, वाणी में मधुरता और शरीर में सौष्ठव। कौन कह सकता था कि गंगा के घाटों पर घूम-घूम कर भीख मांगने वाली दरिद्र फटेहाल वही लड़की है एक बीतराग संन्यासी की पट्ट शिष्या। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में प्रणवानन्द सरस्वती ने उस किशोरी को विधिवत् स्पर्श दीक्षा प्रदान की और नाम रखा विशालाक्षी। ऐं! क्या कहा आपने......विशालाक्षी.... इसी नाम से तो आपको पुकारा था उस रहस्यमय संन्यासी ने घाट पर। एकबारगी आश्चर्यचकित होकर पूछ बैठा मैं। दोनों हाथों की उंगलियों को आपस में फंसाते हुए थोड़ा गम्भीर भाव से गंगा माँ बोली- दो सौ वर्ष पूर्व की यह कौतूहलपूर्ण और आश्चर्यजनक मेरी ही कथा है यह और उस कथा की नायिका स्वयं मैं ही विशालाक्षी हूँ।

यह सुनकर एकबारगी स्तब्ध रह गया मैं। न जाने कब तक निहारता रहा मैं उस महान साधिका के तेजोमय मुखमण्डल की ओर। फिर क्या हुआ? व्याकुल हो उठा था मैं। होगा क्या? आध्यात्मिक मार्ग में जो होता है वही हुआ। स्पर्श दीक्षा के बाद कई गुप्त दीक्षाएं दीं प्रणवानन्द सरस्वती ने मुझे। अब मैं बीस वर्ष की पूर्ण युवती थी। मेरे आन्तरिक जीवन में आमूल चूल परिवर्तन हो चुका था। विविध प्रकार की दीक्षाओं के प्रभाव से मेरा प्राण, मेरा मन और मेरी आत्मा शुद्ध, निर्मल और पवित्र हो चुकी थी। अब मेरे अन्तराल में न किसी भी प्रकार की वासना थी और न तो किसी भी प्रकार की कामना थी। अब मेरे सद्गुरु थे प्रणवानन्द सरस्वती मैं उनको स्वामीजी कहकर सम्बोधित करने लगी थी।

सिद्ध योगाश्रम- तिब्बत की पृष्ठभूमि में कई गुप्त और रहस्यमय आश्रम और मठ हैं। जिनमें योगाश्रम, सिद्धाश्रम और ज्ञानगंज आश्रम प्रकाशित हुआ है अभी तक। ये सभी आश्रम और मठ चर्मचक्षु से परे चतुर्थ आयामी हैं। किसी विरले को ही परिलक्षित होते हैं। वैसे तो पूरे.तिब्बत में तीन सौ से भी अधिक मठ और आश्रम हैं लेकिन उनके निवासी भी यह नहीं जानते हैं कि तिब्बत के समीप ही लगभग उससे चार-पांच हजार फीट ऊपर हिमाच्छादित रहस्यमय वातावरण में कई गुप्तमठ हैं और गुप्त आश्रमों और मठों की बात छोड़िये। प्रकाशित तीनों आश्रमों के विषयों में केवल सिद्ध समाज को छोड़कर अन्य जनों को किसी भी प्रकार की जानकारी नहीं थी। यदि गुरुदेव स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव के प्रसंग में डॉ. गोपीनाथजी कविराज ने ज्ञानगंज मठ के विषय में यदाकदा वर्णन न किया होता और उसके आन्तरिक स्वरूप पर प्रकाश न डाला होता तो भला कैसे ज्ञात होता जनमानस को ज्ञानगंज मठ के संबंध में। यह बात नहीं है कि अबतक के आध्यात्मिक इतिहास में केवल स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव ने ही उस रहस्यमय मठ में प्रवेश किया है। गुप्त रूप से निवास करने वाले सिद्ध समाज के कई योगियों का सम्पर्क केवल ज्ञानगंज मठ से ही नहीं बल्कि योगाश्रम, सिद्धाश्रम के अतिरिक्त अन्य प्रच्छन्न और गुप्त योगाश्रमों और रहस्यमय मठों से हजारों वर्ष से रहता आया है और आज भी है इसमें सन्देह नहीं। यह अवश्य है कि आध्यात्मिक भूमि का यह अत्यन्त गोपनीय और रहस्यमय विषय है इसलिए साधारण जनमानस सदैव अपरिचित रहा है इससे। स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती दीर्घ आयु सम्पन्न थे और उनका संबंध योगाश्रम से था। अवसर देखकर अपनी पट्ट शिष्या विशालाक्षी को शून्य मार्ग से ले गये योगाश्रम स्वामी प्रणवानन्द सरस्वती। स्फटिक पाषाण निर्मित सुदूर तक फैला हुआ विशाल योगाश्रम को देखकर चमत्कृत हो उठी विशालाक्षी। चारो ओर उत्तुंग हिमाच्छादित हिम शिखरों के बीच वह योगाश्रम अपने आप में समेटे हुए था न जाने कितने सिद्ध योगियों का आध्यात्मिक इतिहास। वहां का उच्चतम् ज्ञान-विज्ञान आश्चर्यजनक और कौतूहल पूर्ण था। आज के मूर्धन्य वैज्ञानिक जिस अविष्कार की कल्पना भी नहीं कर सकते। उस अविष्कार को उस गोपनीय आश्रम में देखकर हतप्रभ हो गयी एकबारगी विशालाक्षी। उस रहस्यमय आश्रम में काल का प्रभाव अतिमन्द है। संसार का सौ वर्ष वहां के एक वर्ष के समान है। वहां के निवासी मानव शरीरधारी अवश्य हैं लेकिन मनुष्य की जो आवश्यकता है और उसके जो प्राकृतिक नियम हैं। वह उनमें नहीं है। मानव की समस्त आवश्यकता से ऊपर है उनका अस्तित्व। पांच सौ वर्ष से कम किसी की आयु नहीं है वहां लेकिन सभी युवक हैं। युवा साधिकाओं की भी संख्या कम नहीं है। उनका भी

जीवन उसी प्रकार है मानवीय आवश्यकताओं से परे। उनमें से किसी की आयु पांच छः सौ वर्षों से कम नहीं है। उन सभी की साधना उच्च स्तर की है। मुख से शब्दोच्चारण नहीं है और न तो किसी प्रकार की भाव भांगिमा। सभी निर्भाव हैं केवल विचारों के आदान-प्रदान से एक दूसरे से संबंधित हैं। आश्रम में गहरी शान्ति सदैव विद्यमान रहती है।

योग आश्रम तीन मुख्य भागों में विभक्त है और तीनों के आचार्य अलग-अलग हैं। कभी किसी काल में कण्व, अत्रि, वाल्मीकि, वशिष्ठ और सन्दीपनी जैसे ऋषियों ने उन आचार्यों द्वारा उच्च स्तर का योग प्रशिक्षण प्राप्त किया था। प्रथम भाग में नवागन्तुक को मौखिक उपदेश दिया जाता है। दूसरे भाग में सिद्धान्तों से अवगत कराया जाता है और तीसरे भाग में प्रशिक्षित किया जाता है। प्रशिक्षण काल समाप्त होने पर साधक को सिद्धाश्रम में भेज दिया जाता है। जहां वह आत्म साधना मार्ग पर चलकर अद्वैत लाभ करता है। आत्म तत्व और परमात्म तत्व का ऐक्य बोध अर्थात् सामरस्य भाव उत्पन्न होने पर अनेक प्रकार के उच्चतम् सिद्धियों से उसका होता है साक्षात्कार। वे सभी सिद्धियाँ भावगत होती हैं। आकाश गमन, सुदूर दृश्यों का दर्शन विचार सम्प्रेषण, पारलौकिक जगत में प्रवेश, तीनों काल का ज्ञान, परकाया प्रवेश, अतीत में घटी घटनाओं का अवलोकन, अतीत में प्रवेश में, भविष्यकाल में गमन, सूक्ष्म शरीर द्वारा संचरंण विचरण आदि आश्चर्यजनक, अविश्वसनीय, अलौकिक सिद्धियाँ केवल मात्र भाव से ही साकार हो उठती है उनके लिए। अब अल्प में ज्ञानगंज मठ अथवा आश्रम के संबंध में चर्चा करेंगे। यह मठ भी अपने आपमें गुप्त और रहस्यमय है। जिसमें उच्चकोटि के अनेक कालञ्जयी सिद्ध योगियों का निवास है। इस मठ में उच्च स्तर के ज्ञान विज्ञान की शिक्षा दी जाती है जैसे सूर्य विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, काल विज्ञान, वायु विज्ञान, सौर विज्ञान, देव विज्ञान, स्वर विज्ञान। इन समस्त विज्ञानों में सूर्य विज्ञान सर्वश्रेष्ठ और अभौतिक दृष्टि से अति मूल्यवान और महत्वपूर्ण है। सूर्य रश्मियों के माध्यम से अणु परमाणुओं के संघटन और विघटन कर किसी भी वस्तु या पदार्थ को किसी भी अन्य वस्तु या पदार्थ में स्थायी रूप से परिवर्तित किया जा सकता है। निश्चय ही सूर्य विज्ञान एक प्रकृष्ट विज्ञान है।

उस दिन रात में ठीक से सो न सका मैं। पूरी रात गंगा माँ की यौगिक छवि मानसपटल पर छायी रही बराबर। एक योगी की कितनी विचित्र कथा थी वह। बार-बार उद्भ्रान्त हो उठता था मन। भोर के समय थोड़ी झपकी लगी और उसी अवस्था में देखा- मेरे सामने खड़ी मन्द-मन्द मुस्कुरा रही थी गंगा माँ। जैसे वह कह रही हो- तूने एक निरपेक्ष और निस्पृह योगी के जीवन में क्यों प्रवेश किया और

किसलिये 'अब' आया था मेरे अन्तराल में झांकने......।

एकाएक तन्द्रा भंग हो गयी। सवेरा हो चुका था। ऐसा प्रतीत हो रहा था कि किसी का अस्तित्व अभी-अभी यहां था। यदि सचमुच अदृश्य रूप से आयी थी गंगा माँ तो 'अब' शब्द का प्रयोग क्यों किया था अपने वाक्यों से बड़ा ही रहस्यमय लगा मुझे 'अब' शब्द। उस समय लगातार एक सप्ताह तक न जा सका मैं कुछ आवश्यक कार्यवश और जब गया तो उस समय दोपहर का समय था। गंगा माँ विश्राम कर रही थीं। मुझे देखकर मुस्कुरायी, बोली कुछ नहीं। आसन से उठकर बैठ गयी पद्मासन की मुद्रा में और अब आगे.....।

आप कितने समय तक रहीं योगाश्रम में? बतला नहीं सकती। वहां समय के ज्ञान का अभाव था। अब तक मैं योगाश्रम के तीनों भागों का शिक्षण-प्रशिक्षण प्राप्त कर चुकी थी जिसके फलस्वरूप कई प्रकार की योग तांत्रिक सिद्धियाँ उपलब्ध हो गयी थी मुझे। स्वामीजी का वापस लौटने का समय हो चुका था। मुझे लेकर अपनी गुफा में आ गये वह।

गुफा कहां थी। अवश्य हिमालय में रही होगी?

हाँ! ठीक समझा। भौगोलिक रूप से तो मैं नहीं बतला सकती, लेकिन इतना अवश्य मैं समझ गयी थी वह गुफा हिमालय के किसी गहन प्रदेश में थी। वहां एक मनोहर झील थी जिसमें काफी ऊपर से झरने का पानी गिरता था और झील के चारो ओर बाग बगीचे थे। सचमुच बड़ा ही रमणीक स्थान था वह। गुफा में सभी आवश्यक वस्तुएं थी। किसी वस्तु का अभाव नहीं था। स्वामीजी ने जो मनोबल सृष्टि कर रखी थी अपने योगबल से। काफी लम्बी थी वह हिम गुफा। प्रकाश की भी भरपूर व्यवस्था थी। विशेष प्रकार के पत्थर के टुकड़े गुफा की दीवारों पर स्थान-स्थान पर लगे थे। एक विशेष प्रकार की ध्वनि उत्पन्न करने पर वे सभी रहस्यमय पत्थर के टुकड़े एक साथ हो जाते थे प्रकाशित। कई घंटों तक रहता था वह दिव्य प्रकाश। स्वामीजी की आयु कितनी थी, यह मैं स्वयं नहीं जानती थी, लेकिन उनको शुरू से ही युवा देखती आयी थी मैं। ऊर्जावान साधना तेज से दप्-दप् करता चेहरा, बलिष्ठ शरीर, लम्बी चौड़ी कद काठी। भला कौन कह सकता था कि दीर्घ आयु सम्पन्न है वह संन्यासी। अपान योग के प्रभाव से मेरे व्यक्तित्व पर भी समय जैसे ठंहर गया था। मैं भी पूर्ववत् यौवन सम्पन्न थी। हम दोनों गुरु-शिष्या का सांसारिक विषय वासनाओं, कामनाओं और भावनाओं से ऊपर एक प्रकार का अवर्णनीय नैसर्गिक जीवन था। स्वामीजी को केवल पुरूष का बोध था और मुझे था केवल स्त्री का बोध।

स्वामी जी प्रायः गुफा में ही रहते थे लेकिन मैं कहां स्थिर रहने वाली थी। अपने

सूक्ष्म शरीर द्वारा हिमालय में संचरण-विचरण किया करती थी। कभी-कभी भ्रमण के लिये काफी दूर निकल जाया करती थी। एकबार मैं पृथ्वी के उत्तरी ध्रुव की ओर चली गयी। वहां मैंने एक दिव्य महात्माओं की मण्डली देखी। वे दिव्य महात्मागण सूक्ष्म शरीरधारी महापुरुष थे। लगभग उनकी संख्या पच्चीस थी। सभी तेजस्वी थे और किसी अन्य लोक से आये हुए प्रतीत हो रहे थे। ज्ञात हुआ कि मानव योनि में जन्म लेने के लिए उचित गर्भ की प्रतीक्षा कर रहे हैं वे लोग। मैं भी मण्डली में शामिल हो गयी। बड़ा अच्छा वातावरण था। प्रायः पारलौकिक जगत की ही चर्चा होती थी। उन लोगों का एकमात्र उद्‌देश्य था मानव शरीर द्वारा किसी न किसी रूप में लोक कल्याण करना। धीरे-धीरे न जाने कितना समय व्यतीत हो गया मण्डली को लोगों के सान्निध्य में रहते हुए मुझे। अजीब सा आकर्षण था और उसी आकर्षण के कारण शायद मैं भूल गयी वापस गुफा में लौटना। एकाएक झटका सा लगा और उसी झटके के साथ तीव्र गति से लौट पड़ी मैं। समय की अवधि व्यतीत हो जाने के कारण मेरे सूक्ष्म शरीर का संबंध पार्थिव शरीर से टूट चुका था। गुफा में लौटने पर देखा, मेरा स्थूल शरीर समाधि की मुद्रा में बैठा था मृत। सारा शरीर शीतल हो चुका था बर्फ की तरह अब कोई उपाय नहीं था उसमें प्रवेश करने के लिए सभी मार्ग बन्द हो चुके थे। मैंने देखा गुरुदेव मेरे मृत पार्थिव शरीर के निकट बैठे थे। उनके विषण्ण चेहरे पर दुःख पीड़ा वेदना और वियोग के मिलेजुले भाव स्पष्ट दिखलायी दे रहे थे उस समय।

गंगा माँ का पुनर्जन्म- जो होना था वह हो चुका था। एक बार शरीर छूट गया तो फिर उसे प्राप्त करने का कोई उपाय नहीं। अपनी निर्जीव काया को देखकर कर मुझे अत्यधिक क्लेश हो रहा था उस समय लेकिन कर ही क्या सकती थी। विवश थी। गुरुदेव निश्चल निर्विकार बैठे थे अपने स्थान पर। मैंने उन्हें प्रणाम किया और गुफा के बाहर निकल गयी। लेकिन जाती भला कहां हम जैसे लोगों के लिए शरीर शीघ्र उपलब्ध होता ही कहां है? सूक्ष्म शरीर की भी अपनी सीमा है। सीमा समाप्त होने पर स्थूल शरीर धारण करना अति आवश्यक होता है। अनुकूल शरीर उपलब्ध न होने पर कभी-कभी ऐसी स्थिति में घबड़ाकर योगात्माएं किसी भी प्रकार के गर्भ में प्रविष्ट हो जाती हैं लेकिन शरीर धारण करने की पश्चात् जीवन में अनेक प्रकार की प्रतिकूलता का सामना करना पड़ता है। पहले तो आध्यात्मिक साधनाओं की स्मृतियों ही लुप्त हो जाती है। केवल उनका संस्कार बचता है और उसी के आधार पर जो कुछ होता है वह होता है। ऐसी ही स्थिति मेरी भी हुई। काफी समय व्यतीत हो जाने के पश्चात् ढाका के भक्त परिवार में गर्भ उपलब्ध हुआ मुझे। विवशता वश ही स्वीकार किया था मैंने वह गर्भ। मेरे लिए केवल वातावरण इतना ही अनुकूल था कि परिवार में विशेषकर मेरी माँ भगवान श्रीकृष्ण की परम उपासिका थी। प्रातः सायं भगवान

श्रीकृष्ण के बाल स्वरूप की पूजा करती, नाम जप करती और अन्त में सुधबुध खोकर भजन कीर्तन क्ररती। पूरा वातावरण भक्तिमय हो उठता। सन्तान कोई नहीं थी। मैं ही पहली सन्तान थी। माँ ने मुझे भगवान श्रीकृष्ण की कृपा समझ कर सीने से लगा लिया और मेरा नाम रखा गंगा। माता पिता और मैं। बस तीन लागों का मध्यम परिवार था। पिता का नाम था फणीन्द्र बनर्जी। रेलवे में माल बाबू थे। मुझे उन्होंने पढ़ाना चाहा और मैं मन लगाकर पढ़ी भी। ढाका विश्वविद्यालय से बी०एस०सी० कर लिया मैंने बीस वर्ष की आयु में। कितनी मेधावी थी? स्वयं तुम समझ सकते हो। उस जमाने में इतनी कम आयु में इतना पढ़ कर डिग्री प्राप्त कर लेना सरल नहीं था। उसी साल पिताजी रिटायर्ड हो गये। घर में ही रहने लगे। पेंशन से घर गृहस्थी चलना कठिन हो गया। मैं नौकरी के लिए प्रयास करने लगी। पाकिस्तान अब बांग्लादेश बन चुका था। हिन्दू बंगालियों पर अत्याचार होने लगा। ऐसी स्थिति में भला नौकरी कहां मिलती।

अब तक बांग्लादेश की हालत काफी खराब हो चुकी थी। हिन्दू बंगालियों पर अधिक अत्याचार हो रहा था। जिसका परिणाम यह हुआ कि लोग बांग्लादेश छोड़कर बंगाल और आसाम की ओर भागने लगे सब कुछ छोड़कर। स्थिति बहुत ही खराब हो चुकी थी। हम लोगों का भी रहना कठिन हो गया। अचानक पिताजी को दिल का दौड़ा पड़ा और चल बसे। दुःख का पहाड़ टूट पड़ा। माँ के साथ अकेली रह गयी मैं। पिताजी की मृत्यु के बाद माँ बीमार रहने लगी। चार महीने बाद वह भी चली गयी पिताजी के पास। अब कौन था मेरा इस संसार में। एक मुसलमान युवक की वासना दृष्टि मुझ पर पड़ गयी थी। भ्रष्ट करने का प्रयास कई बार कर चुका था मुझे वह। काफी चिन्तित थी मैं। क्या करूँ, क्या न करूँ? कहां जाऊँ? और उसी मानसिक स्थिति में गंगातट पर सद्गुरु प्रणवानन्द सरस्वती का साक्षात्कार हुआ।

सद्गुरु का साक्षात्कार– उनके स्पर्श मात्र से पूर्व जन्मों की सारी साधनात्मक और आध्यात्मिक स्मृतियाँ जागृत हो उठी एकबारगी। वर्तमान जन्म और जीवन, तुच्छ और नगण्य हो गया मेरे लिए। कोई मूल्य ही नहीं रहा। आत्म जागरण होने पर संसार असार हो जाता है। अनाशक्ति उत्पन्न हो जाती है मन स्थित हो जाता है। आकर्षण समाप्त हो जाता है और ऐसा ही हो गया उस समय मेरे साथ।

मृत्यु के बाद से व्याकुल होकर खोज रहे थे मुझे गुरुदेव। एक सिद्ध योगी के लिए अपनी योग्य शिष्या का कितना महत्व होता है? भला इसे कौन जान समझ सकता है। गंगा तट पर ही मेरे दोनों हाथों को थाम कर गुरुदेव विगलित स्वर में कहने लगे– गुरु, शिष्या के संयोग वियोग की कथा पूरे तीन सौ वर्ष की है। इस दीर्घ काल में यह तीसरी बार सशरीर मिल रही हो तुम मुझे। गुरुदेव के वाक्य रहस्यमय लगे मुझे। पहली बार कब और किस रूप में भेंट हुई थी गुरुदेव से? समझ न सकी मैं। काशी में

चातुर्मास व्यतीत करने वाले थे गुरुदेव। मुझे भी अपने साथ ले आये काशी। आश्रमनुमा मकान अब भी पहले जैसा था। चार पांच साधु संन्यासी रह रहे थे उसमें। पहली बार एक दरिद्र भिखारिन कन्या के रूप में प्रवेश हुआ था मेरा। जो विशालाक्षी के रूप में हो गयी थी परिवर्तित। अब वही विशालाक्षी गंगा के रूप में आयी थी आश्रम में भला कौन समझ सकेगा इस रहस्य को। चातुर्मास व्यतीत करने के बाद पूरे दस वर्ष रहे गुरुदेव काशी में और इस अवधि में अनेक प्रकार की योग तंत्र परक गुह्य ज्ञान से अवगत कराया मुझे जो अपने आपमें अति दुर्लभ था।

उस दिन मौनी अमावस्या थी। गंगा स्नान कर लौटे गुरुदेव! कुछ देर मौन रहे। फिर गम्भीर स्वर में बोले- गंगा अब मेरा काशी वास का समय पूरा हो गया है। अब मैं अपनी गुफा में कुछ समय व्यतीत करूँगा और अपनी अन्तिम साधना पूर्ण करूँगा और अन्त में मेरी आत्मा स्थूल शरीर का त्याग कर योग काया स्वीकार करेगी और उसके द्वारा योगाश्रम में करेगी प्रवेश। योगाश्रम में मेरे लिए स्थायी निवास की व्यवस्था हो चुकी है। संसार में कब आना होगा। यह निश्चित रूप से कहा नहीं जा सकता। क्योंकि संसार का वातावरण बराबर दूषित और भ्रष्ट होता जा रहा है। ऐसी स्थिति में हम जैसे आत्मप्राण संसार में कदापि नहीं रह सकते।

अवाक् सुनती रही मैं। किसी प्रकार बोली गुफा में आपके पार्थिव शरीर का क्या होगा? गुरुदेव हंस पड़े। बोले- योगी जिसका त्याग कर देता है तो उसे फिर स्वीकार नहीं करता। पड़ा रहेगा। किसी परकाया सिद्ध योगी की दृष्टि पड़ेगी कभी तो उसका अपने किसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए उपयोग कर लेगा। अन्त में गुरुदेव ने कहा- वैसे मैं तुमसे बराबर संबंध बनाए रखूंगा। योगााश्रम में रहने पर संबंध नहीं टूटेगा। कभीकदा आवश्यकता पड़ेगी पर दर्शन भी दूंगा तुम्हे। तुम अपने आपको कभी अकेली मत समझना। गुरुदेव के अन्तिम वाक्य ने मेरी आत्मा को झकझोर दिया बेटा। संभाल न सकी मैं अपने आपको। आँखों से झर-झर कर गिरने लगे आँसू। कण्ठ अवरूद्ध हो गया था। न कुछ बोला गया और न तो कुछ कहा ही गया। कुछ देर तक अपलक निहारते रहे गुरुदेव मुझे और फिर खड़ाऊं पहने खट्-खट् करते सीढ़ियां उतर गये और काफी देर तक वह आवाज गूंजती रही मेरे कानों में। इतनी कथा सुनकर सिर नीचा कर लिया और आँखें मूंदकर न जाने क्या सोचने लगी गंगा माँ। शायद खट्-खट् की आवाज अभी भी गूंज रही थी उनकी कानों में।

सत्संग लाभ सन् १९७० से ७५ तक गंगा माँ के सम्पर्क में रहा मैं और इस अवधि में इस योग तंत्र से संबंधित अनेक गूढ़ आध्यात्मिक विषयों पर चर्चाएं हुई जिससे अत्यन्त लाभान्वित हुआ मैं। उन समस्त आध्यात्मिक चर्चाओं को तो स्थानाभाव

के कारण लिपिबद्ध नहीं कर सकता, लेकिन जो अतिशय महत्वपूर्ण है उन्हें यहां प्रस्तुत कर रहा हूँ मैं।

उच्चकोटि की सिद्ध योगात्मा थी गंगा माँ इसमें सन्देह नहीं। सदैव गुरु चिन्तन में रहती थी। बाद में ज्ञात हुआ कि कभी-कदा उनके गुरुदेव योगाश्रम से आकर उन्हें दर्शन और मार्गदर्शन देते हैं सूक्ष्म शरीर के माध्यम से। कभी-कभी तो योगबल से पार्थिव शरीर भी धारण कर लेते हैं अपनी शिष्या के समक्ष। एक बार मैं अपनी पत्नी किरण शर्मा को भी उनेक आग्रह पर ले गया था। पत्नी अभिभूत हो उठी थी उस महान साधिका का दर्शन लाभ कर अपना दाहिना हाथ उठाकर गंगा माँ ने पत्नी को आशीर्वाद देते हुए कहा था, तू पुण्यात्मा है। नवरात्रि में सम्पूर्ण रामायण का पाठ और कन्या पूजन किया कर। कहने की आवश्यकता नहीं पत्नी ने जीवन पर्यन्त उनके आदेश का पालन किया। आज भी रामायण की वह पुस्तक रखी है जिसका उपयोग नवरात्रि में किया करती थी पत्नी। अन्त में पत्नी को आशीर्वाद प्राप्त हुआ था उस महान आत्मा से सौभाग्यवती भव......।

•••

अनाम से नाम- गंगा माँ का कहना था, संसार में सब कुछ अनाम है ब्रह्म भी अनाम है। परमात्मा का भी कोई नाम नहीं है। ब्रह्म और परमात्मा की बात छोड़ो। इस संसार में किसी वस्तु का भी कोई नाम नहीं है। हम कहते हैं, हम उपयोग करते हैं और वह उपयोग आवश्यक भी है लेकिन उसमें खतरा भी है क्योंकि नाम का इतना उपयोग होने लगता है कि वह वस्तु धीरे-धीरे गौण हो जाती है और नाम ड़ो जाता है महत्वपूर्ण।

एक बालक जन्म लेता है। विचार करिए। क्या वह कोई नाम लेकर पैदा होता है? नहीं उसका कोई नाम नहीं होता। अनाम होता है। कोरे कागज की तरह होता है वह। उसको परिवार की ओर से, समाज की ओर से कोई न कोई तो देना ही पड़ेगा नाम। यदि नाम न दिया जाय तो उसे बुलाना कठिन हो जायेगा। कैसे बुलायेंगे आप उसे? क्या बालक कह कर बुलायेंगे। बिना नाम के उससे बात व्यवहार करना भी कठिन हो जायेगा। कोई एक नाम दे देने से सब कुछ सरल हो जायेगा। बुला सकेंगे बाते कर सकेंगे, सम्वाद सम्भव हो जायेगा। लेकिन एक बात अवश्य है और वह यह कि वास्तविक बालक से संबंध स्थापित करना अथवा संबंध निर्मित करना कठिन है। लेकिन एक 'नाम' जो अपने आपमें वास्तविक नहीं है। सब संबंधों का एकमात्र आधार बन जाता है। कितने आश्चर्य की बात है अस्तित्व अनाम है। समस्त वस्तुएं अनाम हैं। मनुष्य अपनी ओर से उनको नाम देता है और नाम देते ही खतरा उत्पन्न

हो जाता है बिना नाम के बालक का जीना कठिन हो जायेगा और नाम के साथ जीते जीते जीवन में वह भूल जायेगा कि बिना नाम के उसने जन्म लिया था इस संसार में कभी और बिना नाम के ही एक दिन मर भी जायेगा वह।

सच बात तो यह है कि नाम मनुष्य के वास्तविक स्वरूप को और उसकी मानवता को और उसकी मानवीयता को भी छिपा देता है। किसी भी व्यक्ति का आप कितना भी नाम रख दें, कितने ही नामों से आप उसे पुकारे। लेकिन कोई भी नाम उसके अन्तरात्मा में प्रवेश नहीं कर पायेगा। समझ लो तुम- गंगा माँ बोली। वह अनाम ही रहेगा और अनाम ही जीयेगा जीवन भर। लेकिन वह व्यक्ति नाम को लेकर भ्रान्ति में पड़ जाता है कि 'नाम' ही वह है। वह और उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व 'नाम' हो जाता है और वह फिर नाम में ही जीने लगता है। अपने को कभी भी नाम से अलग नहीं कर पाता है वह। वह नाम के लिए ही जीने लगता है और मरने लगता है। नाम ही उसकी प्रतिष्ठा, उसकी इज्जत, उसकी कीर्ति और उसका यश बना जाता है। अपना नाम बचाने के लिए वह प्राण तक देने को तैयार हो जाता है। नाम की प्रतिष्ठा उसके लिए महत्वपूर्ण हो जाती है। यदि उसका नाम किसी ने ठीक से न लिया तो उसे कष्ट होगा। उसके नाम के साथ किसी ने कोई गलती भी कर दी तो भी उसे कष्ट होगा। उसके नाम का दुरुप्रयोग भी उसे पीड़ा पहुँचायेगी। वास्तव में नाम एक ऐसी वस्तु है जो आपकी गहरायी में उतर जाती है। प्राण बन जाता है नाम। नाम ही एक ऐसी वस्तु है जिसके कारण मैं शरीर हूँ ऐसा सोचता है और समझता है व्यक्ति। नाम के कारण ही शरीर के प्रति मोह और मृत्यु के प्रति भय उत्पन्न होता है।

•••

जब हम आध्यात्म मार्ग पर चलकर सत्य की खोज करते हैं। तब उस समय भी नाम की आवश्यकता पड़ती है। लेकिन उस नाम में भी लाभ और खतरा है। फिर भी नाम आवश्यक है। पहले हमने एक नाम रखा- ब्रह्म। सत्य की उपलब्धि में सुविधा प्राप्त हो। सत्य के साक्षात्कार में किसी भी प्रकार का विघ्न उपस्थित न हो। इसलिए हमने 'ब्रह्म' को तीन श्रेणी में विभक्त कर दिया- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये तीन नाम हिन्दू चिन्तन मनन की कोटियां है। हिन्दू धर्म के अन्तर्गत जितने प्रकार के देवी-देवता हैं वे सब के सब इन्हीं तीनों से संबंधित हैं। उनसे भिन्न नहीं है। ये तीन मूल कोटियां हैं और उसके कारण भी हैं। ज्ञात होना चाहिए कि त्रिदेव का यह हिन्दू चिन्तन अति महत्वपूर्ण वैज्ञानिक है।

हिन्दू चिन्तन में त्रिक की लीला- हिन्दू चिन्तन ने जो कुछ भी निर्धारित किया है वह किसी गहन आवश्यकता को सोच करके ही किया है। मनुष्य के भीतर

तीन प्रकार का मन है और मनुष्य भी तीन प्रकार का मनुष्य है। तीन की संख्या हिन्दू चिन्तन में बहुत ही महत्वपूर्ण है। पहले तो यही सोचा था और धारणा भी थी कि यह तीन केवल सांकेतिक है लेकिन विज्ञान जब वस्तुओं की गहरायी में गया तब उसे तीन की इकाई अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रतीत हुई। क्योंकि जब अणुबम का विस्फोट किया गया तो पता चला कि अणु के जो घटक अंग हैं वे तीन हैं- इलेक्ट्रान, न्यूट्रान और प्रोटान। ये तीनों घटक अंग हैं। इन तीनों से मिलकर ही जगत की मूल इकाई निर्मित हुई है। ज्ञात होना चाहिए कि उसी मूल इकाई पर सम्पूर्ण जगत निर्मित है। हम यदि इस जगत को तोड़ते जायें, तोड़ते जायें तो अन्त में तीन की ही संख्या उपलब्ध होगी और तीन के बाद तोड़ंगे तो कुछ भी उपलब्ध नहीं होगा। यदि कुछ उपलब्ध होगा तो वह होगा मात्र केवल 'शून्य' और उसी शून्य को भारतीय मनीषा ने कहा है परम सत्य। अनाम जिसका कोई नाम नहीं और उस शून्य से जो पहली इकाई निर्मित होती है तीन की और उसी तीन को हम कहते हैं- ब्रह्मा, विष्णु और महेश। ये तीन वैज्ञानिक दृष्टि से इलेक्ट्रान, न्यूट्रान और प्रोटान हैं। जैसाकि कहा गया है- इन तीनों से ही जगत का निर्माण हुआ है। ये तीनों महादेवता वास्तव में विद्युत कण हैं। जिनसे जगत का मौलिक आधार बना हुआ है।

•••

इलेक्ट्रान, न्यूट्रान, प्रोटान- ब्रह्मा, विष्णु, महेश- महासरस्वती, महालक्ष्मी महाकाली। भारतीय अध्यात्म चेतना की धारणा में ब्रह्मा, विष्णु और महेश जगत के निर्माता, पालक और संहारक हैं। जिन शक्तियों के द्वारा वे तीनों अपना-अपना कार्य करते हैं- वे शक्तियां हैं- महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। तीनों देवता अपनी-अपनी शक्ति के वाहक हैं। तंत्र के अनुसार शक्ति के आसन हैं लेकिन इनके संबंध में विज्ञान की अपनी दृष्टि है। अपनी धारणा है, अपनी खोज है और है अपना विचार। जिसके अनुसार इलेक्ट्रान, न्यूट्रान और प्रोटान जिन वस्तुओं को अभिव्यक्त करते हैं। इन्हीं वस्तुओं को अभिव्यक्त करते है ब्रह्मा, विष्णु महेश- ये तीनों शब्द भी। ये तीनों जगत के मूल में परम तत्व है। एक तत्व तो विधायक है। एक निषेध है और एक है तटस्थ। एक पॉजिटिव है, एक निगेटिक है और एक है न्यूट्रल। ब्रह्मा, विष्णु, महेश में भी एक पॉजिटिव है, एक निगेटिव है और एक है न्यूट्रल। ब्रह्मा, पॉजिटिव है, विधायक है। ब्रह्मा सृष्टि का आधार है। उससे ही सृष्टि होती है। वह निर्माता है। शिव यानी महेश विध्वंसक है। निषेधक है। वह तत्व सृष्टि को अपने आपमें लीन करता है। नाश करता है। समाप्त करता है क्योंकि वह निगेटिव है। विष्णु इन दोनों के मध्य तटस्थ है। वह रक्षा करता है। सृष्टि में व्यतिक्रम उत्पन्न नहीं होने देता है वह

सृष्टि में विकृति उत्पन्न होने से रोकता है।

अब रही नाम की बात। इस दृष्टि से न्यूट्रान, प्रोटान, इलेक्ट्रान का ही शब्दिक महत्व है और न तो है ब्रह्मा, विष्णु, महेश का ही कोई मूल्य। ये बस दिए गये नाम हैं लेकिन जब धर्म देता है और विज्ञान जब नाम देता है तो उसमें अन्तर होता है और अन्तर यह होता है कि विज्ञान जिसे नाम देता है वह अवैयक्तिक होता है और धर्म जिसे नाम देता है वह नाम वैयक्तिक होता है। वह नाम वस्तु के गुण दोष और परिणाम पर आधारित होता है। वह नाम संबंध बनाने के लिए व्यक्ति निर्मित करता है। धर्म प्रदत्त नाम प्रायः गुणवाचक होता है और यही कारण है कि नाम लेते ही संबंधित वस्तु का रूप आकार प्रकार गुण दुर्गुण, दोष और परिणाम तत्काल सामने आ जाता है और नाम के साथ नाम लेने वाले का तुरन्त तादात्म्य भी स्थापित हो जाता है।

लेकिन विज्ञान द्वारा प्रदत्त नाम में यह बात नहीं है इसलिए कि वह अवैयक्तिक है। व्यक्तिगत नहीं है। वह नाम केवल संकेत करता है। न्यूट्रान को ही लीजिए। उससे आपका व्यक्तिगत संबंध कभी भी स्थापित नहीं हो सकता। आप प्रयोगशाला में उसका उपयोग कर सकते हैं लेकिन न्यूट्रान से आपका कोई संबंध नहीं बन सकता। इसलिए कि न्यूट्रान कोई व्यक्ति नहीं है। लेकिन शिव को लीजिए। उसका नाम लेते ही उससे आपका किसी न किसी प्रकार और किसी न किसी रूप में संबंध स्थापित हो जायेगा। क्योंकि वह व्यक्ति है। धर्म और विज्ञान जिस शब्दावली का प्रयोग करते हैं, उसमें यही अन्तर है- विज्ञान के शब्द व्यक्तिगत नहीं हैं और जबकि धर्म के शब्द हैं व्यक्तिगत। धर्म का कहना है कि शब्द से व्यक्ति निर्मित होना चाहिए।

शून्यः ब्रह्म का प्रतीक- जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है। 'अन्त' शून्य है और वह 'शून्य' ब्रह्म का प्रतीक है। धर्म ने उस शून्य को शून्य न कहकर 'ब्रह्म' नाम दे दिया। शून्य वैसे अनाम है। उसका कोई नाम नहीं कोई रूप नहीं। ब्रह्म का न कोई नाम है और न तो कोई है रूप। ब्रह्म को निराकर कहा गया है। वह निराकार है। वह एक अव्यक्त परम तत्व है। होते हुए भी नहीं है और न होते हुए भी है। इसलिए उसके लिए नेति-नेति शब्द का हुआ है प्रयोग। लेकिन उस अव्यक्त निराकार रूपहीन परम तत्व के तीन अलग-अलग कार्य हैं और वह कार्य जिसके लिए हो रहा है वह परम तत्व ही है। दूसरी बात यह है कि वे तीनों कार्य जिसके द्वारा हो रहा है वह अलग-अलग तीन होते हुए भी एक है और वह एक परम तत्व ही है। परम तत्व जिसे मूल अस्तित्व भी कहते हैं, जैसाकि कहा गया है- उसका न कोई रूप है और न तो कोई आकार-प्रकार है। फिर भी जिसके द्वारा कार्य हो रहा है अलग-अलग तीन प्रकार का उसका भी कोई रूप या आकार नहीं है। उसका कार्य ही उसका रूप

व आकार है। लेकिन धर्म ने उन तीनों प्रकार के कार्यों को रूप और नाम दोनों दिया। एक को नाम दिया ब्रह्मा। दूसरे को नाम दिया विष्णु और तीसरे को नाम दिया शिव यानी महेश। जैसे इलेक्ट्रान, प्रोटान, न्यूटान, निराकार हैं लेकिन उनका कार्य और उन कार्यों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखलायी देता है और अनुभव में भी आता है। वैसे ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश भी निराकार और रूपहीन हैं फिर भी उनके कार्य के प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से अनुभव में आते हैं।

परम तत्व की तीन अभिव्यक्तियाँ- 'शून्य' मूल अस्तित्व है और उस अस्तित्व को ऋषियों ने परम तत्व की संज्ञा दी है। इस सूत्र को अच्छी तरह समझ लेना चाहिए कि ताकि तुम आगे की बाते समझ सकोगे- गंगा माँ ने कहा। चाय पीओगे? हाँ! मिल जायेगा तो पी लूँगा। चाय पान तक थोड़ी शान्ति रही लेकिन उसके बाद फिर आगे बोलना शुरू कर दिया उस महासाधिका ने।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश- इन तीनों को नाम और रूप दिया है धर्म ने! वैसे वे तीनों अनाम हैं और हैं अरूप। फिर भी वे तीनों हिन्दू धर्म के मूलाधार हैं। यदि इनके नाम और रूप को मिटा दिया जाय। नकार दिया जाय तो जानते हो क्या शेष बचेगा? बचेगा अस्तित्व का सूचक एकमात्र शून्य। वास्तव में अस्तित्व की अभिव्यक्तियाँ हैं ये तीनों। अस्तित्व अपने आपको तीन रूपों में अभिव्यक्त कर रहा है। तात्पर्य यह कि अस्तित्व की तीन अभिव्यक्तियां। तीनों के योगों से अस्तित्व निर्मित होता है। किसी भी अस्तित्व की अभिव्यक्ति के मूल में इन तीनों का योग समझना चाहिए। धर्म भी इसे स्वीकार करता है। वह कहता है कि इलेक्ट्रान, प्रोटान,न्यूट्रान-ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीनों की शक्तियों के बिना किसी भी वस्तु का निर्माण सम्भव नहीं है। किसी भी वस्तु का अस्तित्व प्रकट ही नहीं हो सकता। उसके प्रकटीकरण का मूल कारण विधायक है इसीलिए ब्रह्मा को विधाता भी कहा गया है। विधाता इलेक्ट्रान है। विधायक न हो तो किसी भी वस्तु की सृष्टि नहीं हो सकती। निर्माण नहीं हो सकती। कोई भी वस्तु रूप रंग आकार प्रकार भी धारण नहीं कर सकती। भौतिक रूप से प्रकट भी नहीं हो सकती। शिव विध्वन्स है, प्रोटान है। यदि विध्वन्स न हो तो आविर्भूत वस्तु में परिवर्तन नहीं हो सकता। रूपान्तरण भी नहीं हो सकता। कोई भी वस्तु भौतिक रूप में प्रकट होते ही परिवर्तित होने लगती है। उसमें होने लगता है रूपान्तरण जिसके फलस्वरूप वह बढ़ने लगती है नाश की ओर। विध्वन्स की ओर उन्मुख हो जाता है उसका अस्तित्व। यहां यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु और प्राणी की तीन अवस्थाएं हैं- निर्माण, स्थिति और विनाश। स्थिति में परिवर्तन होता है। यदि परिवर्तन न हो तो उसका विनाश सम्भव नहीं। जिसके द्वारा वस्तु या प्राणी स्थित रहता है अथवा अपनी

स्थिति बनाए रखता है वह है स्थापक यानी विष्णु, विज्ञान की भाषा में जिसे न्यूट्रान कहते हैं।

अब आप इसे इस प्रकार समझ सकते हैं। विधायक न हो तो किसी भी वस्तु अस्तित्व नहीं हो सकता। विधायक जन्मदाता है। स्थापक न हो तो कोई भी वस्तु अपने अस्तित्व में नहीं रह सकती। अपनी स्थिति को उपलब्ध नहीं हो सकती। इसी प्रकार विध्वन्सक न हो तो वस्तु में परिवर्तन नहीं हो सकता और अन्त में उसका नाश नहीं हो सकता। परिवर्तन होना महत्वपूर्ण है। यदि स्थिति बराबर बनी रहेगी और उसमें परिवर्तन न होगा तो प्रकृति में विकृति उत्पन्न हो जायेगी। सृष्टि की मर्यादा भंग होने लगेगी। विकृति उत्पन्न न हो। सृष्टि की मर्यादा भी न भंग हो। इसके लिए परिवर्तन और विध्वन्स आवश्यक है। सारांश यह कि 'वस्तु' के होने में विधायक है ब्रह्मा यानि इलेक्ट्रान। स्थापक है विष्णु यानि न्यूट्रान। निषेधक यानी विध्वन्सक है महेश यानि प्रोटान। ये तीनों आवश्यक हैं।

विश्व ब्रह्माण्डीय ऊर्जा और विश्व सृष्टि– गंगा माँ किसी जमाने की बी. एस.सी. थी। सृष्टि के मूल तत्व के विषय में उन्होंने जो धर्म विज्ञान और भौतिक विज्ञान का तुलनात्मक रूप प्रस्तुत किया था, वह अपने आपमें सिद्ध और प्रमाणित था इसमें सन्देह नहीं। हिन्दू धर्म विज्ञान के कई 'वाद' हैं और उन्हीं में एक 'वाद' है- विस्फोट वाद। विस्फोट वाद के जो सिद्धान्त हैं सृष्टि के उद्भव के संबंध में वह परोक्ष रूप से इसी तथ्य को स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में शून्य और कुछ नहीं आदि अणु है और आदि अणु क्या है? बिन्दु है। विश्व ब्रह्माण्ड के मूल में बिन्दु है। बिन्दु का एक सूक्ष्मातिसूक्ष्म रेणु बनता है। यह एक सू०सू० रेणुओं का संघटन विश्व ब्रह्माण्डीय ऊर्जा है। यह ऊर्जा ही दृश्य और अदृश्य जगत के निर्माण का कारण है। इसी से विश्व सृष्टि हुई है। विज्ञान इसे कास्मिक ऊर्जा कहता है। आत्मा के लिए अन्तिम शरीर का निर्माण इसी ऊर्जा से होता है। आत्मा का अन्तिम शरीर कास्मिक बॉडी है यानी ब्रह्माण्ड काया। ब्रह्माण्ड काया को उपलब्ध होने के लिए आत्मा को हजारों जन्म लग जाते हैं। इस शरीर का सबसे बड़ा महत्व यह है कि आत्मा इसके द्वारा एक ही समय में और एक ही अवस्था में हजारों स्थान पर किसी भी रूप अथवा आकार में प्रकट हो सकती है। भगवान श्रीकृष्ण अपनी ब्रह्माण्डीय काया द्वारा एक ही समय में और एक ही रूप में अपनी हजारों रानियों के साथ रहते थे। लेकिन उनके इस रहस्य से कोई परिचित नहीं था। प्रत्येक रानी यही सोचती थी कि उनके कृष्ण उनके साथ हैं। भगवान के इस परम गुह्य रहस्य से कोई परिचित हुआ तो वे थे महामुनि नारद।

परब्रह्म लोक आठ सू.सू. रेणु का १ सूक्ष्म रेणु होता है। इस विश्व ब्रह्माण्ड का

पहला लोक परब्रह्म लोक है और जिसका निर्माण रेणुओं से हुआ है। परब्रह्म लोक में ब्रह्म ज्ञान को उपलब्ध'आत्माएँ निवास करती हैं। जो शुभ्र ज्योतिर्पुञ्ज है।

ब्रह्म लोक आठ सू.सू. रेणु के संयोग से १ रेणु का निर्माण होता है। ब्रह्मलोक का निर्माण ऱेणुओं से होना बतलाया गया है। इस लोक में अहं ब्रह्मास्मि के बोध को उपलब्ध पीत ज्योतिर्पुञ्ज रूप आत्माएं निवास करती हैं।

दिव्य लोक आठ रेणु के संघटन से १ सू.सू. परमाणु का जन्म होता है। तीसरे दिव्य लोक का निर्माण हुआ है। इस लोक में दिव्य शरीरधारी गुलाबी ज्योतिर्पुञ्ज रूप की वे आत्माएं निवास करती हैं- जो पूर्ण से मुक्तावस्था को उपलब्ध हैं।

ऋषि लोक आठ सू.सू. परमाणुओं से १ सूक्ष्म परमाणु बनता है। इससे निर्मित ऋषि लोक है। इस लोक के सात भाग हैं जिसे सप्त ऋषि मण्डल कहते हैं। सप्तऋषि मण्डल से पृथक एक और महत्वपूर्ण है। जिसे अरून्धति मण्डल कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे वेद मण्डल भी कहते हैं। सूक्ष्म परमाणुओं के आपसी संघर्ष से तीन प्रकार की ध्वनियां निकलती हैं- अ, ऊ और म ये तीनों वर्ण उन तीनों ध्वनियों के अक्षर रूप हैं। उन तीनों ध्वनियों की विद्युत चुम्बकीय तरंगे सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में व्याप्त हैं। गंगा माँ ने कहा- वे विद्युत चुम्बकीय तरंगे ही वर्ण मातृकाओं का निर्माण करने वाली है। उन्हीं से वर्ण मातृकाओं का जन्म हुआ है। विज्ञान की भाषा में तीनों तरंगों को थीटा, वीटा और अल्फा कहते हैं। मानव शरीर से भी ये तरंगे बराबर विकीर्ण होती रहती हैं।

देव लोक आठ सू.सू. परमाणु का एक परम अणु होता है। देव लोक का निर्माण परम अणुओं से हुआ है और उन्हीं के द्वारा निर्माण हुआ है पितर लोक का भी। देव लोक के नीचे पितर लोक का विस्तार है। जिसमें गोत्र के रूप में स्थायी पितर निवास करते हैं और उनके बाद निवास करते हैं जो मानव शरीर से पितर शरीर ग्रहण करते हैं।

सिद्ध लोक तीन परम अणु का १ त्रस रेणु होता है। इनके द्वारा सिद्ध लोक था निर्माण हुआ है। इस लोक में सिद्धसाधक गणों की आत्माएं शुभ्र ज्योतिर्पुञ्ज के रूप में निवास करती हैं। वे अपने लोक में अपना अस्तित्व बनाए रखते हुए भी अन्य लोकान्तरों में इच्छानुसार विचरण किया करती है। कभी-कभी भौतिक जगत में भी उनका अवतरण होता है। किन्तु म:नव रूप में उनको जानना समझना सबके वश की बात नहीं।

यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और गुह्य लोक नौ त्रस रेणु का १ सू.सू. अणु होता है। जिससे यक्ष लोक़, गन्धर्व लोक, किन्नर लोक, गुह्य लोक का निर्माण होता है। इनमें विभिन्न प्रकार के वर्णो के ज्योतिर्पुंज रूप में यक्ष, गन्धर्व, किन्नर और गुह्य जाति की

देवात्माएं निवास करती हैं। वे भी विशेष कर मानव लोक में मानव शरीर के रूप में संचरण विचरण किया करते हैं। कभी-कभी कला और सौन्दर्य की उन्नति के लिए मानव गर्भ भी स्वीकार कर लेती है। (इसके संबंध में विस्तार से पढ़े- 'परलोक के खुलते रहस्य')

भूत, प्रेत, पिशाच आदि तमोगुणी लोक आठ सूक्ष्म अणु का १ सूक्ष्म अणु होता है। इस सूक्ष्म अणुओं से क्रमशः पिशाच लोक, भूत, प्रेत लोक के अतिरिक्त अनगिनत तमोगुणी लोक-लोकान्तर हैं। जिनमें अत्यन्त कुत्सित, घृणित और अत्यन्त तामसिक प्रवृत्ति की दुरात्माएं निवास करती हैं। जिनका एकमात्र कार्य है मानव शरीर को उपलब्ध होकर नाना प्रकार का संसार में उत्पात करना। देश, समाज और सम्प्रदायों में विभिन्न प्रकार की विकृति उत्पन्न करना। इनके अतिरिक्त मानव जाति के सभी क्षेत्रों में उपद्रव करना, अशान्ति उत्पन्न करना, शोषण करना, चरित्र का हनन करना। धर्म कर्म में बाधा उत्पन्न करना आदि। उनके द्वारा इतना ही नहीं सामूहिक रक्तपात, सामुहिक नरसंहार, भयंकर यातायात दुर्घटनाएँ, राज व्यवस्था और अर्थ व्यवस्था में व्यतिक्रम आदि भी इन्हीं के द्वारा होता है इसमें सन्देह नहीं। मानव शरीर और मानव जाति को कलंकित करने में सबसे बड़ा योगदान है इस समय ऐसी शरीर धारिणी आत्माओं का इसमें भी सन्देह नहीं।

सूक्ष्म लोक आठ सू.सू. अणु का १ सूक्ष्म अणु होता है। उन सूक्ष्म अणुओं से सूक्ष्म लोक और उससे संबंधित अनेक लोक-लोकान्तरों का निर्माण हुआ है। सूक्ष्म लोक अत्यन्त विस्तृत है। उसकी सीमाओं के अन्तर्गत नक्षत्र मण्डल, ग्रह मण्डल और सौर मण्डल आदि कई मण्डल हैं। उसकी सीमा जैसे-जैसे आगे बढ़ती गयी है उसी के अनुसार सूक्ष्म लोक सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम् होता चला गया है। इसमें सूक्ष्म शरीरधारी आत्माएं निवास करती हैं। यहां यह समझ लेना चाहिए कि समाधि की अवस्था में सर्वप्रथम योगी सूक्ष्म लोक में ही प्रवेश करता है। इसके बाद अन्य लोक-लोकान्तरों में। यहां यह भी बतला देना आवश्यक है कि सूक्ष्म लोक अत्यन्त विशाल और व्यापक है और उसकी सीमा के अन्तर्गत अनगिनत लोक-लोकान्तर हैं। इस विषय में 'आवाहन' पुस्तक में विस्तार से लिखा गया है।

स्थूल लोक आठ सूक्ष्म अणु का १ अणु होता है। अणुओं का संघटन ही स्थूल जगत है। सूक्ष्म अणु तक अदृश्य जगत है। दृश्य जगत का निर्माण अणु के विस्फोट से होना बतलाया गया है। प्रागूकाल में अणु के घनत्व से विस्फोट होने पर उसमें से अलग-अलग तीन विद्युत चुम्बकीय स्फुलिंग कणों का जन्म हुआ और जिनके सहयोग से भौतिक पदार्थों और समस्त प्रकार की भौतिक वस्तुओं की सृष्टि हुई। स्थूल लोक

चतुर्थ आयामी है। जो कुछ प्रकट में है वह तृतीय आयामी है और जो अप्रकट है वह चतुर्थ आयामी है। चारो आयामों की सत्ता एक दूसरे से संयुक्त है। चतुर्थ आयामी सत्ता के अन्तर्गत प्रेतलोक और वासना लोक है और वासना लोक से ही सूक्ष्म जगत अथवा लोक की सीमा शुरू हो जाती है।

•••

धर्म विज्ञान के तीन मौलिक अणु- ब्रह्मा, विष्णु और महेश ये तीन तीनों मौलिक अणुओं के नाम हैं जिनको प्रदान किया है धर्म विज्ञान ने। ये तीन विश्व सृष्टि के आदि मौलिक देवता हैं। इनके न रूप हैं, न रंग हैं, न तो आकार-प्रकार हैं जो कुछ भी है वह सब मनुष्य की कल्पना द्वारा दिया हुआ है। इनके अतिरिक्त हिन्दू धर्म में जितने प्रकार के देवी-देवताओं का निर्माण हुआ है- वे सब के सब किसी न किसी रूप में उन तीनों से संबंधित है।

गंगा माँ ने कहा- यहां एक बात बतलाना आवश्यक है और वह यह कि इलेक्ट्रान, न्यूट्रान और प्रोटान की जो शक्ति है, उसे वैज्ञानिक भाषा में पावर एनर्जी और फोर्स कहते हैं। इस प्रकार ब्रह्मा की शक्ति पावर है। विष्णु की शक्ति एनर्जी है और महेश की शक्ति फोर्स है। धर्म की साधना भूमि में ये तीनों शक्तियों को साकार रूप दिया गया- महासरस्वती, महालक्ष्मी और महाकाली। ये तीनों शक्तियों के विग्रह हैं। हिन्दू धर्म के जितने देवी-देवता हैं- वे सब के सब किसी न किसी रूप में इन तीनों में से किसी न किसी एक अंश के वाहक हैं।

भगवान के रूप में अवतार किसका? हिन्दू धर्म विंज्ञान में अवतार का भारी महत्व है। वह अवतार किसी का भी हो, सन्त का हो, महात्मा का हो, योगी का हो या हो किसी दैवी आत्मा का। यहां यह समझ लेना चाहिए कि जहां तक प्रश्न अवतार का है वह केवल अबतक राम, कृष्ण आदि के रूप में विष्णु का ही हुआ है। न ब्रह्मा का हुआ है और न तो हुआ है महेश का। अन्य आत्माएं किसी की भी क्यों न हो- आविर्भूत होती है। अवतार नहीं लेती। अवतार और आविर्भाव में अन्तर है।

हां तो मैंने जैसा बतलाया सभी अवतार विष्णु का है। ब्रह्मा का काम निर्माण करके समाप्त हो गया। उनकी कोई पूछ नहीं। उनकी पूजा भी नहीं। उनका कोई प्रचार-प्रसार भी नहीं। न तो उनका कोई स्रोत, पूजा पद्धति ही है। महेश का काम विध्वंस करने का, नाश करने और विनाश करने का है। अपने को नष्ट होने से, अपना नाश होने से और अपना विध्वन्स होने से बचने के लिए शिव की नहीं, शिवलिंग की पूजा उपासना, साधना जप आदि का विधान है। लिंग रूप हैं शिव। लिंगोपासना से प्रसन्न होते हैं। दूसरी ओर लिंगोपासना से ब्रह्मा को सृष्टि करने का अवसर मिलता

है क्योंकि लिंग न हो तो सृष्टि कैसे? सृष्टि का मूल लिंग है।

तात्पर्य यह कि न महेश के अवतार से कोई लाभ है और न तो कोई लाभ है ब्रह्मा के अवतार से। विष्णु स्थापक हैं। पालक हैं। लेकिन शक्ति, सरस्वती ज्ञान की अधिष्ठात्रि है। उनकी पूजा उपासना होती है। इसी प्रकार महेश यानी शिव की शक्ति काली हैं। जिस प्रकार विनाश से बचने के लिए लिंग की पूजा होती है। उसी प्रकार विनाश से बचने और शुभत्व की प्राप्ति के लिए 'योनि' के रूप में काली पूजा होती है। लिंग और योनि के संयोग से जिस तीसरे तत्व का बिन्दु रूप से जागरण होता है, वही ब्रह्मा की सृष्टि का आधार है।

•••

जबतक सृष्टि है तबतक विष्णु अवतार लेते रहेंगे भले ही वे राम के रूप में लें या लें कृष्ण के रूप में। अवतार लेकर कल्याण करना उनका काम है। जबतक धर्म पर चोट लगेगी, आघात लगेगा तबतक उनको किसी न किसी रूप में अवतार लेना ही पड़ेगा। निर्माता एक बार संकेत करेगा-सृष्टि हो जायेगी। निर्माण हो जायेगा। विध्वन्सक एक बार विध्वन्स करेगा- नाश हो जायेगा समाप्त हो जायेगा सबकुछ। लेकिन जो पालन करेगा, जो रक्षा करेगा, जो सम्हालेगा पूरे समय उसे तो बार-बार आना ही पड़ेगा संसार में किसी न किसी रूप में इसलिए अवतरण विष्णु का ही होता है और वह भी अपनी पत्नी लक्ष्मी के साथ- जिसे योगमाया कहते है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश पर हिन्दू धर्म ने तो विचार किया ही है इसके अतिरिक्त 'इन्द्र'और अन्य देवता की भी गणना की है। वे किसी परम शक्ति के प्रतीक नहीं हैं। लेकिन प्रकृति के सहायक हैं। वे त्रिदेवता की कोटि के नहीं है। त्रिदेवता परम उच्च्य अवस्था में है। उन तक किसी भी मार्ग से पहुंचना, किसी भी प्रकार उनका अनुभव प्राप्त करना और उनकी कृपा का पात्र बनना मनुष्य के लिए असम्भव है। क्योंकि त्रिदेव अत्यन्त वैज्ञानिक हैं। उनकी गहरायी तक पहुंचना असम्भव है। ब्रह्मा से आप क्या मांग सकते हैं। ब्रह्मा की पूजा करना, आराधना करना आदि निष्फल है। कोई लाभ नहीं। लेकिन ब्रह्मा का जो उपयोग है वह अस्तित्व का मूल आधार है। मनुष्य अत्यन्त दुर्बल और कमजोर प्राणी है। यदि परोक्ष और अपरोक्ष रूप से उसे दैवी शक्ति प्राप्त न हो तो संसार में कुछ भी नहीं कर सकता वह असहाय प्राणी। न कोई प्रगति और न तो कोई उन्नति। इसी कारण वह इतने मौलिक आधारों तक न पहुंच सकता है और न तो किसी भी प्रकार का संबंध ही बना सकता है। इसलिए केवल हिन्दू धर्म विज्ञान ही नहीं विश्व के सभी प्रमुख धर्मो ने ईश्वर की धारण की उसी प्रकार विभिन्न प्रकार की देवी-देवताओंकी भी धारणा परब्रह्म परमात्मा का परमतत्व

परमेश्वर समझा है और उस परम तत्व की जो शक्ति है वह है परमेश्वरी। ईश्वर कहें या कहें परमेश्वर कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का पृथककरण– परमेश्वर की धारणा बहुत ऊँची है। उसके शिखर का स्पर्श करना मनुष्य के लिए असम्भव है इसलिए देवताओं और देवियों की धारणा बनी। क्योंकि उन तक तो मनुष्य किसी न किसी प्रकार पहुँच ही सकता है प्रार्थना, उपासना, साधना के बल पर।

गंगा माँ बोली– अब यहां मुख्य रूप से तीन बातों को अच्छी तरह समझना है। पहली बात तो यह है कि परब्रह्म जो परमतत्व है वह है पूर्णरूप से निराकार बस उसका बोध है और वह भी आत्मा को सर्वोच्च अवस्था प्राप्त करने पर। भगवान बुद्ध जैसे पुरुष ही परमतत्व से संबंध बना सकने में समर्थ होते हैं। इसीलिए बुद्ध ने कहा– ब्रह्मा, विष्णु, महेश व्यर्थ हैं। व्यर्थ, शब्द का प्रयोग कुछ ने उस समय किया जब उनको बुद्धत्व लाभ हुआ और परम निर्वाण की अवस्था में उन्होंने प्रवेश किया और परम ज्ञान को हुए उपलब्ध। इससे उस समय हिन्दू धर्म को काफी आघात पहुंचा था। इसलिए आघात पहुंचा कि हिन्दू धर्म की मूलभित्ति हैं त्रिदेव और उस समय और आघात पहुंचा जब बुद्ध के परम तत्व को उपलब्ध होने पर त्रिदेवताओं ने उनके सामने खड़े होकर प्रार्थना की मुद्रा में प्रणाम किया तथागत को। इससे यह प्राप्त होता है कि परमतत्व त्रिदेवता से भी पार है।

परम तत्व क्या है? न इसका ज्ञान त्रिदेवताओं को ही था और न तो देवताओं को। सभी व्याकुल हो उठे– बुद्ध से यह जानने के लिए कि 'परम तत्व' क्या है? सात दिन तक बुद्ध थे। परम समाधि की अवस्था में त्रिदेवों के साथ हाथ जोड़े खड़े थे देवगण भी। कभी तो बुद्ध कुछ बोलेंगे, कुछ बतलायेंगे और कुछ कहेंगे परम तत्व के विषय में। सभी आतुर थे व्याकुल थे। लेकिन बुद्ध थे कि परमतत्व के संबंध में कुछ बोला ही नहीं गया उनसे। भला बोलते भी क्या? 'परम तत्व' तो शब्दातीत है। भावातीत है। अनुभव और अनुभूतियों से भी परे है। कोई भी आधार नहीं है उसे व्यक्त करने के लिए। जैसाकि कहा गया है कि हिन्दू धर्म को भारी चोट पहुँची। प्रबल आघात लगा। विचलित और उद्वेलित हो उठा हिन्दू धर्म। त्रिदेवताओं और अन्य देवताओं का प्रार्थना की मुद्रा में तथागत के सामने हाथ जोड़कर खड़ा होना अनुचित और अपमानजनक लगा हिन्दू धर्म को। यह वही स्थान है जहां हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म का प्रथक्करण हुआ। दोनों में मतभेद उत्पन्न हो गये। हिन्दू धर्म ने बौद्धधर्म को मान्यता नहीं दी। एक प्रकार से यह कथा अच्छी तो नहीं है फिर भी कुछ अर्थों में अच्छी भी है। अच्छी इसलिए नहीं है कि यदि मान्यता प्राप्त हो गयी होती तो आज बौद्ध धर्म के साथ हिन्दू

धर्म भी आधी पृथ्वी पर प्रसिद्ध और विख्यात हो जाता। अच्छी और मूल्यवान इसलिए है. कि हिन्दू धर्म के विचार के अत्यन्त अनुकूल है। क्योंकि हमने केवल त्रिदेवों को संसार का निर्माण करने वाला, सम्हालने वाला और मिटाने वाला ही माना है और इसी रूपों में स्वीकार भी किया है हमने। त्रिदेव संसार के ही एक हिस्से हैं। जिस दिन संसार विलीन हो जायेगा। वे भी विलीन हो जायेंगे उसके साथ। फिर उनका कोई मूल्य नहीं रह जायेगा। तब जो शेष रह जाता है वह शून्य के सिवाय और कुछ नहीं है और उस शून्य में प्रवेश ही बुद्ध की समाधि थी।

परम समाधि की अवस्था में उसी परम शून्य, परम तत्व, परब्रह्म में कर गये थे प्रवेश वह। लेकिन उस परम तत्व तक पहुँचना असम्भव है। लाखों जन्म की साधना के पश्चात् ही कोई उपलब्ध होता है उस परम शून्य,परम तत्व को और वह भी निश्चित नहीं।

•••

ऐसी अवस्था में मनुष्य ने अपनी कल्पनाओं, भावनाओं और कामनाओं के आधार पर देवताओं का निर्माण किया। देवता निर्मित हुए और उन देवताओं के प्रतीक बने इन्द्र। इन्द्र, मनुष्य की कामनाओं, वासनाओं और भावनाओं के संस्कार रूप हैं। अधिपति हैं। राजा हैं। देवी-देवताओं मनुष्य की कामनाओं और वासनाओं की पूर्ति के साधन बनते चले गये। जो मनुष्य नहीं दे सकता वह देवी-देवता देंगे, यह कल्पना प्रगाढ़ होती चली गयी। मनुष्य आश्रित रहने लगा देवी-देवताओं के। अकर्मण्यता बढ़ी। कुछ करने की आवश्यता नहीं, देवी-देवता हैं न। वे पूरी कर देंगे कामना। जो चाहोगे, वे दे देंगे। यह काल्पानिक भावना आज भी मनुष्य में विद्यमान है। आज भी मनुष्य परोक्ष अपरोक्ष रूप में दैवी शक्ति पर आश्रित है। जैसे-जैसे मनुष्य अशान्त होता जायेगा। वैसे ही वैसे समस्यायें भी बढ़ती जायेगी और वैसे ही वैसे देवी-देवताओं के मन्दिरों में भीड़ भी बढ़ती जायेगी।

गंगा माँ थोड़ा रूक कर बोली- इन्द्र देवताओं के राजा हैं। आप वेदों को पढ़ें। वेदो में जितने सूत्र हैं कहने की आवश्यकता नहीं, उनके द्वारा इन्द्र आदि देवताओं की ही प्रार्थना की गयी है। वे सभी प्रार्थना मनुष्य की सभी प्रकार की वासनाओं, कामनाओं आदि से ही है संबंधित।

•••

आपको ज्ञात हो कि सभी प्रकार से और सभी ओर से हिन्दू धर्म का चिन्तन,मानव समस्याओं का हल प्राप्त हो- इसकी चेष्टा है। इस योग से आध्यात्मिक उन्नति का कोई संबंध नहीं है। भौतिक समस्याएं हल को उनका निवारण हो- बस

इसकी ही एकमात्र चेष्टा है। समस्याओं के हल के लिए परम तत्व से परम विराट से प्रार्थना क्या करें। उसके समक्ष वाणी मौन हो जायेगी। फिर प्रार्थना कैसे होगी? त्रिवेदता से भी क्या कहा जाय? वे भला क्या कर सकेंगे। छोटी मोटी समस्याओं को हल करना उनका काम नहीं। कर भी न सकेंगे। उनका काम तो जगत को बनाना, सम्भालना और नाश करना है। अब आप ही बतलाइए कमजोर और पराश्रित मनुष्य जाये तो कहां जाये? उसका तो अपना छोटा सा जगत है। उस जगत में उसका परिवार है। परिवार है तो नाना प्रकार की समस्याएं भी हैं और उनको दूर करने के लिए भला वह कहां जाये? इसके लिए एक कोटि के देवी-देवताओं और उनके प्रतिनिधि के रूप 'इन्द्र' का निर्माण किया गया। समझ लें ये सब हिन्दू धर्म की कल्पना-परिकल्पना और भावना है और यही एकमात्र कारण है कि बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों का वेदों के प्रति अच्छा विचार या भाव नहीं है। उनकी दृष्टि में वेदों का कार्य महत्व नहीं है। इस कारण से भी हिन्दू धर्म को चोट पहुँची। अघात लगा। आपको यह भी बतला दूँ कि उपनिषदों का भी वेदों के प्रति कोई अच्छा भाव नहीं है। कृष्ण का भी वेदों के प्रति श्रद्धाभाव नहीं है। हो ही नहीं सकता। कारण यह नहीं है कि वेदों के प्रति बुरा भाव है। कारण बस कुल इतना ही है कि वेद ९९ प्रतिशत अति साधारण मनुष्यों के जगत की चिन्ता करता है। उसे आध्यात्मोन्मुख नहीं करता है। इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो वेद एकमात्र मानवीय ग्रन्थ है। इसके अलावा और कुछ भी नहीं। गीता में कृष्ण ने कहा मैं वेदों में सामवेद हूँ। इसलिए कहा कि वेद में एक प्रतिशत अध्यात्म है। उस एक प्रतिशत का गौरव रखा कृष्ण ने।

परमात्मा की उपलब्धि के दो मार्ग– एक मार्ग तो यह है कि हम इतना उठें कि परमात्मा को उपलब्ध हो जाये। दूसरा मार्ग यह है कि परमात्मा को इतने नीचे उतारें कि वह हमारे निकट आ जाय स्वयं। इन्द्र परमात्मा को नीचे लाने और मनुष्य को निकट पहुंचाने की प्रक्रिया की एक कड़ी है। इस कड़ी में सभी प्रकार के देवी-देवता आ जाते हैं।

अक्षर ब्रह्म उनकी जैसे-जैसे वृद्धि होती गयी, वैसे ही वैसे पूजा-पाठ, अर्चना उपासना और जप, हवन आदि के भी विधि विधान बनते गये उनके सामिप्य को प्राप्त करने के लिए लेकिन हिन्दू धर्म का जो दार्शनिक पक्ष था। इन सब से पृथक था वह। दर्शन के मूल सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्तिवाची शब्द अर्थहीन है। दार्शनिक चिन्तन को निराकार और निर्व्यक्ति चाहिए। फिर भी चिन्तन के लिए कोई न कोई गुणवाचक आधार तो चाहिए ही परब्रह्म के लिए। बिना आधार के चिन्तन-मनन कैसे सम्भव है। ऐसी स्थिति में हिन्दू धर्म के दर्शन पक्ष ने परब्रह्म के लिए एक प्रतीकात्मक शब्द खोज निकाला और वह है प्रतीकात्मक शब्द 'अक्षर ब्रह्म'। अक्षर ब्रह्म प्रतीकात्मक अवश्य

है लेकिन परब्रह्म के लिए पूर्ण अनुकूल है। विशेष गुणवाचक है। अक्षर ब्रह्म के अर्थ पर यदि ध्यान दें तो पता चलेगा कि वह शब्द आत्यन्तिक ऊर्जा है। जिसका कभी क्षय नहीं होता अ-क्षर-है। कभी क्षरित अथवा नष्ट होने वाला नहीं है। जो सदैव बना रहता है। सृष्टि, स्थिति और विनाश की अवस्थाओं में भी जिसकी ऊर्जा बराबर बनी रहती है। वह अक्षर ब्रह्म है लेकिन सदैव बनी रहने वाली उस ऊर्जा के विस्तार होने का और विराट होने का कोई संकेत उपलब्ध नहीं है लेकिन लोगों को सागर का और आकाश का विस्तार और विराट रूप देखकर परमात्मा में भी विराट की झलक मिलती है परमात्मा विराट है लेकिन ऐसा नहीं है। यह सोच है अपनी-अपनी। समुद्र और आकाश का विस्तार और विराटत्व किसी और प्रकार का है।

अक्षर ब्रह्म एक शाश्वत ऊर्जा है उस शाश्वत ऊर्जा का जो विस्तार है वह समय के प्रवाह का है। जो पहले भी था, अब भी है और भविष्य में भी रहेगा। वह टाइम डायमेन्सन है। काल के रूप में फैला हुआ है। आकाश का विस्तार 'स्पेस डायमेन्सन' है। जो योगी होगा वह टाइम डायमेन्सन का अनुभव करेगा और साधारण होगा तो वह स्पेस डायमेन्सन का करेगा अनुभव। हम सब स्पेस डायमेन्सन का अनुभव करते हैं। जो विचारक हैं, दार्शनिक हैं और हैं साधक वे टाईम स्पेश का अनुभव करते हैं लेकिन जो योगी हैं। समाधि को जो हैं उपलब्ध। उनके लिए न टाईम है और न तो है स्पेश। वह दोनों से परे है। वह टाइमलेसनेश यानी कालातीत अवस्था में प्रवेश कर जाता है। ध्यान की गहरायी में और समाधि में परम विराट का अनुभव करता है। इसलिए योगीगण परब्रह्म को परम विराट कहते हैं। परम विराट में प्रवेश करने के बाद कुछ भी नहीं रह जाता और तब टाईमलेसनेस की स्थिति आ जाती है लेकिन जो दार्शनिक है, विचारक है, वे कहेंगे 'अक्षर ब्रह्म'। 'अक्षर' अत्यन्त रहस्यमय और गूढ़ शब्द है। शून्य क्षरित होने वाली तीन प्रकार की ध्वनियां हैं जो 'अ' 'ऊ' 'म' इन तीन अक्षरों के रूप में व्यक्त होती है। तीनों अक्षर मिलकर ॐ को प्रकाशित करते हैं। ओम में तीन अलग-अलग प्रकार की कास्मिक ध्वनियां हैं। ॐ के उच्चारण से तीनों प्रकार की ध्वनियां एक साथ वायुमण्डल में विकीर्ण होती है। ओम आदि अक्षर है और उसी का नाम अक्षर ब्रह्म है।

वे तीनों ध्वनियां अक्षर ब्रह्म की ऊर्जा है। विराट और सर्वव्यापक ऊर्जा। जो विभिन्न रूपों में मानव चेतना में प्रवेश करती है। जिनमें एक 'प्राण' भी है।

योगी और प्राण : चेतना का मुख्य अंग है प्राण। योगियों ने अक्षर ब्रह्म को प्राण के रूप में स्वीकार किया है। योग में परमात्मा के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है। उनमें महा प्राण, विराट प्राण और प्राण भी है। क्योंकि योगी का जो मार्ग है। वह अपने भीतर छिपे हुए प्राण के अनुभव का मार्ग है और वह अनुभव जब गहन

से गहनतम् होने लगता है तो वही प्राण अपने बाहर सर्वत्र अनुभव होने लगता है। एक ऐसा भी समय आता है जब योगी को सारा जगत प्राण ऊर्जा से भरा हुआ दिखलायी देने लगता है। योगीगण उसी सर्वव्यापक और स्वयं में स्थित प्राण ऊर्जा का आश्रय लेकर एक स्थान पर बैठे ही बैठे दूरस्थ किसी भी व्यक्ति के विचार, भाव, आचरण, संस्कार और क्रियाकलाप को जान लेते हैं। किसी के आध्यात्मिक संस्कार को जाग्रत कर अपने मार्ग पर ले चलते हैं। इस प्रकार के अनेक अलौकिक कार्य करते हैं।

प्राण और योग : तीन दशक पूर्व विज्ञान ने प्राण के लिए एक नये शब्द का प्रयोग किया है 'वाइटल'। योग की समस्त साधना प्राण के विभिन्न रूपों की साधना है। प्राण ही मूलभित्ति है योग की। इसीलिए योग की भौतिक प्रक्रिया प्राणायाम है। प्राणायाम का मतलब है प्राण का विस्तार। प्राण साधना द्वारा योगी अपने चारो तरफ का वातावरण प्राणमय कर देता है। जिसमें प्रवेश करते ही शान्ति, स्थिरता और एकाग्रता का अनुभव होता है। मनोवृत्ति भी बदल जाती है। योग ने परमात्मा को महत्व नहीं दिया है। ईश्वर को भी गरिमा नहीं दी है। उसके लिए प्राण ही परमात्मा और ईश्वर है। जैसे विज्ञान की अन्तिम खोज विद्युत कण इलेक्ट्रान, न्यूट्रान और प्रोटान है उसी प्रकार योग की अन्तिम खोज प्राण है। प्राण का संशोधन एक वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि संसार में सभी कुछ प्राण का ही समान्तरण है। सृष्टि में जो कुछ भी है वह सब प्राण द्वारा ही संचालित है।

काल,अग्नि और चन्द्रमा : योग एक परम विज्ञान है। प्रकृति विज्ञान है इसलिए कि उसके सिद्धान्त और नियम बदलते नहीं। योग विज्ञान के अन्तर्गत श्वास विज्ञान, मनोविज्ञान, परामनोविज्ञान, काल विज्ञान ऐसे और अनेक विज्ञान हैं। जैसाकि स्पष्ट है 'योग' सभी दृष्टि से प्राण की साधना है। वेद में प्राण को महत्व देने के बाद काल, अग्नि और चन्द्रमा को ऊँचा आसन दिया गया है इसीलिए वे तीनों योग से है। योग विज्ञान 'आत्मा' को 'समय' कहता है। जो अपने आपमें विराट है। इसीलिए योग ध्यान को सामयिक भी कहता है। समय में प्रवेश कर जाना। जीवन की आत्यन्तिक का जो नाम है वह है समय। यह मूल्यवान शब्द है, ध्यान से अधिक मूल्यवान। इसलिए कि ध्यान में फिर भी कहीं न कहीं भ्रान्ति किसी न किसी रूप में बराबर बनी रहती। सामयिक में ये बात समाप्त हो जाती है भ्रांति नहीं रहती। योग कहता है कि समय में ही प्रवेश कर जाना ध्यान है। समय का नाम स्वयं है। दूसरे शब्दों में 'स्वयं' में प्रवेश कर जाना ध्यान है।

काल, अग्नि यानी टाइम फायर। समय आत्मा है। समय को आत्मा मानने के

कई कारण हैं। पहले पत्थर को लीजिए। उसे समय का कोई ज्ञान नहीं। पत्थर है तो बस पत्थर है। पौधा है, उसका विस्तार है। लेकिन कहीं न कहीं प्राथमिक रूप से उसमें समय का बोध है। इसे विज्ञान ने भी सिद्ध कर दिया है। पौधे को अपनी आयु का थोड़ा सा बोध होता है लेकिन अतीत का ही, भविष्य का नहीं। अब पशु को लीजिए। पशु के पास थोड़ा विकसित समय है। पशु को समय का बोध है। थोड़ा भविष्य का भी स्मरण है। इसी कारण पशु कल का भोजन इकट्ठा करता है। पौधे नहीं पक्षी को भी थोड़ा समय का ज्ञान है और भविष्य के बोध का भी। वर्षा के पूर्व अपनी व्यवस्था कर लेते हैं सभी प्रकार के पक्षी। चीटियाँ भी भोजन एकत्र करती है। भविष्य का ज्ञान है उन्हें। मतलब यह कि पशु-पक्षी दोनों को भविष्य का ज्ञान है। मनुष्य के भी समय का असीम विस्तार है। उसके पास अतीत की लम्बी यात्रा की स्मृति है। भविष्य की लम्बी यात्रा की भी है स्मृति। कितना विस्तार है समय का उसके पास। पशु के पास ऐसा कुछ भी नहीं है। पशु अपनी मृत्यु के संबंध में नहीं सोच पाता। क्योंकि वह लम्बा भविष्य है इसीलिए पशु बिल्कुल मृत्यु से निश्चिंत है। उसको मृत्यु का कोई भी अनुभव नहीं है। वह पहले से ही मृत्यु के संबंध में कोई चिन्तन-मनन नहीं करता। इसलिए वह एक प्रकार से सुखी और प्रसन्न है। मृत्यु पशु को कष्ट या पीड़ा नहीं दे पाती। जब आती है तो आ जाती है। लेकिन मृत्यु के पूर्व मृत्यु के प्रति उसमें कोई चिन्तन नहीं होता और यही कारण है कि पशु का कोई धर्म नहीं है क्योंकि धर्म जन्म तब लेता है जब मृत्यु भी कुछ समय के लिए चिन्तन का अंग बन जाती है।

मनुष्य श्रेष्ठतम् प्राणी इसलिए है कि उसे मृत्यु का बोध है लेकिन मनुष्य में भी वह श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम् है। जिसे मृत्यु के बाद के जन्मों का बोध है क्योंकि उसका समय और भी विस्तीर्ण हो गया है और उसमें भी वह मनुष्य श्रेष्ठ है और श्रेष्ठतम् है जिसे समस्त जन्मों और मृत्यु के पार परम अस्तित्व का बोध है क्योंकि उनका समय आत्यन्तिक रूप से विकसित हो गया होता है। जिसको आवागमन के पार जाने का भी बोध है। वह प्रति श्रेष्ठतम् आत्मा है।

योग ने समय के आधार पर समस्त आत्माओं का विभाजन किया है इसलिए समय को ही आत्मा का नाम दे दिया उसने। आत्मा को कोई अलग से नाम देने की आवश्यकता नहीं है। आत्मा यानी समय बोध 'टाईम कांशस्नेस'।

योग ने कहा- काल अग्नि यानी कालाग्नि वह जो समय की अग्नि है। जो समय की जीवन्त अग्नि है। तंत्र ने जिसे परम शक्ति का नाम दिया है। वह आत्मा के सिवाय और कुछ नहीं है।

अब हम चन्द्रमा पर विचार करेंगे। वेद में चन्द्रमा का महत्व है। उसकी उपयोगिता

है लेकिन वह विचलित और अस्थिर अधिक करता है। जिस चन्द्रमा पर वैज्ञानिक उतर गये। उस चन्द्रमा से वेद के चन्द्रमा से कोई मतलब नहीं है। योग तंत्र उस चन्द्रमा की चर्चा करता है जिसकी शुभ्र धवल प्रकाश की ऊर्जा मस्तिष्क को, मन को, हृदय को, प्राण को और अन्त में आत्मा को प्रभावित करती है। जैसे योग ने मनुष्य के प्राण को शोधन किया। उसी प्रकार तंत्र ने मनुष्य की अन्तःनाड़ियों का शोधन किया। शरीर की नाड़ियों को तंत्र ने दो भागों में विभक्त किया। पहले भाग की नड़ियां सूर्य से प्रभावित होती है और दूसरे भाग की नाड़ियां प्रभावित होती है चन्द्रमा से। सूर्य प्रभावित नाड़ियो को सूर्य नाड़ी कहते हैं चन्द्रमा से प्रभावित नाड़ियों को कहते हैं चन्द्र नाड़ी। सूर्य नाड़ी उत्तेजक है, गर्म है, उष्ण है, आग्नेय है। चन्द्र नाड़ी है सौम्य, शान्त, शीतल, मौन। तंत्र के अनुसार दोनों प्रकार की नाड़ियों के सामञ्जस्य से मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण होता है। सूर्य और चन्द्रमा के गुणों के मिश्रण से मानव अस्तित्व निर्मित है। इन दोनों प्रकार की हजारों नाड़ियों के सन्तुलन का नाम ही तंत्र साधना है। सन्तुलन बनाए रखने वाला तंत्र साधक हर स्थिति में, हर अवस्था में और हर प्रकार के वातावरण में एक सा रहता है। कोई परिवर्तन नहीं होता उसमें। न तो प्रभावित ही वह होता है किसी से। सूर्य जीवेषणा का आधार है। सूर्य वासना है। उसके उदय होते ही जगत वासनाग्रस्त हो जाता है। जीवन की लहरें दौड़ने लगती हैं। सारे जीव, सारे प्राणी जीवन्त हो उठते हैं। सूर्य के अस्त होते ही रात का अन्धेरा फैल जाता है। समस्त प्राणी निद्रा की गोद में समाने लगते हैं। धीरे-धीरे शान्ति का अनुभव करने लगते हैं और अन्त में सुषुप्ति की गहरायी में चले जाते हैं। उस समय चन्द्र नाड़ियां चन्द्रमा की ओर ले जाती है। शान्ति की ओर ले जाती है। शून्य की अवस्था में ले जाती है। इन सब अनुभव का नाम चन्द्रमा है और चन्द्रमा को जो उपलब्ध हो जाता है वह अपने आपमें विराट का करता है अनुभव और इस अनुभव में जीवन तो है लेकिन इतना शान्त जैसे मृत्यु। यह वही तंत्र साधकों की अवस्था है जहां मृत्यु और जीवन दूध पानी की तरह मिल जाते हैं आपस में। गंगा माँ बोली- सोचो जरा, कैसी होती होगी साधकों की वह अवस्था। सम्भवतः योगी उसी अवस्था को निर्विचार समाधि कहते हैं। कुछ भी नहीं, शून्य भी नहीं, शून्य से भी परे।

वह कैसा अनुभव था? इतना बोल कर गंगा माँ ने स्थिर किन्तु तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी ओर देखा। क्या था उनकी प्रज्जवलित आँखों में? जलती हुई आँखें। पूरा मस्तिष्क सनसनाने लगा एकबारगी। बाद में ऐसा लगने लगा कि सारे शरीर में चीटियाँ रेंग रही हो। बड़ी ही विचित्र स्थिति हो गयी थी मेरी लेकिन कुछ देर बाद बाह्य चेतना लुप्त हो गयी मेरी। फिर भी मेरा आन्तर बोध बना रहा। यदि न रहता तो कैसे देखता और

कैसे करता मैं अनुभव। उस विकट और विलक्षण स्थिति में अपने शरीर से अलग हो गया था मैं। बस!,देख रहा था मैं अपने सामने पारदर्शक रूप में बैठे अपने शरीर को। मेरे पारदर्शक शरीर के चारो ओर रूपहले रंग का चमकता हुआ वलय था। मैं शरीर की एक-एक हड्डी को देख रहा था। नस-नाड़ियों में बहते हुए खून को भी देख रहा था। लाखों की संख्या में क्रियाशील मस्तिष्क कोशिकाओं को देख रहा था। शरीर में प्राण का स्पन्दन कहां-कहां हो रहा था वह भी स्पष्ट था मेरे सामने। हृदय की धड़कन भी देख रहा था मैं। हृदय के ऊपर एक छोटा सा गोल छिद्र सा था। जब हृदय धड़कता तो उसके साथ ही वह रहस्यमय छिद्र प्रकाशित हो उठता था। निश्चय ही वह आत्मा का प्रकाश था इसमें सन्देह नहीं। मुझे ऐसा लगा कि कोई अज्ञात अदृश्य शक्ति अपने प्रभाव में लेने का प्रयास कर रही है और मैं विवश होता जा रहा हूँ और फिर मैं अपने आपको एक हिमाच्छादित स्थान पर पाया। वातावरण में अजीब सा सन्नाटा बिखरा हुआ था। चारो ओर सायं-सायं कर रहा था। हत्प्रभ सा देखने लगा मैं सिर घुमाकर चारो तरफ और अचानक मेरी नजर एक जगह स्थिर हो गयी और जहां स्थिर हुई थी वह था एक गुफा का द्वार। झांक कर देखा गुफा के भीतर अन्धेरा था। न जाने कैसे और क्यों गुफा के भीतर चला गया मैं। अन्धेरा होने के पश्चात् भी मैं चलता गया चलता गया। अचानक मेरे पैर थम गये और जहां थमे थे वहां घोर अन्धेरे में भी दिख गया पद्मासन में बैठा एक व्यक्ति। चौक पड़ा मैं एकबारगी। इस अन्धेरी गुफा में कौन है यह? थोड़ा रोमाञ्च भी हो आया और तभी गुफा में एक गम्भीर स्वर गूंज उठा, यहां कैसे आना हुआ? कौन हो तुम?....तुम जो भी हो अपने छाया शरीर में हो। स्थूल शरीर तो काशी में है।

सब कुछ सुना मैंने मौन भाव से। फिर स्वयं प्रश्न किया- आप कौन हैं और कब से इस गुफा में साधनारत हैं? आप निश्चय ही कोई साधक हैं। अंधेरे में फिस्-फिस् कर हँसने की आवाज सुनायी दी। क्या कहना चाहता है वह अज्ञात? ....इस शरीर का नाम तो मैं नहीं जानता। अपना नाम जानता हूँ। मेरा नाम मणिरत्न है। हाँ 'था' कभी दो सौ वर्ष पहले। अब तो केवल नाम के स्थान पर 'मैं' ही रह गया है। शरीर नष्ट हो जाने पर 'मैं' ही शेष रह जाता है और उसी 'मैं' को लेकर दो सौ वर्षो से अशरीरी जीवन व्यतीत कर रहा था मैं। अशरीरी अवस्था में साधना सम्भव नहीं। भटकता रहा, भटकता रहा। पुनर्जन्म के लिए व्याकुल था। तरस रहा था शरीर के लिए लेकिन हम जैसे लोगों के लिए शरीर एक सपने के सिवाय और कुछ नहीं। संयोग ही कहिए इस गुफा में पड़े एक योगी के मृत शरीर पर मेरी दृष्टि पड़ी। प्रसन्न हो उठा मैं। चलो, इसी शरीर के माध्यम से थोड़ी साधना कर लूँ और मैं इस शरीर

में योगबल से प्रवेश कर गया। बाद में पता चला कि जिस योगी का यह मृत शरीर है उसका नाम प्रणवानन्द था और उसकी आत्मा योगाश्रम को हो गयी है उपलब्ध। परकाया प्रविष्ट मणिरत्न की कथा सुनकर दंग रह गया मैं एकबारगी। सब कुछ समझते देर न लगी मुझे। गंगा माँ के गुरु के शरीर में रह कर उसका उपयोग अपनी साधना के लिए कर रहा था वह साधक। कितनी आश्चर्यजनक और अविश्वसनीय बात थी। मणिरत्न मेरे विषय में न जाने कैसे सब कुछ जान समझ गये थे। बोले- जिस मार्ग पर एकाकी चल रहे हो चलो लेकिन समझ लो कोई साथ देने वाला नहीं। सांत्वना और सहानुभूति के दो शब्द के लिए भी तरसना पड़ता है। एकाकीपन की अनुभूति सिवाय रूलाने के और कुछ नहीं करती। इस शरीर की अवधि समाप्त हो जाने के बाद तुमसे काशी में अवश्य मिलूँगा मैं। क्या प्रणवानन्द के द्वारा मिलेंगे आप।

हाँ! ऐसा ही समझो।

उस महायोगी के अन्तिम वाक्य के साथ ही गहन शून्य में प्रवेश कर गया मेरा अस्तित्व। निश्चय ही कालातीत अवस्था थी वह और जब उस अवस्था से उबरा तो इस संसार का पूरा आठ दिन व्यतीत हो चुका था लेकिन वह आठ दिन का समय मेरे लिए एक क्षण के बराबर था।

अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी- केदार खण्ड (हि०प्र०) में निवास करने वाले कई सन्त महात्माओं ने अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी के संबंध में जानना समझना चाहा है।

इस प्रसंग में यह ज्ञात होना चाहिए कि इस संसार में दो ही मौलिक धर्म हैं- पहला है हिन्दू धर्म और दूसरा है यहूदी धर्म। शेष सभी धर्म शाखायें और उपशाखाएं हैं। यहूदी धर्म की धारणा है कि कोई भी व्यक्ति अकेला विकसित नहीं हो सकता। यह सही भी है एक अर्थ में। व्यक्ति कभी भी अकेला हो ही नहीं सकता और होता भी तो असहाय और दीन-हीन दरिद्र ही होगा। यह थोड़ी समझने की बात है। उन महात्माओं के अतिरिक्त प्रबुद्ध पाठकों को भी गहरायी से समझना होगा। हिन्दू धर्म का कहना है कि व्यक्ति जितना एकान्त में चला जायेगा और जितना अकेले में चला जायेगा और जितना एकाकीपन का अनुभव करने लग जायेगा। उतना उसका आत्मिक विकास होगा। उन्नति करेगा। इसके ठीक विपरीत यहूदी धर्म का कहना है कि व्यक्ति जितना अकेले में जायेगा उतना ही दीन-हीन, दरिद्र होगा। क्योंकि संबंधों के अभाव में विकास सम्भव नहीं। संबंधों के बिना विकास कहां है? कहने का मतलब यह कि जितने गहन संबंध होंगे व्यक्ति उतना ही विकसित होगा। जितना आपसी संबंध होंगे व्यक्ति उतना ही विकसित होगा। आपसी संबंधों की जो आत्यन्तिक गहनता है। वह दो सम्बोधनों की निकटता है। पहला सम्बोधन है 'मैं' और दूसरा सम्बोधन है 'तू'।

किसी को हम 'तू' कहते हैं तो उसके माध्यम से हम भी एक ऊँचाई पर पहुँच जाते हैं। जब हम किसी को स्नेह से प्रेम से पुकारते हैं तो उस पुकार में ही हम भी बदल जाते हैं। यह आयाम अपने आपमें अवश्य मूल्यवान है।

जीवित विचारक मार्टिन ब्रूअर की एक पुस्तक है। नाम है 'आई एण्ड दाउ' यानी 'मैं' और 'तुम'। उसने अपनी पुस्तक में एक स्थान पर लिखा है- जीवन का जो श्रेष्ठतम् अनुभव है। वह 'मैं' और 'तू' की आत्यन्तिक संबंध की स्थिति में निर्मित होता है।

इस संसार में दो प्रकार के लोग हैं इसलिए पूरब और पश्चिम दो प्रकार का प्रतीक बन गया। कार्लजुंग ने भी दो प्रकार का व्यक्तित्व माना है। जो अपने आपमें ठीक और उचित है। एक है एक्स्ट्रोवर्ट (बहिर्मुखी) और दूसरा है इन्टोवर्ट (अन्तुर्मखी)। अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का विकास एकान्त में होता है। आप जितना एकान्त में जायेंगे उतना ही आपका अन्तर्मुखी व्यक्तित्व का विकास होगा जो योग के लिए आवश्यक है। यदि आपके अकेलेपन में कोई दूसरा भी है। तो वह विकास अवरूद्ध हो जायेगा। जब आप भीड़ से वापस लौटते हैं तो बेचैन रहते हैं। घबड़ाये रहते हैं। आपको लगता है कि कुछ गवां कर लौटा हूँ। जब आप किसी से बातें करते हैं तो आपको लगता है कि नीचे जा रहे हैं और जब किसी से मिलते हैं तो किसी प्रकार के विघ्न का अनुभव होता है और यही कारण है योगी कम मिलते हैं और कम बातें करते हैं। जब मौन रहते हैं। एकान्त में रहते हैं। अकेले रहते हैं तो आपको लगता है कि आप स्वच्छन्न हैं और आकाश में उन्मुक्त विचरण कर रहे हैं। पूरब इस अन्तर्मुखी का प्रतीक है। इसलिए पूरब में हिन्दू धर्म और उससे जन्म लेने वाले अन्य धर्मों ने सबसे अधिक जोर दिया एकान्त पर, अकेलेपन पर, संबंधों से छुटकारे पर और मुक्ति पर। इसी प्रकार पश्चिम में यहूदी धर्म और उस धर्म से निकलने वाले अन्य धर्मों ने जोर दिया भीड़ पर, संबंधों पर, रिश्तों पर। वह कहता है अकेले में आदमी मर जायेगा। क्षीण हो जायेगा। उसका विकास रुक जायेगा। संबंध जितना बढ़ेगा, उसकी स्मृति जितनी बढ़ेगी, उतनी ही आदमी की चेतना भी विकसित होगी।

भारत के संन्यासी को लीजिए। पत्नी बच्चे उसके साथ नहीं रहेंगे। वह समाज के साथ जुड़ा नहीं रहेगा। प्रायः एकान्त में रहेगा। अन्तर्मुखी होगा। बातें कम करेगा। भीड़ से भागेगा, यदि वह सच्चा संन्यासी है तो। लेकिन यहूदी फकीर बिना पत्नी और बच्चों के नहीं रहेगा। भीड़भाड़ में घूमेगा और घूम-घूम कर अल्ला खुदा कमाण्डेन्ट की चर्चा करेगा। समाज से भागेगा नहीं। अधिक से अधिक जुड़ने का प्रयत्न करेगा। क्योंकि वह बहिर्मुखी को उपलब्ध है। उसका एकमात्र उद्देश्य होता है दूसरे से जुड़ना समाज से जुड़ना। तभी उसका भी विकास होगा।

परमात्मा को पाने का उपाय क्या है? इसी प्रसंग में साधु-सन्त और महात्माओं ने प्रश्न किया है कि आपका क्या विचार है परमात्मा को पाने की दिशा में? इस संबंध में मेरा एक प्रश्न है और वह यह कि परमात्मा को प्राप्त कर करेंगे क्या? पहले आत्मा को तो पहचानें। परमात्मा तो दूर की बात है। पहले आत्मा को तो हों आप उपलब्ध। परमात्मा की खोज तब अच्छी लगेगी और उसकी आवश्यकता पड़ेगी जब आप आत्मा को जान समझ लेंगे और आत्मा को उपलब्ध हो जायेंगे तो फिर आप परमात्मा की चर्चा ही नहीं करेंगे। क्योंकि परमात्मा आत्मा के बिल्कुल निकट है। समझ लें दूध पानी की तरह मिला हुआ है आत्मा से।

स्थानाभाव के कारण हम 'तू' और 'मैं' को लेकर इस विषय पर थोड़ा और प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे, अधिक नहीं। यहूदी धर्म की धारणा है कि अन्त में व्यक्ति मैं रह जायेगा और 'तू' हो जायेगा विराट, सर्वव्यापक परमशून्य। तब जो मिलन होगा। उसमें व्यक्ति की आत्मा पूर्ण विकास को उपलब्ध होकर विराट में विलीन हो जायेगी।

हिन्दू धर्म को इसलिए सर्वश्रेष्ठ और सर्वोच्च माना गया है कि उसकी चिन्तन यह है कि जबतक 'तू' तू जैसा स्पष्ट है और 'मैं' मैं जैसा स्पष्ट हूँ तबतक कितना भी संबंध गहन से गहनतम् हो जाये लेकिन अन्तिम नहीं है। अन्तर तो रहेगा ही। दूरी तो बराबर बनी ही रहेगी सदैव। प्रेम को ही लीजिए। मैं किसी से कितना भी प्रेम करूँ और जबतक वह मुझे 'तू' मालूम पड़ रहा है और मैं 'मैं' मालूम पड़ रहा हूँ। हम कितना ही निकट आ जाये, दूरी बनी ही रहेगी। दूरी दूर नहीं होगी कभी 'तू' और 'मैं' की। आनन्द तो इस बात का है कि दूरी जितनी कम होती है उतनी ही अधिक परेशान करती है और अखरती भी है और चुभती भी है। दूरी जितनी अधिक हो, उसका पता नहीं चलता। पता तो तब चलता है जब दूरी कम हो जाती है। तब बहुत पीड़ा देती है इसलिए प्रेमी जिस पीड़ा को झेलते हैं। उसका आन्त्यतिक कारण होता है दूरी का कम हो जाना। जो रहती है और मिटती नहीं। प्रेमी आशा करता है कि दूरी मिट जायेगी कभी, लेकिन मिटती नहीं। आशा, आशा ही रह जाती है। दूरी जितनी कम होती है एक अर्थ में उतनी ही अधिक होती है प्रतीत। इसी प्रकार परमात्मा के हम कितने भी समीप पहुँच जायें प्रेमी की तरह। लेकिन 'मैं' और 'तू' की भाषा में दूरी बनी ही रहेगी परमात्मा से।

आत्मा परमात्मा के विषय में उपनिषद का गहरा अध्ययन करना चाहिए। उपनिषद का कहना है सर्वभूतों में ज्ञानी, प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक प्राणी में परमात्मा का दर्शन होने लग जाये। जिधर देखें उधर परमात्मा ही परमात्मा का अनुभव होने

लग जाये। इसी प्रकार स्वयं अपने आपमें भी उसका अनुभव और दर्शन होने लग जाये और जबतक 'मैं' 'तू' जैसा न हो जाये, तबतक दूरी बनी ही रहेगी। समझ लीजिए यह अन्तिम छलांग है। जिसमें प्रेमी प्रेयसी हो जाता है और प्रेयसी प्रेमी हो जाती है। द्वैत समाप्त हो जाता है। अद्वैत हो जाता है। इस छलांग में भक्त भगवान हो जाता है और इस अवस्था को सर्वोच्च अवस्था कहते हैं आत्मा की। इस अवस्था में कौन, कौन है इसका ज्ञान ही रहता। विचार नहीं रहता। आशा है सन्त समाज और प्रबुद्ध धारणा को और मेरे विचार को समझ गये होंगे। अब हम आगे चलते हैं।

•••

उस परम और दिव्य अनुभव के बाद मेरे आन्तरिक जीवन में तीव्र गति से होने लगा था परिवर्तन। वह परिवर्तन कैसा था, उसे बतला नहीं सकता था। उस अनर्वचनीय स्थिति में जो कुछ देखा सुना था। वह सब विस्तार से बतला दिया था मैंने गंगा माँ को। सब कुछ सुनने के बाद कुछ बोली नहीं वह, बस शून्य में काफी देर तक निहारती रही। शायद गुरु का स्मरण हो आया था उनको। उसके बाद कलकत्ता प्रवास के कारण चार-पांच महीने जाना न हो सका गंगा माँ के यहां और जब एक दिन गया तो देखा समाधि में बैठी हुई थी गंगा माँ।

स्वस्थ शरीर योग के लिए आवश्यक– थोड़ी देर बाद आंखे खोलकर मेरी ओर देख कर बोली– स्वास्थ्य ठीक नहीं है क्या? हाँ! माँ इधर यात्रा पर था और कुछ जागतिक समस्यायें भी थी मैंने कहा। शरीर है और संसार तो समस्यायें भी हैं। आवश्यकता तो शरीर की होती है लेकिन उसकी पूर्ति के लिए इच्छा उत्पन्न होती है मन में। योग साधना हो या हो तंत्र साधना। दोनों की मांग स्वस्थ शरीर है। शरीर यदि स्वस्थ नहीं है तो साधना मार्ग में आगे कैसे बढ़ोगे? अधिक दूर न जा सकोगे मार्ग में। तुम्हारी बीमारी, तुम्हारी बेचैनी, तुम्हारी चिन्ता और तुम्हारी परेशानी, तुम्हारी आन्तरिक ऊर्जा के वर्तुल को तोड़ देगी और टूट जायेगी तो फिर क्या करोगे। ध्यान और समाधि में बैठ नहीं सकोगे। बैठ सकोगे शन्तिपूर्वक बोले। अशान्ति और बेचैनी का अनुभव करोगे उस समय। तुम्हारी इच्छा होगी आराम करने की। क्योंकि तुम्हारे शरीर की ऊर्जा निम्न तल पर होगी अशान्ति और बचैनी की स्थिति में। तुम प्रार्थना पूजा अर्चना आदि करने बैठोगे तो असहज रहोगे, चिन्तित रहोगे, मन भी चंचल रहेगा। ऐसी स्थिति में कैसे आध्यात्मिक उन्नति करोगे तुम। समझने का प्रयत्न करो। साधना मार्ग में स्वस्थ शरीर, निरोग शरीर, स्वस्थ मन, स्वस्थ-स्व-सत्ता की आवश्यकता है। रोग, जिसे मेडिकल साइंस कहता है 'डिसीज' यानी डिस-ईज जिसका अर्थ है देह ऊर्जा की असहजता।

उसे सहज कैसे बनाया जा सकता है- मेरा प्रश्न था। देह ऊर्जा को सहज बनाने के लिए ओम और उसकी अन्तर्ध्वनि अति सहयोगी सिद्ध होती है। ओम का उच्चारण बीस पच्चीस बार बाहर करो। फिर उसी प्रकार अपने भीतर करो। जब समय मिले, जब मन खाली रहे ओम का उच्चारण बाहर भी करो और उसी प्रकार भीतर भी करो। ऊर्जा का वर्तुल बनने लगेगा। देह की ऊर्जा सहज होने लग जायेगी। तब तुम जो कुछ भी करोगे, वह सफल होगा। शरीर स्वस्थ रहने लगेगा। मन भी शान्त होने लगेगा। साधना पूजा अर्चना में मन भी लगने लगेगा।

थोड़ा रूककर गंगा माँ आगे बोली- महाभारत काल में योग अपनी चरम सीमा पर था। उन्नति के शिखर पर था। अर्जुन जैसे लोग सशरीर इन्द्र से मिलने जाया करते थे। सहयोग देवताओं को देते थे और सहयोग लेते भी थे। लेकिन महाभारत की युद्धाग्नि में योग का अस्तित्व जल कर भस्म हो गया। हजारों वर्ष बाद महामुनि पतंजलि हुए। उन्होंने तात्कालीन देश, काल और प्राकृतिक स्थितियों को देखकर योग के केवल आठ अंग को ही प्रकाशित किया। वही अष्टांग योग की परम्परा अभी तक चली आ रही है। उसके पहले और उसके बाद क्या है? वह अंधेरे में है और यही मूल कारण है कि आठों अंग से केवल ध्यान और समाधि पर ही मैंने जो कुछ लिखा वह लिखा कैसे? यदि देखा जाय तो अष्टांग योग के अतिरिक्त जो कुछ है उस पर प्रकाश डालने की मेरी चेष्टा थी और आगे भी रहेगी। गंगा माँ का कहना था कि शरीर में कोई भी रोग तभी उत्पन्न होता है, जब दैहिक ऊर्जा और प्राण ऊर्जा के वृक्ष से उत्पन्न होने वाली विद्युत में कोई गड़बड़ी होती है। जबतक गड़बड़ी रहेगी तबतक रोग बना रहेगा। उस गड़बड़ी को ठीक करने का एकमात्र उपाय है 'ओम'। आप देखेंगे कि प्रायः मन्दिरों में ऊपर गुम्बज बना हुआ रहता है। इसलिए कि ध्वनि परिवर्तन हो। इसका वैज्ञानिक रहस्य है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि मन्दिरों और मस्जिदों में क्यों बना रहता है गुम्बज। इसलिए कि उसके नीचे और देवता के सामने अथवा किसी आकार के सामने बैठकर गम्भीर स्वर में मुख को गोलकर ओम का उच्चारण करें। बार-बार करें। सहजभाव से करें। आप जानते हैं इससे आपको क्या लाभ होगा? पहले आपको यह बतला दूँ कि दो ऐसी ध्वनियां हैं जो तत्काल सम्पूर्ण विश्व में विकीर्ण हो जाती है और प्रत्यावर्तित होकर पुनः वापस लौट आती है। पहली ध्वनि है ओम की और दूसरी ध्वनि है शंख की।

ओम की ध्वनि गुम्बज में वृत्ताकार टकराकर प्रत्यावर्तित होगी और आपके शरीर से टकरायेगी और आपके शरीर का विद्युत चुम्बकीय तत्व उसे खोज लेगा। जिसके फलस्वरूप आपके सारे शरीर में वह ध्वनि फैल जायेगी लेकिन इसके लिए

शरीर को खुला रखना आवश्यक है। दक्षिण भारत में इस नियम का साधना-उपासना के समय अत्यधिक पालन होता है। मंदिर के पण्डितों और पुजारियों को देखे, नंगे बदन मिलेंगे आपको। सिर का भाग अत्यधिक ध्वनि शोषक है इसलिए प्रायः साधक उपासक पण्डित पुजारीगण सिर को केश रहित रखते हैं। ध्यान के समय पूजा, अर्चना के समय, मंत्रोच्चारण के समय ऊपर का शरीर निर्वस्त्र और मुण्डित सिर होना ही चाहिए, तभी आपका मस्तिष्क और आपका शरीर ध्वनियों को उपलब्ध हो सकेगा। जिसका सुखद परिणाम यह होगा कि मस्तिष्क में सुखद, सुन्दर और ग्रहणीय विचारों का उदय होगा। मन को भी सुखद अनुभूति होगी। शरीर स्वस्थ और प्रसन्न रहेगा। एकाग्रता सधेगी। मन चंचल नहीं होगा। विषयाशक्ति न होगी। चेहरे की कान्ति भी बढ़ेगी और व्यक्तित्व में भी आकर्षण उत्पन्न होगा।

इस प्रसंग में आपको यह भी बतला देना आवश्यक है कि इसी कारण सभी मंत्रों के प्रारम्भ में चाहे वह वैदिक हो, तांत्रिक हो या हो पौराणिक ॐ का प्रयोग होता है। यदि प्रयोग न हो तो मंत्र की वर्णाक्षर शक्ति एकत्र न होगी। बिखर जायेगी। फिर कोई लाभ नहीं। ॐ मंत्र के बीजाक्षरों एवं वर्णाक्षरों की अलग-अलग शक्तियों को अपने आपमें समाहित करता है। समाहित न हो तो उसका कोई परिणाम नहीं। मंत्र जप के समय ॐ को उच्चारित कर तब आगे बढ़ना चाहिए। ॐ को मंत्र के साथ संयुक्त करने से उसका मन पर प्रभाव पड़ता है। क्योंकि मंत्रों का संबंध सर्वप्रथम मन से है और तब प्राण से है। शंख ध्वनि के संबंध में भी ऐसा ही है। मन्दिर के गुम्बज के नीचे देवता के सामने मन को एकाग्र कर तीन बार शंख बजाइये। उसकी प्रतिध्वनि से लगभग वही लाभ होगा जो ओम के उच्चारण से होता है। यदि आप तीन के बाद दो और बार बजाते हैं तो तीन दोषों से आप धीरे-धीरे मुक्त हो जायेंगे। पितृ दोष, ग्रह दोष, भूत-प्रेतादि दोष। बजाकर के तो देखिए। अपना अनुभव है।

तात्पर्य यह है कि साधना के लिए स्वस्थ रहना आवश्यक है। मन से, तन से और प्राण से। भारतीय शब्द 'स्वस्थ' का अर्थ है- 'स्व' में (अपने आपमें) स्थित हो जाना, केन्द्रित हो जाना। हिन्दू धर्म में एक महापर्व है- होली। फाल्गुन पूर्णिमा को होलिका दहन का त्योहार मनाया जाता है। अपने असद्विचारों को जनसाधारण लोग गाली गलौज के रूप में बाहर निकालते हैं। कहने की आवश्यकता नहीं इसी होली शब्द से अंग्रेजी का हेल्थ शब्द बना है। हेल्थ शब्द के मूल में होल है। जहां आप 'होल' होते है यानी सम्पूर्ण रूप से हेल्दी होते हैं तब आप होली अर्थात पवित्र होते हैं।

साधना मार्ग में बाधक- साधना में रोग तो बाधक है ही उसके अतिरिक्त निर्जीवता, सन्देह, प्रमाद, आलस्य विषयाशक्ति, भ्रान्ति, दुर्बलता और अस्थिरता ये आठ और बाधक हैं। ये ८ बाधाएं मन में विक्षेप उत्पन्न करती है।

'रोग' निवारण के लिए दो प्रकार की ध्वनियों की चर्चा की है मैंने। ध्वनि क्या है? विद्युत का रूपान्तरण है। जहां विद्युत है वहां ध्वनि है और जहां ध्वनि है वहां विद्युत है। ओम और शंख की ध्वनि में असीमित विद्युत होती है। आरोग्य की दृष्टि से योग ने आयुर्वेद को काफी महत्व दिया है। रोग के प्रति आयुर्वेद की अवधारणा सबसे अलग है। उसका कहना है कि अस्वस्थता का दमन नहीं करना चाहिए। उससे स्थायी रूप से मुक्त हो जाना चाहिए। मुक्ति के लिए रेचन की आवश्यकता है। इसके लिए योग के अनुसार आयुर्वेदिक औषधियां उपयुक्त हैं। उनके सेवन से स्वस्थ होने में समय अवश्य लगता है क्योंकि वह दमन नहीं है। आयुर्वेद की लम्बी प्रक्रिया है। वह आन्तरिक रूप से स्वस्थ कर देती है। अन्य औषधियां रोग को दमित करती है। जड़ से नहीं निकाल पाती। आयुर्वेद का महत्व इसलिए भी है कि वह आपकी आन्तरिक ऊर्जा को एक समस्वरता प्रदान करता है। ताकि स्वस्थता भीतर से बाहर आ सके। आयुर्वेद सूक्ष्म शरीर पर अधिक ध्यान देता है। जो भी रोग उत्पन्न होता है वह सर्वप्रथम सूक्ष्म शरीर में होता है उत्पन्न। स्थूल शरीर में उसे प्रकट होने में लम्बा समय लगता है। आयुर्वेद सूक्ष्म शरीर से रोगों को बाहर निकालता है। रोग निवारण होने पर उसका स्थान भरती है आपकी स्वास्थ्य दायिनी अपनी शक्ति।

योग और आयुर्वेद– यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो योग और आयुर्वेद का आविर्भाव एक साथ हुआ। दोनों एक साथ विकसित हुए और एक साथ ही क्रमशः उन्नति भी करते चले गये। एलोपैथिक से समग्र रूप से भिन्न है आयुर्वेद। एलोपैथिक की रोगों के प्रति दमनात्मक प्रवृत्ति है। वह रोग को नष्ट नहीं करता दमन करता है और दमन किया गया रोग समय पाकर पुनः उत्पन्न होता है। एलोपैथिक ईसाईत के साथ विकसित हुई। यह एक उपपत्ति है। वह तुरन्त रोग का दमन तो कर देती है। रोग को ठीक कर देती है लेकिन वही बीमारी और वही रोग शरीर में कहीं न कहीं और किसी न किसी रूप में पुनः उभरेगा और फिर उसकी दवा चलेगी। फिर रोग का दमन हो जायेगा। कालान्तर में फिर वही रोग दूसरे रूप में सामने आयेगा। यह सिलसिला चलता रहेगा। एलोपैथिक दवा होती रहेगी। डॉक्टर नयी-नयी सलाह देता रहेगा और इधर शरीर कमजोर भी होता जायेगा। आयुर्वेद की अवधारणा अलग है। वह रोग का दमन नहीं करता बल्कि रोग से शरीर को मुक्त करता है। इसके लिए रेचन आवश्यक है। एलोपैथिक शरीर को महत्व देता है। शरीर के तल पर वह चिकित्सा करता है। जबकि आयुर्वेद के लिए सूक्ष्म शरीर महत्वपूर्ण है। जैसाकि बतलाया जा चुका है। यदि आप साधक हैं तो कभी भी एलोपैथिक दवा न लें। किसी भी स्थिति में मत लें। एलोपैथिक दवा अवश्य तत्काल लाभप्रद सिद्ध होता है लेकिन

रोग का निवारण नहीं करती। उसका दुष्प्रभाव मन, मस्तिष्क और शरीर पर तत्काल पड़ता है। पाचन शक्ति और विचार शक्ति क्षीण होने लगती है। साधना काल में यदि कोई रोग उत्पन्न हो भी जाता है किसी कारणवश तो आप पहले उससे संघर्ष करें और साथ ही ओम की विधि अपनाएं। ध्यान करें, जप करें। यह आपके लिए मृदु और साम्य सिद्ध होगा। प्राकृतिक चिकित्सा भी आपके लिए लाभप्रद होगी और जब रोग क्षीण होने लगे तब आप आयुर्वेदिक अथवा होम्योपैथिक दवाएं लें। होम्योपैथिक भी सूक्ष्म शरीर को ही महत्व देता है लेकिन उसकी दवाओं का शनैः-शनैः किन्तु स्थायी रूप से प्रभाव पड़ता है।

निर्जीवता दूसरी बाधा है। आपके शरीर में तीन प्रकार की ऊर्जाएँ काम करती हैं, मनो ऊर्जा, प्राण ऊर्जा और दैहिक ऊर्जा। ये तीनों मिलकर जीवनी शक्ति को सक्रिय करती हैं। तीनों ऊर्जाओं के मिश्रण रूप के चार तल हैं। उन चारों तल के अपने- अपने और भिन्न-भिन्न प्रभाव हैं। पहले तल को निम्नतल माना जाता है। जिस व्यक्ति में निम्नतल की ऊर्जा है वह व्यक्ति मानसिक और शारीरिक रूप से शिथिल होता है। वह एक प्रकार से निर्जीव व्यक्ति होता है। जीवन्तता उसमें नहीं होती। वह बातें काफी लम्बी-चौड़ा करेगा। वह ईश्वर की, परमात्मा की, मोक्ष की, नर्क स्वर्ग की, योग की, धर्म की ,साधना की और देवी-देवताओं की बातें करेगा। वेद, शास्त्र, पुराण और तंत्र मंत्र की भी खूब बढ़ा कर चर्चा करेगा लेकिन स्वयं कुछ करेगा नहीं। बस, बातें करेगा और करेगा चर्चा। करने के लिए अपार ऊर्जा चाहिए। जो उसके पास नहीं होती। जो भी उसके पास ऊर्जा होती है उसे भी बातें करने में, चर्चा करने में बराबर नष्ट करता रहेगा। ऐसे ही निम्न तल की ऊर्जा वाले लोग जो बातें खूब करते हैं और करते कुछ भी नहीं। वे पादरी बनते हैं, पुरोहित बनते हैं, प्रवचनकर्ता बनते हैं, कथावाचक बनते हैं, धर्मगुरु बनते हैं, उपदेशक बनते हैं, दीक्षा गुरु बनते हैं और बनते हैं धर्माचार्य। वे बहुत ही निपुण होते हैं बात व्यवहार में। इतना निपुण कि लोग धोखा खा जाते हैं क्योंकि वे हमेशा महान और सुन्दर चीजों के विषय में बोलते हैं। लोग सुनते ही धोखे में आ जाते हैं। ये सभी लोग निर्जीव और शिथिल हैं। उनके पास निम्नस्तर की ऊर्जा है और जब वह ऊर्जा भी समाप्त हो जाती है तो निढाल हो जाते हैं। थकान का अनुभव करते हैं। प्रातः जब सोकर उठते हैं तो बेचैन रहते हैं। चिड़चिड़े रहते हैं। उनका चेहरा देखने से आपको लगेगा कि श्मशान से उठकर अभी चले आ रहे हों जैसे। इसी सबके कारण इस प्रकार के लोग प्रातः उठते ही सबसे पहले चोंगा बदलकर तुरन्त मस्तक पर भस्म का लेप लगा लेते हैं। दाढ़ी बाल को रंग लेते हैं। गले में तुरन्त दुनिया भर की मालाएं पहन लेते हैं। स्नान किया हो या

न किया हो, इससे कोई मतलब नहीं और फिर तैयार हो जाते हैं उपदेश देने और व्याख्यान देने के लिए और देने के लिए प्रवचन। सहयोग देने के लिए हैं ही दर्जनों चेले-चेलियाँ। महापुरुष लोग कभी भी अपने ऊर्जा तल को विकसित करने का प्रयास नहीं करते। क्यों करेंगे भला उन्हें अवकाश कहां। वे तो यही सोचते समझते हैं कि भारत के अध्यात्म का भविष्य तो उनकी मुट्ठी में है।

निम्न ऊर्जा तल को विकसित करिए तभी जीवन को जी सकोगे सच्चे रूप में। तब समझेंगे जीवन के मूल्य को। आपको पता नहीं है, हर पल, हर क्षण आपका जीवन सरक रहा है और आप हैं कि निर्जीव और शिथिल पड़े हैं। कोई ठोस सोच नहीं, कोई दृढ़ विचार नहीं और न तो कोई स्वस्थ उद्देश्य ही। योग कहता है कि वास्तव में जीवन को जीना चाहते हैं और अपने लिए कुछ विशेष करना चाहते हैं तो ऊर्जा को विकसित करिए। आपकी ऊर्जा, आँखों से, हाथ पैर की उंगलियों से और सिर से बराबर निकलती रहती है। उनके बाहर न निकल देने के लिए उनको सुरक्षित रखने के लिए और उनको बराबर विकसित करने के लिए योग मुद्राए हैं और योगासन है उन्हें अपनाइये। आप देखेंगे, जो सच्चे अर्थों में साधक हैं, योगी हैं, वे सदैव सिर को कपड़े से ढांके रहते हैं ताकि सिर की ऊर्जा बाहर न निकले। दोनों हाथ की उंगलियों को आपस में बराबर मिलाए रखते हैं ताकि उंगलियों की शिराओं से ऊर्जा विकीर्ण न हो। पद्मासन में बराबर बैठे रहने का भी प्रयास करते हैं इसलिए कि पैरों की उंगलियों से निकलने वाली ऊर्जाएं सुरक्षित रहकर विकसित हो। ऐसे लोग अपने नेत्रों का भी उपयोग करते हैं। उनकी पलकें बराबर झुकी रहती हैं। प्रायः सिर झुकाए ही रहते हैं। केवल नेत्रों से अस्सी प्रतिशत ऊर्जा बाहर निकलती है। हम नेत्रों का उपयोग सर्वाधिक करते हैं। नेत्रों का प्राकृतिक गुण है कि वे अनावश्यक और व्यर्थ की चीजों को अधिक से अधिक देखते हैं। नेत्र कभी भी स्थिर नहीं रहते। बराबर इधर-उधर घूमते ही रहते हैं। निद्रा की अवस्था में भी घूमती रहती है अपने आपमें पुतलियां। नेत्रों के इसी गुण के कारण हम अधिक थकान अनुभव करते हैं। शरीर की ऊर्जाएँ शरीर में काम न कर बाहर निकल जाती हैं नेत्रों की सहायता से। आप कम से कम नेत्रों को बन्द करके रखें। थकान दूर हो जायेगी। क्लान्त हो गये हैं तो अपने आपमें स्फूर्ति का अनुभव करेंगे। क्रियाशीलता भी बढ़ जायेगी।

मेरुदण्ड को सीधा रखिए : योग सर्वाधिक महत्व मेरूदण्ड का यानी रीढ़ की हड्डी को देता है। क्या आप यह जानते हैं कि आपके मेरुदण्ड में चौरासी लाख योनियों के संस्कार विद्यमान हैं। आपमें देवत्व है, मनुष्यत्व है, राक्षसत्व है और पशुत्व भी है। इन चारों तत्वों का उपयोग प्रयोग आप समय-समय पर करते रहते हैं। कभी आप

देवता बन जाते हैं। कभी मनुष्य बन जाते हैं। कभी राक्षस बनकर गाली गलौज मारपीट यहां तक कि हत्या भी कर देते हैं किसी की। कभी-कभी तो आप पशु से भी नीचे गिर जाते हैं। सोचिए जरा। हम ठीक कह रहे हैं न। जानते हैं इन सबका कारण आपके मेरुदण्ड में छिपी चौरासी लाख योनियों का प्रभाव है। आप जरा ध्यान से देखें। जो योगी है वह तन कर बैठता है। मेरुदण्ड को सीधा रखता है। जानते हैं क्यों? इससे दैहिक ऊर्जा की रक्षा होती है। उसकी वृद्धि होती है। मन शान्त रहता है। यदि वह उस अवस्था में थोड़ा सिर झुका कर बैठा होता है तो उसके फलस्वरूप सबसे बड़ा लाभ यह होता है कि उसका मनो ऊर्जा और प्राण ऊर्जा दोनों में सामञ्जस्य स्थापित हो जाता है। जो शरीर के भीतर एक विलक्षण ऊर्जा को जन्म देता है। उस समय उसी विलक्षण ऊर्जा के प्रभाव से योगी की वाणी से जो शब्द निकलते है वे दर्शन होते हैं, वेदान्त होते हैं, शास्त्र होते हैं। उनमें ओज होता है, प्रखरता होती है और होती है प्राञ्जलता। आपको ज्ञात होना चाहिए कि दैहिक ऊर्जा का शोषण सर्वाधिक पृथ्वी करती है और जब मेरुदण्ड सीधा रहता है तो उस अवस्था में शोषण नहीं हो पाता। पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण का प्रभाव शरीर पर नहीं पड़ता। गुरुत्वाकर्षण रीढ़ के आधार पर केवल एक स्थल का स्पर्श करता है और वह स्थल है मूलाधार। जब आप झुककर बैठे हुए होते हैं। अधलेटे रहते हैं। तो आप सोचते हैं कि आराम कर रहे हैं लेकिन योग कहता है कि आप अपनी दैहिक ऊर्जा का विसर्जन कर रहे होते हैं क्योंकि आपके शरीर का अधिक मार्ग गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव में होता है उस समय। वैसे भी शरीर अधिक से अधिक पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव में ही रहता है।

यदि आप अपनी शारीरिक, मानसिक और प्राण ऊर्जा का विकास करना चाहते हैं तो पद्मासन की मुद्रा में पश्चिम मुख बैठे। दोनों हाथ की उंगलियों को एक दूसरे से फंसा कर अपनी गोद में रखिए। सिर थोड़ा झुका दे। उस पर सफेद रूमाल रख दें। आँखों को थोड़ी खुली रखे। शान्त और निर्विकार रहिए। मैं शास्त्र की बात नहीं अपने अनुभव की बात यहां बतला रहा हूँ। इससे निश्चित रूप से शिथिलता दूर हो जाती है। निर्जीवता भी दूर हो जाती है इसमें सन्देह नहीं।

यदि आप निम्नतल की ऊर्जा को बढ़ाना चाहते हैं तो वैसा ही करें जैसा बतलाया गया है। स्वस्थ और सुखी जीवन के लिए और साथ ही आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए दैहिक ऊर्जा को विकसित और संरक्षित करना आवश्यक है।

काम ऊर्जा का संरक्षण आवश्यक– नेत्र के बाद सर्वाधिक ऊर्जा का क्षय कामवासना द्वारा होता है। इस विषय के संबंध में आवाहन पुस्तक में विस्तार से प्रकाश डाला गया है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि आपके एक शुक्र बिन्दु में कल्पनातीत

ऊर्जा होती है। एक बार के बिन्दुपात में लगभग एक से पन्द्रह सौ शुक्र बिन्दु बाहर निकल कर व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। जरा सोचिए व्यर्थ सिद्ध हो जाने वाले शुक्र बिन्दुओं से लगभग पांच लाख मानव शरीर का निर्माण हो सकता है और उन शरीरों द्वारा पांच लाख आत्मा जन्म ले सकती है लेकिन प्रकृति कभी भी मुर्खता नहीं करती। कभी भी खतरा मोल नहीं ले सकती। डिम्ब में प्रकृति एक ही शुक्र बिन्दु को प्रवेश करने की व्यवस्था करेगी।

पश्चिम में विचारक ठीक इसके विपरीत हैं। वे कामवासना द्वारा ऊर्जा को निष्कासित कर देना अच्छा समझते हैं इसलिए कि उसका उपयोग दूसरे मार्ग में करना नहीं जानते पूरब की तरह। वे यह समझते है कि कामवासना द्वारा ऊर्जा का क्षय नहीं होगा तो आदमी पागल हो जायेगा। ऊर्जा का भार वहन न कर सकेगा उसका मन और मस्तिष्क। इसलिए निष्कासित कर देना ही अच्छा है। उनके लिए कामवासना सरलतम् विधि है मुक्त होने की और यही कारण है कि पश्चिम के लोग अत्यधिक मदिराव्यसनी होते हैं और किसी न किसी रूप में नवयुवतियों के बीच रहना पसन्द करेंगे। चांद पर भी जायेंगे तो कोई युवती किसी न किसी रूप में उनके साथ रहेगी। प्रयोगशालाओं में कार्यालयों में, होटलों में, संस्थाओं में और अन्य किसी सामाजिक समारोहों में, पुरुषों से अधिक युवतियों की ही भीड़ मिलेगी आपको। वे यह नहीं जानते हैं कि कामवासना का उचित उपयोग भी हो सकता है। उसे सृजनात्मक भी बनाया जा सकता है।

कामवासनात्मक ऊर्जा आपको पुनर्जन्म दे सकती है। पुनर्जीवन भी दे सकती है। उसके द्वारा आप हजारों लाखों सुखद और आनन्दमय अवस्थाओं का अनुभव भी कर सकते हैं। उसकी सहायता से उच्च से उच्चतम् शिखर पर भी पहुंच सकते हैं। कामवासनात्मक ऊर्जा सोपान है परमात्मा तक पहुंचने के लिए। यदि आप किसी किञ्चित भौतिक सुख के लिए नित्य उसको निष्कासित करते रहेंगे तो कभी भी आपकी आत्म उन्नति नहीं हो सकेगी। कभी भी आप परमात्म तत्व का स्पर्श नहीं कर सकेंगे। हम यह स्वीकार करते हैं कि पतञ्जलि का योग कामवासना के विपरीत है। इसी कारण पतञ्जलि योग और तंत्र में भेद है। तंत्र एक गुह्य और गोपनीय साधना है। उसने उच्चतम् शिखर पहुंचने के लिए योग का आशय तो लिया लेकिन पंतजलि योग, कतरा गया तंत्र से। उपेक्षा कर दी उसकी। इसका एक महत्वपूर्ण कारण यह है कि अष्टांग योग जहां समाप्त होता है वहीं से तंत्र योग की साधना शुरू होती है इसलिए पतञ्जलि की उपेक्षा का कोई महत्व नहीं हैं।

सम्पूर्ण सृष्टि मैथुनी है। मिथुन जन्य है। दोनों ओठों का मिलना भी मैथुन की

परिभाषा में आता है। कामवासना को आध्यात्मिक साधना का रूप देना, तंत्र की एक सर्वोच्च गुह्य कला है। इस कला में पारंगत होना और उसका मर्मज्ञ होना ही तंत्र साधना है।

वैसे यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो योग और तंत्र का गन्तव्य एक ही है। इस प्रकार योग और तंत्र एक दूसरे के पूरक हैं। पचास प्रतिशत लोग केवल योग मार्ग पर चलना चाहते हैं और पचास प्रतिशत स्वीकार करना चाहते हैं तंत्र मार्ग को। दोनों मार्ग में न कोई अच्छा है और न तो कोई है बुरा। निर्णय व्यक्ति के संस्कार और विचार पर है निर्भर। कौन किसके लिए उचित होगा, इसका निर्णय स्वयं करना होता है। तंत्र और योग की प्रणालियाँ एक ही साथ प्रादुर्भूत हुई। दोनों का आविर्भाव भी एक ही साथ हुआ, इसमें सन्देह नहीं दोनों समकालीन है। जैसे स्त्री पुरुष एक दूसरे के पूरक हैं। दोनों को एक दूसरे की आवश्यकता है। दोनों मिलकर सम्पूर्ण बनते हैं, पूरक बनते हैं। वैसे ही योग और तंत्र को भी समझना चाहिए। योग और तंत्र दोनों एक दूसरे पर आश्रित हैं। यदि केवल योग ही अस्तित्व में आया होता तो पचास प्रतिशत ही लोग उसको स्वीकार करते। दूसरे पचास प्रतिशत रह जाते वंचित। इसी प्रकार केवल तंत्र ही होता तो पचास प्रतिशत लोग ही उसे अपना सकते थे। दूसरे पचास प्रतिशत वंचित रह जाते।

गुरु की आवश्यकता : ऐसी स्थिति में गुरु की आवश्यकता पड़ती है। यदि गुरु न हो तो आप स्वयं मार्ग का निर्णय नहीं कर पायेंगे। आप कहां बढ़ रहे हैं? किस दिशा में जा रहे हैं? आप कर क्या रहे हैं? कौन हैं आप? आपका क्या संस्कार है? आपमें योग का संस्कार है या तंत्र का? इस दिशा में आप अपने मन से जो भी कुछ कर रहे हैं- क्या वह सही है? इन समस्त समस्याओं का हल एकमात्र गुरु ही कर सकता है और कोई नहीं। लेकिन गुरु में गुरुत्व होना चाहिए। समस्या तो यह है कि आपके पास गुरु की पहचान नहीं है। योग्यता नहीं है गुरु को जानने और समझने की आपमें। आप गुरु को कहां खोजेंगे? कैसे जानेंगे समझेंगे कि सामने वाला वास्तव में और सही अर्थो में गुरु है कि नहीं। यदि आपमें योग्यता है, शक्ति सामर्थ्य है, संस्कार है, पूर्ण श्रद्धा भक्ति है, पूर्ण विश्वास है तो आप समझ लें कि गुरु स्वयं आपको खोजते हुए आपके सामने प्रकट हो जायेंगे। समझ लें ऐसा ही मेरे जीवन में भी हुआ है।

संशय साधनामार्ग में यह तीसरी बाधा है। संशय के संबंध में संस्कृत में अनेक शब्द हैं लेकिन अंग्रेजी में केवल एक शब्द है 'डाउट'। संशय अत्यधिक बुरी चीज है। जीवन की उन्नति में सबसे से बड़ी बाधा समझी जाती है। एक सन्देह है जो आस्था और विश्वास के विरूद्ध उठता है मन में। संस्कृत में इसे कहते हैं शंका। आस्था के

विरूद्ध शंका- यह एक युग्म है। फिर एक सन्देह है जो कहलाता है शंका। योग कहता है- निश्चितता के, दृढ़ता के विरूद्ध संशय। जिस व्यक्ति के भीतर अनिश्चितता भरी है वह व्यक्ति कभी भी दृढ़ नहीं हो सकता। पग-पग पर वह संशयग्रस्त रहता है। यह आस्था के विरूद्ध नहीं, क्योंकि आस्था है किसी में और आस्था रखना यह दोनों अलग ही बात है।

गंगा माँ ने कहा- तुम खोज की लम्बी यात्रा कर मेरे निकट आये हो। अब तुमने परम शून्य का भी अनुभव कर लिया। लेकिन फिर भी जो कुछ भी तुम करते हो, तुम निश्चित नहीं होते कि तुम इसे करना चाहते भी हो या नहीं। अनिश्चितता होती है यदि तुम्हारा मन अनिश्चित है तो कभी भी योग या तंत्र के मार्ग में प्रवेश नहीं कर सकते। तभी प्रवेश कर सकते हो, जब तुम निश्चित होगे और होगे निर्णायक। तुम्हे निर्णय लेना ही पड़ेगा लेकिन निर्णय लेना अत्यधिक कठिन होता है। इस संबंध में जितना सोचना है, सोच लो जितना समय लेना है, ले लो। सारी सम्भावनाओं पर विचार कर लो और सारे विकल्पों पर भी और तब निर्णय लेना और जब निर्णय लोगे तब अपने आप सारे संशय दूर हो जायेंगे।

असावधानी यह चौथी बाधा है। संस्कृत में इसे कहते हैं प्रमाद। प्रमाद का अर्थ है तन्द्रिल अवस्था, सम्मोहित अवस्था, सदेव असावधान रहना, अपने आपके वास्तविक स्वरूप से अपरिचित रहना, विस्मृत सा रहना, कर्तव्य कर्म के प्रति असावधान रहना आदि योग इसे कहता है जीवित शव। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो हम सभी लोग एक प्रकार से जीवित शव के रूप में जीवन जीते हैं। हम परिवार के प्रति सम्मोहित हैं। पूरा का पूरा परिवार हमें सम्मोहित कर रखा है। प्रातः उठते ही अपनी चिन्ता तो कम परिवार की चिन्ता करने लग जाते हैं। समाज के प्रति भी हम सम्मोहित हैं। समाज जैसा चाहता है वैसा हम करते हैं। समाज के विरूद्ध हम जाने का साहस नहीं करते। उसके नियम का पालन करना हमारी विवशता है। हम पर सदैव एक नशा सा छाया रहता है। स्वयं अपने का नशा, परिवार के सदस्यों का नशा, धर्म-कर्म का नशा, समाज के नियमों का नशा। कौन नहीं है नशे में। धन कमाने का और व्यापार का नशा सबसे बड़ा नशा है। इस नशे में हम अपने आपको भूल जाते हैं। हम व्यापारियों, राजनेताओं शिक्षाविदों, पण्डित पुरोहित के अलावा प्रवचनकर्ताओं, धर्माचार्यों के प्रति भी सम्मोहित होते रहते हैं। समय-समय पर तरह-तरह के विज्ञापन भी कम नहीं हैं हमें सम्मोहित करने के लिए। ये सारे के सारे सम्मोहन हमारे उपचेतना में गहरायी से उतर जाते हैं। इसी के परिणाम को कहते हैं प्रमाद। असावधानी में जी रहे हैं हम। चारो ओर से हम हो रहे हैं सम्मोहित। जिसका परिणाम यह है कि हम तन्द्रिल और एक प्रकार

से मूर्च्छित जीवन जी रहे हैं। हमारी मौलिकता क्या है, यह हम शुरू से ही भूल चुके हैं। यह भयंकर भूल है। इसी भूल की वेदी पर हम अपने जीवन का बलिदान कर रहे हैं। प्रमाद का स्पष्ट अर्थ है- सम्मोहन की वह अवस्था जिसमें बड़ी चालाकी से हम दूसरे के हाथों की कठपुतली बने हुए होते हैं। हमारा जीवन कठपुतली का जीवन है। हम जीवित शव की तरह हैं। इसी कारण हम परिवार से बंधे हैं। सिद्धान्त से बन्धे हैं नियमों से बंधे हैं, समाज से बंधे हैं और बंधे हैं धर्म से भी। जब हम अपने आपको भूले हुए जीयेंगे तो असावधानी तो आयेगी ही। क्योंकि हम हम नहीं रहते असावधानी के समय और धोखा खा जाते हैं। हम हर काम और हर चीज असावधानी में करते है और यही कारण है कि हम बराबर ठोकर खाते और धोखा खाते रहते हैं जीवन में। इसी का परिणाम है कि हम अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच नहीं पाते। सोचते हैं कुछ और होता है कुछ। फिर मेरे पास सिर पीटने के अलावा और कुछ नहीं रह जाता।

असावधानी अथवा प्रमाद से बचने का एकमात्र उपाय है बराबर भीतर बाहर ओम का जप। प्रमाद को दूर करने की बड़ी शक्ति है ओम में। यदि हम ओम का निरन्तर भीतर जप करते रहें तो हमारा हर क्षण ध्यानस्थ हो जायेगा। हम ध्यान में जीने लगेंगे। हम फिर इतने जागृत और सावधान हो जायेंगे कि किसी का और किसी भी प्रकार का सम्मोहन हमें सम्मोहित नहीं कर सकेगा। तब हमारा प्रत्येक कदम सावधानी से उठेगा। हमारा हर क्षण सावधानी में व्यतीत होने लगेगा। प्रमाद नष्ट हो जायेगा।

आलस्य मानव जीवन की उन्नति और प्रगति में सबसे बड़ी बाधा है। कुछ ऐसे कारण हैं जिनसे आलस्य का जन्म होता है। मानव जीवन एक ऐसा जीवन है जिसमें मनुष्य कभी न कभी बराबर कुछ न कुछ करता ही रहता है लेकिन कुछ कार्य ऐसे भी होते हैं जिनके करने का कोई कारण नहीं समझा जाता। यदि आप कुछ करते हैं और उसे करने से कुछ उपलब्धि नहीं होती हैं। यदि आप कुछ नहीं करते तो आपने कुछ गवांया भी नहीं। कुछ खोया भी नहीं। बस, यह स्थल है जहां आलस्य आपके भीतर प्रवेश कर जाता है। आलस्य का केवल मात्र इतना ही अर्थ है कि आपने जीवन के प्रति उत्साह, उमंग और स्फूर्ति गवां दी है। गंगा माँ ने कहा- जरा बच्चों को देखो। वे दैविक, दैहिक दोनों प्रकार की ऊर्जाओं से पूर्णरूप से भरे हुए होते हैं। आलसी नहीं होते। लेकिन आप हैं कि उनकी ऊर्जाओं को बराबर नष्ट करने पर तुले हुए होते हैं। आप उनको विवश करते हैं उनकी प्राकृतिक ऊर्जा को नष्ट करने के लिए। यदि उनकी ऊर्जा आप नष्ट न करें तो आप जानते हैं। उनकी ऊर्जा महापुरुष बना सकती है।

महात्मा बना सकती है। विद्वान, ज्ञानी और दिव्य पुरुष बना सकती है और भी कुछ बना सकती है लेकिन उनकी ऊर्जा को स्वतंत्रता होनी चाहिए लेकिन आप हैं कि स्वतंत्र होने देना नहीं चाहते। बच्चे सोना चाहते हैं। आप हैं कि उनको उठा देते हैं, उठो सवेरा हो गया। बच्चे में जो ऊर्जा उस समय एकत्र हो रही थी। वह बिखर गयी। बच्चा चिड़चिड़ाते हुए आँखें मलते हुए उठ बैठेगा बे-मन से। सोना नहीं चाहता बच्चा, लेकिन उसे आप विवश करते हैं सोने के लिए। हो गयी न उस बेचारे की ऊर्जा नष्ट। बच्चा बोल रहा है। आप उसे कहते हैं तुम चुप रहो। अधिक बक-बक मत कर। हो गयी न उसकी ऊर्जा नष्ट। बच्चे से कहते है- शान्त होकर बैठ, हो गयी न उसकी ऊर्जा नष्ट। जरा सोचिए आप ऊर्जा से भरपूर एक बच्चे की ऊर्जा अपने अहंकार को तृप्त करने के लिए, अपनी आज्ञा को महत्व देने के लिए और अपने को 'बाप' समझने के लिए आप एक बच्चे के भविष्य के साथ खिलवाड़ कर रहे होते हैं। आप उसकी अभिरूचियों की हत्या कर रहे होते हैं। वह पढ़ना चाहता है कुछ आप पढ़ाना चाहते हैं कुछ। जानते हैं इसका परिणाम क्या होगा। आपका बच्चा आलसी होने लगेगा। काम से मन चुराने लगेगा और आगे चलकर माँ बाप से विद्रोह करने लगेगा। तब आप ही कहेंगे मेरा बेटा नालायक हो गया। अब हम दूसरे बिन्दु पर आते हैं। आप करते हैं बहुत कुछ। बाकी नहीं छोड़ते हैं कुछ अपनी ओर से। लेकिन उनका परिणाम नगण्य होता है। आप ग्रह का प्रभाव समझते हैं। भूत, प्रेत की बाधा समझते हैं इसे। किसी ने टोना टोटका कर दिया है। यह समझते हैं आप। लेकिन ऐसा कुछ होता नहीं। परिणाम नगण्य क्यों हुआ? इस पर आप अपनी ओर से कोई विचार नहीं करते। बस, आप हताश होकर बैठ जाते हैं। यही है आलस्य। फिर धीरे-धीरे आलस्य की धूल जमने लगती है आपके ऊपर। आपकी सारी असफलताओं और हताशाओं और सारे सपनों की चिता जल जाती है एक-एक कर और आप आलसी हो जाते हैं। आप तब सवेरे उठते हैं। सोचते हैं किसलिए उठे। कोई उत्तर नहीं है। आपको उठना होता है क्योंकि किसी प्रकार रोटी कमानी है। बच्चे हैं, पत्नी है। सभी की अपनी-अपनी आवश्यकता है। किसी प्रकार बे-मन से कार्यालय जाते हैं। दुकान पर जाते हैं। किसी भी प्रकार का उत्साह नहीं, उमंग नहीं, स्फूर्ति नहीं। ऐसा लगता है कि आपको कोई पीछे से ढकेल रहा होता है। किसी से प्रसन्न मन से बात भी करने का मन नहीं होता। क्या आप इसे आलस्य का परिणाम नहीं कहेंगे।

अब आप सम्भवतः यह पूछेंगे कि क्या इसका उपाय है। हाँ है यदि आप कुछ समय के लिए बिल्कुल शान्त एकान्त में बैठने का अभ्यास करिए। सोच विचार मत करिए। मन को खाली रखिए और उस खाली मन में बस भीतर ही भीतर ओम का

जप करिए, ऊबिए मत। बस करते जाइये। समय और जप बराबर बढ़ाते जाइये। ये सब आपको उत्साहित करेंगे। पूर्णता का अनुभव कराएंगे। आप प्रसन्नता का अनुभव करेंगे। आनन्द और प्रफुल्लता का भी करेंगे अनुभव। फिर तो जीवन में सफलता ही सफलता। आलस्य समाप्त। आपमें एक नया उत्साह, नया साहस और नया विश्वास जन्म लेगा।

तब आप यह सोचेंगे कि हम भी कुछ कर सकते हैं। हम भी कुछ कर सकते हैं उपलब्ध। इस संसार में असफलता नाम की कोई चीज नहीं है। सम्भव है जीवन की बाहरी यात्रा में असफलता का सामना भले ही करना पड़े लेकिन जीवन की अन्तर्यात्रा में असफलता नहीं है। आप भीतर से प्रयास करके तो देखिए। पहले चरण में ही हरश्रृंगार के फूलों से भर उठेगी आपकी आत्मा और उसकी सुगन्ध से भर उठेगा आपका जीवन। आशा की किरणें फूट पड़ेंगी। भरोसा होने लगेगा अपने ऊपर। आप अपने आन्तरिक जीवन में एक बालक के समान हो जायेंगे। आपका नया जन्म होगा।

विषयाशक्ति यह सबसे बड़ा बाधक है साधना मार्ग में। इस बाधा का निवारण अत्यन्त कठिन है। जैसाकि पहले संकेत किया जा चुका है। आपके शरीर में मुख्य रूप से तीन ऊर्जाएँ काम करती है। अन्न से दैहिक ऊर्जा बनती है। स्वच्छ वायु मण्डल और स्वच्छ वातावरण और प्रकृति के सामिप्य से प्राण ऊर्जा का निर्माण होता है और विकास भी। तीसरी ऊर्जा है मानसिक ऊर्जा। अच्छे विचार, भाव, आध्यात्मिक विषयों का अध्ययन चिन्तन,देवोपासना,ध्यान,कल्याणकारी,निःस्वार्थ भाव, मनन, अच्छे लोगों की संगति, वृद्धजनों की सेवा, दान, तप, महापुरुषों का सत्संग, संगीत श्रवण और शान्त एकान्त वातावरण, मानसिक ऊर्जा को जन्म देता और उसको बढ़ाता भी है।

ज्ञात होना चाहिए कि ये तीनों प्रकार की ऊर्जाएं मनुष्य के शुक्र बिन्दु में विद्यमान रहती हैं। रजो बिन्दु के सहयोग से गर्भ में प्रवेश कर दैहिक ऊर्जा से शरीर की रचना, प्राण ऊर्जा से शरीर में प्राण का संचार और मानसिक ऊर्जा से मस्तिष्क और उसकी लाखों कोशिकाओं का होता है निर्माण।

रजो बिन्दु में तीन तत्व होते हैं- आकाश तत्व, वायु तत्व और पृथ्वी तत्व। इसी प्रकार शुक्र बिन्दु में दो तत्व होते हैं- जल तत्व और अग्नि तत्व। इन दोनों के कारण शुक्र बिन्दु की दो गति है अधोगति और ऊर्ध्व गति। ऊर्ध्व गति अप्राकृतिंक है और अधोगति है प्राकृतिक। जल का गुण और स्वभाव है नीचे की ओर जाना। इसी कारण शुक्र बिन्दु अधोगति को होता है उपलब्ध और प्रकृति प्रदत्त होने के फलस्वरूप सृष्टि करता है शरीर की। जिस प्रकार जल का गुण स्वभाव नीचे की ओर जाना है। उसी

प्रकार अग्नि का गुण स्वभाव ऊपर की ओर जाना है लेकिन जब जल, अग्नि के संयोग से भाप बन जाता है तो अग्नि की ही तरह उसकी भी गति ऊर्ध्वमुखी हो जाती है। इस अवस्था में अग्नि और जल तत्व एक दूसरे में मिल जाते हैं और शुक्र बिन्दु अधोमुखी न होकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है और क्रमशः षट्चक्रों का भेदन करते हुए सहस्त्रार चक्र स्थित उष्णिक कमल में शिवतत्व से सामरस्य स्थापित कर लेता है। 'तंत्र' की यह सर्वोच्च उपलब्धि है। यह योग-तंत्र परक गुह्य मार्ग है और इस मार्ग की साधना को कहते हैं बिन्दु साधना। सामरस्य भाव, परम भाव है। परम भाव को उपलब्ध योगी को जो आनन्द प्राप्त होता है वह है परमानन्द। सामरस्य का अर्थ है आत्मा का परमात्मा के सम्पर्क में आ जाना। इसे महामिलन भी कहते हैं। तंत्र की जो उच्चतम् उपलब्धियां हैं इनमें एक है परमानन्द की उपलब्धि भी और इस परमानन्द की अनुभूति परम समाधि की अवस्था में करते हैं योगीगण।

वह अनुभूति कैसी होती है? इस प्रश्न के उत्तर में गंगा माँ ने कहा- अधोगति प्राप्त शुक्र बिन्दु के क्षरण के समय जिस क्षणिक आनन्द की अनुभूति होती है। उस आनन्द की अनुभूति से लाखों गुना अधिक होती है परमानन्द की अनुभूति। जबतक परम समाधि में रहते हैं योगीगण तबतक निमग्न रहते हैं उस परमानन्द में। गंगा माँ ने आगे कहा- मैंने जो समीक्षा की है उससे स्पष्ट है कि शुक्र बिन्दु भोग और योग दोनों भूमियों का प्रभु है। प्रकृति की सीमा में अधोगति को उपलब्ध होकर सृष्टि करता है और वही शुक्र बिन्दु प्रकृति की सीमा को लांघ कर अपने ऊर्ध्व मार्ग से योग-तंत्र के गुह्य और रहस्यमय गोपनीय आयामों को करता है अनावृत्त।

एक ओर रजोबिन्दु और शुक्र बिन्दु का योग सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड की सृष्टि का मूल कारण है तो दूसरी ओर उस सृष्टि से मुक्त होने का भी माध्यम है। सम्भवतः इसीलिए तंत्र ने दोनों को जगती और जगत कहा है। जो तंत्र की साधना भूमि में परमेश्वरी और परमेश्वर के रूप में आविर्भूत है। कहा भी गया है- **जगत परमेशान जगती परमेश्वरी**। जिनको हम शिव-पार्वती की संज्ञा देते हैं। एक पुरुष के रूप में अभिव्यक्त है तो दूसरा अभिव्यक्त है स्त्री के रूप में। स्त्री पुरुष के संयोग से भोग को भी उपलब्ध हुआ जा सकता है और योग को भी। भोग सृष्टि है तो योग उस सृष्टि से मुक्त होने का उपाय है।

शुक्र बिन्दु का महत्व और मूल्य इसी से समझा जा सकता है कि वह भौतिक सुखं और पारलौकिक, आध्यात्मिक सुख दोनों प्रदान करता है। समष्टि और व्यष्टि दोनों का स्वामी है। भोगानन्द और परमानन्द दोनों की उपलब्धि का कारण है। भोग और मोक्ष दोनों उसके द्वारा प्राप्त करना सम्भव है। अब आप ही बतलाइये, प्रकृति

प्रदत्त कितनी मूल्यवान और कितनी महत्वपूर्ण और साथ ही कितनी गरिमामयी, कितनी महिमामयी वस्तु है आपकी काया में।

अब इसी प्रसंग में यह भी बतला देना आवश्यक है और वह यह कि शुक्र बिन्दू में विद्यमान जल तत्व और अग्नि तत्व के योग से एक विशेष प्रकार की नैसर्गिक ऊर्जा उत्पन्न होती है जिसे तंत्र काम ऊर्जा कहता है। इस ऊर्जा का जो केन्द्र है काम ऊर्जा में दोनों तत्व हैं- पुरुषतत्व भी स्त्रीतत्व भी। तंत्र ने इन दोनों तत्वों को साधना भूमि में काम और कामेश्वरी के रूप में कल्पना की है। 'काम' शिव हैं और कामेश्वरी पार्वती यानी शक्ति है। काम-कामेश्वरी का युगनद्ध रूप सृष्टि है इसीलिए कहा गया है- **जगत पितरौ बन्दे पार्वती परमेश्वरौ।** सन्त तुलसीदास ने इन दोनों परम तत्वों के लिए श्रद्धा और विश्वास शब्द का प्रयोग किया है- **श्रद्धा, विश्वास रूपिणौ** शिव विश्वास है तो शक्ति हैं श्रद्धा। भगवती श्रद्धा हैं और भगवान हैं विश्वास। परमात्मा विश्वास है तो परमेश्वरी है श्रद्धा। जिनका मनुष्य अवतरण अभी तक राम-सीता और कृष्ण-राधा के रूप में हुआ है। भविष्य में भी होगा अवतरण यह भविष्य ही जाने।

काम ऊर्जा आपके शरीर में कितनी प्रबल और कितनी शक्तिशालिनी ऊर्जा है इसका महत्व और मूल्य कभी समझने का प्रयत्न किया है आपने? नहीं कभी भी नहीं। यदि समझते होते तो उसका निरर्थक और व्यर्थ प्रयोग कभी भी न करते। किञ्चित मात्र सुख के लिए उस महान और परम ऊर्जा का दुरुपयोग न करते। आपको सम्भवतः यह भी ज्ञात नहीं है कि वही काम ऊर्जा शारीरिक, मानसिक और आत्मिक ऊर्जा के रूप में भी आपके शरीर में काम करती है। इतना ही नहीं, आप उसी ऊर्जा के परिणाम स्वरूप कान से सुनते हैं। आँख से देखते हैं। नाक से सूंघते हैं। मुख से बोलते हैं। सोचते विचारते हैं। अच्छे बुरे का करते हैं निर्णय भी। काम केन्द्र में बराबर उस ऊर्जा का निर्माण होता रहता है। जिसके फलस्वरूप आज के शरीर में 'ओज' की बराबर वृद्धि भी होती रहती है। शरीर में ओज ही सब कुछ है। आपकी आँखों की चमक, चेहरे की आभा, आपका प्रभामण्डल आदि आपका 'ओज' ही तो है। ओज ही आपमें आत्म विश्वास, संकल्प शक्ति, दृढ़ता आदि उत्पन्न करता है। ओज नहीं तो कुछ भी नहीं।

कहना यह है कि काम ऊर्जा एक परिष्कृत ऊर्जा है और है अति सूक्ष्म। जब काम केन्द्र में उसकी मात्रा जब एक विशेष सीमा से आगे बढ़ती है तो आपमें उसे किसी न किसी रूप में विसर्जित करने की भोग भावना उत्पन्न होती है। किसी भी प्रकार ऊर्जा बाहर निकलनी चाहिए इसके लिए आप विक्षिप्त हो उठते हैं। व्यग्र हो उठते हैं। पागल हो उठते हैं। जब ऊर्जा विसर्जित हो जाती है तो आप कुछ क्षण के लिए सुख

शान्ति का अनुभव करते हैं। समझते हैं अपने आपको तृप्त। पश्चिम में कामवासना द्वारा ऊर्जा को निष्कासित करना अच्छा समझा जाता है। पश्चिम का कहना है कि काम ऊर्जा से मुक्त होना आवश्यक है। इसलिए कि उसकी अधिकता आपको विक्षिप्त और असहज बना सकती है। नाना प्रकार की मानसिक परेशानियों का कारण भी बन सकती है। आपका मन उद्‌भ्रान्त और अस्थिर रहने लगेगा। इसलिए कामवासना द्वारा ऊर्जा को विसर्जित कर देना, उससे मुक्त हो जाना उचित है लेकिन उसके लिए हमारे यहां एक सीमा निर्धारित है। आयुर्वेद, ऊर्जा विसर्जन की आज्ञा तो देता है लेकिन एक विशेष सीमा के भीतर एक मर्यादा है विसर्जन की। आयुर्वेद के अनुसार विसर्जन इसलिए आवश्यक है कि उसकी अधिकता से नाना प्रकार के मानसिक और शारीरिक रोग उत्पन्न होने की सम्भावना होती है। 'योगकाय' काम ऊर्जा और विसर्जन को महत्व नहीं देता। वह महत्व देता है ऊर्जा के परिष्कृत रूप 'ओज' को और उसी के साथ महत्व देता है ब्रह्मचर्य को भी। उसका कहना है कि ब्रह्मचर्य ही से 'ओज' की वृद्धि होती है अतः ब्रह्मचर्य का पालन आवश्यक है। रही तंत्र की बात, तंत्र आयुर्वेद और योग के विचारों से सहमत तो अवश्य है किन्तु उसका कहना यह भी है कि उसका उपयोग अध्यात्म की दिशा में भी होना चाहिए। बन्धन से मुक्ति के लिए भी होनी चाहिए। परमानन्द की उपलब्धि के लिए भी होनी चाहिए।

भ्रान्ति यह भी बहुत बड़ी बाधा है। भ्रम का अर्थ है आँख खुली है और सपने देख रहे हैं आप। पति-पत्नी, प्रेमी-प्रेमिका, गुरु-शिष्य, नौकर-मालिक सदैव एक दूसरे के प्रति भ्रम में रहते हैं। भ्रम को दूर करने का एकमात्र उपाय है ओम का बराबर मानसिक जप। भ्रम का अर्थ है स्वप्नमयी अवस्था। वह अवस्था जहां आप खो जाते हैं। आप तब होते ही नहीं, केवल सपना होता है वहां और जब आपके भीतर ओम का नाद निर्मित होने लगेगा तब आप एक साक्षी बन जायेंगे। आप उपस्थित रहेंगे वहां और आपकी उपस्थिति किसी सपने को घटित होने न देगी। आप और आपका सपना एक साथ नहीं रह सकते। स्वप्न और जागरूकता कभी नहीं मिलते। इसलिए भ्रम तिरोहित हो जाता है और ओम नाद बन जाता है साक्षी।

असमर्थता इसका पर्याय दुर्बलता है। आप प्रायः मानसिक, शारीरिक, दुर्बलता का अनुभव करते हैं यही है असमर्थता। आप यह अनुभव करते हैं कि आप कुछ नहीं कर सकते। आप अपने आपको व्यर्थ समझते हैं। भले ही आप प्रकट में ऐसा कुछ करते हैं जिससे लोग समझें कि आप भी कुछ हैं। आप भी शक्तिशाली हैं लेकिन यह विचार और भाव मात्र केवल आपका दिखावा भर होता है। इसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं और जब आप अपने को शक्तिशाली होने का दिखावा करते हैं। लोगों से कहते

हैं कि आप बहुत शक्तिशाली हैं। जो चाहे वह कर सकते हैं। आप समर्थ हैं। तब आपको गर्व का अनुभव होता है। जो नकली होता है। बनावटी होता है और जब कभी आपका सामना पड़ता है तब आप अनुभव करने लगते हैं निस्सहायता और शक्तिहीनता का। इसी का नाम असमर्थता है। कोई भी मनुष्य पूर्ण शक्तिशाली कभी भी नहीं हो सकता। कहीं न कही वह दुर्बल अवश्य है। उसका कोई अंश असमर्थ है। पूर्णरूप से शक्तिशाली होता है एकमात्र परमात्मा। यदि वास्तव में शक्तिशाली है तो कभी भी आक्रामक नहीं हो सकता। कभी भी हिंसात्मक प्रवृत्ति अपना नहीं सकते। केवल दुर्बल लोग ही आक्रामक और हिंसक होते हैं। अपने को सिद्ध करने के लिए कि वे शक्तिशाली हैं। दुर्बल लोग जितना बल प्रदर्शन करने के लिए अपनी बड़ाई करते हैं, उतना और कोई नहीं।

अस्थिरता आपका मन एक स्थान पर स्थिर नहीं रहता। अस्थिर और चंचल मन वाले लोग कभी भी जीवन में सफल नहीं हो सकते। कोई कार्य शुरु करते हैं। फिर उसे छोड़ देते हैं। आपकी अस्थिरता के कारण कोई चीज सम्भव नहीं होती। आपको सतत प्रयास करना पड़ता है। किसी एक काम को आप करते हैं। कुछ दिन बाद उसे छोड़ देते हैं। फिर कोई दूसरा काम शुरू कर देते हैं। फिर उसे छोड़कर पहले वाला ही काम शुरू कर देते हैं। जरा सोचिए आपकी इस प्रकार की अस्थिरता किसी उद्देश्य को साकार होने देगी? कभी नहीं। सफल तो तभी हो सकते हैं जब आप संकल्प दृढ़ चित्त होकर काम में लगेंगे। अगर ऐसा नहीं करेंगे तो सदैव दुःखी ही रहेंगे। दुःख का अर्थ है तनाव। तनाव है तो आप बराबर चिन्ताग्रस्त रहेंगे। बिखरे-बिखरे से रहेंगे। मन हमेशा चिन्तित रहेगा। उदास रहेगा। निराशा की भावना बराबर बनी रहेगी मन में। जैसाकि मैंने प्रारम्भ में कहा हैं ये नौ बाधाएं हैं साधना मार्ग में। इनका संबंध सीधे-सीधे मन में हैं। मन में ये नौ बाधाएं विक्षेप के रूप में उत्पन्न होती है। आश्चर्य की बात तो यह है कि हम हैं कि 'शरीर के बजाय मन को ही सर्वाधिक महत्व देते हैं इस दृष्टि से देखें तो पूरा संसार पागल है, विक्षिप्त है इच्छाओं के कारण आवश्यकताओं के कारण नहीं। हम आवश्यकताओं को कम करते रहते हैं लेकिन इच्छाओं को बढ़ाते रहते हैं बराबर। हम एक दो समय का भोजन छोड़ सकते हैं लेकिन अखबार पढ़ना,सिनेमा देखना सिगरेट पीना नहीं छोड़ सकते हैं। भोजन आवश्यक है और ये सब चीजें हमारी इच्छाएं हैं। जिनको हम नहीं छोड़ सकते। क्योंकि उनका संबंध मन से है। इच्छा मन में ही तो उत्पन्न होती है। ध्यान रखिए आप। शरीर सदैव सुन्दर होता है। यह निरपेक्ष रूप से सत्य है। शरीर सुन्दर है लेकिन मन असुन्दर है। शरीर नहीं बदलता, बदलता है आपका मन। मन का अर्थ इच्छा है। शरीर

आवश्यकता की मांग करता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति चाहता है। उसकी आवश्यक्ताएं वास्तविक होती है और उस आवश्यकताओं की पूर्ति की इच्छा मन में उत्पन्न होती है। यदि आप जीना चाहते हैं तो आपको भोजन चाहिए उसके लिए आपकी प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं है। जीवित रहने के लिए मान, प्रतिष्ठा, इज्जत और प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं है। आवश्यकता है रोटी की। रोटी शरीर की आवश्यकता है। मान सम्मान, प्रतिष्ठा आदि शरीर की किसी भी आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकती। जीने के लिए नोबेल पुरस्कार, पद्म विभूषण, पद्मश्री की उपाधि की आवश्यकता नहीं। क्योंकि ये सब पुरस्कार आपके शरीर की आवश्यकता को पूरी नहीं कर सकते। प्रसिद्धि एक प्रकार का बन्धन है। शरीर को आवश्यकता नहीं है प्रसिद्ध होने की। उसे इस प्रकार की निरर्थक चीजों की आवश्यकता नहीं पड़ती। वह अपने आपमें ठीक है। यदि आप शरीर की आवश्यकताओं को कम करने का प्रयास करेंगे तो वह दमन समझा जायेगा। शरीर की मांग को पूरा आप नहीं करते हैं, तो दमन है। आप जानते हैं दमन आन्तरिक लड़ाई है। दमन करके आप शरीर को मारने का प्रयास करते हैं। परमात्मा का अंश आत्मा है। शरीर उस अंशरूपी आत्मा को अपने भीतर सुरक्षित रखता है और इस संरक्षण के लिए शरीर को भोजन चाहिए, पानी चाहिए, पौष्टिक आहार चाहिए, आराम चाहिए। मन को आराम नहीं चाहिए। उसे आराम की आवश्यकता नहीं। शरीर को प्रसिद्धि की आवश्यकता नहीं। ध्यान दें इस बात पर आप। आँखे बन्द कर जरा देखने समझने का प्रयास करें कि शरीर में प्रसिद्धि की आवश्यकता कहां पड़ती है। यदि आपको प्रसिद्धि मिल जाय तो क्या आप अधिक स्वस्थ हो जायेंगे। क्या शान्त हो जायेंगे। नहीं कभी नहीं। योग कहता है कि शरीर की आवश्यकता सुन्दर,सीधी और सरल है। शरीर की आवश्यकताओं को पूरी करें। इनका दमन न करें। दमन करेंगे तो अस्वस्थ और रुग्ण हो जायेंगे आप।

मन की आवश्यकताएं हैं लेकिन उसकी चिन्ता आप न करें। उसकी आवश्यकता के संबंध में आप शरीर से पूछें- क्या मन जो चाहता है, उसे पूरी कर दें। यदि शरीर कहता है, हाँ तो हाँ, यदि नहीं, तो नहीं। इसी प्रकार आप मन की आवश्यकताओं के बारे में बराबर पूछते रहेंगे और 'हाँ' 'ना' के अनुसार करते रहेंगे तो वह 'मन' की वासनाओं का, इच्छाओं का दमन नहीं समझा जायेगा। क्योंकि दमन अति भयंकर वस्तु है।

कामाकर्षण अब थोड़ा अस्वस्थ रहने लगी थी गंगा माँ। मेरा भी आना जाना कम हो गया था व्यस्तता के कारण। उस दिन पूर्णिमा थी। उस दिन अपने गुरुदेव को खीर का भोग लगाती थी गंगा माँ और वह खीर मेरी पत्नी अपने हाथ से बनाकर

भेजती थी। सायंकाल का समय था। खीर लेकर गया मैं। उस समय एक महात्मा बैठे हुए थे। बंगदेशीय थे। अवस्था पचास के ऊपर ही थी। नाम था कालीदास मुखोपाध्याय। पश्चिम बंगाल के निवासी थे महाशय। गंगा माँ ने बतलाया कि तंत्र के उच्च साधक हैं कालीदास मुखोपाध्याय। जब उस महासाधक को यह ज्ञात हुआ है कि मैं तंत्र के सिद्धान्त पक्ष और क्रिया पक्ष दोनों में रूचि रखता हूँ तो प्रसन्न हुए महाशय। प्रथम पक्ष को हृदयंगम करने पर ही क्रिया पक्ष में सफलता प्राप्त होती है। बिन्दु साधना प्रसंग में मैंने 'काम' पर आवश्यकतानुसार प्रकाश डाला है। अब उसकी आवश्यकता नहीं थी। लेकिन मुखोपाध्याय महाशय तंत्र परक काम शास्त्र के मर्मज्ञ थे और अनुभव साधक भी। इस विषय पर काफी लम्बी चर्चा हुई थी मुझसे। किन्तु यहां स्थानाभाव के कारण उस चर्चा का मुख्य अंश ही प्रस्तुत करूँगा। वैसे अपनी पुस्तक तंत्रम् में तंत्र परक और अनुभव जन्य काम साधना का विस्तृत वर्णन किया है मैंने।

परमाणु विज्ञान से भी अधिक गहन और गम्भीर तंत्र विज्ञान है। परमाणु विज्ञान पदार्थ से संबंधित है और तंत्र विज्ञान संबंधित है आपसे। जीवन्त कोशिकाओं से और स्वयं की जीवन चेतना से और उस जीवन चेतना की जीवन्त आन्तरिक व्यवस्था से है संबंधित और एकमात्र यही मूल कारण है कि तंत्र की गहरी रूचि है 'काम' में। जो व्यक्ति जीवन चेतना में रूचि रखता है, वह अपने 'काम' में अवश्य रूचि लेगा। इसलिए कि 'काम' जीवन का स्रोत है। प्रेम का स्रोत है। यह सम्पूर्ण जगत चेतनामय है। सर्वत्र चेतना की ही लीला है और इस चेतनामय जगत में जहां जो कुछ भी घट रहा है- उसका आधार 'काम' है। जो साधक काम को महत्व नहीं देता है और उसके प्रति उत्सुक नहीं है तो समझ लेना चाहिए कि वह साधक नहीं है। हां! दार्शनिक भले ही हो सकता है और दर्शन शास्त्र एक प्रकार से सन्देह ,भ्रम, अनिर्णय का विषय है। अनुपयोगी विषयों के प्रति अनिर्णित धारणा है इनके सिवाय और कुछ नहीं।

तंत्र का जो धार्मिक पक्ष है उसका आधार शुद्ध रूप से वैज्ञानिक है। वह मनुष्य को समग्रता से और पूर्णरूप से स्वीकार करता है। यदि इस दृष्टि से देखा जाय तो 'तंत्र' एकमात्र स्वस्थ धर्म है। 'तंत्र' दर्शन शास्त्र नहीं है एक परम विज्ञान है। स्वयं अपने भीतर प्रवेश करने का विज्ञान है। तंत्र का संबंध प्रत्यक्ष से है। वह यथार्थवादी है। उसका अर्थ है विधि। वह क्रियापक्ष पर अधिक बल देता है।

महात्मा ने कहा- 'तंत्र' काम प्रधान गहन साधना है। जिससे वैराग्य उत्पन्न होता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस वस्तु को हम पूर्ण गहरायी से जान समझ लेते हैं, उसके प्रति हमारा जो विक्षिप्त आकर्षण है वह सदैव के लिए समाप्त हो जाता है। उस अवस्था में परम वैराग्य का जन्म होता है हमारे मन में। स्वभावतः 'काम' का

आकर्षण सर्वाधिक है क्योंकि हमारा जन्म 'काम' से ही होता है और हमारे शरीर का एक-एक कण जीवाणु का कण है। माता-पिता के जिस जीवाणु से निर्माण होता है, उसी का विस्तार हमारा शरीर है। पूरी सृष्टि कामजन्य सृष्टि है। इससे यह सिद्ध होता है कि कामवासना भीतर है, बाहर नहीं। हमारा अस्तित्व 'श्वास' में है। श्वास न हो तो हमारा अस्तित्व फिर कहां। लेकिन श्वास से भी गहरा हमारा अस्तित्व कामवासना में है। हम जैसे-जैसे तंत्र का आश्रय लेकर काम की गहरायी में उतरते जाते हैं, वैसे ही वैसे संसार के प्रति हम जागते जाते हैं। चैतन्य होते जाते हैं। मूर्च्छा भंग होती जाती है। अहंकार टूटता जाता है। मन निर्विकार होता जाता है। वैराग्य भरता जाता है आत्मा में। त्याग, निरपेक्षता और अनाशक्तता गहन होती जाती है। सारा का सारा भ्रम टूटने लग जाता है। अन्त में शून्य रह जाता है। केवल शून्य।

महात्मा बोले- इस संसार में सबसे बड़ा आकर्षण स्त्री-पुरुष का आकर्षण है। तंत्र कहता है कि क्यों न आप दिव्य रूप दीजिये इस परम आकर्षण को। परमात्मा के सामीप्य का मार्ग क्यों नहीं बना लेते आप इसे। तंत्र का भी तो यही कहना है। इस संसार में यदि कोई शक्ति है तो उसका संबंध हमको किसी रूप में कामवासना को जोड़ना ही पड़ेगा। यदि हम ऐसा नहीं करते हैं तो सृष्टि के होने का कहीं कोई आधार ही नहीं रह जाता। इस सृष्टि में जो कुछ भी हो रहा है वह काम से जुड़ा हुआ है और काम जुड़ा हुआ है परमात्मा से। परमात्मा स्वयं काम है। वह वासना से मुक्त नहीं है। **'एकोऽहं बहुस्याम'** यह वाक्य क्या है? परमात्मा की वासना ही तो है। तब हम कैसे कह सकते हैं कि परमात्मा वासना मुक्त है। एक से अनेक होने की कामना, वासना के सिवाय और क्या है? यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो 'तंत्र साधना' एक स्वस्थ साधना है।

तंत्र क्या है– एक विधि है, एक उपाय है, एक मार्ग है। इसकी कोई मीमांसा नहीं हैं। बौद्धिक समस्याओं, सामाजिक समस्याओं, परिवारिक समस्याओं और भौतिक समस्याओं का तंत्र से कोई संबंध नहीं है। तंत्र 'क्यों' के संबंध में नहीं सोचता। वह 'कैसे' की चिन्ता करता है। 'सत्य' क्या है? इसकी नहीं, बल्कि इसकी कि सत्य को कैसे हुआ जाय उपलब्ध। तंत्र का अर्थ है विधि, नियम, क्रियात्मक ज्ञान। वह एक विज्ञान ग्रन्थ है। विज्ञान की अनुभूति का है शास्त्र। तंत्र विज्ञान 'क्योंकि', 'कैसे' की चिन्ता करता है। दर्शन और विज्ञान में यही मूल भेद है। दर्शन प्रश्न करता है कि 'अस्तित्व क्यों है? विज्ञान प्रश्न करता है कि अस्तित्व कैसे है? जब आप 'कैसे' का प्रश्न करते हैं तब उपाय विधि आदि महत्वपूर्ण हो जाती है। इस अवस्था में सिद्धान्त व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं और केन्द्र बन जाता है अनुभव। आपको ज्ञात होना चाहिए कि

'तंत्र' विज्ञान है, कोई दर्शन शास्त्र नहीं। दर्शन शास्त्र को समझना सरल है क्योंकि उसके लिए केवल मस्तिष्क की आवश्यकता पड़ती है। तंत्र को समझने के लिए आपको भीतर से अपने को परिवर्तित करना होगा। पूर्णरूप से बदलना होगा। जबतक आप पूर्णरूप से भिन्न नहीं हो जाते हैं, तबतक आप तंत्र को नहीं समझ सकते। क्योंकि तंत्र कोई बौद्धिक प्रस्तावना नहीं है, वह एक गहन अनुभव है और जबतक आप गहन अनुभव के प्रति संवेदनशील नहीं होंगे। अपने आपको पूर्णरूप से तैयार न कर लेंगे और अपने अन्तराल का बंद कपाट खोल नहीं देंगे। तबतक अनुभव प्राप्त नहीं कर सकेंगे। यह निश्चित है। दर्शन का संबंध आपके मन, मस्तिष्क से है। उसके लिए आपकी समग्रता की आवश्यकता नहीं। आपकी समग्रता की आवश्यकता है तंत्र को। एक गहरी चुनौती है तंत्र का साधना मार्ग। समग्र प्राण, समग्र मन, समग्र एकाग्रता और समग्र भावपूर्ण निष्ठा, पूर्ण विश्वास और पूर्ण श्रद्धा की आवश्यकता है उस चुनौती का सामना करने के लिए।

दार्शनिक चिन्तन का संबंध मन से है। उसके लिए आपका मस्तिष्क ही बहुत है। उसके लिए आपकी समग्रता की आवश्यकता नहीं। आपकी समग्रता की आवश्यकता है तंत्र को। समझे न। यह एक अत्यन्त गहन चुनौती है। तंत्र खण्डित नहीं है। उसकी साधना यात्रा में पूर्णरूप से समग्रता चाहिए। मन की समग्रता, विचार की समग्रता, भाव की समग्रता, विश्वास और श्रद्धा की समग्रता, प्राण की समग्रता और यही कारण है कि जितने भी तंत्र हैं– उनका प्रारम्भ शंकर-पार्वती के संवाद से प्रारम्भ होता है। शंकर-पार्वती विश्व के प्रथम पति-पत्नी हैं। उन दोनों का शाश्वत प्रेम विश्व का प्रथम प्रेम है। उनका प्रेम अद्वैत है। दोनों का प्रेम एक दूसरे में विलीन होकर एक रस है। पार्वती के प्रश्न में और शंकर के उत्तर में सुगन्ध है और वह सुगन्ध है प्रेम। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पार्वती के प्रश्न दार्शनिक तल के हैं। वास्तविकता तो यह है कि किसी भी प्रकार के प्रश्न दो प्रकार से हल किये जा सकते हैं। पहला है, दर्शन के आधार पर समग्रतापूर्वक। दूसरा है बौद्धिक तल पर अस्तित्वगत रूप से। तंत्र कोई दर्शन नहीं है। वह अस्तित्वगत है। वैसे पार्वती के प्रश्न लगते तो हैं दार्शनिक, लेकिन शंकर उसी ढंग से उत्तर नहीं देते हैं। वे उत्तर न देकर 'विधि' बतलाते हैं। क्रिया बतलाते हैं। यदि कोई उस विधि को क्रिया रूप में स्वीकार कर उसमें से गुजर जाय तो निश्चित रूप से उत्तर प्राप्त हो जायेगा उसे इसमें सन्देह नहीं और यही कारण है कि शंकर का उत्तर परोक्ष है, प्रत्यक्ष नहीं। जैसे एक स्थान पर पार्वती प्रश्न करती है– सत्य क्या है? शंकर इस प्रश्न के उत्तर में विधि बतलाते हैं। यदि पार्वती उस विधि से गुजर जायेंगी तो स्वयं उनको उत्तर प्राप्त हो जायेगा। इसलिए उत्तर परोक्ष है

प्रत्यक्ष नहीं। शंकर कहते हैं- यदि ऐसा करोगी तो तुम स्वयं जान जाओगी। तंत्र के लिए 'करना' ही जानना है और कोई 'जानना' जानना नहीं हैं। जबतक आप कुछ करेंगे नहीं। अपने आपको बदलेंगे नहीं। तर्क बुद्धि से परे किसी अन्य आयाम में प्रवेश नहीं करेंगे तबतक आपको कोई उत्तर प्राप्त नहीं होगा। यदि कोई उत्तर प्राप्त भी होगा तो वह असत्य ही होगा। अनुभवों से शून्य समझ गये न! उस उत्तर में कोई वास्तविकता नहीं होगी। इतना बोलकर महात्मा थोड़ा गम्भीर हो गये। आगे उसी अवस्था में बोले- इधर कुछ समय से ज्योतिष और तंत्र की खूब चर्चा है लेकिन उन चर्चाओं में कल्पना अधिक है। आडम्बर अधिक है। शाब्दिक ज्ञान अधिक है। अनुभूति नहीं है। अनुभव की भी झलक नहीं मिलती।

वेद, शास्त्र, पुराण, इतिहास, उपनिषद, दर्शन आदि सब कुछ पढ़ लेते हैं लोग। कण्ठस्थ भी कर लेते हैं लोग। सन्तुष्ट भी हो जाते हैं लोग। अपने आपको परम ज्ञानी भी समझने लग जाते हैं लोग। लेकिन वे लोग पहले जैसे ही रहते हैं। उनका बाहरी व्यक्तित्व तो अवश्य बदल जाता है, मगर आन्तरिक अवस्था पूर्ववत् ही रहती है। उनका ज्ञान उनके आन्तरिक स्वरूप को परिवर्तित नहीं कर पाता। वे लोग पहले जैसे ही रहते हैं- क्रोधी, दम्भी, अहंकारी, असत्यवादी, ईर्ष्यालु और कपटी। उपलब्ध ज्ञान के अनुसार उनका आचरण नहीं होगा। बस वे लोग अपने ज्ञान के अनुयायी बन जायेंगे।

तंत्र प्रकृष्ट विज्ञान- तंत्र ऐसा नहीं है। वह न वेद है, न शास्त्र है, न पुराण है, न उपनिषद है, न तो है कोई दर्शन ही। वह क्रियापरक विधि का प्रकृष्ट, उत्कृष्ट परम विज्ञान है। उसकी भाषा क्रिया की भाषा है और है विधि की भाषा। भौतिक विज्ञान की तरह देश, काल के अनुसार उसके सिद्धान्त, नियम, क्रिया और विधियाँ बदलती नहीं। हर काल में, हर अवस्था में और हर युग में एक सी ही रहती है इसीलिए वह प्रकृष्ट परम विज्ञान है। वह अनावृत्त सर्वव्यापिनी महाशक्ति का विज्ञान है। जिसकी उपयोगिता क्रिया में है इसलिए वह गुह्य है और है गोपनीय। वेद और तंत्र भारतीय संस्कृति और साधना के मूल तत्व हैं। वेद परम ज्ञान है और तंत्र गुह्य ज्ञान है। परम ज्ञान प्रायः सभी के लिए ग्राह्य है लेकिन गुह्य ज्ञान, योग्य और संस्कार सम्पन्न लोगों के लिए है। अट्ठारह शुभ संस्कार के उदय होने पर तंत्र में रूचि जागृत होती है। बाईस जन्म के शुभ संस्कार के फलस्वरूप सद्गुरु का साक्षात्कार होता है। सद्गुरु लाभ के उपरान्त तीस जन्मों के शुभ संस्कारों के उदय होने पर सद्गुरु के मार्गदर्शक द्वारा सिद्धि लाभ होता है। सिद्धि लाभ का तात्पर्य है महाशक्ति का करुणामय अनुग्रह का उपलब्ध होना। यह अनुग्रह ही साधक की परम सिद्धि है और उस परम सिद्धि की

सुगन्ध ही परम कल्याणकारी होती है। सच तो यह है कि साधक स्वयं माँ महामाया जगज्जननी की करुणा का साकार रूप हो जाता है। वह देता किसी को कुछ नहीं, लेकिन लेने वाले लोग स्वयं अपनी योग्यता और पात्रता के अनुसार उससे प्राप्त कर लेते हैं। वह तो एक खिला हुआ सुगन्धित पुष्प की तरह होता है। जिसकी सुगन्ध बराबर चारो ओर बिखरती ही रहती है। इतना कहकर कालीदास मुखोपाध्याय महाशय मौन साध गये। देखा उस समय उनकी आँखों से अविरल अश्रुपात हो रहा था। निश्चय ही वे चले गये थे माँ महामाया के सान्निध्य में।

योग्यता लाभ : कालीदास मुखोपाध्याय महाशय निश्चय ही तंत्र के अनुभवी विद्वान और साधक थे इसमें सन्देह नहीं।

एक दिन मैंने प्रश्न किया- 'योग्यता लाभ' से क्या तात्पर्य है आपका? मेरे इस प्रश्न का समाधान करते हुए महात्मा ने कहा- जैसे आप हैं। आप दीर्घकाल से योग तंत्र से संबंधित जिज्ञासाओं को लेकर भटक रहे हैं। जिज्ञासा का समाधान कहीं होता है तो उससे आप सन्तुष्ट होते हैं या नहीं होते हैं यह तो आप जाने। यदि सन्तुष्ट हो जाते हैं तो उसके अनुयायी बनना आपके लिए स्वाभाविक हो जाता है। यदि ऐसा नहीं हुआ तो, आप सन्तुष्ट नहीं हुए तो, अपनी जिज्ञासा के समाधान के लिए आगे बढ़ जाते हैं। यदि सन्तुष्ट हो भी गये तो आप पहले जहां थे वहीं के वहीं रहे होते हैं। सन्तुष्ट हो जाने पर भी आपके भीतर कोई परिवर्तन नहीं होता। जैसे पहले थे वैसे ही तब भी रहते हैं। परिवर्तन तभी सम्भव है जब आपमें योग्यता होगी। योग्यता, जाति, धर्म और सम्प्रदाय नहीं देखती। आप हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, जैन हैं। भीतर तो सभी समान हैं और एक से हैं। वही क्रोध, वही घृणा, वही द्वेष, वही ईर्ष्या, वही हिंसा, वही आक्रमकता और वही कामुकता। सभी में बराबर है। कोई अन्तर नहीं। जो वास्तविकता है वह सभी जाति में, सभी धर्म में समान है। कहीं कोई अन्तर नहीं। इस दृष्टि से तंत्र के लिए सभी समान हैं। हिन्दू, मुसलमान, सिख, ईसाई, जैन आदि जो भी हैं, समान हैं। तंत्र के लिए धर्म, जाति, सम्प्रदाय अपना आवरण है। आवरण को वह कोई महत्व नहीं देता। तंत्र योग्यता देखता है। उसको महत्व देता है। आप जहां हैं और जिस स्थिति अथवा अवस्था में हैं अन्धे के समान हैं और उस अन्धेपन को दूर करना तंत्र का उद्देश्य है।

जैसे एक व्यक्ति अंधा है, जन्मजात अन्धा। वह प्रश्न करता है दूध कैसा है? प्रकाश कैसा है? शास्त्र पुराण दर्शन समझाने का प्रयास करेगा, दूध ऐसा है, प्रकाश ऐसा है लेकिन उस प्रयास से अन्धा व्यक्ति न दूध को देख सकेगा और न तो प्रकाश को ही। भले ही मन ही मन दूध और प्रकाश की कल्पना भर ले वह। लेकिन तंत्र यह

भी बतलायेगा कि दूध कैसा है और प्रकाश कैसा है। वह तो निष्पत्ति निकालेगा। आँख में ज्योति उत्पन्न हो इसके लिए उपचार करेगा। यदि ज्योति हो गयी उपलब्ध तो अन्धे को प्रश्न करने की आवश्यकता ही न पड़ेगी। इसी को कहते हैं योग्यता लाभ। आप अपने आपको सोचिए- थोड़ा रूककर महात्मा ने कहा- पन्द्रह वर्ष की आयु से ही श्मशान में जलती हुई चिताओं को देखना शुरू किया आपने। सभी देखते हैं और आपने भी देखा लेकिन और लोगों के देखने में और आपके देखने में अन्तर था। कहने की आवश्यकता नहीं उसी 'अन्तर' ने आपकी अन्धी आँखों को ज्योति दे दी और उपलब्ध हो गयी योग्यता सत्य को देखने समझने की।

हे भगवान! महात्मा कैसे जान गये हरिश्चन्द्रघाट के श्मशान में बैठने की बात? लेकिन मैं बोला कुछ नहीं। बस, उनके चेहरे पर उभर आये भाव को देखता रहा। तंत्र समाधान नहीं करता है। आप समाधान को उपलब्ध हों उसकी विधि बतलाता है वह। वह समाधान बौद्धिक नहीं होगा। जैसाकि मैंने अंधे व्यक्ति का उदाहरण दिया है। अंधे को प्रकाश के विषय में जो आप बतलायेंगे। वह बतलाना 'बौद्धिक स्तर' का होगा। यदि अंधा स्वयं देखने लगेगा तो वह अस्तित्वगत होगा। तंत्र अस्तित्वगत की बात करता है।

जैसाकि संकेत किया जा चुका है। समस्त तंत्र शंकर पार्वती के बीच संवाद है। पार्वती का प्रश्न और शंकर का उत्तर है लेकिन वह संवाद अर्थपूर्ण है। साधारण गुरु-शिष्य के बीच का संवाद नहीं है। दो महान प्रेमी-प्रेमिकाओं के बीच का गहन और गम्भीर संवाद है। वह गहन और गम्भीर तभी संभव है, जबकि गुरु और शिष्य के बीच शिखरतम् प्रेम न हो। दोनों को गहरा प्रेमी होना होगा। तभी ऐसा संवाद घटित हो सकता है अन्यथा नहीं। शंकर-पार्वती का संवाद गहनतम् प्रेम की भाषा है। प्रत्येक अक्षर प्रेममय है। भाषा, आत्मा को स्पर्श करने वाली है। पति-पत्नी भी प्रेम करते हैं। दो मित्र भी प्रेम करते हैं। दो प्रेमी-प्रेमिका भी प्रेम करते हैं लेकिन उस प्रेम में गम्भीरता गहनता और निर्मलता नहीं होती। तंत्र का कहना है कि शिष्य में प्रेम के साथ ही ग्राहकता भी होनी चाहिए। तभी विज्ञान प्रकाश में आता है। शिष्य के लिए 'स्त्री' का होना आवश्यक नहीं है लेकिन उसमें स्त्रैण ग्राहकता का भाव अनिवार्य और आवश्यक है। पार्वती के प्रश्न का अर्थ ही है कि स्त्रैण भाव प्रश्न कर रहा है लेकिन 'स्त्रैण भाव' ही क्यों? यह प्रश्न है। महात्मा बोले- इसका कारण अतिशय महत्व का है। पुरुष और स्त्री में शारीरिक अन्तर तो है ही, मानसिक अन्तर भी है। यौन की दृष्टि से भी शरीर के तल पर और मन के तल पर अन्तर है। स्त्रैण मन ग्राहक है उसमें समर्पण का पूर्ण भाव है। प्रेम भी पूर्ण है। शिष्य को भी स्त्रैण मन की आवश्यकता है। जिसमें ग्रहण

करने की क्षमता हो। समर्पण और प्रेम का पूर्ण भाव हो। यदि ऐसा न होगा तो वह अनुभवात्मक ज्ञान को उपलब्ध ही न हो सकेगा।

स्त्रैण ग्राहकता का अर्थ गम्भीर है। थोड़ा ध्यान से समझना होगा। स्त्रैण ग्राहकता का तात्पर्य है 'गर्भ' जैसी ग्राहकता। 'गर्भ' का अर्थ है ग्राहकता। वैसी ग्राहकता होगी तभी शिष्य ग्रहण कर सकेगा। स्त्री कोई वस्तु को केवल ग्रहण ही नहीं करती, उसे आत्मसात कर लेती है। वह वस्तु उसके शरीर का भाग बन जाती है। शिशु ग्रहीत हुआ। स्त्री गर्भ धारण करती है। गर्भाधान होते ही शिशु अपनी माता के शरीर का एक अंश बन जाता है। एक महत्वपूर्ण भाग बन जाता है। माँ की ही तरह वह जीयेगा। उसका अपना कोई अलग से व्यक्तित्व नहीं होगा।

मेरे कहने का सारांश यह कि शिष्य में गर्भ जैसी ग्राहकता होनी चाहिए। वह जो कुछ भी ग्रहण करे, उसे मृत ज्ञान की तरह ग्रहण न करे। ज्ञान को विधि के रूप में ग्रहण करे और यही कारण है कि तंत्र का प्रत्येक महत्वपूर्ण ग्रन्थ शंकर-पार्वती के संवाद से शुरू होता है।

यदि हम इस पर वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो मनुष्य, पुरुष और स्त्री दोनों है। कोई भी मनुष्य न मात्र पुरुष है और न तो मात्र स्त्री है। वह उभयलिंगी है। उसमें दोनों यौन हैं। शंकर का एक रूप अर्ध नारीश्वर का भी है। भारतीय संस्कृति की वह अत्यन्त गहरी धारणा है। कोई भी मनुष्य न पूर्ण पुरुष है और न तो पूर्ण स्त्री है। स्त्री भी न पूर्ण स्त्री है और न तो है पूर्ण पुरुष। इसलिए पार्वती केवल प्रिया ही नहीं, पत्नी ही नहीं, शंकर की अर्धांगिनी भी है। जबतक शिष्य गुरु का अर्धांग नहीं बन जाता है तबतक ज्ञान विज्ञान की उच्च शिक्षा नहीं दी जा सकती। गुह्य विधियों के संबंध में कुछ भी नहीं बतलाया जा सकता। जबतक आप ऐसा नहीं बनेंगे और ऐसा नहीं होंगे तब तक कोई सार्थक लाभ नहीं, मृत ज्ञान का भार ढोते रहेंगे जीवन भर और डूबे रहेंगे अहंकार के सागर में सदैव और यही कारण हैं कि तंत्र का आविर्भाव शंकर-पार्वती द्वारा प्रेम की भाषा में हुआ है।

दो प्रकार की भाषा– भाषा दो प्रकार की होती है पहली है तर्क की भाषा और दूसरी है प्रेम की भाषा। तर्क की भाषा आक्रामक विवादजन्य, अहंकार पूर्ण और हिंसक होती है। तर्क की भाषा का प्रयोग करने वाला व्यक्ति आपके मन पर आक्रमण करता है। अपनीं बात आपसे मनवाने की चेष्टा करता है। अपने पक्ष के सत्य को मनवाने का बराबर प्रयत्न करता है। आप उसके पक्ष के सत्य को स्वीकार कर लें, यह प्रयत्न बराबर करता है वह। बराबर इस बात का भी प्रयास करता है कि आप उसकी बात

को, उसके तर्क को स्वीकार कर लें। वह बराबर यह भी कहता है कि उसका तर्क सही है आपका गलत। तर्क की भाषा 'अहं' पर होती है केन्द्रित। इसलिए वह सिद्ध करता है कि 'मैं सही हूँ' आप गलत हैं। वास्तव में ऐसे व्यक्ति का आपसे कुछ लेना देना नहीं है। उसे तो अपनी बात को आपसे मनवाकर अपने अहंकार को पुष्ट करना है मात्र। बस, इससे अधिक और कुछ नहीं।

•••

प्रेम की भाषा सर्वथा भिन्न है। प्रेम में अपनी नहीं आपकी चिन्ता है। प्रेम में मुझे कुछ सिद्ध और प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अपने अहंकार को दृढ़ करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती। आपकी सहायता करना मेरा अभीष्ट है। मेरी यह करुणा है जो आपको आगे बढ़ने में, आपको अपने आपमें परिवर्तित करने में और आपको नया जीवन देने में सहयोगी सिद्ध होना चाहती है। प्रेम की भाषा में, क्या कहा जाय यह महत्वपूर्ण नहीं है। महत्वपूर्ण है 'कैसे कहा जाय।' प्रेम में शब्द का महत्व नहीं है। महत्व है शब्द के अर्थ का और सन्देश का। प्रेम दो हृदय की मूक वार्ता है। मन से मन का मिलन है। दो आत्माओं का आन्तरिक योग है। प्रेम की भाषा में विवाद नहीं संवाद है। सहभागिता है। महामाया पराशक्ति परमेश्वरी पार्वती, परब्रह्म परमेश्वर की गोद में बैठकर प्रश्न करती है। परमेश्वर उसका उत्तर देते हैं। यह प्रेम संवाद है। प्रेमालाप और उस प्रेमालाप में द्वन्द नहीं है। लगता है परमेश्वर भगवान शंकर स्वयं से ही बोल रहे हों।

प्रेम और प्रेम की भाषा पर इतना जोर क्यों और किसलिए? यह प्रश्न है।

महात्मा बोले- प्रेम, यदि वास्तव में प्रेम है, शरीर के तल पर नहीं, मन के तल पर भी नहीं क्योंकि शरीर और मन का तल बराबर बदलता रहता है। यदि इस तल पर प्रेम है तो उसका भी बदलना निश्चित है। प्रेम, आत्मा के तल पर होना चाहिए, क्योंकि आत्मतल में किसी भी प्रकार परिवर्तन नहीं होता। वह सदैव एक सा रहता है। गुरु के प्रति शिष्य का आत्म तल का प्रेम सम्पूर्ण जीवन दर्शन को और सम्पूर्ण परिदृश्य को बदल देता है। तब शिष्य, गुरु के शब्दों को नहीं सुनता है। वह गुरु को आत्मसात करता है। शब्द व्यर्थ और अप्रासंगिक हो जाता है और मौन महिमावान हो जाता है और तब गुरु-शिष्य का प्रेम करुणावान बन जाता है। करुणा का जन्म प्रेम की पराकाष्ठा है।

इस बात का स्मरण रखना चाहिए कि जब आप प्रेम की गहरायी में होते हैं तब उस अवस्था में आपका मन अपना अस्तित्व खो बैठता है। विसर्जित हो जाता है वह। न अतीत रहता है और न तो रहता है भविष्य उस अवस्था में। बस रहता है वर्तमान।

वर्तमान का क्षण ही महत्वपूर्ण हो जाता है और हो जाता है जब आप प्रेम में डूबे हुए होते हैं उस क्षण वर्तमान ही मात्र समय रहता है। वर्तमान ही सब कुछ होता है- न भूत और न तो भविष्य।

भैरव और भैरवी का अर्थ क्या है? मेरा प्रश्न था। उत्तर मिला- जो अद्वैत के पार चला गया है इसीलिये शंकर को भैरव और पार्वती को भैरवी कहते हैं। जिसे अपने लिंग का बोध न हो। वह स्त्री है या पुरूष। वह पुरूष है या स्त्री। वह भैरव है और है भैरवी।

परमात्मा के लिए कोई शब्द है तो वह है प्रेम। प्रेम में परमात्मा की झलक दिखलायी पड़ती है और यही कारण है कि तंत्र की अभिव्यक्ति प्रेम के द्वारा हुई है और वह भी शंकर पार्वती के प्रेम के द्वारा। प्रेम ही एक ऐसा साधन है जो आपको द्वैत के पार ले जाता है जब प्रेमी और प्रेमिका प्रेम की गहरायी के अन्तिम बिन्दु पर पहुँचते हैं वहां देखने में तो दो होते हैं लेकिन भीतर से एक हो जाते हैं। वहां द्वैत का अतिक्रमण हो जाता है। द्वैत के पार चले जाते हैं दोनों। प्रेम परमात्मा है,परमात्मा ही प्रेम है-तांत्रिक वक्तव्य है। इसका अर्थ है केवल वह यथार्थ है-जो परमात्मा के,भगवत्ता के समीप है क्योंकि प्रेम में एकता का होता है अनुभव। शरीर तो दो रहते हैं लेकिन शरीर से परे जो कुछ है-वह एकाकार हो जाता है मिलकर।

यही कारण है कि यौनेच्छा अति प्रबल है। यौन की भूख बहुत बड़ी है। इतनी बड़ी की कभी शान्त ही नहीं होती। कभी तृप्त भी नहीं होती लेकिन यह सब कुछ 'एकता' के पीछे है। वह एकता यौन की अथवा काम की नहीं है। दो शरीरों को एक होने का धोखा मात्र है काम। दो शरीर एक होते ही नहीं,हो ही नहीं सकते। कुछ समय के लिए दो शरीर आलिंगन में बंधते हैं। उस क्षण अवश्य दोनों एक दूसरे भूल जाते हैं और क्षण भर के लिए शारीरिक एकल का अनुभव भी होता है और उस क्षणिक शारीरिक एकता में शरीर के परे की एकता की झलक भी दिखलायी देती है लेकिन आप उसी शारीरिक एकता के क्षण पर रूक जाते हैं और उस झलक के रूक जाने के कारण समझ नहीं पाते और वंचित रह जाते हैं शारीरिक एकता से परे की एकता को आत्मसात करने से।

थोड़ा रूक कर महात्मा आगे बोले-प्रेम जब अपने उच्चस्तर पर पहुंचता है तो एकता की होती है अनुभूति। वह अनुभूति द्वैत को समाप्त कर देती है। दो का भाव नष्ट हो जाता है। उसी द्वैतहीन प्रेम में उस परे एकता की झलक प्राप्त हो सकती है जिसे तंत्र **भैरव** की अवस्था कहता है। वास्तव में भैरव अवस्था वह अवस्था है जिसे प्रेम के शिखर पर पहुंच कर वापस लौटना नहीं पड़ता और उस शिखर का प्रतीक

है कैलास। जिस पर प्रेमरूपी शिव निवास करते हैं। शिव प्रेम हैं। प्रेम यानि शिव। भैरव वह है जो प्रेममय है। प्रेम के अलावा और कुछ भी नहीं है।

पार्वती गहन प्रेम की अवस्था में है और जब कोई गहरे प्रेम की अवस्था में रहता है तब पहली बार अपने भीतर सत्य का अनुभव करता है। पहली बार उसे अपने आप में सत्य का साक्षात्कार होता है। जब आप प्रेम के सागर में आकण्ठ डूबे हुए होते हैं तब प्रेमी का शरीर आपके सामने से लुप्त हो जाता है,आकार समाप्त हो जाता है और निराकार हो जाता है प्रकट। यही एकमात्र कारण है कि हम प्रेम से इतना भय करते हैं और उससे डरते हैं। हम एक शरीर का सामना कर सकते हैं। हम आकृति का,रूप का सामना कर सकते हैं लेकिन अगाध अन्तहीन अतल का और महाशून्य का सामना नहीं कर सकते। यदि आप किसी से गहनतम् प्रेम करते हैं तो निश्चित रूप से उसका शरीर विलुप्त हो जायेगा। उसके शरीर के अस्तित्व का बोध ही समाप्त हो जायेगा। वह निराकार हो जायेगा आपके लिए। मेरे यह पूछने पर कि सबसे प्राचीन ग्रन्थ कौन सा है इसके उत्तर में महात्मा ने बतलाया कि 'विज्ञान भैरव तंत्र' सर्व प्राचीन है। विज्ञान का अर्थ है सर्वोच्च परम चेतना और भैरव का अर्थ है जिसने उसे स्वीकार किया है। विज्ञान भैरव तंत्र चार हजार वर्ष से भी अधिक प्राचीन है। मनीषियों का मत है कि महाभारत काल में भी इस परम तंत्र ग्रन्थ का अस्तित्व था इसमें संदेह नहीं। वास्तविकता यह है कि वह तंत्र ग्रन्थ सर्वांगीण और सम्पूर्ण है। तंत्र के उस महान ग्रन्थ में ध्यान की एक सौ बारह विधियां हैं। जिनके द्वारा मन के रूपान्तरण का पूरा विज्ञान है। तंत्र मन को और योग प्राण को महत्व देता है। तंत्र की साधना मन से और योग की साधना प्राण से शुरू होती है। वास्तव में विज्ञान भैरव तंत्र मनोसाधना का तंत्र है। उसके लिए मन ही सब कुछ है। एक सौ बारह विधियों में मन को शुद्ध करने के और मन के अतिक्रमण के समस्त उपाय बतलाएं हैं। उनमें सभी सम्भावनाओं का समावेश है।

वे एक सौ बारह विधियां किसी भी धर्म की नहीं हैं। तंत्र एक सर्वोच्च प्रकृष्ट विज्ञान है और कोई भी विज्ञान धर्म और वर्ण की सीमा में नहीं बंधता। इसलिए इस बात को स्मरण रखना चाहिए कि तंत्र हिन्दू धर्म नहीं है। हां! यह अवश्य सत्य है कि वे समस्त विधियां हिन्दू मनीषियों, दिव्य महात्माओं और बम्ह ज्ञानियों द्वारा आविर्भूत हुई है वे विधियां हिन्दू नहीं है। उदाहरण के रूप में जैसे आइन्स्टीन द्वारा प्रतिपादित होने के कारण सापेक्षवाद का सिद्धांत यहूदी नहीं हो जायेगा। रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, बिजली आदि का अविष्कार ईसाई नहीं समझा जायेगा। हाँ! ईसाई मस्तिष्क ने उनका आविष्कार अवश्य किया है। इसी प्रकार 'तंत्र' हिन्दू मस्तिष्क का अविष्कार

है अवश्य लेकिन हिन्दू नहीं है वह। यही कारण है कि उक्त विधियों में किसी भी प्रकार के धार्मिक अनुष्ठान का उल्लेख नहीं है। किसी देवता और किसी देवी-देवता के मन्दिर की आवश्यकता नहीं है। साधक स्वयं देवता है और मन्दिर भी है स्वयं। वह स्वयं प्रयोगशाला है। उसके भीतर ही सभी प्रकार के उन विधियों के अनुसार प्रयोग होते हैं। श्रद्धा विश्वास की भी आवश्यकता नहीं है।

सभी विज्ञान धर्म निरपेक्ष हैं। तंत्र कोई धर्म नहीं है। सम्प्रदाय नहीं है और वर्ण विशेष के लिए भी नहीं है। लोग अपने अहंकार की तुष्टी के लिए सम्प्रदाय बनाते हैं। वर्ण विशेष को महत्व देते हैं। तंत्र के लिए किसी विश्वास की आवश्यकता नहीं। तंत्र की विधियों के प्रयोग करने का महा साहस ही पर्याप्त है। यही तांत्रिक साधना का सौन्दर्य है।

तंत्र साधना मार्ग सभी के लिए- जैसाकि कहा गया है- तंत्र शुद्ध विशुद्ध विज्ञान है। तंत्र किसी भी धर्म का स्पर्श नहीं करता है। आप हिन्दू हैं, आप मुसलमान हैं, आप पारसी हैं, आप ईसाई हैं कोई बात नहीं निःसंकोच तंत्र साधना मार्ग पर चल सकते हैं। तंत्र का कहना है कि धर्म एक सामाजिक समस्या है। आप किसी भी धर्म के हों कोई बात नहीं यह अप्रासंगिक है लेकिन अपने आपको रूपान्तरण के लिए वैज्ञानिक प्रणाली आवश्यक है। आप जरा सोचिए; रोग व्याधि, जाति पाति, धर्म सम्प्रदाय आदि को देखता है। जो रोग हिन्दू को होगा, वही रोग मुसलमान, ईसाई और यहूदी को होगा। जो इलाज हिन्दू का होगा,वही इलाज अन्य का भी होगा। अन्य रोगों की तरह अध्यात्म को भी रोग माना गया है लेकिन वह रोग आत्मा का रोग है और उसका इलाज एकमात्र तंत्र है। आध्यात्मिक रोग क्या है? आपकी अज्ञानता है। आपका मोह है और है आपकी द्वन्दात्मक प्रवृत्ति। आप सोये हुये व्यक्ति हैं। आप अपने लिए अप्रासंगिक हैं। आपका विश्वास अप्रासंगिक है। आपने कहीं जन्म लिया है,यह आकस्मिक है। किसी और ने कहीं और जन्म लिया है, यह संयोगिक है इसलिए अपने अस्तित्व को उनसे अलग रखिये। उनको अपना मत बनाइए। उनमें लिप्त मत होइए। जबतक इस प्रकार लिप्त रहेंगे तबतक आपका रूपान्तरण नहीं होगा। अपने को रूपान्तरित करने के लिए वैज्ञानिक प्रणाली का उपयोग करिए और वह वैज्ञानिक प्रणाली है तंत्र। तंत्र की वैज्ञानिक पद्धति अति गुह्य है इसीलिए इसका प्रचार प्रसार सीमित रहा लेकिन फिर भी तंत्र को जितना जाना समझा गया वह त्रुटिपूर्ण और भ्रमपूर्ण ही रहा। इसका कारण है और वह यह कि जो विज्ञान जितना ऊंचा होगा और जितना ही शुद्ध होगा, उतना ही रहस्यमय भी होगा और उतना ही कम लोग उसे जान समझ सकेंगे। सापेक्षवाद के सिद्धान्त को ही लीजिए। आइन्स्टीन के जीवन काल में

सापेक्षवाद के सिद्धान्त को केवल कुछ ही व्यक्ति ठीक से समझ सके थे। स्वयं आइन्स्टीन को दूसरों को अपने सिद्धान्त को समझाना कठिन था। उसके योग्य बनाना और भी कठिन था क्योंकि वह सिद्धान्त इतना ऊंचा और गहरा था कि उसमें सभी के लिए गति संभव नहीं थी लेकिन बाद में सापेक्षवाद के सिद्धान्तों को समझा गया। उसके तकनीकि को और उसकी गणतीय रीति को भी समझा गया और फिर उसे प्रशिक्षण द्वारा उस सिद्धान्त की गहरायी में उतारा गया और तब सुलभ हुआ वह परम सिद्धान्त सर्व साधारण के लिए लेकिन तंत्र उससे कहीं अधिक कठिन और जटिल है। तंत्र को जानने समझने और उसकी गहरायी में प्रवेश करने के लिए केवल रूपान्तरण की आवश्यकता है अन्य किसी वस्तु की नहीं।

तंत्र के प्रति भ्रामक धारणा क्यों– यही कारण है कि जन साधारण लोग तंत्र को समझ न सके। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि लोग किसी चीज को समझ नहीं जाते हैं तो उसके प्रति निश्चित रूप से गलत धारणा बना लेते हैं। भ्रामक विचार उत्पन्न होने लगता है मन में। तंत्र की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह आपको द्वैत के पार ले जाता है और अद्वैत का अनुभव कराता है इसलिए तंत्र की दृष्टि अति नैतिक है। नैतिक और अनैतिक को तो आप समझते हैं लेकिन अति नैतिक क्या है? जो वस्तु नैतिक और अनैतिक के पार चली जाती है तो उसे अति नैतिक कहते हैं और जब कोई चीज अति नैतिक हो जाती है तो उसे समझना अत्यन्त कठिन हो जाता है। दुष्कर हो जाता है उसे समझना। तंत्र अति नैतिक है। वह औषधि की तरह है। औषधि भी अति नैतिक है। वह नैतिक अनैतिक नहीं,अति नैतिक है। चोर औषधि। खायेगा तो उसे भी लाभ पहुंचेगा और साधु भी खायेगा तो उसे भी उसी प्रकार का लाभ पहुंचेगा। औषधि यह नहीं कहेगी कि चोर है तो उसे लाभ नहीं पहुंचाऊंगी! सन्त को ही पहुंचाऊंगी। औषधि भी वैज्ञानिक है और है अति नैतिक। चोर को भी अपने गुण और प्रभाव से स्वस्थ करेगी और साधु को भी। दोनों में भेद नहीं करेगी। दोनों उसके लिए बराबर हैं। समान हैं। तंत्र भी अति नैतिक है। वह आपसे यह नहीं कहता है कि पहले आप नैतिक बने और तब साधना करें। वैसे ही जैसे कोई वैद्य रोगी से कहे कि पहले वह ठीक हो ले तब दवा करे। तंत्र के लिए यह बात मूर्खता पूर्ण है। वह ऐसी बात नहीं करता। उसके लिए यह बात तो आत्मघाती है। कोई चोर है। कोई शराबी है। कोई चरित्रहीन है। कोई बदमाश है। कोई ठग है और वह ध्यान यदि करना चाहता है। जप करना चाहता है। योग करना चाहता है। प्राणायाम करना चाहता है तो क्या तंत्र उसे मना करेगा! नहीं कभी भी नहीं ! क्योंकि तंत्र यह जानता है कि जितने दुर्गुण हैं वे सब अशान्त और रूग्ण चित्त के प्रभाव हैं और परिणाम हैं।

जब दुर्गुण रहेगा ही नहीं तो फिर ध्यान, योग, जप, साधना आदि की आवश्यकता ही क्यों?

तंत्र अति नैतिक है : तंत्र कहता है कि किसी भी प्रकार की नैतिकता की आवश्यकता नहीं। क्योंकि आप स्वयं अनैतिक हैं। क्योंकि आपका चित्त अशान्त है। विक्षिप्त है। रूग्ण है। सोया हुआ है। अनैतिक का यह मुख्य लक्षण है और आपकी इसी अनैतिक के कारण परिवार, समाज और संसार में सारे उपद्रव होते हैं।

ध्यान, अनैतिकता की औषधि है। ध्यान आपसे यह नहीं पूछता है कि आप हैं कौन? बस आपका मनुष्य होना ही बहुत है उसके लिए। आप जहां भी हैं। जो भी हैं और जिस स्थिति में हैं वह स्वीकृत है तंत्र के लिए। जैसाकि बतलाया गया है समस्त साधनाओं में और समस्त प्रकार के योगों में। ध्यान साधना और योग साधना सर्वोपरि है और ध्यान की एक सौ बारह विधियों में से आप कोई भी विधि अपनी इच्छानुसार स्वीकार कर लें और अपनी पूरी शक्ति के साथ उसमें जुट जायें और फिर आप वही नहीं रह जायेंगे। आपका रूपान्तरण होने लग जायेगा और परिवर्तन होने लग जायेगा अपने आपके सोच विचार में, कर्म में, व्यवहार में, वाणी में, मन में, हृदय में और आत्मा में भी। आज जो कुछ भी है वह भविष्य में नहीं रह जायेंगे। आप पूर्णरूप से दैवी शक्ति सम्पन्न और नैतिक हो जायेंगे।

केवल उपदेश से कोई परिवर्तन नहीं : तंत्र के किसी भी प्रामाणिक विधि के बिना मनुष्य में किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं है। मात्र केवल उपदेश से किसी भी प्रकार का परिवर्तन सम्भव नहीं। आध्यात्मिक भूमि में उपदेश का महत्व समझा जाता है। यदि इस संसार में कोई वस्तु सबसे सस्ती है तो वह है उपदेश। लेकिन केवल उपदेश से सब कुछ होता जाता नहीं। न विचारों में, न भावों में, न मन में और न तो आत्मा में कोई परिवर्तन होता है। जबतक उपदेश सुन रहें हैं तबतक तो आप ठीक हैं और उपदेश समाप्त होते ही आप फिर जैसे के तैसे हो जाते हैं। उपदेश का प्रभाव समाप्त।

आज उपदेशकों का अभाव नहीं। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो आज का आध्यात्म उपदेशों पर ही निर्भर है। अपने को ब्रह्मज्ञानी, सन्त महात्मा और धर्माचार्य कहने वाले लोग उपदेशक हैं। बस उपदेश देते चले जाते हैं क्योंकि उपदेश सुनना थोड़ा अच्छा लगता है। उपदेशक गण क्रोध को पाप का मूल बतलाते हैं। क्रोध करने को मना करते हैं लेकिन क्रोध उत्पन्न न हो इसके लिए कोई उपाय या विधि नहीं बतलाते।

क्रोध के संबंध में आपने बहुत सारा उपदेश सुना होगा। क्या आपने उपदेशक

से यह प्रश्न किया है- कि वो क्या कहते हैं? मैं क्रोधी हूँ और आप कहते हैं क्रोध मत करो! यह कैसे सम्भव है। जब मैं क्रोध से भरा हूँ तो मैं क्रोधी ही हूँ और आप कहते हैं कि क्रोध मत करो? ....तो क्या मैं अपना दमन करूँ? लेकिन दमन से तो और अधिक क्रोध उत्पन्न होगा। उससे तो अपराध का भाव जन्म लेगा। यदि मैं अपने को बदलने का प्रयास करूँ तो अपने आपमें हीनता का बोध होगा और हीनता बोध से अपराध का भाव कि मैं कमजोर हूँ , निकम्मा हूँ ,जोकि क्रोध पर विजय प्राप्त न कर सका। यदि विचार पूर्वक देखा जाय तो क्रोध पर विजय प्राप्त करना असम्भव है। जब भगवान श्री कृष्ण को क्रोध आ गया तो हम सब की क्या बात। हाँ एक बात अवश्य है क्रोध के लिए। उसके लिए एक विधि की आवश्यकता है क्योंकि क्रोध समस्त दुर्गुणों में श्रेष्ठ है, अशान्त चित्त का लक्षण है। जिसका मन जितना अशान्त और अस्थिर होगा वह उतना ही व्यग्र होगा और उतना ही क्रोधी भी होगा। तंत्र कहता है कि 'अशान्त मन' को बदलें, लक्षण अपने आप बदल जायेगा। क्रोध इतना ही प्रदर्शित करता है कि आपके भीतर क्या है? इसलिए भीतर को बदलें बाहर स्वयं बदल जायेगा।

इसलिए तंत्र आपकी नैतिकता को महत्व नहीं देता उसकी चिन्ता नहीं करता। क्योंकि नैतिकता पर जोर देना क्षुद्रता है, अपमान जनक है, अमानुषिक है, मूर्खता है। सभी उपदेशक अपने श्रोताओं को अमानुषिक और अनैतिक समझते हैं। तभी तो क्रोध छोड़ने का उपदेश देते हैं लोगों को। कहते हैं लोभ का त्याग करो, असत्य मत बोलो परस्त्री की कामना मत करो, ईर्ष्या मत करो, द्वेष मत करो। इससे स्पष्ट है। ये सब सुन कर निश्चय ही आप अपने आपको अनैतिक समझेंगे। आपमें दीनता हीनता का भाव उत्पन्न होगा अपने आप। पतित समझेंगे अपने आपको क्योंकि आप कुछ छोड़ना चाहे भी तो छोड़ नहीं सकते। कोई भी व्यसन ऐसा नहीं है और कोई भी दुर्गुण ऐसा नहीं है, जिसे सरलता और सहजता से छोड़ा जा सके इसलिए उपदेश सुन कर अपने आप में हीनता का अनुभव होना स्वाभाविक है। स्वयं समझाने लग जायेंगे आप अपने को अमानुषिक। अन्त में आप अपने को पापी समझने लग जायेंगे। तभी तो आप कहते हैं- **पापो...हं पाप कर्माहं, पापत्या पाप सम्भव......।**

ऐसा बोध उपदेशकों, धर्माचार्यों की देन है। इन सब अवतारी महापुरुषों ने लोगों को अपने-अपने मनगढ़न्त उपदेशों से भली भांति यह समझा देते हैं कि कुल मिला कर आप पापी हैं और आप अपने आपको पूर्णरूप से समझ भी लेते हैं पापी। उपदेशकगण तो यही चाहते हैं कि आप अपने को पापी समझें। उनके लिए यह शुभ है, अच्छा है। इसमें उनकी गरिमा है और है महत्व। जबतक आप अपने को पापी नहीं समझेंगे तबतक उनका व्यापार नहीं चलेगा। आपको अपने को पापी समझना ही होगा। आपको ज्ञात होना चाहिए कि आपकी यह 'समझ' पर ही गिरजाघर, मस्जिद, मठ और

मन्दिर उन्नति करते हैं। उनका विकास होता है और आपके आकर्षण का केन्द्र भी बनते हैं। इतना ही नहीं धर्माचार्य, प्रवचनकर्ता और धर्मोपदेशक भी फलते फूलते हैं और अपना आडम्बर,पाखण्ड फैलाते हैं और आप उनकी जय-जयकार करते हैं, सम्मान करते हैं और चरण स्पर्श कर अपने आपको धन्य समझते हैं। तथाकथित अवतारी महापुरूषों का अपने उपदेशों द्वारा और अपने प्रवचनों द्वारा और पौराणिक कथाओं द्वारा केवल आपको अपने आप में किसी भी प्रकार अपराध का, पाप का, हीनता का और दीनता का बोध कराना मात्र है। इसके अलावा और कुछ भी नहीं। आप जितना गहरा अपने आपमें बोध करेंगे उतना ही आप दान पुण्य करेंगे। देव दर्शन करेंगे। मन्दिरों में लाइन लगायेंगे। व्रत उपवास रखेंगे, तीर्थ यात्रा करेंगे और न जाने क्या-क्या करेंगे।

तंत्र का कहना है कि इसी प्रकार के बोध मन में ग्लानि उत्पन्न करते हैं। मनुष्य उसी ग्लानि के कारण अपनी चेतना का विकास भी नहीं कर पाता। इस प्रकार के बोध से बचने का एकमात्र उपाय है ध्यान।

तंत्र का विरोध और उपेक्षा क्यों? कालीदास मुखोपाध्याय के पश्चात् जिस तंत्र साधक से मेरा साक्षात्कार हुआ वे थे कालीपद गुहराय। गुहराय महाशय तंत्र के निष्णात विद्वान तो थे ही इसके अतिरिक्त उच्च कोटि के साधक भी थे। मैंने उनकी चर्चा यत्र तत्र की भी है अपनी पुस्तकों में। तंत्र के संबंध में उनका कहना था कि तंत्र आपकी नैतिकता का और आपकी सामाजिक व्यवस्था का और धार्मिक रीति रिवाज का विरोधी नहीं है। उसकी चिन्ता उसे नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं समझ लेना चाहिए कि तंत्र आपको अनैतिक होने को कहता है। ऐसी बात नहीं है। जब तंत्र आपको नैतिक होने की ही चिन्ता नहीं करता है तब क्यों वह आपको अनैतिक होने के लिए कहेगा।

तंत्र तो आपको वैज्ञानिक विधि बतलाता है कि कैसे मन को बदला जाय? कैसे उसमें परिवर्तन लाया जाये? एक बार भी मन बदला, एक बार भी परिवर्तन हुआ कि दूसरे क्षण आपका चरित्र दूसरा हो जायेगा। आपमें तत्काल आमूलचूल परिवर्तन हो जायेगा।

आप जानते हैं गुहराय महाशय आगे बोले- तंत्र के इसी अनैतिक परामर्श के कारण तंत्र शास्त्र और तांत्रिक साधक तथाकथित सन्त महात्माओं, धर्माचार्यों, प्रवचन कर्ताओं और उपदेशकों को सहन नहीं हुआ। वे सब के सब विरोध में खड़े हो गये क्योंकि यदि तंत्र सफल होता है तो धर्म, साधना-उपासना और सारा कर्मकाण्ड और उनके नाम पर होने वाले आडम्बर और पाखण्ड पर कुठाराघात हो जायेगा। लोग

सतर्क हो जायेंगे। उनकी नासमझी समाप्त हो जायेगी। आपको इस प्रसंग में ज्ञात होना चाहिए कि ईसाईयत शुरू से ही वैज्ञानिक प्रगति के विरूद्ध रही है। उसके विरोध में आज तक लड़ रही है।

ईसाईयत की यह सोच थी कि यदि भौतिक जगत में विज्ञान की उन्नति हुई और उसकी प्रगति हुई तो निश्चय ही एक न एक दिन विज्ञान और मनोविज्ञान धार्मिक जगत में प्रवेश कर जायेगा इसीलिए ईसाईयत वैज्ञानिक जगत के विरूद्ध सदैव से रही है और आज भी है।

यदि एक बार भी आप जान समझ गये कि आप विधियों के द्वारा पदार्थ को परिवर्तित कर सकते हैं तो किसी न किसी दिन आप यह भी अच्छी तरह जान समझ लेगें कि विधियों द्वारा मन को भी बदला जा सकता है। क्योंकि 'मन' सूक्ष्म पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है इसीलिए उसको बदला जा सकता है और यदि मन बदल गया तो समझिये संसार बदल गया। क्योंकि आपके जीवन का समस्त कार्यकलाप मन पर ही आधारित है। आप मन के द्वारा ही संसार को देखते हैं और जब मन बदल जायेगा तो संसार का एक भिन्न रूप आपके सामने खड़ा हो जायेगा। पहले वाला उसका रूप तिरोहित हो जायेगा। आपको स्वयं आश्चर्य होगा।

सत्य का दर्शन कब? संसार ही नहीं बदलेगा, आप भी बदल जायेंगे। इसके बाद एक और अवस्था है और वह है 'अ-मन' की अवस्था! वह तंत्र का आत्यंतिक लक्ष्य है कि एक ऐसी अवस्था आ जाय जहां 'मन' ही न रहे और आप बिना मन के संसार को देखें। आपके और संसार के बीच मन का अस्तित्व रहे ही नहीं। इस 'अ-मन' की अवस्था में संसार का सत्य आपके सामने स्वयं अपने आप आ जायेगा और वह सत्य परम सत्य होगा। तंत्र का कहना है कि इसी अवस्था का नाम 'भैरव' है और इस अवस्था में परम सत्य की जो अनुभूति होती है, उसका नाम है 'भैरवी'।

आपके पिछले कई जन्मों का संसार आपके मन में भरा रहता है और उसी संस्कार के आधार पर मन के माध्यम से आप संसार को देखते हैं और जो देखते हैं वह आपके मन के द्वारा ही रचा हुआ होता है और जब आपका मन बदल जाता है तो संसार का जो वास्तविक रूप है वह आपके सामने आ जाता है। पहले आप मन को बदलिए और उसके बाद उस बदले हुए मन को 'अ-मन' की स्थिति में लाईए। यह ध्यान के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रसंग में यहां बतला देना आवश्यक है कि जो ध्यान की एक सौ बारह विधियां हैं उनमें से कुछ विधियां ही आज के मनुष्य के लिए सम्भव है, सभी नहीं। इसलिए कि जब उन विधियों का आविर्भाव हुआ था उस समय मनुष्य की मानसिक चेतना उच्चावस्था में थी। वर्तमान समय में वैसी मानसिक चेतना

का पूर्ण अभाद है।

योगात्मा गंगा माँ की पूर्ण समाधि– कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थी जिसके फलस्वरूप कलकत्ता में अधिक रहना पड़ गया था। वाराणसी जब भी आता तो इतना व्यस्त हो जाता कि गंगा माँ का न कर पाता दर्शन। संयोग ऐसा था कि उस समय गुरू पूर्णिमा के अवसर पर वाराणसी में ही था मैं। एक मेरे मित्र थे। संन्यासी थे। नाम था हरिशंकर। गंगा माँ से परिचित थे। एक दिन रास्ते में मिल गये। बोले-अरे भाई शर्माजी, जानते हो गंगा माँ समाधि लेने वाली हैं। तुमको बहुत स्मरण करती हैं। शीघ्र मिल लो उस महात्मा से।

यह सुन कर स्तब्ध रह गया मैं और फिर रहा न गया मुझसे। तुरन्त गंगा माँ के स्थान पर गया। सायंकाल का समय था। अपने छोटे से कमरे में तख्त पर लेटी हुई थी वह महा साधिका। नेत्र बन्द थे। निर्भाव चेहरा। पूरा शरीर चादर से ढका हुआ था उस समय। पैर की ओर खड़ा होकर अपलक काफी देर तक उस योगात्मा के चेहरे की ओर निहारता रहा मैं। शान्त निर्विकार, स्पन्दनहीन बरबस आंखों में छलछला आये आंसू। रहा न गया फिर सफेद हो रहे दोनों कोमल चरणों को दोनों हाथों से थाम कर अपना रख दिया सिर और फिर आंसुओं से भीगने लगे उस महान और दिव्यात्मा के चरण। क्षण-क्षण कर बीतता जा रहा था समय। थोड़ी देर बाद माँ के नेत्र धीरे-धीरे खुले और फिर स्थिर दृष्टि से देखा मेरी ओर उन्होंने। हे भगवान ! कैसी थी वह दृष्टि, शान्त, निर्विकार, दया, अनुकम्पा और करूणा के मिले जुले भावों से भरी हुई। ऐसा लगा कुछ कहना चाहती है वह योगात्मा अपनी आँखों की मूक भाषा में। काश ! समझ पाता उस समय उस भाषा को। फिर तो जो होना था वह हो ही गया। सदैव -सदैव के लिए बन्द हो गयी वे आँखे। पूरा शरीर एक बार जोर से कांपा और फिर सब कुछ शान्त। पूर्ण समाधि ले ली थी गंगा माँ ने। लगा जैसे उनको मेरी ही प्रतीक्षा थी। मेरी ही राह देख रही थी वह इसमें सन्देह नहीं।

परकाया सिद्धयोगी मणिरत्न– लगभग दो वर्ष बाद, सावन भादों का महीना था। सांझ का समय। मैं नित्य की भांति लाली घाट की सीढ़ियों पर मौन बैठा गालों पर हाथ धरे बगल में जलती हुई चिताओं को देख रहा था। न जाने कैसी अबूझ सी शान्ति मिलती थी मुझे उस अवस्था में।

एकाएक मेरी दृष्टि घूम गयी। देखा लाली घाट की सीढ़ियां चढ़ कर एक लम्बी चौड़ी कद काठी का साधू आ रहा था ऊपर और जब वह और ऊपर आया तो दंग रह गया मैं एकबारगी। आश्चर्य से देखने लगा मैं उस साधु को। पहचानने में थोड़ी देर अवश्य हुई लेकिन बाद में सब स्पष्ट हो गया। मेरे सामने खड़े थे परकाया सिद्ध

महायोगी मणिरत्न। झुक कर चरण स्पर्श किया मैंने। पहचाना मुझे साधु हँस कर बोला- याद है वह गुफा।

हां महाराज! मैं थोड़ा मुस्कुरा कर बोला- भला कैसे भूलूंगा मैं उस हिम गुफा को। यदि भूल गया होता तो कैसे मैं पहचानता गंगा माँ के गुरू स्वामी प्रणवानन्द की काया को और कैसे पहचानता उनकी काया में प्रविष्ट होकर साधना को पूर्ण करने वाले योगी मणिरत्न की आत्मा को। मेरी बात सुन कर हो-हो कर हँसने लगा योगी। जब हँसी थमी तो बोला- पार्थिव काया में रह कर जो साधना पूर्ण करनी थी वह तो हो गयी। अब अपनी योग मण्डली में जाना है इसलिए इस पार्थिव काया को विसर्जित करना होगा।

कहां करेंगे विसर्जित? इसी काशी में। इसी उद्देश्य से तो आना हुआ है मेरा यहां। थोड़ा गम्भीर होकर उत्तर दिया योगी ने। क्या फिर कभी साधना के निमित्त आपको स्थूल शरीर की आवश्यकता पड़ेगी भविष्य में।

कुछ क्षण मौन रह कर मणिरत्न बोले- सच बात तो यह है कि कोई भी साधना क्यों न हो बिना पार्थिव काया के सम्भव नहीं। इसलिए कि किसी अन्य शरीर द्वारा सम्भव नहीं है साधना। यही कारण है कि उच्च कोटि की योगात्माएं भी साधना के निमित्त पार्थिव काया की आवश्यकता का अनुभव करती है कभी-कभी। सम्भव है पुनः मुझे स्थूल शरीर की आवश्यकता पड़े।

इसका कारण क्या है?

कारण अतिशय महत्व का है। आपको ज्ञात होना चाहिए कि पंचतत्वों से सम्पूर्ण विश्व ब्रम्हाण्ड की रचना हुई और उन्ही पंचतत्वों और साथ ही पंच तन्मात्राओं से मानव शरीर भी होता है निर्मित। वास्तव में ब्रम्हाण्ड का लघु संस्करण है मानव शरीर और यही कारण है कि जो कुछ भी ब्रम्हाण्ड में है वह सब कुछ मानव शरीर में भी है। विश्व ब्रम्हाण्ड में न जाने कितने लोक-लोकान्तर हैं और जितने लोक-लोकान्तर हैं उतने शरीर हैं। सभी लोक-लोकान्तरों के अपने-अपने शरीर हैं किन्तु जो विशेषताएं मानव शरीर में है, वे विशेषताएं अन्य शरीरों में नहीं है। किसी में एक तत्व है तो किसी में दो या तीन। पांचों तत्व किसी में एक साथ नहीं है। दूसरी बात यह है कि मानव शरीर एक ऐसे केन्द्र में है जिसके द्वारा किसी भी लोक-लोकान्तरों में जाया जा सकता है। ब्रम्हाण्ड की ऊर्ध्व यात्रा भी सम्भव है और अधो यात्रा भी। लेकिन बन्धु, ये सारी विशेषताएं होते हुए भी मानव शरीर में चेतना का स्तर निम्न ही रहता है। जिसके कारण बौद्धिक विकास तो कर पाता है लेकिन आत्मिक विकास नहीं। आत्मिक विकास होने पर ही आत्मा आध्यात्म तत्व को होती

है उपलब्ध। मानव जाति में लाखों करोड़ों मनुष्यों में किसी एक की चेतना उच्चस्तर पर पहुंचती है और वह उपलब्ध होता है आध्यात्म तत्व को।

चेतना का स्तर निम्न क्यों होता है?

ईर्ष्या, द्वेष, मोह माया, अहंकार, भ्रम, सन्देह, असत्य भाषण, कपट, क्रोध, लोभ, आदि इसके कारण हैं। जिसके फलस्वरूप चेतना का स्तर बराबर निम्न ही रहता है मनुष्य का। चेतना के विकास के लिए क्या करना चाहिए? मेरे इस प्रश्न के उत्तर में योगी ने कहा- पहला है अहंकार का अभाव, क्रोध का अभाव, सेवा भाव, प्रेम भाव, निष्काम भाव, त्याग भाव, निरपेक्ष भाव और धर्मानुकूल आचरण। इनसे चेतना का स्तर ऊपर उठता जाता है और जब चेतना का क्रमशः विकास होने लगता है तो स्वयं अपने आप मानसिक विकास, बुद्धि का विकास, ज्ञान के विकास के साथ-साथ आत्मा का भी विकास होने लग जाता है। इन्ही सब विकासों को 'तप' कहते हैं।

थोड़ा रूककर मणिरत्न आगे बोले- अन्य लोक-लोकान्तरों की उच्चस्तरीय चेतना को उपलब्ध दिव्यात्माएं मानव चेतना के विकास के लिए अपना सहयोग देना चाहती हैं और अगोचर रूप से प्रायः देती रहती है। पृथ्वी पर आने की भी उनकी इच्छा होती है कभी-कभी। लेकिन इसके लिए वे प्रायः हिचकती भी है। उन्हें इस बात का बराबर भय रहता है कि पृथ्वी का जो मायिक वातावरण है उसमें प्रवेश करने पर उनकी उच्चस्तरीय दिव्य चेतना प्रभावित होकर मानवीय चेतना का रूप धारण न कर ले और बाध्य होना पड़े उनकी आत्मा को पृथ्वी पर जन्म लेने के लिए। आप इस बात को अच्छी तरह समझ लें कि पृथ्वी का आकर्षण मायाजाल बड़ा ही विचित्र है। किसी भी लोक-लोकान्तर के शुद्ध-विशुद्ध और उच्चस्तरीय दिव्यात्मा उस जाल में फंसना नहीं चाहती । मानव कल्याण की भावना से करूणावश कोई दिव्यात्मा आ भी गयी तो पृथ्वी के वातावरण से मुक्त होने के लिए घोर संघर्ष करना पड़ता है उसे। मानवी चेतना निम्नस्तर की होने के कारण लोग उस महान दिव्यात्मा को न जान पाते हैं और न तो समझ ही पाते हैं। बड़ी ही दयनीय अवस्था होती है उनकी संसार में। सबसे बड़ी बात तो यह है कि वे अपने वास्तविक स्वरूप से लोगों को परिचित भी तो नहीं कराना चाहते। वे सोचते हैं कि कोई स्वयं उन्हे जाने समझे और अपना कल्याण कर ले। यह बात तो निश्चित है कि जो उनको जान लेता है और उनके वास्तविक स्वरूप से परिचित हो जाता है तो उसका भौतिक कल्याण तो होता ही है; साथ ही साथ आत्मिक कल्याण भी होता है इसमें सन्देह नहीं। कठिनाई तो इस बात की है कि निम्न स्तर की चेतना का मनुष्य स्वयं कैसे जान समझ सकता है। वह तो

उनको साधारण मानव ही समझेगा। आप अपने को ही लीजिए आपकी चेतना विकासोन्मुखःहै और यही कारण है कि आप गंगा माँ जैसी योगात्मा के सान्निध्य में आये और लाभान्वित हुए। इसी प्रकार आपका सम्पर्क और संबंध कई योगात्माओं और दिव्य महापुरूषों, सिद्ध साधकों और महात्माओं से हुआ अब तक। आप स्वयं समझ सकते हैं। मैं जानता हूं और देख भी रहा हूं कि निरन्तर आपकी आत्म चेतना का स्तर ऊपर उठता ही जा रहा है। अन्त में एक स्थिति ऐसी आयेगी कि संसार आपसे दूर हो जायेगा और एकाकी हो जायेंगे। आप जानते हैं इस परम अवस्था को क्या कहते हैं ? कहते हैं कैवल्य अवस्था।

यह सुनकर अवाक् देखता रहा मैं उस परम दिव्य पुरूष की ओर न जाने कब तक सचमुच अपने आपमें परम शून्य का अनुभव करता हूं। लगता है सब कुछ अपने आप छूट गया है मुझसे। संसार, समाज, परिवार कहीं कोई आकर्षण नहीं, मोह माया नहीं, जीवन के प्रति घोर विरक्ति, शरीर के प्रति घोर उपेक्षा, भीतर कोई विचार भी नहीं, चारो ओर शून्य शून्य और शून्य और शून्य में एकाकी केवल मैं। क्या यही कैवल्य की अवस्था है? कौन देगा मेरे इस प्रश्न का उत्तर। न जाने कैसे अतीत में भटक गया था मैं। मणिरत्न की आवाज कानों में न पड़ती तो... मणिरत्न कह रहे थे- क्या देख रहें हैं मेरी ओर शर्माजी? आइए चलें आश्रम में।

कौन से आश्रम में ठहरे हैं आप? गंगा माँ के आश्रम में। सहज भाव से उत्तर दिया मणिरत्न ने। सुन कर चौंक पड़ा मैं एकबारगी। गंगा माँ के आश्रम में? लेकिन उन्होने महासमाधि ले ली है। अब तो इस संसार में कहां हैं वह योगात्मा।

मुझे ज्ञात है। सहज थी योगी की वाणी। मेरा आश्चर्य चकित होना स्वाभाविक था। एक बार सिर घुमा कर मणिरत्न की ओर देखते हुए बोला- क्या गंगा माँ को यह ज्ञात था कि आपने उनके गुरु के शरीर में प्रवेश किया है?

हाँ! सब कुछ जानती थी गंगा माँ।

........तो उनके जीवन काल में आप क्यों नहीं आये! क्या कारण था? इसलिए कि वे नहीं चाहती थी अपने गुरु की मृत काया को देखना। उनको यह भी स्वीकार नहीं था कि गुरु के मृत शरीर का कोई अन्य योगी करे! थोड़ा रूक कर गंभीर स्वर में मणिरत्न बोले- गंगा माँ यह जानना चाहती थी कि उनके गुरु की मृत काया का उपयोग किस उद्देश्य से कौन योगी कर रहा है और इसीलिए आपको गुफा में भेजा था लेकिन मैंने तो कुछ भी नहीं बतलाया था।

हँस पड़े योगी मेरी बात सुन कर। बोले- जैसे आपने बतलाना आवश्यक नहीं

समझा वैसे वे आपसे जानने के लिए इच्छुक भी नहीं थी। इसलिए कि आप जब अपने शरीर में वापस लौटे तो आपकी आत्मा से तादात्म स्थापित कर तत्काल जान गयी थी वे सारा रहस्य। समझ गये न। योगी की माया बड़ी विचित्र होती है बन्धु! यह कह कर जोर से हो हो कर हंसने लगे महाशय।

मैं अवाक् मुंह बाये देखने लगा मणिरत्न की ओर! क्या बोलता लेकिन कुछ जिज्ञासा थी। सहज होकर बोला- गंगा माँ के ढेर सारे शिष्य और शिष्याएं हैं? क्या उन लोगों ने आपको पहचाना नहीं। कैसे भला पहचानेंगे? सभी तो गंगा माँ की तरह योगी नहीं है। सभी तो गंगा माँ के सद्गुरु प्रणवानन्द से भली भांति परिचित थे नहीं और उनका शरीर उनके सामने था। कौन जानता था कि उनके शरीर में और किसी की आत्मा है? संसार तो शरीर को जानता पहचानता है। शरीर के भीतर कौन सी और किसकी आत्मा है? वह भला कैसे किसी को ज्ञात होगा।

मौन साध गया मैं। आश्रम में चला गया। मणिरत्न का कहना सत्य था। आश्रम के सभी लोग सद्गुरु प्रणवानन्द ही समझ रहे थे। उनके गुरु के गुरु का पर्दापण आश्रम में हुआ है इसलिए सभी प्रसन्न थे और उनके स्वागत सत्कार में लगे हुए थे।

प्रणवानन्द की मृत काया का विसर्जन- जब आश्रमवासियों को यह ज्ञात हुआ कि सद्गुरु प्रणवानन्द अक्षय तृतीया को शरीर त्याग करेंगे तो सभी का मुंह लटक गया। पूरे आश्रम में बिखर गयी उदासी! सन्नाटा पसर गया वातावरण में लेकिन मेरा आश्रम में प्रायः रोज सायंकाल जाना होता था और घंटो बातें भी होती थी मणिरत्न महाशय से। सारे रहस्य से परिचित होने पर भी मौन था मैं। यदि खोलता भी तो किसके सामने और कौन करता विश्वास?

मणिरत्न बराबर अन्तर्मुखी रहने लगे थे। कम बोलते थे। समाधि की अवस्था में अधिक समय व्यतीत होता था उनका। एक दिन मैंने सहज भाव से प्रश्न किया- आप शरीर त्याग के पश्चात् कहां की अन्तर्यात्रा करेंगे?

उस समय मणिरत्न सहज समाधि की अवस्था में थे। मेरा प्रश्न सुन कर धीरे धीरे अपनी आंखे खोली उन्होने और एक बार स्थिर दृष्टि से देखा मेरी ओर। फिर गम्भीर स्वर में बोले- अभी तो पुनः योगाश्रम में ही कुछ समय के लिए जाना होगा। तत्पश्चात् सिद्धाश्रम में प्रवेश होगा। लेकिन जहां तक महानिर्वाण का प्रश्न है जो योग मार्ग का अन्तिम लक्ष्य है उसकी उपलब्धि के लिए एक बार अवश्य मानव शरीर की आवश्यकता पड़ेगी मुझे। क्या आप पुनः परकाया प्रवेश करेंगे? नहीं! उच्च्व कोटि की योगात्माएं साधारण मृत काया में प्रवेश नहीं करती। अनेक प्रकार की सांसारिक और

पारिवारिक परेशानियों का करना पड़ता है सामना योगात्मा को। उसके अतिरिक्त साधना में भारी विघ्न पड़ने की भी तो आशंका रहती है। उत्तम स्वास्थ्य और उच्च वर्ण का मृत शरीर हो। उसमें रहने वाली आत्मा संस्कार सम्पन्न, साधना सम्पन्न और पुण्यवान रही हो, तो ऐसे मृत शरीर में परकाया सफल होती है और उसमें प्रवेश कर योगात्मा अपनी साधना के लक्ष्य को प्राप्त कर सकती है। मुझे ही ले लीजिए; मैं स्वयं उदाहरण हूं। हां! ठीक कहा आपने !.....तो महानिर्वाण को उपलब्ध होने के लिए भी ऐसी ही मृत काया की आवश्यकता पड़ेगी आपको?

नहीं; सिर उठाकर शून्य में देखते हुए योगी महाशय गम्भीर स्वर में बोले- महा निर्वाण के लिए परकाया की नहीं योग्य गर्भ की आवश्यकता पड़ती है और साध ाना के निमित्त जिससे महानिर्वाण की उपलब्धि होती है। योगजन्य गर्भ को प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। सद्‌गुरु की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा। इतना कह कर उस महान योगी ने एक लम्बी जम्हाई ली और अपने नेत्रों को बन्द कर लिया। कहने की आवश्यकता नहीं उस दिव्य पुरूष से मेरी यह अन्तिम वार्ता थी।

अन्त में आश्चर्य की बात है। संयोग ही कहा जायेगा इसे। सन् २०१० ई. का मई है और है १६ तारीख और है अक्षय तृतीया आज! आज के ही दिन प्रातः काल मणिरत्न ने गंगा माँ के गुरु प्रणवानन्द की मृत काया का त्याग कर अपनी दिव्य काया द्वारा योगाश्रम की यात्रा की थी और आज के ही दिन अपनी इस पुस्तक का अन्तिम पृष्ठ लिख भी रहा हँ। क्या कहेंगे? संयोग ही कहेंगे न आप?

एक दिन पूर्व ही चला गया मैं आश्रम। रात्रि में रहना होगा आपको- योगी का मूक आदेश था। मेरे साथ दो लोग थे। पार्वती माँ और राखाल बाबू। ये दोनों लोग गंगा माँ के पुराने शिष्य थे। सायं काल तख्त पर कम्बल और सफेद चादर बिछा दिया गया था और उस पर लेट गये थे मणिरत्न शवासन की मुद्रा में। लेटने के पूर्व एक गिलास दूध पिया था पार्वती माँ के हाथ से लेकर और आंखे बन्द कर ली थी। कमरे का दरवाजा भीतर से बन्द कर दिया गया था। उस महायोगी के निकट केवल तीन लोग थे। मैं, पार्वती माँ और राखाल बाबू। गंगा माँ के सान्निध्य में रह कर उन दोनों ने योग की एक विशेष अवस्था को कर लिया था उपलब्ध। ट्न... ट्न...कर रात्रि का दस का घंटा बजा कहीं और तभी असहज हो गये मणिरत्न। धीरे-धीरे उसी अवस्था में ओम का करने लगे उच्चारण। उच्चारण में एक सम्मोहक कम्पन था ध्वनि का। जिसके फलस्वरूप उस छोटे से कमरे का वातावरण बोझिल

सा होने लगा धीरे-धीरे। अब तक रात आधी बीत चुकी थी। एकाएक कमरे के उस बोझिल वातावरण में कुछ अदृश्य लोगों की उपस्थिति का होने लगा मुझे आभास। कौन थे वे लोग? जो कमरे में चारो ओर चक्कर काट रहे थे उस समय। ओम की ध्वनि निरन्तर गूंज रही थी वातावरण में। अविभूत होता जा रहा था मैं। एक विचित्र सा हो रहा था अनुभव अपने आप में। एकाएक वातावरण में पाँच छः की संख्या में गोलाकार छोटे-छोटे अग्निपुंज प्रकट हो गये। रोमांच हो आया मेरे सारे शरीर में। अपने स्थान पर पाषाणवत् बैठा उन अग्निपुंजो को देख रहा था मैं। जो अपने-अपने स्थान पर चक्कर काट रहे थे तीव्रगति से। काफी देर तक ऐसा ही सब कुछ हो रहा था कमरे में। ओम की ध्वनि अब बन्द हो चुकी थी। मणिरत्न का चेहरा निर्विकार और भावहीन हो चुका था। शरीर में कहीं कोई स्पन्दन नहीं।

मैं हत्प्रभ था, अवाक् था और था स्तब्ध। सहसा अग्निपुंज आकार लेने लगा और देखते ही देखते वे आकार पारदर्शी शरीर में होने लगा परिवर्तित। वे सभी शरीर मानव शरीर जैसे ही थे लेकिन उनमें कुछ विलक्षणता और साथ ही कुछ विशेषता भी थी। क्या विलक्षणता थी और क्या थी विशेषता उसे बतला पाना कठिन है मेरे लिए। यह तो मैं निश्चित रूप से बतला सकता हूं कि वे लोग दिव्य योगात्माएं थी और अपने साथ मणिरत्न को ले जाने के लिए आयी थी इसमें सन्देह नहीं। अब तक पूरा कमरा किसी अनर्वचनीय दैवी सुगन्ध से भरता जा रहा था। सवेरा हो चुका था। पूरब का आकाश सफेद हो रहा था धीरे-धीरे। अब वे सभी योगात्माएं चारो ओर खड़ी हो गयी मणिरत्न के।

मैंने अब ध्यान से देखा उन दिव्य शरीर धारी दिव्यात्माओं को। सभी के चेहरे पर आलौकिक तेज था। स्वर्णाभा थी। बड़े-बड़े नेत्र स्थिर और शान्त। पलकें स्थिर थी। सिर पर लम्बे घने बाल थे। चन्दन की सुगन्ध निकल रही थी सभी के शरीर से। स्फटिक की तरह शरीर पर कोई दाग न होते हुए भी दाग का आभास हो रहा था। तात्पर्य यह कि नग्न होते हुए भी नग्न नहीं। निश्चय ही वे महापुरूषगण योगाश्रम से आये हुए थे इसमें सन्देह नहीं। उनमें से एक महाशय आगे बढ़ कर मणिरत्न के भ्रूमध्य पर अपनी तर्जनी उंगली रखी। उस समय तक मणिरत्न की काया पूर्णरूप से शान्त और स्पन्दनहीन थी लेकिन जीवन के लक्षण अभी भी थे। मेरा ध्यान मणिरत्न पर ही केन्द्रित था उस समय। मैंने देखा- तर्जनी के हटते ही भ्रूमध्य फट गया अपने आप और उसमें से एक नीलवर्णीय ज्योतिपुंज तीव्र गति से निकला और एक स्थान पर स्थिर हो गया। मुझे ऐसा लगा कि ज्योतिपुंज के निकलते समय मणिरत्न का पूरा शरीर एक बार पूरी तरह कम्पित हुआ था और फिर सदैव के लिए शान्त हो गया

था पूरा शरीर एकबारगी। धीरे-धीरे वह ज्यातिपुंज आकार लेने लगा और थोड़ी ही देर बाद योग काया में परिवर्तित हो गया। मणिरत्न की थी वह योगकाया बिल्कुल वैसी ही जैसी उन छः आगान्तुकों की थी। स्वच्छ, निर्मल और पारदर्शक। हे भगवान! कितना आलौकिक तेज हो रहा था प्रस्फुटित उस दिव्य योग काया से। शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। आंखें चौंधिया सी जाती थी। कमरे का वातावरण अभी तक दिव्य गन्ध से भरा हुआ था। जो बार-बार सम्मोहित किये दे रहा था मेरे मन और प्राण को। अब तक भोर हो चुका था। पूरब का आकाश सफेद हो रहा था और अरूणोदय की सिन्दूरी रेखा यहां से वहां तक खिंच गयी थी और मेरे देखते ही देखते उन महापुरूषों के साथ गंगा की ओर खुलने वाली खिड़की से बाहर निकले मणिरत्न और आकाश मार्ग से चल कर क्षण मात्र में भगवान भास्कर की लालिमा में समा गये सदैव के लिए। आश्चर्य और कौतूहल भरी दृष्टि से देखता रहा मैं उस अवर्णनीय और साथ ही उस अविश्वसनीय आश्चर्य भरे दिव्य दृश्य को। सिर घुमा कर देखा- तख्त पर प्रणवानन्द का निष्प्राण शरीर निश्चेष्ट पड़ा हुआ था। जैसे कभी पड़ा हुआ था हिमालय की उस हिमगुफा में किसी समय।

उसी दिन सायं काल के समय जल समाधि दे दी गयी प्रणवानन्द की पार्थिव काया को। काशी के केदार घाट की सीढ़ियों पर गालों पर हाथ धरे मौन साधे एकटक देख रहा था मैं एक महायोगी की मृत काया को गैरिक वस्त्र में लिपटे हुए। सोच रहा था कि कैसी विडम्बना है यह। प्रणवानन्द को मरे हुए कितना समय व्यतीत हो गया था लेकिन आज उनकी पार्थिव काया को दी जा रही है जल समाधि। इस दीर्घ अवधि में उनके शरीर में कौन रहा यह भला कौन जानता था। इस रहस्य पर भला कौन करेगा विश्वास? कोई नहीं! कोई नहीं!

●

विशेष

पंचमकार

मनुष्य के भीतर छिपी हुई है वे रहस्यमयी अलौकिक शक्तियां क्या हैं और उनका मूलस्रोत क्या है? इसे जानना आवश्यक है। इसलिए कि योग और तंत्र की जितनी भी साधनाएं हैं वे सब उन्ही पर आधारित है। सच पूछा जाए तो उन्ही की साधना है। योग और तंत्र का आश्रय लेकर मनुष्य को उसके शरीर में स्थित उन अव्यक्त शक्तियों का साक्षात्कार करा देना ही भारतीय संस्कृति का चरम लक्ष्य है। जो मनुष्य मानव शरीर ग्रहण कर इस लक्ष्य को प्राप्त न कर सका तो सच पूछिये उसका जीवन समस्त भौतिक सुख और ऐश्वर्य के बावजूद भी व्यर्थ चला गया।

उक्त लक्ष्य की सिद्धि वास्तव में परम पुरूषार्थ है और उस परम पुरूषार्थ का एकमात्र साधन मनुष्य है।

योगतंत्र एक प्रकृष्ट विज्ञान है और उस विज्ञान के अनुसार विश्व ब्रह्माण्ड के मूल में केवल एक तत्व है जिसे परम तत्व कहते हैं। सृष्टि के वाक्काल में वही परम तत्व दो भागों में विभक्त होकर शिव और शक्ति पद का वाचक होता है।

'शिव' क्या है? 'शक्ति' क्या है? यदि वैज्ञानिक दृष्टि से विचार किया जाये तो वे दोनों ही ब्रह्माण्डीय मौलिक ऊर्जा से सम्बद्ध हैं। जिनका मूलस्रोत एकमात्र वह परम तत्व है।

पुरूष परमेश्वर है तो प्रकृति परमेश्वरी है। शिव कामेश्वर है तो शक्ति कामेश्वरी है। सभी पुरुष परमेश्वर और सभी स्त्रियाँ परमेश्वरी हैं और हैं कामेश्वर और कामेश्वरी इन दोनों का मिथुनात्मक सम्बन्ध ही मूल है। वही मूल आकर्षण है अथवा काम है। निःसन्देह 'कौल मत' की आध्यात्मिक भावना और दार्शनिक पुष्टि अत्यन्त गहरी और अति सूक्ष्म है। जैसे शिव-शक्ति के संयोग से पुष्टि हुई है, वैसे ही उसी के फलस्वरूप शब्द की और अर्थ की उत्पत्ति हुई है और निवृत्ति शक्ति तथा प्रवृत्ति शक्ति भी निष्पन्न हुई है। शब्द की निष्पत्ति और जप को भी मैथुन संज्ञा से ही स्पष्ट किया गया है। जप करने वाले साधक के दोनों ओंठ जुटों में एक शिव और दूसरा शक्ति है। ओंठों का जो हिलना है वही दोनों का मैथुन है। उससे निकलने वाला शब्द बिन्दु स्वरूप है। सब्रसे महत्वपूर्ण बात यह है कि कौल मत ने ही सर्वप्रथम यह

बतलाया कि पिण्ड (मानव शरीर) ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त संस्करण है। इस सम्बन्ध में उसका यह **'ब्रह्माण्डेऽप्यस्ति यत्किञ्चित् पिण्डेऽप्यस्ति सर्वथा'** बहुत बड़ा सिद्धान्त है। ब्रह्माण्ड की प्रत्येक वस्तु किसी न किसी रूप में मानव पिण्ड में विद्यमान है। विश्व में सर्वाधिक विकसित और सर्वश्रेष्ठ शरीर मात्र मानव शरीर है। इसीलिए उसे दुर्लभ बतलाया गया है। पंचतत्वों में निर्मित मानव शरीर से तीन तत्व सर्वाधिक महत्वपूर्ण है- प्राणतत्व, मनस्तत्व और बिन्दुतत्व। ये तीनों तत्व कौलमतावलम्बियों की यावत योगतांत्रिक साधना के आधार हैं। मानव देह की श्रेष्ठता स्वीकार करने के फलस्वरूप अपने देश के इतिहास में कौल साधना किसी समय अत्यन्त प्रबल थी। समस्त विश्व में व्याप्त चिन्मयी पराशक्ति अपनी सर्वश्रेष्ठ लीलाएँ मानव शरीर का ही आश्रय लेकर प्रकट करती है। वैसे विष्णु के अनेक अवतार हुए लेकिन जो अवतार सर्वाधिक मानवीय है- राम, कृष्ण, बुद्ध उन्हीं का आश्रय लेकर हमारे देश की सारी धर्मसाधना और काव्य कला विकसित हुई।

तत्ववेत्ता मनीषियों ने अपने अनुभव के आधार पर बतलाया कि परमेश्वर अथवा भगवान को बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं, उसका वास्तविक आवास स्थल एकमात्र मानव शरीर ही है। कौल मत द्वारा इस विचार को और इस धारणा को उस समय और अधिक बल मिला। परम तत्व के दो रूप 'अहम्' और इदम्' की कल्पना 'शिव' और 'शक्ति' के रूप में की गयी और यह बतलाया गया कि मानव शरीर के दो भाग हैं कण्ठस्थान से ऊपर का भाग ज्ञानखण्ड और नीचे का भाग कर्मखण्ड है। ज्ञानखण्ड में ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मखण्ड में कर्मेन्द्रियाँ है। ज्ञानखण्ड का मूल केन्द्र सहस्त्रार चक्र है और कर्मखण्ड का मूल केन्द्र है मूलाधार चक्र। पहले चक्र में शिव का वास है और दूसरे चक्र में वास है शक्ति का। शिव कामेश्वर है और शक्ति कामेश्वरी है। पहला परमेश्वर है और दूसरा है परमेश्वरी। इसी प्रसंग में कौल मत ने यह भी स्पष्ट किया कि मूलाधार चक्र में बाल से भी पतला सर्प की कुण्डली की तरह घूमा हुआ गोलाकार एक नाड़ीतन्तु है उसी तन्तु में वह महाजीवन शक्ति सुप्त अवस्था में विद्यमान है। तन्तु का रूप सर्प की कुण्डली के समान होने के कारण कौल मत ने उस परम शक्ति को नाम दिया 'कुण्डलिनी शक्ति'।

कुण्डलिनी शक्ति उस आदिशक्ति का व्यष्टि रूप है, जो समष्टि रूप में सम्पूर्ण विश्व ब्रह्माण्ड में चैतन्य और क्रियाशील है। जैसाकि स्पष्ट है कौल मत का मुख्य लक्ष्य है- 'अद्वैत लाभ', जिसका तात्पर्य है जीवनभाव से मुक्ति और अन्ततः परम निर्वाण। लेकिन अद्वैत लाभ निहित है शरीरस्थ शिव-शक्ति के मिलन में, सामरस्य में और योग में। जो कुण्डलिनी योग की संज्ञा दी गयी है। समस्त योगों में यही एक ऐसा योग है

जो तंत्र के गुह्य आयामों पर आधारित है, इसीलिए इसे महायोग अथवा परमयोग कहा गया है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि पातञ्जल योग जहाँ समाप्त होता है, वहाँ से कुण्डलिनी योग प्रारम्भ होता है।

कुण्डलिनी योग साधना के मुख्य चार चरण हैं। प्रथम चरण में कुण्डलिनी शक्ति का जागरण, दूसरे चरण में कुण्डलिनी शक्ति का उत्थान, तीसरे चरण में चक्रों का क्रमशः भेदन और अन्तिम चौथे चरण में सहस्त्रार स्थित शिव के साथ सामरस्य अथवा महामिलन होता है। इन चारों चरणों की साधना योग तंत्र की बाह्य और आन्तरिक दोनों क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होती है। कौल मत मुख्यतः दो भाग में विभक्त है, जिसे पूर्वकौल और उत्तरकौल कहते हैं। पूर्वकौल समयाचारी साधना मार्ग है और उत्तरकौल वामाचारी साधना मार्ग है। दोनों मार्ग में शक्ति के प्रतीक 'योनि' की पूजा है। जैसाकि कौलमतावलम्बियों का कहना है- **योनिपूजा बिना पूजा कृतमप्यकृतं भवेत्**। लेकिन पहले के अनुयायी श्रीयंत्र योनि की पूजा करते हैं, जबकि दूसरे मार्ग के अनुयायी प्रत्यक्ष योनि के उपासक होते हैं। दोनों मार्ग की साधना का आधार पंचमकार है। मगर पहले में वह प्रतीक रूप में है और दूसरे में प्रत्यक्ष रूप में।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वामाचारी साधना मार्ग अत्यन्त कठिन और दुरूह है। इस पर चलना सभी के वश की बात नहीं। 'वामा' का अर्थ है 'स्त्री'। इस मार्ग की यावत साधना का आधार 'स्त्री' के होने के कारण ही इसे 'वामाचार' की संज्ञा दी गयी है। साधना की दृष्टि से स्त्री के साथ जो आचरण किया जाता है वह है 'वामाचार'। इसीलिए कहा गया है- **वामाऽऽचारः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः**। यह मार्ग स्पष्ट रूप से कहता है- **सर्वधर्मान परित्यज्ययोनिपूजारतो भवेत्**। 'स्त्री' कोई भी जाति अथवा धर्म ही को, वह योगतांत्रिक दीक्षा से साधक के लिए साधना योग्य हो जाती है- **दीक्षामात्रेण शुद्धंयन्ति स्त्रियः सर्वत्र कर्मणि**।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वामाचारी साधना मार्ग प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर अग्रसर होता है। बाह्य क्रियाओं का आश्रय लेकर साधना की आन्तर भूमि में प्रवेश करता है। कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, राजयोग, सातत्ययोग आदि जितने भी योग हैं उनका सबका कुण्डलिनी योग में समावेश है। कुण्डली जागरण का अभ्यास सद्गुरु के सानिध्य और निर्देशन में ही करना चाहिए।

कौलाचार : कौलाचार का रहस्य नितांत गूढ़ है। 'कौल' कुल शब्द से बना हुआ है। कुल का अर्थ है कुण्डलिनी शक्ति तथा "अकुल" का अर्थ है "शिव"। जो व्यक्ति योग विद्या के सहारे कुण्डलिनी का उत्थान कर सहस्रार में स्थित शिव के साथ संयोग करा देता है, उसे ही कौल कहते हैं।

कुलं शक्तिरित प्रोक्तमकुजल शिव उच्यते।
कुले कुलस्य सम्बधाद्, कौलमित्यभिधीयते।। (स्वछन्द तंत्रम)

कुलाचार : कुण्डलिनी शक्ति ही कुलाचार का मूल अवलम्बन है। कुण्डलिनी के साथ जो आचार किया जाता है, उसको 'कुलाचार' कहते हैं। यह आचार मद्य, मांस,मीन, मुद्रा और मैथुन इन पंचमकारों के सहयोग से अनुष्ठित होता है।

पंचमकार का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है। उसे ठीक-ठीक न जानने के कारण लोगों में अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। इन पांचों लक्ष्यों का सम्बन्ध अन्तर्योग से है।

कुलाचार ही कौलाचार या वाममार्ग के नाम से प्रसिद्ध है। पंचतत्व को मुद्रा समझना चाहिए। वस्तुतः ये पंचमकार पंचमुद्रा ही योगी को मुक्ति देने वाले हैं।

मद्यं मांस व मीनं च मुद्रा मैथुनमेव च।
मकारपंचकं प्राहुर्योगिन मुक्ति दायकम।।

पंचमकार का यौगिक रूप– अनेक प्राचीन तांत्रिक ग्रंथों के अनुसार वशिष्ठ ने आनार्य तंत्रों से प्रभावित होकर पंचमकार की विशिष्ट पूजा का प्रचार किया था। सम्भव है कि अर्वाचीन कौलमार्गी अनार्यों से प्रभावित होकर इन पंचमकारों को अपनी उपासना के साधन माने, लेकिन बहुत से तांत्रिक अनुशीलनकर्ताओं ने अपने अनुसंधान के आधार पर यह मन्तव्य स्थापित किया है कि ये पंचमकार वैदिक अनुष्ठानों से ही अनुस्यूत हैं। इसमें पांच ऐसे तत्वों की गणना है जिनका पहला अक्षर 'म' है और इसीलिए इन्हें 'मादि तत्व' भी कहा जाता है। कौलाचार के मूल ग्रन्थ 'कुलार्णवतंत्र' में इन पांचों को गिनाया गया है–

मद्य, मांसच, मत्स्यच, मुद्रा, मैथुनमेवच।
मकार पंचम देवि, देवता प्रीतिकारणम्।।

१. मद्य, २. मांस, ३. मत्स्य, ४. मुद्रा और ५. मैथुन- ये पांचों माादि तत्व शक्ति की उपासना के लिए परम आवश्यक है। यदि इनके बिना कोई साधना करता है तो उसकी साधना निष्फल होती है। 'श्री विद्या' के उपासक 'समयाचार' के मतावलम्बी साधक इन पांचों तत्वों का प्रत्यक्ष प्रयोग न कर उनकी अनुकल्पना कर लेते हैं अथवा उनके स्थान पर वे किसी अन्य वस्तु का प्रयोग करते हैं, जैसे मांस के लिए उसके रंग के समानधर्मी जवा फूल आदि परन्तु कौलमत में इनके प्रयोग को लेकर दो सिद्धान्त चल पड़े हैं। 'पूर्वकौल' जिसके अनुसार श्रीचक्र के भीतर स्थित योनि की पूजा की जाती है और 'उत्तरकौल' जिसके अनुसार इनका प्रत्यक्ष प्रयोग किया जाता है।

अब हमें विचार करना है कि क्या सचमुच 'मादि' शब्दों का प्रयोग भौतिक तत्वों

के रूप में किया जाना चाहिये? यदि ये पांचों भौतिक तत्व ही हैं तो प्रत्येक स्थल पर 'गोपनीय' और 'रहस्यमय' शब्द क्यों लगाया गया है और यदि इनका प्रयोग सामान्य अर्थ में ही किया गया है तो इस मार्ग पर चलना अत्यन्त दुष्कर क्यों कहा गया है?

मद्य पानेन मनुजो यदि, सिदिं लभेत वै।
मद्यपानरताः सर्वे सिद्धिं, गच्छन्तु पामराः।।
मांस भक्षणमात्रेण यदि, पुण्यागतिर्भवतृ।
लोके मांसाशिनः सर्वे पुण्यभाजो भवन्ति हि।।
स्त्रीसंभोगेन देवेशि, यदि मोक्षो भवेत वै।
सर्वेऽपि जन्तवो लोकेक मुक्ताः, स्युः स्त्रीनिषेवणातृ।।

'कुलार्णव तंत्र' में इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख होने के कारण निःस्सन्देह हमें यह मानना पड़ेगा कि ये पांचों मादि तत्व भौतिक न होकर किसी आन्तरिक तथ्य की ओर संकेत करते हैं, जो पूर्णरूपेण यौगिक तथा रहस्यमय है। अब यह तीव्र उत्कंठा जागृत होना स्वाभाविक है कि आखिर वे कौन से पांचों गुप्त तत्व हैं जिनकी ओर ये पांचों संकेत करते हैं।

मद्य : इन पांचों मकारों में सर्वप्रथम 'मद्य' का नाम आता है जो साधारण मदिरा न होकर उससे करोड़ों गुना अधिक आनन्द प्रदान करने वाला होता है। इसमें प्रत्यक्ष मदिरा का कोई स्थान नहीं है।

सुरादर्शनमात्रेण कुर्यात सूर्यावलोकनम्।
तत्समान्धमात्रेण प्राणायान्मत्रयं चरेतृ।।

इस मद्य का तात्पर्य ब्रह्मरन्ध में स्थित सहस्रदल कमल से अनवरत निःस्यन्दमान सुधा से है। एक साधक को इसी सुधारूपी मद्य से अपने आमस्थ पात्र को पूरित करना चाहिए। देवता प्रीत्यर्थ यह सर्वोत्तम मद्य गुरु के अनुकम्पा से प्राप्त होता है जिसका पान अविचलित मन से धीरे-धीरे करना चाहिए।

इस सुरा के आमोद में 'इच्छाशक्ति' पाने में, 'ज्ञानशक्ति' स्वाद में, 'क्रियाशक्ति' उल्लास में पराशक्ति का निवास रहता है। मद्य के गुणों का विवेचन 'कुलार्णव' के सत्रहवें उल्लास में इस प्रकार है कि यह मायाजाल का विनाश करता है,मोक्ष मार्ग का निरूपण करता है। आठों प्रकार के दुःखों का शमन करता है। शरीर में स्थित आनन्दमयी शक्ति को प्रकट करने वाले इस मद्य का पान योगी लोग ही कर सकते है। आत्मस्थ इस चक्र में प्रविष्ट मदाकुल साधक की कभी निन्दा या उपहास नहीं करना चाहिए। साथ ही साथ एक भी इस चक्रगत रहस्यमय आनन्द को कभी बाहर प्रकट न करें। संयमी साधक इस चक्र में स्थित होकर अपने कुल देवता का संस्मरण करें।

इस चक्र में स्थित आनन्द का वर्णन 'कुलार्णव तंत्र' करता है-

दिव्यपान रतानां वै, यत्सुखं कुलयोगिनाम्।
तत्सुखं सार्वभौमस्य, नृपस्यापि न विद्यते।।

मांस : कल्याणजनक होने के कारण, अमृतस्वरूप आनन्द प्रदान करने के कारण और सभी देवताओं के प्रिय होने के कारण उसका नाम 'मांस' है। क्या ये सब गुण साधारण मांस में मिलते हैं? नहीं यद्यपि पाशुपत मत के 'केण्डिन्यभाष्य के अनुसार 'पशु' शब्द का अर्थ 'जीव' से ही लिया गया लेकिन यहां 'पशु' का अर्थ 'पाप-पुण्य' से लिया गया है। 'कुलार्णव तंत्र' की उक्ति है-

पुण्यापुण्ये पशुं हत्वा, ज्ञानखड्गेन योगवित्।
परे शिवे! नयेच्चितं, पलाशी स निगद्यते।।
मनसा चेन्द्रियगणं, संयोज्यात्मनि योगवित्।
मांसाशी भवेद् देवि! शेषाः स्युः प्राषिहिंसकाः।।

ज्ञानरूपी खड्ग के द्वारा पुण्य और पापरूपी पशुओं का हनन करने वाला तथा अपने मन को 'पर' (ब्रह्म) में लीन कर देने वाला साधक ही वस्तुतः मांसाहारी है। केवल वही योग के ज्ञाता साधक 'मांसाहारी' कहे जा सकते हैं जो सभी इन्द्रियों का मन के द्वारा संयोजित करके आत्मा में उन्हें प्रविष्ट करा देता है।

अज्ञानेन यो हन्यादात्मार्थ, प्राणिनः प्रिये।
निवसेन्नर के घोरे, दिनानि पशुरोमभिः।।

अतः पूर्णरूपेण बिना उनका तात्पर्य समझे उनकी भौतिक अर्थ में प्रयोग करने वाले साधक बहुत बड़ी भूल करते हैं।

स्वनिमित्तं तृणं वापि, छेदयेन्न कदाचन।
आत्मार्थ प्राणिनां हिंसा,कदाचिन्नोदिता प्रिये।।

मत्स्य : तंत्रों में बहुत से संकेत अधिकांशतः रूपकों पर ही आधाति है। 'मत्स्य' शब्द का भी यहां रूपक के अर्थ में ही प्रयोग किया गया हैं।

'आगमसार' की उक्ति है-

गंगा यमुनयोर्मध्ये, द्वौ मत्स्यौ चरतः सदा।
तौ मत्स्यौ भक्षयेत्, यस्तु स भवेन्मत्स्यसाधकः।।

यहां गंगा और यमुना शरीर में स्थित इड़ा और पिंगला दोनों नाड़ियां हैं। उन मत्स्य का सेवन करने वाला अर्थात प्राणायाम के द्वारा श्वास-प्रश्वास को बन्द वायु को सुषुम्ना नाड़ी के भीतर संचालित करने वाला साधक ही वस्तुतः मत्स्य सेवी हैं।

मुद्रा : ब्राह्मण धर्म में साधारणतः 'मुद्रा' से अभिप्राय एक विशिष्ट शारीरिक क्रिया से लिया जाता हैं। तंत्र में भी मूलाधार, अनाहद, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक आदि चक्रों के साथ-साथ खेचरी आदि मुद्राएं तथा कुम्भक आदि प्राणायामों की विवेचन है जो योगदर्शन की कर्त्तव्यमीमांसा में दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु यहां 'मुद्रा' का एक दूसरा ही अर्थ पाते हैं जिसका प्रामाण 'विजय तंत्र के एक प्रसिद्ध श्लोक से मिलता है-

सत्संगेन भवेन्मुक्ति, रसत्सङ्गेषु बन्धनम्।
असत्सङ्गमुद्रणं यत्त, तन्मुद्रापरिकीतिंता।।

सत्संग के प्रभाव से मुक्ति प्राप्त होती है और असत्संग के प्रभाव से नाना प्रकार के मोह माया आदि का बन्धन प्राप्त होता है। इसी असत्संग के त्याग का नाम 'मुद्रा' है। इस प्रकार 'मुद्रा' से तात्पर्य यहां असत्संग का परित्याग है।

मैथुन : यह कौलाचार के पंचमकारों का अन्तिम मकार है लेकिन यह ज्ञातव्य है कि यह आधार भी विषय वासना को विनाश का प्रमुख कारण मानता है।

केवलं विषयशक्तः, पतत्येव न संशयः।
आचार लंघनाद्देवि कौलिकः पतितोभवेत्।।

तंत्र के अनुसार अत्यन्त मजबूत पाशों से लोहा-लकड़ी आदि में आबद्ध मनुष्य भी मुक्त हो सकता है, परन्तु स्त्री, धनादि से आशक्त पुरुष कभी मुक्त नहीं हो सकता है इतना ही नहीं संसार में जितनी भी स्त्रियां है, सभी कौलिकों के लिए मातृ तुल्य हैं। उनके प्रति जरा भी मन में विकार आने पर कुलयोगिनियां उसका (कौलिक साधक का) सर्वनाश कर देगी-

या काचिदंगना लोके, सा मातृकुलसम्भवा।
कुप्यन्ति कुलयोगिन्यो, बनितानांव्यतिक्रमातृ।

समाज को इस प्रकार का अनैतिक अर्थ ग्रहण करने के लिए बाध्य किया इस आचार में वर्णित 'कुमारी पूजन' प्रकरण ने। जिसमें नवरात्रि में प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया आदि तिथि के लिए क्रमशः एक, द्वि, त्रिवर्षिया कुमारी का पूजन अपने कुलदेवी के समीप करने का विधान है। लेकिन वहीं यह भी देखना आवश्यक है कि उस प्रसंग में कुमारी के लिए 'देवता बुद्धया' शब्द कितनी बार दुहराई गयी है। इस पंचमकार का रहस्य समझाते हुए 'तंत्र' कहता है कि आत्मा और पर शक्ति के संयोग से उत्पन्न आनन्द के आस्वादन का नाम 'मैथुन' है। इसके विपरीत अर्थ का प्रयोग करने वाले मात्र स्त्री सेवक हैं-

पर शक्त्यात्ममिथुन, संयोगानन्दनिर्भरः।
य आस्ते मैथुनं, तत्स्यदपरे स्त्रीनिषेवकाः।।

यह सिद्धि बिना विषयवासना पर विजय प्राप्त किये हो ही नहीं सकती। कामवासना को जीतना यहां परमावश्यक माना गया है, इसलिए तो युवती स्त्री को 'निर्विकार चित्तेन' पूजा करने का विधान है-

मनोहरां यौवनावस्थां, पूजयेत् देवताधिया।
यौवनारूढ़ां प्रमदां, यदि पार्वति।
मनोज्ञो पूजयेद् भक्तया, नरात्रिषु मंत्रवित्
साधक कस्तुष्टिमासाद्य, निवसेत्तव सन्निधौ।।

सहस्त्रार में स्थित शिव और कुण्डलिनी अथवा प्राण और सुषुम्ना मिलन का ही नाम मैथुन है। शास्त्र निर्देश को छोड़कर जो साधक अनैतिक आचरण करता है, उसे सिद्धि तो दूर की बात रही, नरक का भागी होना पड़ता है।

जिह्वा दग्धा परान्नेन, करौ दग्धौ प्रतिग्रहात्।
मनोदग्धं परस्त्रिभिः कार्यसिद्धि कथं भवेत्।।

असंयमी, दुराचारी, भक्तिहीन, गुरु के प्रति अविश्वासी तथा इस तंत्र के गोपनीय रहस्यों को गुप्त न रखने वाला साधक तुरन्त नष्ट हो जाता है। इसे गुप्त रखने के लिए तो कौलिकों को बहु रूप धारण करने का विधान है-

अतः कौल बहिः शैवाः, समायां वैष्णवा मता।
कुलं सगोपयेद् देवि। नारिकेल-फलाम्बुवत्।। (कुलार्णव तंत्र)

इस प्रकार स्पष्ट है कि कौलाचार के ये पांचों मकार अन्तर्योग सम्बन्धी हैं। इनको भौतिक अर्थ में ग्रहण करना भारी भूल है। साधारणः यह आचार अत्यन्त कठिन है। इसके लिए मन को बिल्कुल निरोग निस्पृह बना देना पड़ता-

कर्दमे चन्दनेऽभिन्न पुत्र शत्रौ तथा प्रिये।
शमशनै भवने दोव! तथैव कांचने तृणे।
न भेदों यस्प देवशि! सकौल! परिकीर्तितः।। (भावचूड़ामणि तंत्र)

इसका अधिकारी भी वही हो सकता है जो परद्रव्य के लिए अन्धा हो, पर स्त्री के लिए नपुंसक हो, पर निन्दा के लिए मूक हो तथा जितेन्द्रिय हो। 'तंत्र' कहता है कि बहुत से ऐसे मिथ्या ज्ञानी हैं जो 'कौलाचार' के रहस्य को न समझकर अज्ञानवश

परम्परा के चक्कर में अपना ही सर्वनाश कर लेते हैं। इस आचार से मार्ग भ्रष्ट होने पर कितने पागल हो जाते हैं और कितने कुछ ही दिनों में सबन्धुबान्धव नष्ट हो जाते हैं, यह तो प्रत्यक्ष देखा जाता है। निस्सन्देह, कुल मार्ग कभी निन्दा का पात्र नहीं है। आचार विहीन जो इसके अज्ञानी साधक हैं, निन्दनीय हैं सभी तंत्र साधक नहीं हैं।

कुल मार्गो महादेवि न मया निन्दितः क्वचित्।
आचार रहितो येऽत्र, निन्दित स्ते न चेतरे।।

तंत्र साधक के लिए निःस्पृहो, नित्यंसन्तुष्टो, समदर्शी, जितेन्द्रियः' होना परमावश्यक है। अन्त में 'कुलार्णव' का ही एक महत्वपूर्ण श्लोक है।

भवपाश निवृत्यर्थ ज्ञान पानं समाचरेत।
यः सेवेत सुखार्था मद्यादीनि स पातक।।

भवबन्धन से मुक्ति पाने के लिए इन मद्यादि पांचों मादि तत्वों के ज्ञान स्वरूप को ही आचारित करना चाहिये। जो पुरुष सुख के लिए इन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं, वे निस्संदेह उनके लिए घातक ही है।

साधना और सिद्धि

मानव जीवन दुर्लभ है। इसका अन्तिम साध्य आवागमन या जन्म मरण के बन्धन से उन्मुक्त होना है। जिसका साधन धर्म की आराधना है। धर्म का आधार मानस की पवित्रता, भावनाओं की उज्जवलता, तपमूलक आचार का अनुसरण है पर केवल आदर्श की परिधि में नहीं अपितु इसकी व्यवहारिक भूमिका पर विचार करना होगा।

तंत्र जगत में कामनाओं की भिन्नता के आधार पर उन्हे पूरा करने हेतु भिन्न-भिन्न साधना का प्रचलन है। प्रत्येक साधना से संबंधित विशेष नियम होते हैं। साधना के लिए ध्यान, मंत्र, स्तुति आदि भी भिन्न-भिन्न होती है एवं शुभ मुहूर्त भी भिन्न होते हैं। यदि किसी योग्य गुरु के सान्निध्य में साधना सम्पन्न की जाए तो उसमें सफलता की संभावना अधिक होती है। साधना में कुछ ऐसे नियम भी होते हैं जिनका पालन करना प्रत्येक साधक के लिए आवश्यक होता है साथ ही तांत्रिक साधना हेतु महत्वपूर्ण तथ्यों को जानना आवश्यक होता है। किसी भी क्रिया को करने के पहले दृष्टि, मंत्र, आसन, माला, दिशा का ज्ञान आवश्यक है। शान्ति कर्म अगर सात्विक है तो उसके अनुसार देवी-देवता का अनुष्ठान करना चाहिए, लेकिन विशेष क्रिया के लिए षट्कर्म में देवता का विशेष स्थान है। रति शान्ति कर्म के लिए, वाणी वशीकरण के लिए, रमा स्तम्भन के लिए, जेष्ठा विद्वेषण के लिए, दुर्गा उच्चाटन के लिए तथा काली मारण की शक्ति कही गई है। तंत्र शास्त्र में सर्वप्रथम इनका पूजन कर कर्म करने का विधान बतलाया गया है।

इसी प्रकार दिशा ज्ञान आवश्यक है। दिशा ज्ञान बिना अगर साधना या अनुष्ठान का प्रयोजन किया जाये तो सफलता नहीं मिलती है। ईशान कोण या उत्तर दिशा शान्ति कर्म के लिए, उत्तर दिशा वशीकरण के लिए, पूर्व दिशा स्तम्भन के लिए, नैऋत्य कोण अथवा दक्षिण पश्चिम दिशा विद्वेषण के लिए, वायव्य कोण उत्तर-पश्चिम दिशा उच्चाटन के लिए, अग्नि कोण पूर्व दक्षिण दिशा में मारण प्रयोग का विधान है।

शान्ति कर्म शुक्ल पक्ष की द्वितीया, तृतीया, पंचमी और सप्तमी तिथि तथा सोमवार, बुधवार और गुरुवार को करना चाहिए अथवा जातक की कुण्डली के योग के अनुसार। उसी प्रकार पुष्टीकर्म, सोमवार, गुरुवार तथा षष्ठी, चतुर्थी, अष्टमी, नवमी, दशमी तथा त्रयोदशी शुक्ल पक्ष में विधान है। उसी प्रकार आकर्षण हेतु

विधान है। पूर्णिमा को शनि या रविवार पड़े तो विद्वेषण करना चाहिए। कृष्णपक्ष, शनिवार के दिन हो तो अतिशुभ है। वैसे चतुर्थी, षष्ठी और अष्टमी तिथि वार में उच्चाटन का प्रयोग श्रेष्यकर माना गया है। उसी प्रकार तंत्र ग्रन्थों में मारण प्रयोग का अनुष्ठान का विधान कृष्ण पक्ष की अष्टमी, चतुदशी, आमावस्या एवं शनिवार, मंगलवार को करने का विधान है। शुक्ल पक्ष के पंचमी, दसमी और पूर्णिमा को अगर सोमवार या बुधवार दिन पड़ता है तो अति शुभ है स्तम्भन प्रयोग के लिए शुभ ग्रहों के उदय में शान्ति व पुष्टी कार्य तथा अशुभ ग्रहों के उदय में उच्चाटन, विद्वेषण तथा मारण आदि का प्रयोग करना चाहिए।

ज्ञान वैराग्य और मोक्ष अभिलाषी साधक को सात्विक, धन समृद्धि राज्य अभिलाषा हेतु राजसिक कर्म का अनुष्ठान करना चाहिए। शत्रु, विभिन्न प्रकार की पीड़ा और सभी प्रकार के उपद्रव शान्त करने के लिए तामसिक अनुष्ठान अथवा क्रिया करनी चाहिए साधक को।

* साधना में सफलता के लिए सर्वप्रथम अनिवार्य है योग्य गुरु का मार्गदर्शन।

* साधना का मुख्य उद्देश्य मानव का हित संवर्धन करना है। साधना का प्रयोग हमेशा भलाई के लिए करना चाहिए अन्यथा अर्जित तंत्र साधना विपरीत हो जाती है। साथ ही साधक के स्वयं का अनिष्ट हो सकता है।

* साधना सम्पन्न करने हेतु शुभ मुहूर्त का ज्ञान एवं उसका पालन करना अनिवार्य होता है। तामसिक साधना प्रायः रात्रि काल में सम्पन्न की जाती है। ग्रहण काल में साधना से जुड़े प्रयोग शीघ्र लाभप्रद होते हैं।

* साधना सम्पन्न करने वाले साधक कर्मकाण्ड का सामान्य ज्ञान होना आवश्यक है। देवों एवं यंत्रों की सामान्य पूजा का ज्ञान होना भी आवश्यक है।

* जिस समय साधना की जाए उस समय साधक को शरीरिक एवं मानसिक रूप से स्वस्थ्य होना आवश्यक है। अतः सिद्धि प्राप्त करने के लिए धैर्य व लगन की आवश्यकता होती है। श्रद्धा और विश्वास साधना का मूल तत्व है।

* साधना के प्रारंभ करने के पूर्व ही सभी सामाग्रियों को एकत्रित कर लेना चाहिए। सभी सामाग्रियां शुद्ध और प्राणप्रतिष्ठित होनी चाहिए। किसी अन्य साधना में प्रयोग किए गए सामाग्री का प्रयोग दूसरी बार नहीं करना चाहिए।

* साधना हेतु अनुकूल कक्ष अथवा स्थान का चयन विशेष महत्व रखता है। यदि घर में किसी कक्ष में साधना सम्पन्न की जाए तो वह कक्ष यथासंभव एकांत में होना चाहिए। जिस कक्ष में साधना की जाए वह हवादार होना चाहिए। यदि मंदिर में

बैठकर सात्विक साधना क़ी जाए तो वह अवश्य सफल होती है। तामसिक साधना श्मशान अथवा श्मशान के निकट स्थानों में करनी चाहिए।

* साधना कक्ष अथवा स्थान का रंग एवं स्वरूप संबंधित देवी-देवता के अनुकूल होना चाहिए।

* साधक दृढ़ इच्छा शक्ति वाला, एकाग्रचित्त, संयमी एवं अनुशासित हो। साधक में संकल्प शक्ति का अभाव एवं स्वयं की इन्द्रियों में नियंत्रण न हो तो वह तंत्र साधना में सफलता नहीं प्राप्त कर सकता है। तंत्र साधना के लिए नियमित साधना की आवश्यकता होती है।

* साधना काल में मंत्र जप के समय अधिक प्रकाश नहीं होना चाहिए। कृत्रिम प्रकाश भी साधना कक्ष में ज्यादा नहीं होना चाहिए। इष्टदेव के पूजन के समय, मंत्र जप के समय किसी प्रकार का व्यवधान नहीं आना चाहिए न ही बीच में उठना चाहिए अन्यथा एक प्रकार से साधना खण्डित हो जाती है।

शुद्धता : शरीर की शुद्धि स्नान से ही होती है जिसके बाद ही मनुष्य जप, पूजा-पाठ आदि समस्त कार्य करने का अधिकारी होता है। वैसे स्नान कई प्रकार के होते हैं। यहां साधना से संबंधित स्नान का वर्णन किया जा रहा है।

ब्रह्म स्नान : कुशा द्वारा आपेक्षित मंत्रों का उच्चारण करते हुए अपने ऊपर जल से मार्जन करनां ब्रह्म स्नान है।

आग्नेय स्नान : पूरे शरीर पर भस्म लगाना आग्नेय स्नान है क्योंकि भस्म अग्नि के पश्चात् उत्पन्न होती है, जिसमें सभी पदार्थ जलकर शुद्ध और पवित्र हो जाते हैं।

वायव्य स्नान : गाय के खुर की धूलि को पूरे शरीर पर लगाना वायव्य स्नान है। इसमें वायु द्वारा ही खुर को उत्पन्न धूलि का योग रहता है। इसलिए इसकी संज्ञा वायव्य है।

दिव्य स्नान : सूर्य किरण में वर्षा के जल से स्नान करना दिव्य स्नान है। ईश्वर की कृपा से जल में सूर्य की दिव्यमयी ज्योति के गुण भी समाहित ही जाते है। इसकी संज्ञा दिव्य स्नान से की गयी है।

वरुण स्नान : जल की डुबकी लगाकर स्नान करना वरुण स्नान है।

मानस स्नान : आत्मज्ञान के जरिए स्वयं को विकास और वास्तविकता की ओर उन्मुख करना मानस स्नान है।

यौगिक स्नान : विष्णु का चिन्तन करते रहना यौगिक स्नान है।

स्नान किये बिना जो पुण्यकर्म किया जाता है, वह निष्फल होता है। तेल लगाने

के बाद, श्मशान में लौटने पर, स्त्री प्रसंग करने के पश्चात और क्षौर कर्म करने के बाद जबतक मनुष्य स्नान नहीं करता, तबतक वह चाण्डाल बना रहता है।

नदी की जिस ओर से उसकी धारा आती है, उसी ओर मुंह करके तथा दूसरे जलाशयों में सूर्य की ओर मुंह करके स्नान करना चाहिए।

कुएँ से निकाले हुए जल की अपेक्षा झरने का जल पवित्र होता है। उससे पवित्र सरोवर का जल तथा उससे भी पवित्र नदी का जल बताया जाता है। तीर्थ का जल उससे भी पवित्र होता है और गंगा का जल तो सबसे पवित्र माना गया है।

दूसरों के बनाए हुए सरोवर में स्नान करने से सरोवर बनाने वाले का पाप स्नान करने वालों को लगता है। अतः उसमें स्नान न करें। यदि दूसरे के सरोवर में स्नान करना ही पड़े, तो पांच या सात ढेला मिट्टी के निकालकर स्नान करें।

चित्त शुद्धि : अभय, रागरहिता, ज्ञान योग, दान, द्रव्य, यज्ञ, वेदों एवं शास्त्रों का अध्ययन, तप, नम्रता, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, समस्त जीवों पर अनुग्रह, मृदुता, तेज, क्षमा, धृति, दया ये सब चित्त की निर्मलता के कारण हैं।

दिक् शुद्धिः दिन में पूर्वाभिमुख एवं रात्रि में उत्तराभिमुख होकर सविधि जप या पूजन करने से दिक् शुद्धि होती है। काम्य प्रयोगों में बतलायी गयी दिशा की ओर मुँख करके जप करने से काम्य शुद्धि होती है।

स्थान शुद्धि : जिस स्थान पर पूजा करें उस स्थान को गोमय, गंगाजल आदि से शुद्धि कर लें। उसे स्थान शुद्धि कही जाती है।

आसन- रेशमी, ऊनी, कुश का अथवा व्याघ्र चर्म व मृग चर्म का आसन श्रेष्ठ होता है। काम्य प्रयोगों में लाल ऊन का आसन उत्तम माना जाता है। कृष्ण मृग चर्म से, रेशमी आसन से व्याधि का नाश होता है। जिस पर बैठा जाय अथवा बैठने के ढंग विशेष को आसन कहते हैं। शान्ति, वशीकरण, स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन एवं मारण में क्रम से पद्मासन, स्वस्तिकासन, विकटासन, कुक्कुटासन, वज्रासन एवं भद्रासन लगाकर पूजन करना चाहिए। निष्काम कर्मो में पद्मासन एवं सुखासन का प्रयोग अभीष्ट है।

आचार- आचार का अर्थ आचरण है अर्थात सत् आचारण करना आचार है। इसके तीन भेद हैं- १-वामाचार २-दक्षिणाचार ३-दिव्याचार। वामाचार प्रवृत्ति मूलक होता है तथा दक्षिणाचार निवृत्ति मूलक। प्रवृत्ति से निवृत्ति की ओर ले जाने वाला आचार दिव्याचार कहलाता है। साधक को अपने सद्‌गुरु के निर्देशानुसार आचार का पालन करना चाहिए।

धारणा- धारणा निश्चयात्मिका बुद्धि का नाम है। श्रद्धा और योग दोनों का विधिवत् अभ्यास करने से धारणा बन जाती है। इसके दो भेद हैं- १-बाह्य, २-आभ्यान्तर। जब मनोयोग बाह्य वस्तुओं के साथ होता है तब बाह्य धारणा और जब आभ्यान्तर वस्तुओं के साथं होता है तो अन्तर्धारणा बनती है। धारणा के सिद्ध होने पर मंत्र साधक को ध्यान, सिद्धि व मंत्र सिद्धि प्राप्त हो जाती है धारणा की सिद्धि से भक्ति, आचार,. जप सिद्धि, प्राण संयम, देव शक्ति का विकास तथा इष्टदेव का दर्शन ये सब प्राप्त होते हैं।

प्राण क्रिया- मन प्राण और वायु में अभेद संबंध है। वायु तथा प्राण में कार्य कारण संबंध है अतः प्राणायाम करना साधन के लिए अनिवार्य है। प्रणव एवं व्याहृतियों के साथ ३ बार गायत्री मंत्र जप करते हुए पूरक, पुनः ५ बार कुम्भक एवं ४ बार रेचक प्राणायाम करना चाहिए। प्राणायाम द्वारा न्यास किये जाते हैं। यद्यपि तंत्र शास्त्रों में असंख्य न्यासों का वर्णन है किन्तु ७ प्रकार के न्यास प्रमुख हैं-करन्यास, अंगन्यास, ऋष्यादि न्यास, अन्तर्मातृका न्यास, बहिर्मातृका न्यास, और षोडश मातृका न्यास।

पूजा से पहले संकल्प : संकल्प ही वह बीज है जो उद्देश्य के वृक्ष में सिद्धि के फल लगाने का मूल कारक बनता है। संकल्प में महान शक्ति है। इसके द्वारा लक्षित कार्य को सम्पन्न करने की प्रेरणा मिलती है। इससे तर्क शक्ति प्रबल होती है। संकल्पहीन जीवन बिना नींव का घर है। संकल्प न लेने का अर्थ है- अनिश्चय की स्थिति में रहना। संकल्प दो प्रकार के होते हैं- शिव और अशिव। शिव संकल्प का उद्देश्य सहज, सात्विक लाभ की प्राप्ति है। अशिव संकल्प के अन्तर्गत वह इच्छापूर्ति आती है जो दूसरों को पीड़ा पहुंचाने वाली, हिंसात्मक, आसुरी वृत्तियों की पोषक होती है। मंत्र साधना के समय साधक अपनी इच्छानुसार संकल्प करता है किन्तु यदि उसका संकल्प शिव है तो प्रभाव भी शिव होगा। इसके विपरीत अशिव संकल्प का प्रभाव अशुभ होगा। मंत्र अपना प्रभाव दिखायेगा किन्तु उसके उद्देश्य अर्थात प्रस्ताव का औचित्य क्या है, यह साधक को सोच समझ लेना चाहिए। अशिव संकल्प की पूर्ति के लिए किया गया मंत्र प्रभाव साधक को भी प्रकारान्तर से प्रभावित करता है। परन्तु शिव संकल्प अन्तर्गत सार्वजनिक कल्याण के विषय आते हैं। जिस क्रिया की प्रतिक्रिया में किसी की हानि न हो, किसी को क्लेश न हो, किसी भी प्रकार का शारीरिक, मानसिक, आर्थिक आघात न उत्पन्न हो ऐसे संकल्प शिव संकल्प कहे जाते हैं। इससे साधक को लाभ होता है परन्तु दूसरों को किसी हानि की आशंका नहीं होती। इसलिए साधक दैवीय शक्ति अर्जित करने से पूर्व अपने संकल्प के

जाते हैं। इससे साधक को लाभ होता है परन्तु दूसरों को किसी हानि की आशंका नहीं होती। इसलिए साधक दैवीय शक्ति अर्जित करने से पूर्व अपने संकल्प के औचित्य और शिवत्व पर विचार कर लेते हैं।

साधक के लिए आवश्यक है कि वह मंत्र द्वारा दैवी शक्ति अर्जित करने के पूर्व अपने संकल्प के औचित्य और शिवत्व पर विचार कर लें। अशिव संकल्प की पूर्ति हेतु किया गया जप-तप प्रभावी होते हुए भी साधक के तमाम अतीत-पुण्यों का क्षय कर डालता है। ऐसा साधक आगे चलकर तेजहत, रुग्ण, विक्षिप्त और अकाल मृत्यु का ग्रास तक बन जाता है।

सिद्धियों में आत्मरक्षा विधान : साधना एवं पुरश्चरण से पूर्व आत्मरक्षा और विघ्न बाधाओं से रक्षा हेतु कुछ प्रयोग वांछित हैं। प्रायः किसी भी साधना में दैवी तथा आसुरी शक्तियां विघ्न बाधा डालने का प्रयास करती रहती हैं ताकि साधना भंग हो जाए। कभी-कभी साधना तो भंग होती ही है साथ ही साधक को शारीरिक कष्ट एवं मानसिक वेदना भी होती है। इसके अलावा आध्यात्मिक (शारीरिक एवं मानसिक उत्पात यथा रोगादि शारीरिक तथा काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, विषयादि मानसिक) आधिभौतिक (मनुष्य, पशु,पक्षी, कीट, वृक्ष आदि कारणों से) आधिदैविक (भूत प्रेतादि जनित) उत्पात भी संभव है।

अतः सर्वप्रथम साधना स्थल को झाड़-पोंछ कर शुद्ध कर लेना चाहिए। तदनन्तर पंचगव्य से उस स्थल को शुद्ध करना चाहिए-

क्षेत्रकालीन- भूमि का स्पर्श करते हुए निम्न मंत्र का पाठ करें-

गृहीतस्यास्यमंत्रस्य पुरश्चरण सिद्धये।
भयेयं गृह्यते भूमिमंत्रोऽयं सिद्धिमाप्नुयात।।

इसके उपरान्त किसी भी यज्ञीय वृक्ष(पीपल, गूलर, आम आदि) की हरी लकड़ी की चार कीलें जो बारह अंगुल लम्बी हो, को तैयार करके 'ऊँ नमः सुदर्शनाय अस्त्राय फट्' इस मंत्र से एक सौ आठ बार अभिमंत्रित करें। तदनन्तर निम्न मंत्रो का पाठ करते हुए चारो दिशाओं में इन गाड़ दें-

ऊँ ये चात्र विघ्नकर्तारोभूविदिव्यतरिक्षगाः।
विघ्नभूताश्च ये चान्ये मम मंत्रस्य सिद्धिषु।।
मयैतत्कीलितं क्षेत्रं परितज्य विदूरतः।
अपसर्पन्तु ते सर्वे निर्विघ्ना सिद्धिरस्तु मे।।

इसके बाद इन कीलों के ऊपर 'ऊँ नमः सुदर्शनाय अत्राय फट्' इस मंत्र की पूजा करें। इसके उपरान्त दिग्पाल क्षेत्रपाल, पंचमहाभूतों (अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश)बटुक भैरव, योगिनी, सर्वभूतों के नाम से भी बलि दें। बलि देने के स्थान दीपक प्रज्जवलित करें।

स्थान शोधन- भूमि की शुद्धि एवं रक्षा हेतु उपासना स्थल पर कामबीज (क्लीं) अंकित करें- **मेदिना सर्वदा पूजा शुद्धासुर सुसर्वतः।**

तस्य दोषस्य मोक्षाय कामबीजंक्षतौ लिखेत।।

आसन स्थापन- उपर्युक्त क्रियाओं को सम्पन्न करने के बाद हाथ में जल लेकर निम्न मंत्र बोलें- **ऊँ पृथ्वीत्वति मेरू पृष्ठ ऋषि सुतलं छन्दः।**

कूर्मा देवता आसनोपवेशने विनियोगः।।

निम्न मंत्र का पाठ करते हुए कनिष्ठिका अंगुली से भूमि का स्पर्श करते हुए अपना आसन स्थापित करें- **ऊँ पृथ्वी त्वयाधृता लोका देवित्वं विष्णुधृता।**

त्वं च धारय मां नित्यं पवित्रं कुरूचासनम्।।

ऊँ ह्रीं फट् का उच्चारण करते हुए पूजन सामाग्री का अवलोकन करें और अंगठे तथा तर्जनी से तीन बार चुटकी बजायें। 'र' उच्चारण कर दीपशिखा का स्पर्श करें। 'ऊँ रक्ष रक्ष हुं फट्' उच्चारण कर हृदय स्पर्श करें। तदनन्तर चन्दन मिले पुष्प हाथ में लेकर दोनों हाथों में मलें फिर उन्हे बांए हाथ में लेकर निम्न मंत्रों का पाठ करते हुए ईशान दिशा में फेंक दें- **।। ते सर्वे विलयं यान्तु ये मां हिंसन्ति हिंसका।।**

।। मृत्यु रोग भय क्लेशाः पतन्तु रिपु मस्तके।।

फिर यथाविधि आसन लगावें। फिर आसन में बैठकर उपासना करें।

इष्ट- तंत्र साधना में इष्ट और सद्गुरु का होना आवश्यक है। इष्ट रक्षा करता है और सद्गुरु मार्गदर्शन करता है।

दीक्षा- यंत्र मंत्र व तंत्रादि की साधना के लिए सद्गुरु की शरण में जाना ही श्रेयष्कर है। श्री काली विलास तंत्र में दीक्षा काल का निर्णय इस प्रकार दिया गया है। फाल्गुने सिते पक्षे कृष्णाख्या पञ्चमी भवेत्।

यदि भाग्यवशात् स्वाती शुक्रवार समन्विता।।
तत्र या क्रियते दीक्षा कोटि दीक्षा फलं लभेत्।
श्रवणा ऋक्ष संयुक्त यदिभाग्यवशाद् भवेत्।।
चतुर्दशी शुक्ल युक्ता सातिथिः सर्वदायिनी।

शुक्ला च नवमी नित्या वरदा श्री प्रदायिनी।
यत्प्रोक्तं सर्व तंत्रेषु अधुना कथयामि ते।।

अर्थात् फाल्गुन मास के कृष्ण या शुक्ल पक्ष में यदि पञ्चमी तिथि हो और स्वाती नक्षत्र तथा शुक्रवार का दिन हो तो उस मुहूर्त में दीक्षा लेने से कोटि दीक्षाओं का फल मिलता है। यदि श्रवण नक्षत्र ही भाग्यवश मिले तो वह भी अति उत्तम होता है। शुक्ल पक्ष चतुर्दशी तिथि भी सर्व सिद्धिप्रदायक होती है। बुध के दिन आर्द्रा नक्षत्र तथा शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि समस्त ऐश्वर्य को प्रदान करती है।

शाक्त तंत्र का अपना दर्शन भी है। इसमें शिव शक्ति सामरस्य होता है, अन्तिम रूप में शक्ति ब्रह्मस्वरूपिणी होती है। उपासना चाहे किसी भी देवता की, की जाए अन्ततः वह उपासना शक्ति की ही होती है क्योंकि शक्ति के कारण ही शिव है। अतः मूल में शक्ति तत्व ही शेष रह जाता है।

आसन मेष के चर्म का आसन वशीकरण और व्याघ्र के चर्म के आसन पर आकर्षण, ऊंट के चर्म के आसन पर उच्चाटन तथा घोड़े के चर्म के आसन पर विद्वेषण तथा महिष के चर्मासन पर मारण, गज के आसन पर मोक्ष तथा मृग के आसन पर योग तथा रक्त वर्ण के आसन पर समस्त कार्य किया जा सकता है।

माला- मूगें की माला से वशीकरण, हाथी के दांतों की माला से आकर्षण, विद्वेषण व उच्चाटन घोड़े की दांत की माला से, नैसर्गिक मृत्यु प्राप्त मनुष्य के दांत की माला से मारण प्रयोग करना चाहिए। शंख की माला से धर्मार्थ अनुष्ठान, कमलगट्टों एवं स्फटिक की माला से ऐश्वर्य प्राप्ति के लिए लेकिन रूद्राक्ष की माला से सभी अनुष्ठान पूर्ण होते हैं।

मंत्र सिद्धि- सिद्धियों में मंत्र जप अनिवार्य रूप से किया जाता है। मंत्र जप द्वारा ही इष्ट की कृपा साधक को प्राप्त होती है। मंत्र कोई भी हो उसे सिद्ध करने से पूर्व उसके दस संस्कार आवश्यक हैं। मंत्र के दस संस्कार करने के पश्चात प्रयोग करने से उस मंत्र की शीघ्र ही सिद्धि हो जाती है। तत्पश्चात उस मंत्र का प्रयोग पूर्णरूप से फलदायक होता है। मंत्र संस्कार के द्वारा मंत्र दोष से निवृत्ति होती है। मंत्रो के दस संस्कार निम्नलिखित हैं। १.जनन २.दीपन ३.बोधन ४.ताडन ५.अभिषेक ६.विमलीकरण ७.जीवन ८.तर्पण ६.गोपन १०.आप्यायन।

मंत्र संस्कार के साथ-साथ मंत्र के प्रमुख दोषों के संदर्भ में भी साधकों को अवश्य ध्यान रखना चाहिए क्योंकि दोषयुक्त मंत्र सिद्धिदायक नहीं होते। सामान्यतः मंत्र में आठ दोषों की प्रधानता रहती है- १.अभक्ति २.अक्षर भ्रांति ३.लुप्त ४.छिन्ना ५.ह्रस्व ६.दीर्घ ७.कथन ८. स्वप्न कथन।

उपरोक्त दोषों की निवृत्ति के बाद जप करना शुभ और फलदायी होता है।

बीज मंत्र - मंत्र का अर्थ समझना साधक के लिए आवश्यक होता है। मंत्र साधारण शब्द नहीं होता है बल्कि उसमें एक विशेष शक्ति निहित होती है। मंत्र के प्रत्येक अक्षर व शब्द निहित अर्थ एवं उसकी शक्ति को समझना मंत्र सिद्धि के लिए परम आवश्यक है। तंत्र जगत में प्रचलित प्रमुख बीज मंत्रों में निहित शक्ति एवं रहस्य का विवरण आगे है-

* श्रीं : यह चार स्वर व्यंजनों से मिलकर बना है। श्रीं= श + र + ई + अनुस्वार। श= महालक्ष्मी, र= धन, ई= तुष्टि, अनुस्वार= दुःखहर्ता है। अतः बीज मंत्र श्रीं का अर्थ है धन-समृद्धि, सम्पत्ति एवं तुष्टि-पुष्टि की देवी महालक्ष्मी। 'श्रीं' महालक्ष्मी का बीज मंत्र है इसे विश्व बीज भी कहा जाता है।

* क्रीं : बीज मंत्र क्रीं में चार स्वर एवं व्यंजन सम्मिलित होते हैं। क्रीं= क + र + ईकार + अनुस्वार। इसमें क= काली, र= ब्रह्मा, ईकार= महामाया, अनुस्वार= दुःखहर्ता। बीज मंत्र क्रीं का अर्थ स्पष्ट होता है कि ब्रह्म शक्ति से परिपूर्ण महामाया काली। 'क्रीं' महाकाली बीज मंत्र है।

* ह्रीं : बीज मंत्र ह्रीं में स्वर एवं व्यंजनों का अर्थ इस प्रकार समझा जा सकता है। ह + र + ई + अनुस्वार। इसमें ह= शिव, र= प्रकृति, ई= महामाया, अनुस्वार = दुःखहर्ता। ह्रीं बीज मंत्र का अर्थ है प्रकृति में शिवयुक्त मंहामाया का वास है। यह गिरजर बीज है।

* क्लीं : इस कामबीज में चार स्वर व्यंजन होते हैं। क्लीं= क + ल + ई + अनुस्वार। इसमें क= कामदेव, ल= इन्द्र, ई= तुष्टि, अनुस्वार= सुखदायक। इसका अर्थ है कामदेव स्वरूप ईश्वर। इसे कामबीज तथा माया और शक्ति बीज भी कहा जाता है।

* गं : यह गणपति का बीज मंत्र है। गं= ग + अनुस्वार। इसमें ग=गणेश, अनुस्वार= दुःखहर्ता। अतः गं बीज मंत्र भगवान गणपति का है।

* ग्लौं : ग + ल + औ + अनुस्वार। ग= गणेश, ल= सर्वव्यापकता, औ= तेज, अनुस्वार= दुःखहर्ता। अतः ग्लौं बीज का अर्थ है सर्वव्यापक गणेश अपनी तेज अर्थात प्रभाव से मेरे कष्ट को दूर करें।

* ऐं : यह सरस्वती का बीज मंत्र है। ऐं= ऐ+ अनुस्वार। सरस्वती चूंकि विद्या की देवी हैं। अतः ऐं का आशय है अज्ञान की समाप्ति और ज्ञान की प्राप्ति।

अन्य बीज इस प्रकार है ऊँ प्रणव बीज, स्वाहा माया बीज, हूं वर्म बीज, सौं वरूण बीज आदि है।

मंत्र सिद्धि की तरह तंत्र में अंक का बहुत महत्व है। जैसे- अंक १ जीव ब्रह्म है,

अंक २ अंतर्बाह्य जगत है, अंक ३ त्रिगुण सृष्टि है, अंक ४ चार पुरूषार्थ है, अंक ५ पंच महातत्त्व है, अंक ६ षडविकार है, अंक ७ व्याहृति(आकाश) है, अंक ८ अष्टधा प्रकृति है, अंक ६ नव निधि है।

मंत्र सिद्धि से जुड़ी बातें- मंत्र सिद्धि के लिए मंत्र का एक निश्चित संख्या में जप किया जाता है। इसके लिए उपास्य देव की प्रकृति के अनुकूल वस्तु की माला द्वारा मंत्र जप करने से शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है।

जप- शान्ति, पुष्टी, स्तम्भन, वशीकरण के लिए अंगूठे और मध्य अंगुली में माला फेरना चाहिए। अंगूठे और अनामिका अंगुली से आकर्षण माला फेरना चाहिए। अंगूठे और तर्जनी से विद्वेषण माला फेरना चाहिए तथा मारण अनुष्ठान के लिए कनिष्ठिका और अंगूठे से माला फेरने का विधान है।

* मंत्र जप के लिए जप के लिए जिस माला का प्रयोग किया जाए, उसे स्वयं धारण नहीं करना चाहिए।

* मंत्र जप किस माला से करना है इसका निर्धारण उपास्य देव की प्रकृति के आधार पर किया जाता है।

* अंगूठे के द्वारा मंत्र जप करना मोक्षदायक होता है।

* मध्यमा अंगुली द्वारा माला जप करना धन प्रदायक होता है।

* तर्जनी से माला फेरना शत्रुनाशक होता है।

* माला फेरते समय सुमेरू को लांघना नहीं चाहिए। माला फेरते समय अंगूठे मध्यमा एवं अनामिका का ही प्रयोग करना चाहिए।

मंत्र की बार-बार आवृत्ति का नाम ही जप है। जप के तीन भेद हैं- १.मानसिक २.उपांशु ३.वाचिक। मंत्र का मन ही मन जप करना मानसिक जप कहलाता है। जिह्वा एवं ओष्ठ को हिलाते हुए जो केवल स्वयं को ही सुनायी दे इस प्रकार के जप को उपांशु कहते हैं। वाणी द्वारा स्पष्ट मंत्रोच्चारण करना वाचिक कहा जाता है। वाचिक जप का फल यज्ञ तुल्य होता है। इसी प्रकार उपांशु के जप का शतगुना तथा मानसिक जप का सहस्रगुना फलदायी होता है।

मंत्र का जप न तो बहुत शीघ्रता से करें और न ही बहुत धीरे-धीरे। मंत्र को सावधानी पूर्वक मध्यम गति से जपना चाहिए। मंत्र का अर्थ, मंत्र चैतन्य तथा योनि मुद्रा को न जानने वाला शतकोटि मंत्र जप कर भी सिद्धि नहीं पाता। सुप्त बीज मंत्र कभी सिद्धि नहीं देता किन्तु यदि उसे चैतन्य कर लिया जाय तो सभी सिद्धियाँ प्राप्त

होती हैं। मंत्रानुष्ठान एवं पुरश्चरण में बिना आसन, चलते-फिरते, सोते समय, भोजन के समद्ध, चिन्तित, कुछ भ्रान्त या क्षुधार्त होने पर जप नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार पैर फैलाकर, उत्कटासन में बैठ कर यज्ञाकाष्ठ पत्थर पर या मिट्टी पर बैठ कर जप करना मनस है। चारपाई में पड़े-पड़े या सवारी वाहन आदि में बैठे-बैठे जप करना मना है। ये नियम उपांशु एवं वाचिक जप में भी लागू होता है। मानसिक जप में नहीं होता है। मानसिक जप प्रत्येक अवस्था में तथा प्रत्येक स्थान पर किसी भी समय किया जा सकता है। मानसिक जप में शुद्धि अशुद्धि आदि का कोई विचार नहीं किया जाता है किन्तु इसमें मानसिक शुद्धता का विचार अवश्य किया जाता है। जप करने पर जम्हाई आने पर अपान वायु निकलने पर आचमन, प्राणायाम व अंगन्यास आदि करके पुनः जप प्रारम्भ करना चाहिए। जप एक ही स्थान पर तथा एक निश्चित समय पर ही करना चाहिए।

मुद्रा : मुद्रा शब्द का अर्थ है- 'मु' समस्त देवों को मोद (आनन्द) देने वाला और "द्रा' पाप संस्ततियों का द्रावण अर्थात् क्षय करता है। पूजन, जप, काम्य प्रयोग, स्नान,हवन विशेषार्ध्य स्थापन एवं नैवेद्य निवेदन के समय कल्प ग्रन्थों में बतलाये गये लक्षणों के अनुसार मद्राएं बनाकर दिखानी चाहिए। आवाहनादि की ९ मुद्राएं, पूजन की गन्ध आदि मुद्राएं तथा षडंगन्यास की मुद्राओं का सभी मंत्रों के जप व पूजनादि में प्रयोग आवश्यक होता है। स्नान के समय अकुंश आदि मुद्राओं से तीर्थवाहन किया जाता है। शान्ति कर्म में पद्म मुद्रा, वशीकरण में पाश मुद्रा, विद्वेषण में मुसल मुद्रा, उच्चाटन में वज्र मुद्रा एवं मारण में खड्ग मुद्रा का प्रयोग करना चाहिए। बिना मुद्रा द्वारा किया गया हवन अथवा आहूती देवता ग्रहण नहीं करते हैं तथा पूर्ण फल प्राप्त नहीं होता है। इसलिए बिना मुद्रा के हवन नहीं करना चाहिए। फायदा कम व्यय, नुकसान ज्यादा होता है। हवन करने के लिए मुद्रा का विधान है। कनिष्ठिका को छोड़ कर हाथ सिकोड़ने को हंसी मुद्रा कहते हैं। कनिष्ठिका और तर्जनी अंगुली मिलाकर हवन करने को मृगी मुद्रा कहते हैं। वैसे मृगी मुद्रा द्वारा हवन अथवा आहूती को श्रेष्ठ माना गया है।

* विष्णु की प्रिय मुद्राएं- शंख, चक्र, गदा, पद्म वेणु, श्री कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, गरूड़, नारसिंही, वाराही, धनुष-बाण, परशु मुद्राएं विष्णु भगवान को प्रिय हैं।

* शिव की प्रिय मुद्राएं- लिंग, योनि, त्रिशूल, माला, वर, भृग, अभय, खटवंग, कपाल एवं डमरू शिव को प्रिय हैं।

* गणेश की प्रिय मुद्राएं- दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशु, मोदक (लड्डू) एवं वीजपूर ये मुद्राएं गणेश को प्रिय हैं।

* दुर्गा की प्रिय मुद्राएं- पाश-अंकुश, वर, अभय, खंग, चर्म, धनुष-बाण तथा मूसल ये मद्राएं दुर्गा को प्रिय हैं।

देवपूजा उत्तराभिमुख और पितृपजा दक्षिणाभिमुख होकर करनी चाहिए।

* नीला, लाल या काला वस्त्र पहनकर, बिना धुला हुआ वस्त्र पहनकर उपासना करने वाला दोषी माना जाता है। उसका पतन होता है।

* गीले वस्त्रों को पहनकर या दोनों हाथ घुटनों से बाहर करके जो जप, होम और दान किया जाता है, वह निष्फल हो जाते हैं।

* केश खोलकर आचम और देवपूजन नहीं करना चाहिए।

* तांबा मंगलस्वरूप, पवित्र और ईश्वर को प्रिय है। तांबे के पात्र में रखकर जो वस्तु ईश्वर को अर्पण किया जाता है, उससे ईश्वर प्रसन्न होते हैं। अतः ईश्वर को भोग आदि की वस्तुएं तांबे के पात्र में रखकर अर्पण करना चाहिए।

* घर में अंगूठे के पर्व से लेकर एक बित्ता परिमाण की ही प्रतिमा होनी चाहिए। इसमें बड़ी प्रतिमा घर में शुभ नहीं मानी जाती।

* शिवलिंग पर चढ़े हुए फल, फूल, नेवेद्य, पत्र और जल ग्रहण करना निषिद्ध है।

हवन- बिना हवन के मंत्र सिद्ध नहीं होता है और बिना हवन के फल नहीं देता। अतः साधक को यथोपलब्ध सामाग्री से हवन अवश्य करना चाहिए। हवन सकाम व निष्काम दोनों प्रकार के प्रयोगों में करना चाहिए। काम्य प्रयोगों में अग्नि, समिधा, कुण्ड, दिशा एवं हवन द्रव्य का होना आवश्यक है। शान्ति एवं वश्य में लौकिक अग्नि में, स्तम्भन में वटवृक्ष के काष्ठ में मथित अग्नि में, विद्वेषण में बहेड़े की लकड़ी से उत्पन्न अग्नि में तथा उच्चाटन और मारण में शमशान (चिता) की अग्नि में हवन करना चाहिए। शुभ कार्यों में बेल, आक, ढाक एवं दूध वाले वृक्षों की समिधा तथा अशुभ कार्यों में कुचला, बहेड़ा, नीबू एवं धतूरा आदि की समिधाओं में अग्नि को प्रज्ज्वलित करना चाहिए। शान्ति आदि षट्कर्मों में अग्नि की क्रम से सुप्रभा, रक्ता

हिरण्या, गगना एवं अतिरिक्तका व कृष्णा नामक जिह्वा का पूजन किया जाता है अर्थात शान्ति में सुप्रभा, वशीकरण में रक्ता, स्तम्भन में हिरण्या, विद्वेषण में गगना, उच्चाटन में अतिरिक्तका और मारण में कृष्णा जिह्वा का पालन करें।

अर्घ्योदक से कुण्ड का प्रोक्षण कर उनमें तीन रेखाएं बनानी चाहिए। फिर विधिवत् अग्नि लाकर "क्रव्यादेभ्यो नमः" तथा मूल मंत्र पढ़ कर अग्नि स्थापना करनी चाहिए। तत्पश्चात् तीन व्याहृतियाँ स्वाहा समेत बोल कर षडंग होम करना चाहिए। तत्पश्चात् अग्नि में इष्ट देवता का आवाहन कर मूल मंत्र से सविधि हवन करें।

तर्पण- देवता, ऋषि, पितर एवं इष्टदेव की तृप्ति के लिए तर्पण बहुत ही आवश्यक अंग है। तर्पण भी दो प्रकार का होता है-निष्काम और सकाम। सकाम तर्पण द्रव्य विशेष से और निष्काम तर्पण केवल जल से किया जाता है। मधु से तर्पण करने से सभी कामनाओं की पूर्ति होती है तथा मंत्र सिद्धि और महान से महान पातक नष्ट होते हैं। कपूर मिलाकर जल से तर्पण करने से राजा प्रसन्न होता है। हल्दी मिश्रित जल के तर्पण से सामान्य व्यक्ति वशीभूत होता है। घी के तर्पण से दीर्घायु मिलती है। दूध के तर्पण से आरोग्य, अगुरू मिश्रित जल के तर्पण से सुख, नारियल के जल के तर्पण से सर्वार्थ सिद्धि, मिर्च मिलाकर जल के तर्पण से शत्रुओं का नाश तथा गुनगुने जल के तर्पण से शत्रुओं का उच्चाटन हो जाता है। साधक को स्नान, पूजन एवं हवन के समय प्रतिदिन तर्पण करना चाहिए। देव, ऋषि, पितर, इष्टदेव एवं उसके आवरण देवताओं को शास्त्रोक्त रीति से तर्पण करना चाहिए।

बलि- देवता की प्रसन्नता के लिए द्रव्य का समर्पण करना बलि कहा जाता है। बलि विघ्नों की शान्ति के लिए किया जाता है अतः अन्तर्याग और बहिर्याग दोनों ही कर्मों में बलि प्रदान करना अनिवार्य होता है। अन्तर्याग में आत्म बलि को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। ऐसा करने से साधक का अहंकार नष्ट हो जाता है। काम क्रोध आदि भी साधक के परम शत्रु हैं अतः इनकी बलि भी उत्तम मानी जाती है। बहिर्याग में बलि द्रव्यों से बलि करना चाहिए। तंत्र की विभिन्न प्रक्रियाओं में अन्न, फल, फूल, धूप, दीप, एवं यज्ञ, पशु आदि की बलि देने की परम्पराएं प्रचलित हैं। बलि देवता की रूचि के अनुसार एवं कामना के अनुसार देनी चाहिए। दक्षिणाचार में हिंसा का

बलि द्रव्यों से बलि करना चाहिए। तंत्र की विभिन्न प्रक्रियाओं में अन्न, फल, फूल, धूप, दीप, एवं यज्ञ, पशु आदि की बलि देने की परम्पराएं प्रचलित हैं। बलि देवता की रूचि के अनुसार एवं कामना के अनुसार देनी चाहिए। दक्षिणाचार में हिंसा का निषेध । है अतः इसमें पशु बलि वर्जित है। घर के अन्दर ब्रह्मा तथा विश्वदेवों को बलि देवें। धन्वन्तरि को पूर्वोत्तर दिशा में, इन्द्रादि देवताओं को उनकी दिशा में, गणेश क्षेत्रपाल वटुक एवं योगिनियों को यंत्र के द्वारों पर, धाता एवं विधाता को पूजा गृह के द्वार पर, अर्चना एवं ग्रहों को चारों ओर, निशाचरों को आकाश में तथा पितरों को दक्षिण दिशा में बलि देनी चाहिए।

याग- आराध्य देव की पूजा या आराधना ही याग है। याग दो प्रकार का होता है- १.अन्तर्याग. २.बहिर्याग। अन्तर्याग का महत्व विशेष है। अपने शरीरमय पीठ में पीठ देवता, पीठ शक्तियों तथा आवरण देवताओं के साथ मानसिक रूप से इष्ट देवताओं का पूजन किया जाता है। इस मानस पूजन में आधार चक्र में सोती हुई कुण्डलिनी को जगाकर ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान परम शिव के पास जाकर वहाँ निकलने वाली अमृतधाराओं से इष्टदेव को तृप्त करते हुए मंत्रार्थ की भावना के साथ जप किया जाता है। इस अन्तर्याग अथवा मानसिक पूजा के लिए देश काल एवं शरीर की शुद्धि की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसे हर समय और हर स्थल पर किया जा सकता है। अन्तर्याग से जप सिद्ध होता है और जप सिद्ध होने पर ध्यान सिद्ध होता है तथा ध्यान सिद्ध होने पर समाधि सिद्धि एवं इष्ट का दर्शन होता है।

याग सिद्धिया जपः सिद्धो ध्यान सिद्धस्ततः परम्।
ततः समाधि सिद्धिः स्यात् एतया देव दर्शनम्।।

इस प्रकार अन्तर्याग अर्थात् मानसिक पूंजां का महत्व सर्वाधिक है। पीठ, विग्रह एवं यंत्र आदि के विधिवत् पूजन को बहिर्याग अथवा बाह्य पूजन कहा जाता है।

मुख्यत पूजन तीन प्रकार के होते हैं- १. पंचोपचार २. दशोपचार ३. षोडशोपचार। पंचोपचार- गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य निवेदित करना पंचोपचार कहलाता है। दशोपचार- पाद्य, अर्घ, आचमन, मधुपर्क, स्नानीय गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य ये दशोपचार कहे जाते हैं। षोडशोपचारः- आसन, स्वागत, पाद्य अर्घ्य,

आचमनीय, मधुपर्क, आचमनीय स्नानीय, वस्त्र, अलंकार , गन्ध, पुष्प, धूप, दीप एवं नैवेद्य ये षोडशोपचार के अन्तर्गत आते हैं।

बहिर्याग के ५ उपकरण होते हैं- १. अभिगमन २. उपादान ३. इज्या ४. स्वाध याय ५. योग। अभिगमन- देव स्थान का स्वच्छीकरण, निर्माल्य का प्रवाहीकरण अभिगमन कहलाता है। उपादान- उपचारों के संग्रह को उपादान कहते हैं। इज्या- उपचारों से पूजा करना ही इज्या है। स्वाध्याय- मंत्रार्थ की भावना के साथ जप करना, सूक्त स्तोत्र, कवच हृदय, सहस्रनाम का पाठ करना या नाम गुण लीला का कीर्तन करना स्वाध्याय कहलाता है। योग- साधक, साधन एवं साध्य इन तीनों में अभेद्य बुद्धि रखना योग है। सद्गृहस्थ को अन्तर्याग एवं बहिर्याग दोनों करने चाहिए। किन्तु ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ एवं ऋषि को केवल अन्तर्याग ही करना चाहिए। काम्य प्रयोगों में अन्तर्याग एवं बहिर्याग दोनों को करना अनिवार्य होता है। निष्काम प्रयोगों में एक या दोनों को करने के लिए साधक की इच्छा पर निर्भर है।

ध्यान- ध्यान मंत्र जप का मुख्य अंग है। क्योंकि जिस प्रकार मंत्र का सम्बन्ध शब्द से होता है और शब्द का अर्थ से, अर्थ का भाव से और भाव का रूप से होता है उसी प्रकार जप का सम्बन्ध ध्यान से होता है अतः जप में यदि ध्यान न हुआ तो जप व्यर्थ होता है अतः साधक को ध्यान योग के साथ बड़े मनोयोग से अपने इष्ट मंत्र का तन्मयता पूर्वक जप करना चाहिए।

समाधि- मन, मंत्र एवं देवता इन तीनों की सत्ता जबतक प्रथक-प्रथक रहती है तंबतक ध्यान का अधिकार रहता है किन्तु जब ये तीनों एक में मिल जाते हैं तो समाधि प्रारम्भ हो जाती है। समाधि से महाभाव उत्पन्न हो जाता है। इस महाभाव के उत्पन्न होने पर साधक समाधि में अपने अस्तित्व को भूल जाता है तथा साधक इष्टमय हो जाता है, परन्तु इसके लिए गहन अभ्यास और गुरु के मार्ग दर्शन की आवश्यकता है।

एक दिव्य अवस्था है मौन : जैसे जीवन का अंतिम सच है- मौन, वैसे ही वाणी का अंतिम सत्य है- मौन। वाणी अर्थात् शब्द जब अपनी सार्थकता ढूढ़ते-ढूढ़ते थक जाते हैं तब प्रकट होता है- मौन। मौन एक श्रेष्ठतम् दिव्य अवस्था होती है। मौन एक

उसका फल प्राप्त हो सके। मौन का संबंध जीभ से कम और मन से अधिक होता है। मौन का मतलब चुप रहना मात्र नहीं होता है, बल्कि स्वयं को अनावश्यक बातों से दूर रखना भी होता है। महर्षि रमण ने जीवन का ज्यादातर समय मौन में व्यतीत किया। वे मौन रहकर भी उपदेश देते थे। उनके अनुसार, आंतरिक संवाद के लिए बोलना आवश्यक नहीं था। इसी प्रकार भगवान बुद्ध वृक्ष के नीचे शान्त मुद्रा में बैठ कर अपनी देशना देते थे। वे दुनिया के महान सर्जक कहलाये।
मानसिक रूप से आप कुंठित न हों, इसके लिए आवश्यकतानुसार आप बोलें भी। संवाद में हमेशा शिष्टाचार का ध्यान रखें। नित्य नहीं तो कम से कम इस दिन व समय को ध्यान में रखते हुए मौन ग्रहण कर सकते हैं। जब सामने कोई आग-बबूला हो तो ऐसे में बड़ी चतुराई से मौन हमें पानी हो जाना सिखाता है। हमारे देश के सिद्ध साधक संत मन की इस दिव्य अवस्था से परिचित होने के कारण मौन रहकर सार्थक वचन कहते हैं। जिसका प्रभाव जनसामान्य पर गहरा पड़ता है, मानों वे शब्द-शब्द नहीं अपितु मंत्र हैं। आज की आपाधापी जिन्दगी में हम यदि कुछ पल मौन रहकर अपने अंदर की सुषुप्त शक्तियों को जागृत कर सकें तो भला इससे बढ़िया और क्या होगा? मौन रहकर हम आत्ममंथन व आत्म चिंतन का पाठ पढ़ सकते हैं। मौन हमें आन्तरिक शान्ति के साथ-साथ उस परमान्द से स्वयं को जोड़ने में सार्थक सिद्ध होता है।

●

हमारे आस-पास कुछ ऐसी चीजें होती हैं जिसका हमें ज्ञान नहीं होता है। ऐसे ही कुछ तथ्यों को यहां प्रस्तुत किया जा रहा है जो पाठकों को लाभप्रद सिद्ध होगा।

स्वास्तिक- स्वास्तिक का अर्थ है शुभ कल्याण और मंगल। पूज्यनीय और मांगलिक माने जाने वाले इस प्रतीक चिन्ह में अनेक अर्थ समाहित हैं। स्वास्तिक सकारात्मक और ऊर्ध्वगामी ऊर्जा का प्रतीक है। इसमें दो रेखाएं एक दूसरे को काटती हैं। इस प्रकार चार भागों का निर्माण होता है स्वास्तिक की ये चार रेखाएं चार आश्रम, चार वेद, चार वर्ण तथा चार देवताओं ब्रह्मा, विष्णु, महेश और गणेश का प्रतीक मानी गयी हैं। वास्तुशास्त्र में भी स्वास्तिक का इस्तेमाल वास्तुदोष दूर करने के लिए किया जाता है। सुख समृद्धि के लिए स्वास्तिक की पूजा सदियों से हो रही है। वास्तु के अनुसार आम की लकड़ी का बना स्वास्तिक शुभ फल देने वाला होता है। दरअसल

आम का वृक्ष हर रूप में पावन और उपयोगी है। चाहे इसकी लकड़ी की बात हो या पत्तियों की। इसलिए वास्तु में भी इसकी लकड़ी को शुभ माना जाता है। अगर घर में वास्तु दोष हो तो आम की लकड़ी के बने स्वास्तिक को रखना शुभ माना जाता है। इससे घर में सकारात्मक ऊर्जा का प्रवाह होता है और सुख समृद्धि आती है। इसे अपने घर के दरवाजे पर, अपनी पूजा कक्ष में रखें। आप चाहे तो इसे लाल रंग से रंग भी सकते हैं लेकिन ध्यान रहे मात्र ऊपरी परत पर ही रंग लगा हो। इस तरह आप अपने घर में इस पवित्र चिन्ह को रखकर शुभ परिणाम पा सकते हैं। इसके अलावा जिन घरों क्लेश हो या आपसी संबंध ठीक नहीं रहते हों वे अपने घरों में नौ इंच लंबा, नौ इंच चौड़ा स्वास्तिक लगायें।

●

सौभाग्य वृद्धि- सौभाग्य वृद्धि के लिए निम्न बातें अति आवश्यक हैं-पीपल की पूजा करने से श्री तथा यश की वृद्धि होती है। इसके स्पर्श मात्र से शरीर में रोग प्रतिरोधक तत्वों की वृद्धि होती है। घर में नित्य गोमूत्र का छिड़काव करने से सभी प्रकार के वास्तु दोषों से छुटकारा मिल जाता है। मुख्य द्वार पर आम, पीपल, अशोक के पत्तों का बंदनवार लगाने से वंशवृद्धि होती है। भवन के उत्तर दिशा में द्वार व खिड़कियां रखने से धन आगमन होता है। भूखण्ड के उत्तर-पूर्व में अण्डरग्राउण्ड पानी का टैंक रखने से लक्ष्मी का वास होता है। भवन के उत्तर-पूर्व का फर्श सबसे नीचा होना चाहिए तथा दक्षिण-पश्चिम का फर्श सबसे ऊंचा रखने से आय अधिक, व्यय कम होता है। घर के उत्तर में चमेली के तेल का दीपक जलाने से धन लाभ होता है। घर में यदि सकारात्मक ऊर्जा नहीं हो तो रोजाना नमक युक्त पानी का पोंछा लगाना चाहिए। भूखण्ड या भवन के उत्तर-पूर्व शीशे की बोतल में जल भरकर रखने से तथा इस जल का सेवन एक दिन पश्चात् करने से घर वालों का स्वास्थ्य सही रहता है। सुबह एवं शाम को पूरे घर में कपूर जलाने से वास्तु दोषों में कमी आती है। घर के मुख्यद्वार के दोनों ओर पत्थर या धातु का हाथी रखने से सौभाग्य में वृद्धि होती है। स्वर्गीय परिजनों के चित्र दक्षिणी दीवार पर लगाने से उनका आशीर्वाद मिलता रहता है। किसी भी दुकान या कार्यालय के सामने वाले द्वार पर एक काले कपड़े में फिटकरी बांधकर लटकाने से उन्नति होती है।

कोई भी शुभ कार्य करने जा रहे हों तो सबसे पहले श्री गणपति का ध्यान अवश्य करें ताकि कार्य बिना विघ्न के सम्पन्न हो। 'ॐ' ब्रह्मा, विष्णु और शिव का प्रतीक है। इसके बिना कोई भी मंत्र पूर्ण नहीं होता। इसे मुख्य द्वार के ऊपरी चौखट पर लगाने या लिखने से घर में बुरी आत्मा प्रवेश नहीं करती। अपनी पूजा करने की

सामाग्री, जप माला, आसन इत्यादि किसी भी बाहरी व्यक्ति को नहीं देना चाहिए। ऐसा करने से पूजा द्वारा अर्जित पुण्य का क्षय हो जाता है। अपने भोजन में से थोड़ा सा हिस्सा गाय, पक्षी, जीव-जन्तु आदि के लिए निकाल कर रखने से धन धान्य में वृद्धि व दुर्घटना से बचाव होता है। ईश्वरीय विधान और ज्योतिष आदि प्राच्य विद्याओं पर बिना विश्वास के कोई फल प्राप्त नहीं होता है। गृह प्रवेश करने से पहले घर में तुलसी का पौधा, अपने इष्ट देवता की मूर्ति या तस्वीर, पानी से भरा कलश एवं गाय का प्रवेश अति शुभकारी होता है। प्रातःकाल तुलसी के पौधे की परिक्रमा करने से तथा घी का दीपक जलाने से रोग दूर होते हैं।

चमत्कारिक है राम मंत्र-राम का नाम इतना सरल,सहज सुखद और शक्ति संपन्न है कि अनेक देवता भी इसका जप करते हैं।

भगवान शिव निरंतर इसी नामको जपते रहते हैं। वस्तुतः राम नाम की महिमा अपरम्पार है। इस नाम को जप करके व्यक्ति बिना किसी अन्य साधना के ही कल्याण प्राप्त कर सकता है। 'राम' शब्द का प्रत्येक अक्षर विविध शक्तियों से संपन्न है। 'र' अग्नि का मूल रूप है जो साधक की काम, क्रोध आदि वृत्तियों को जलाकर उसे निर्मल बना देता है। 'अ' अज्ञाननाशक है। यह साधक को ज्ञान का प्रकाश प्रदान करता है। 'म' मलिनता का नाशक और तीनों तपों को हरने वाला है। इसका प्रभाव साधक को शीतलता प्रदान करता है। इस प्रकार 'राम' शब्द के जप का प्रभाव साधक के अज्ञान को दूर करके उसे ज्ञान और शांति प्रदान करना है। यहां राम के कुछ प्रभावी मंत्र दिये जा रहे हैं जिनका जप करके आप अपने जीवन को सुखमय बना सकते हैं। जप करने से पूर्व निम्न मंत्र से भगवान का स्मरण कर लेना चाहिए।

ध्यान मंत्र- **नीलाम्बुज श्यामल कोमलांगम् सीता समरोपित वामभागम्।**
पाणौ महासायक चारू चापम् नमाति रामम् रघुवंशनाथम्।।

इस मंत्र द्वारा ध्यान करके नीचे लिखे मंत्रों में से किसी एक का नियमित रूप से निश्चित संख्या में जप करें।

मंत्र- ऊँ राम ऊँ, ह्रीं राम ह्रीं, श्रीं राम श्रीं, क्लीं राम क्लीं, श्री राम शरणं मम। हुं जानकी वल्लभाय नमः, ऊँ रामाय हुं फट् स्वाहा, ऐं रामाय नमः।

* शाक्त तंत्रों में प्रत्येक साधक की बौद्धिक स्थिति को तीन अवस्थाओं में विभाजित किया गया है- जो क्रमशः पाशविक, वीरतापूर्ण और दैवी भावनाओं पर अवलम्बित है इन तीन अवस्थाओं को तंत्र के शब्दों में पशुभाव, वीरभाव और दिव्यभाव कहते हैं।

* तंत्र में भाव के बाद आचार है। अथवा साधना के बाहरी अभ्यास के अनुसार तंत्रों की एक सप्त-स्तरीय स्थिति भी होती है जो इस प्रकार है- वेदाचार (साधना की वैदिक पद्धति) वैष्णवाचार, शैवाचार, वामाचार, सिद्धान्ताचार और कौलाचार । इन सब बातों को विस्तारपूर्वक जानना तांत्रिक विद्या के विद्यार्थी के लिये आवश्यक है ।

* लगभग दो हजार वर्ष पूर्व तांत्रिक साधना में पूर्ण सिद्धि लाभ के लिये चार मुख्य पीठों की स्थापना हुई जालन्धर पीठ, कामाख्या पीठ, पूर्णागिरि पीठ और उड्डयान पीठ। पीठ का अर्थ है- शक्तिकेन्द्र जिसका अगोचर संबंध दैवी राज्य और भाव राज्य से होता है ।

* भारतीय ऋषियों ने अपनी ऋतम्भरा प्रज्ञा से सृष्टि प्रक्रिया का साक्षात्कार याज्ञिक, यौगिक और तांत्रिक इन तीनों रूपों में किया है। इसी को क्रमशः कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और उपासनाकाण्ड कहते हैं ।



अरुण कुमार शर्मा
की
अन्य मौलिक कृतियाँ

मारण पात्र
तीसरा नेत्र (दो भागों में)
मरणोत्तर जीवन का रहस्य
परलोक विज्ञान
कारणपात्र
कुण्डलिनी शक्ति
अभौतिक सत्ता में प्रवेश
वक्रेश्वर की भैरवी
वह रहस्यमय सन्यासी
आकाशचारिणी
वह रहस्यमय कापालिक मठ
तिब्बत की वह रहस्यमयी घाटी
मृतात्माओं से सम्पर्क
रहस्य
आवाहन
योग तांत्रिक साधना प्रसंग

आस्था प्रकाशन

Rs. 250/-
ISBN : 978-81-906796-7-1